69

ॐ

साहित्य-संदेश

जनवरी, मार्च, अप्रैल, मई,
अगस्त, सितम्बर, दिसम्बर
१९५१

साहित्य संदेश

[भाग] १२] आगरा—जनवरी १९५१ [अङ्क ७

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

[नगे]न्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र

*

प्रकाशक

[सा]हित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

*

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा

*

[व]ार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। इसका वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की २० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें; अस्थाई पता बदलने का नियम नहीं है।

हिन्दी का नया प्रकाशन : जनवरी १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

काव्य में रहस्यवाद—पं० किशोरीदास वाजपेयी ।≈)

साहित्य में प्रगतिवाद—श्री सोहनलाल लोढ़ा एम० ए० १।)

काव्य की आत्मा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव "चन्द्र" ।)

स्वतन्त्र चिंतन-श्री भदन्तआनन्द कौसल्यायन १।।)

कबीर साहित्य की भूमिका—श्री रामरतन भटनागर २)

हिन्दी साहित्य की परम्परा—प्रो० हंसराज अग्रवाल ५)

कविता

रस गागर—श्री भगवदत्त 'शिशु' २)

भूमिका—श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह ५)

नाटक

शिकार—पं० राजाराम शास्त्री १।)

सात लड़ी का हार—„ „ १।।)

उपन्यास

कुली—श्री मुल्कराज आनन्द ६)

अन्नपूर्णा—अनु० श्री ओंकार शरद ३)

मृगनयनी—श्री वृन्दावनलाल वर्मा ५)

कहानी

बन्धनों की रक्षा—आनन्द मोहन अवस्थी १)

मसालची—गणेशप्रसाद कुँवर ।।≈)

वीनिस व्यापारी तथा शेक्स पायर के नाटकों की अन्य कहानियाँ १।)

रेड लाइट—श्री कन्हैयालाल साहू ३)

राजनैतिक

हमारी स्वाधीनता संग्राम-श्री विष्णुप्रभाकर १।।)

जीवनी

भारत रत्न—मुरारीलाल शर्मा १।।)

धार्मिक

नीति धर्म—महात्मा गाँधी ।≈)

आश्रम वासियों से—महात्मा गाँधी ।)

बुद्ध और बोद्ध साधक—भरतसिंह उपाध्याय १।।)

थेरी गाथाएँ— „ „ १।।)

नित्य मंगल पाठ—त्यागी धर्म सागर जी

श्री दश लक्षण भजनवली—„ „

कोश

ब्रजभाषा सूर कोष-डा. दीनदयाल गुप्त एम.ए. ३)

बालोपयोगी

हमारे सरदार—श्री सोभाभाई ।।)

विविध

कृषि विज्ञान में सौर नक्षत्र—श्री उदयप्रसाद 'उदय' ।≈)

सभी प्रकार की हिन्दी की पुस्तकें मंगाने का पता—साहित्य रत्न-भण्डार, आगरा।

वर्ष १२] आगरा—जनवरी १९५१ [अङ्क ७

हमारी विचार-धारा

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन—

इस वर्ष २६ दिसम्बर से कोटा में हो रहा है। कोटा की भारतेन्दु परिषद के कारण कोटा का आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य से परिचय रहा है। कोटा राजस्थान का एक अङ्ग है। हम इस सम्मेलन की सफलता चाहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि सम्मेलन की यह सफलता हम क्यों चाहते हैं। और यथार्थ तो यह है, कि सम्मेलन की सफलता है किसमें? भारत आज स्वतन्त्र है, और विधान द्वारा यह मान लिया गया है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी, किन्तु इससे सम्मेलन का उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं होता। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा मान लिये जाने से कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। आज इस बात की महती आवश्यकता है कि 'हिन्दी' से सहानुभूति न रखने वाले व्यक्तियों के द्वारा निर्देश की गयी कमियों को पूर्ण करने का अथक उद्योग किया जाय—सम्मेलन को ही इस दिशा में बड़ा कदम उठाना चाहिए—सम्मेलन अब तक यों ही चलता रहा है, इसी कारण उसके कार्य में शिथिलता रही है और परीक्षाओं के अतिरिक्त उसके पास गिनाने के लिए भी कोई विशेष कार्य सूची में नहीं रहा है—इस वर्ष सम्मेलन को एक पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत करनी चाहिए। योजना बन जाने से मन्त्रि-मण्डल को कार्य करना ही पड़ेगा। सम्मेलन की विविध परिषदों के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बातें हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। ये परिषदें केवल निबन्ध-पाठ का सुयोग प्रदान करती हैं। सम्मेलन के विधान द्वारा इनको भी कोई अधिकार मिलने चाहिए। इन परिषदों में सम्मेलन का तद्विषयक वर्ष भर का विवरण प्रस्तुत किया जाय, और उस पर विचार हो। परन्तु हमें खेद है कि हमारी ये पंक्तियाँ पाठकों के सामने तब आवेंगी जब यह सम्मेलन समाप्त हो चुकेगा।

एक साहित्यिक का निष्कासन—

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को टीकमगढ़ छोड़ना पड़ा है—हम इसी को एक साहित्यिक का निष्कासन मानते हैं। यह सच है कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपने शिष्य किन्तु ओरछा के सहृदय महाराज वीरसिंह देवजू के निमन्त्रण पर टीकमगढ़ गये थे, और आज जब वे महाराज भी महाराज नहीं रहे, किसान बनने का विचार कर रहे हैं, तो चतुर्वेदीजी ही क्यों वहाँ पूर्ववत् रहें—किन्तु यह बात नहीं भूली जानी चाहिए कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी एक साहित्यिक हैं, एक ऐसे साहित्यिक हैं जिन पर हिन्दी को और देश को गर्व हो सकता है। वे टीकमगढ़ गये, तथा केशव और ईसुरी के ओड़छा अथवा बुन्देलखण्ड को साहित्यिक जन-जागरण से उद्वेलित किया। यहीं टीकमगढ़ में बैठकर इस साहित्यिक ने 'मधुकर' का सफल संपादन किया; यहीं से बैठकर, 'जनपदीय आन्दोलन' का सञ्चालन किया; प्रान्तनिर्माण की योजना को बल देने का उद्योग किया; बुन्देलखण्डियों में बुन्देल गौरव जगाने का बीड़ा उठाया; यहीं से इसने तीन विशाल अभिनन्दन ग्रन्थों का संपादन किया—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, और बालमुकन्द गुप्त स्मारक-ग्रन्थ, जिसमें कितने ही सहस्र पृष्ठों में पठनीय और मननीय मूल्यवान सामग्री का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, और जिनमें से पूर्व दो ग्रन्थों में तो 'बुन्देलखण्ड' के वैभव का पूर्णतः प्रदर्शन किया गया है। टीकमगढ़ के उस स्मरणीय कुण्डेश्वर में बैठकर ही इन्होंने ऐंड्रूज की जीवनी के संपादन में सहयोग दिया है। इसी कुण्डेश्वर से पत्रकारों को सङ्गठित किया है और प्रोत्साहित किया है। यहीं से दुःखी लेखकों को सहायता प्रदान करने का भी आयोजन हुआ। यहीं से कितने ही सुन्दर रेखाचित्र हिन्दीको प्राप्त हुए। इस मनस्वी साहित्यकार के द्वारा बुन्देलखण्ड में साहित्यिक जागरण हो उठा था। ऐसे इस साहित्यकार को आज इतने वर्षों बाद ओड़छा छोड़ने को विवश होना पड़ा है। क्या ऐसे मेधावी व्यक्ति का इस प्रदेश की सरकार के पास कोई भी इसके सम्मान के योग्य उपयोग नहीं था। ऐसे व्यक्तियों का किसी भी राज्य में होना स्वयं ही एक गौरव की बात होती है। हमने सुना है कि इन्हें बेसिक शिक्षण केन्द्र का सञ्चालक बनाने का प्रस्ताव था—प्रत्यक्षतः समझदार को यह निष्कासन का संदेश था। चतुर्वेदीजी के पास जो विशाल संग्रह है, उसका उपयोग तभी ठीक हो सकता है, जब उन्हें कुण्डेश्वर जैसा ही शान्त एकान्त स्थान मिले, और एक दो योग्य सहायक मिलें।

आंतर भारती—

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कल्पना की भाँति ही विश्व-व्याप्ति से युक्त 'विश्व-भारती' से कौन अपरिचित है? किन्तु जितने ही हम 'विश्व-भारती' से परिचित हैं, उतने ही 'आँतर-भारती' से अपरिचित। कारण स्पष्ट है कि 'आँतर-भारती' अभी एक योजना मात्र है। यह योजना महाराष्ट्र के यशस्वी लेखक 'साने गुरूजी' के द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। आज 'साने गुरूजी' हमसे सदा के लिए पृथक् होचुके हैं, किन्तु उनकी इस महत्वपूर्ण योजना को यदि हम स्मारक स्वरूप खड़ा कर सके तो हम उनका यथार्थ सम्मान कर सकेंगे। 'आंतर-भारती' योजना में एक ऐसे विश्वविद्यालय की कल्पना है जिसमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के विद्यार्थी एकत्र होकर अध्ययन करें, जिससे वे क्षुद्र प्रान्तीयता को त्याग सकें और राष्ट्रीय दृष्टि से एक समग्र भारतीय राष्ट्र का रूप खड़ा कर सकें। यह योजना वस्तुतः श्लाध्य है और कार्यान्वित करने के योग्य है।

राहुल सांकृत्यायन के सम्बन्ध में—

राहुलजी ने मंसूरी में एक बङ्गला खरीदा है—यह समाचार सुना गया है। इस समाचार से प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। आज हिन्दी का

एक लेखक इतना समर्थ हो सका है कि वह एक बङ्गला खरीद सकें। विशेष प्रसन्नता इस आशा से है कि राहुल जी और अधिक साहित्य-सेवा में प्रवृत्त रह सकेंगे। मंसूरी जाने वाले साहित्यिकों को अब भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

राहुल सांकृत्यायनजी की साठवीं जन्मतिथि ९ अप्रैल १९५२ को है—इस अवसर पर पन्त-अज्ञेय आदि राहुलजी के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत विशद होगा। इस उद्योग से निश्चय ही साहित्य की अभिवृद्धि होगी।

पत्रकार-सम्मेलन से निष्कर्ष—

दिल्ली में अखिल भारतीय 'समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन' का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद ने यह अनुरोध किया है कि भारत के पत्रकार संयम से काम लें। भावावेश में आकर कोई बात न लिखें, विचार-शक्ति से काम लें। स्वतन्त्रतापूर्वक उत्तरदायित्व समझते हुए अपने विचार प्रकट करें और सही समाचार दें। हमने 'साहित्य-सन्देश' के एक विगताङ्क में 'स्थानीय-पत्रकार कला' पर एक टिप्पणी दी थी—जो बात डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने अखिल भारतीय सम्मेलन के विषय में कही है वह हिन्दी के स्थानीय पत्रकारों के लिए और भी अधिक लागू होती है। स्थानीय पत्र ही वस्तुतः किसी स्थान के लोगों की रुचि को बनाते-बिगाड़ते हैं। स्थानीय पत्रकार यदि 'सुरुचि, संयम और सत्य' इन तीन 'स-ओं' का ध्यान रखें तो जनता की रुचि परिमार्जित हो जायगी। किन्तु इसके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि प्रमुख नगरों में 'पत्रकार-विद्यालय' स्थापित किये जायँ जिससे स्थानीय पत्रों में कार्य करने वाले महानुभावों को पत्रकार-कला के महत्त्वपूर्ण स्वरूप का ज्ञान हो सके। वस्तुतः अन्य प्रकार के विद्यालयों की अपेक्षा आज पत्रकार विद्यालय की महती आवश्यकता है, क्योंकि स्वतन्त्र देश में पत्र की प्रबल शक्ति होती है।

हिन्दी विश्व-विद्यालय—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा एक हिन्दी विश्व विद्यालय स्थापित होने की चर्चा चल रही है जिसे राज्य की मान्यता मिलेगी और जिसके लिए विधान-सभा द्वारा विशेषाधिकार पत्र दिया जायगा। इस कार्य का सभी ओर से स्वागत होगा। यद्यपि यह कार्य बहुत देर से हो रहा है, तथापि श्रेष्ठ कार्यों के करने में कभी देर का प्रश्न नहीं उठता। सम्मेलन द्वारा उपस्थित की गयी इस कार्य की कोई रूप-रेखा अभी तैयार नहीं है तथापि हम सम्मेलन के अधिकारियों से विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि वे विश्वविद्यालय को केवल परीक्षक संस्था न बनावें। परीक्षक संस्थायें तो देश में बहुत हैं। उनके लिए तो पंजाब और बिहार की संस्थाएँ ही पर्याप्त हैं। यद्यपि सम्मेलन की परीक्षाओं को सरकारी मान्यता मिलने से हिन्दी का मान बढ़ेगा, किन्तु हमको ऐसी संस्था चाहिये जो अन्य विश्वविद्यालयों में हिन्दी का माध्यम स्वीकृत होने से पहले यह प्रमाणित कर दे कि हिन्दी में उच्च शिक्षा दी जा सकती है और वह संस्था अन्य संस्थाओं के लिए पथ-प्रदर्शक का काम कर सके। हम साहित्य सम्मेलन से यह आशा करते हैं कि वह इस विश्वविद्यालय द्वारा हिन्दी के नव निर्माण में योग देगा। उसके वर्तमान पाठ्यक्रम में साहित्य को छोड़कर अन्य विषय की जो पुस्तकें हैं उनमें अधिकाँश पुस्तकें अँग्रेजी की हैं। सम्मेलन को चाहिए कि उनका स्थान लेने वाली पुस्तकें शीघ्रातिशीघ्र तैयार करावे जिससे कि पाठ्य-पुस्तकों का अभाव दूर हो। सम्मेलन को ऐसा केन्द्रीय शिक्षणालय खोलना चाहिये जो विश्वविद्यालय का सच्चे अर्थ में विद्यापीठ बन सके और जहाँ से ठोस शिक्षा का स्रोत प्रवाहित हो।

३८ वें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कोटा के सभापति

श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार का भाषण

३८ वां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कोटा में ता० २६ दिम्बर से आरम्भ हुआ। इसके मनोनीत सभापति देश के प्रसिद्ध इतिहास तत्वज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कारजी ने जो भाषण दिया उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। यह अभिभाषण कई बातों में अपनी विशेषता रखता है। प्रथम तो सम्बोधन का शिष्टाचार 'कामरेड' के अनुवाद 'साथियो' शब्द से हुआ है। आरम्भिक पृष्ठ में आगे के वक्तव्य का 'खाका' प्रस्तुत किया गया है—यह सम्भवतः इसलिए कि सभापति महोदय इसके आधार पर और कुछ उस आधार पर जो आगे के पृष्ठों में स्पष्ट किया गया है, मौखिक भाषण देंगे या यह खाका विषय-सूची का काम दे सके। कुछ भी हो, है यह एक नूतनता, जिसकी ओर सभी का ध्यान अवश्य जायगा। यह भाषण अब तक के भाषणों की परिपाटी में भी नहीं आता, क्योंकि साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व करते समय भी विद्यालङ्कार जी का इतिहासकार तटस्थ नहीं हो सका है, वही आदि से अन्त तक चमका है। साथ ही सभापति महोदय ने उन कारणों का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया है जिनसे आज हिन्दी इतनी दरिद्र है, और उसे पन्द्रह वर्ष की चुनौती भारतीय संविधान के द्वारा मिली है। इस विवेचन में इस बात पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति विशेष बल दे रहा है कि 'यदि गाँधीजी नहीं होते तो अच्छा होता'। सम्मेलन के सभापति के भाषण में एक पुरातन परिपाटी का पालन तो हुआ है, वह है प्रशस्ति-गान का, पर वह प्रशस्ति गान आज के विविध साहित्य-सेवियों का नहीं, (जिससे बहुत से नामोल्लेखाकांक्षी साहित्यकार शायद अप्रसन्न होंगे) वरन् उन महारथियों का है जो सभापति की राय में 'तिलक युग' में जन्म लेकर राष्ट्र-भाव के लिए सती हो गये थे—और है उस संस्था का जिसे गुरुकुल कांगड़ी कहते हैं, जिसे स्वामी श्रद्धानन्दजी ने स्थापित किया और जिसके महत्व को आज तक भी हिन्दी साहित्य या इतिहासकार नहीं समझ सके थे—हम अपने सभापति के इस सामयिक विचारोद्रेक की भाषण का स्वागत करते हैं। उन्हीं के अपने कुछ शब्द यों हैं—

—सम्पादक

इस बीच भाड़ैत भारतीय सेना के उपकरण से अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य खड़ा कर लिया। बङ्गाल और महाराष्ट्र पर उनकी मार पड़ने पर वहाँ राममोहन राय और गोपाल हरि देशमुख जैसे विचार-नेता उठे जिन्होंने उस तथ्य को फिर देखा और कहा, जिसे रघुनाथ हरि ने उनसे आधी पौनी शताब्दी पहले देख लिया था। राममोहन के सामने यह बात भी स्पष्ट थी कि नया ज्ञान भारतीयों तक उनकी अपनी देशी भाषाओं में ही पहुँच सकता है और पहुँचना चाहिए। गोपाल हरि ने तो अपने राजनीतिक और सामाजिक विचार महाराष्ट्र जनता को उसकी भाषा में ही दिये। इसके बाद विशेष कर महाराष्ट्र में, जहाँ के लोगों में अंग्रेजी राज से पहले भारत में सब से अधिक राजनीतिक चैतन्य था, अनेक विद्वानों ने युरोप के नये ज्ञान का तत्त्व जनता की भाषा में देना आरम्भ किया। वह प्रयत्न बड़ा होनहार था, किन्तु अंग्रेजों को भारत की प्रतिभा का उस दिशा में जाना अभीष्ट न था। उन्होंने अपनी युनिवर्सिटियाँ स्थापित कर, उन युनिवर्सिटियों में अंग्रेजी साहित्य और कानून की शिक्षा को प्रमुख स्थान देकर उनके विद्यार्थियों में अपने देश की परिस्थिति भाषा और संस्कृति से विरक्ति पैदा कर तथा सब ऊँचे नीचे पद मिलना उन युनिवर्सिटियों की डिग्रियों पर निर्भर कर भारत की जागती हुई प्रतिभा को फिर बाँझपन की एक नई दिशा में फेर दिया। भारत में अंग्रेजी

का बोलबाला हो जाने पर भारतीय भाषाओं में सहज ही पैदा हुई वैज्ञानिक वाङ्मय की वह पहली धारा छीज गई। इस ऐतिहासिक सचाई को आज अच्छी तरह हृदयंगत कर लेना आवश्यक है। इसके बाद उस धारा को यदि बहती रक्खा तो उन लोगों ने जो अंग्रेजों के पैदा किये वातावरण से लोहा लेकर भी उसे जीती रखते रहे।

× × ×

दयानन्द सरस्वती १८५७ के युग में भारत के श्रेष्ठ मन के प्रतिनिधि थे। हाल की खोज से प्रकट हुआ है कि १८५७-५६ की स्वाधीनता-चेष्टा से भी उनका गहरा सम्पर्क था। जिस व्यक्ति का तरुण मन शिवलिंग पर चूहे की लीला देखकर ही जड़ तक हिल गया था, उसने भी १८५७-५६ की महान् घटनाओं के बीच विचरते हुए उनके विषय में यदि सोचा न होता तो हमें यह मानना ही पड़ता कि भारतीय मस्तिष्क में कोई त्रैकालिक विकार है। किन्तु दयानन्द और उनके शिष्यों के कार्य से प्रकट है कि उन्होंने अपनी परिस्थिति को भली-भाँति देखा-समझा और उसे समझकर जो कुछ करना चाहिए था वही किया।

× × ×

दयानन्द ने विज्ञान की शिक्षा के लिए जर्मनी से सम्पर्क करने का जब यत्न किया तभी बङ्गाल में महेन्द्रलाल सरकार ने भारतीय-विज्ञान संस्था की नींव डाली। दयानन्द के समकालीन बंकिमचन्द्र चटर्जी के लेखों में भी क्रान्ति की वैसी ही विचार-धारा है। × × × भारत की भाषाओं को सींचने की कैसी उमंगें और उन भाषाओं के क्षेत्रों को बहाकर उजाड़ देने की अंग्रेजों की प्रवृत्ति के विरुद्ध कैसी उग्र भावनाएँ वह धारा लिये हुए थी सो बंकिम-चन्द्र के लेखों और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के पहले निबन्ध से प्रकट है। समूचे भारत में एक-सूत्रता रखने को भारत की एक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि थोड़े प्रयत्न से हो सकती है, यह भी इस धारा के चिन्तकों ने देख लिया था। दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी, और शिक्षा-दीक्षा सब संस्कृत में हुई थी। उन्होंने पहले संस्कृत द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों को अपना सन्देश देना चाहा। किन्तु अपनी बंगाल की यात्रा में भूदेव मुखर्जी और केशवचन्द्र सेन जैसे विचार-नेताओं के सम्पर्क में आने पर उन्होंने शीघ्र समझ लिया कि इस युग में समूचे भारत की जनता को अपनी एकता का उद्बोधन कराने वाली एक वाणी हिन्दी ही हो सकती है। जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं वह ऐतिहासिक कारणों से भारत की राष्ट्रभाषा १३ वीं-१४ वीं शताब्दी से थी ही। पर भारतीय पुनरुत्थान के प्रसङ्ग में इस तथ्य को पहले-पहल पहचाना बङ्गाली विचार-नेताओं ने।

× × ×

दो धारायें देश में साथ-साथ चलती रहीं और इस शताब्दी के शुरू में जनता ने इन्हें 'गरम' और 'नरम' नाम दिये। दोनों की आन्तरिक प्रवृत्तियों को देखते हुए इन्हें क्रमशः राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी और अधिकारप्रार्थी कहना चाहिए। नरम या अधिकारप्रार्थी पक्ष अंग्रेजी साम्राज्य को "विधाता की देन" मानता और उसके बाहर कभी जाने की कल्पना भी न करता था। गरम या राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी पक्ष का कहना था कि "हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए। फिरङ्गी की कृपा से मिले अधिकारों पर हम थूकेंगे; हम अपनी मुक्ति स्वयं पायेंगे।"

अपनी मुक्ति स्वयं पाने के जो उपाय राष्ट्रीय स्वाधीनतावादियों के सामने थे, उनमें अपनी शिक्षा को भारतीय भाषाओं के माध्यम से स्वयं संघटित करने का प्रमुख स्थान था। 'राष्ट्रीय शिक्षा' की इस लहर का आरम्भ महात्मा मुंशीराम उर्फ स्वामी श्रद्धानन्द ने सन् १९०० में कांगड़ी गुरुकुल की स्थापना कर के किया। उस संस्था में भारतीय भाषा में आधुनिक विज्ञान की शिक्षा देने का सबसे

पहला प्रयत्न किया गया। गुरुकुल के उदाहरण से १९०५ में बङ्गाल में 'जातीय शिक्षा परिषद्' की स्थापना हुई। अधिकार-प्रार्थी पक्ष के लोग इन राष्ट्रीय शिक्षणालयों की उपेक्षा या उपहास करते थे। उनमें इतना आत्मविश्वास कहाँ था कि अँग्रेजी सरकार की सहायता बिना स्वयं किसी बड़े संघटन-कार्य को उठाने की अथवा देशी भाषाओं को अंग्रेजी की सतह पर पहुँचाने की कल्पना कर सकते?

सन् १९१० में इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। ऐसी संस्था अधिकार प्रार्थी 'साहब लोगों' की विचारधारा से कोई मेल न खा सकती थी। इसमें या तो ऐसे लोग थे जिन्हें भारतीय संस्कृति, भाषा और लिपि पर अटूट श्रद्धा थी, और या यदि कोई राजनीतिक आकांक्षाओं वाले लोग थे तो प्रायः राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी विचारधारा के। इसके संस्थापक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन राजनीति में बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी माने जाते थे; महात्मा मुंशीराम इसके शुरू के सभापतियों में से थे। हिन्दी के वाङ्मय को सब प्रकार के विज्ञान से भरपूर करना और देश के शासन और शिक्षा में उसे अँग्रेजी के स्थान पर बिठाना इसके आरम्भ से उद्देश्य थे।

× × ×

युरोपी विद्वानों ने न केवल अपने यहाँ के प्रत्युत भारत के सिवाय शेष जगत् के भी वनस्पति-विषयक ज्ञान का शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखा है। किन्तु भारत की उस विषय में देन इतनी अधिक है कि जब तक भारतीय स्वयं उस देन का इतिहास न पेश करें, दूसरा कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार विश्व के वनस्पतिशास्त्रीय ज्ञान के इतिहास में आज केवल भारत का स्थान खाली पड़ा है।

× × ×

यह जो विवेचना मैंने आपके सामने की है इसके तत्त्व सन् १९१० से १९१६ तक काँगड़ी गुरुकुल में अच्छी तरह पहचान लिये गये थे, भले ही उन्हें किसी ने वैसे स्पष्ट शब्दों में न रक्खा हो जैसे शब्दों में मैंने आज यहाँ रक्खा है। इन तत्त्वों को पहचान लेने पर यह बात स्पष्ट हो गई थी कि भारतीय भाषाओं में जिस वैज्ञानिक वाङ्मय की आवश्यकता है वह गहरे अध्ययन और खोज से तथा सुसंगठित सहोद्योगी श्रम से ही तैयार हो सकता है। किन्तु १९१६ से लेकर आज तक ३४ वर्षों में यह काम हुआ क्यों नहीं, यह प्रश्न अब आपके सामने आता है। आज जब हम इस कार्य को १५ बरस में या और भी जल्दी कर लेना चाहते हैं तब यह प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है। चौंतीस वर्षों के इस तजरबे से यदि हम नहीं सीखते तो हम फिर ठोकरें खायेंगे और खा कर भी कुछ न पायेंगे।

× × ×

सत्य की नई खोज और मौलिक वाङ्मय का निर्माण वे लोग करते हैं जिन्हें उस खोज और निर्माण की प्रेरणा आतुर किये रखती है, जो जीवन भर उस प्रेरणा से आगे बढ़ते रहते हैं। डाक्टरेट उपाधि तो उस यात्रा के आरम्भ मात्र का प्रमाणपत्र मानी जानी चाहिये। हमारे देश में निठल्ले बुद्धिजीवियों का एक वर्ग है, जो परम्परा से सरकारी नौकरियों में जाता है और जो कम से कम श्रम से आरामतलबी का जीवन बिताना चाहता है। यह पौध मैकाले शिक्षा से ही पैदा हुई या पनपी है। जब केवल डिग्री को ऊँचे पदों का द्वार बना दिया गया, तब इसी वर्ग के चालाक लोगों ने कुछ दिन श्रम करके अच्छी डिग्री ले लेना, और जहाँ एक बार ऊँचा पद मिला कि ऐश में दिन काटना शुरू किया। भारत की अनेक यूनिवर्सिटियों में बीस-बीस पचीस पचीस बरस जिन्होंने ऊँचे पदों के वेतन खाये हैं, यदि यह जाँच कीजिये कि उस अवधि में उन्होंने मौलिक कृति रूप में क्या देन दी, तो बहुतों के विषय में उत्तर पाइयेगा शून्य, और बहुतों की कृतियां ऐसी रद्दी मिलेंगी

जिनसे सिद्ध होगा कि वे अध्यापक पद के योग्य भी न थे। पर हमारे हिन्दी क्षेत्र में अन्ध परम्परा ऐसी है—बंगाल और महाराष्ट्र में शायद वैसी परिस्थिति नहीं है—कि डिग्रीधारी और हैसियतदार लोग जो कूड़ा कचरा भी हमारे साहित्य के कूचे में फेंक दें उनके नाम की छाप होने से हम उसे कीमती माल मानने लगते हैं। और साहित्यसेवी यह भी जानते हैं कि उन कृतियों में से अधिकाँश इन नाम देने वालों की अपनी नहीं होती—उन्हें गरीब साहित्यसेवी तैयार करते हैं, जिन पर अपना नाम देकर ये हैसियतदार लोग उन मजदूरों के पारिश्रमिक का बहुत सा अंश खा जाते हैं। बंगाल में इस ढङ्ग का एक दूसरा पेशा चला हुआ है। अँग्रेजी से अनभिज्ञ पुराने ढर्रे के पण्डितों को जिन्दा रहने भर की मजदूरी देकर उनसे ज्ञान के टुकड़े निकाल लेना और उस ज्ञान को अपने नाम से अँग्रेजी में प्रकाशित करना। यह पेशा करने वाले वहाँ मगजचोष कहलाते हैं। हिन्दी भाषी प्रान्तों की युनिवर्सिटियों में पलने वाला निठल्ला परभोजी वर्ग जो यह पेशा करता है वह नाम के लिए नहीं, पैसे के लिये करता है। इस वर्ग का फेंका हुआ कचरा आज हिन्दी वाङ्मयधारा का प्रवाह रोके हुए है।

मैकाले यूनिवर्सिटियों का यह लंठपन का वातावरण, जिसके द्वारा अँग्रेज साम्राज्यसाधक अनेक तरह से अपना खेल खेलते रहे, हमारे वाङ्मय-विकास के रास्ते में सब से बड़ी रुकावट रहा है। अंग्रेजी डिग्रियों को हमने सब से बड़ा मूल्य दिये रक्खा। पर पहली बात तो यह देखनी चाहिए कि इङ्गलैंड में डिग्री लेने के लिये भारत के धनी वर्ग के ही लोग जा सकते थे। दूसरे, विशेषकर भारतीय इतिहास, समाजशास्त्र की खोज में भारत के राष्ट्रीय दृष्टि से सोचने वाले आचार्य—वामनदास वसु, ओझा, जायसवाल, राखालदास बनर्जी, चिन्तामणि वैद्य, विनयकुमार सरकार आदि—जिन नये सत्यों को सामने लाते रहे या जिन नये विचारों को जगाते रहे, जिन विचारों की बुनियाद थी युरोपी नस्ल की दूसरी नस्लों से श्रेष्ठता न मानना और अँग्रेजी साम्राज्यसाधकों की काली करतूतों को प्रकाश में लाना, उन सत्यों और उन विचारों को दबाना या उनकी ओर से लोगों का ध्यान हटाना, ब्रितानवी यूनिवर्सिटियों के प्रोफेसरों ने बराबर अपना काम माना। युक्ति का उत्तर वे युक्ति से न दे पाते, इसलिए वितंडा और लंठपन का सहारा लेते। इस खेल में वे अधिकाँश भारतीय जो भारत में ऊँचा पद पाने के लिए इङ्गलैंड से डिग्री लेने जाते, अपने अँग्रेज गुरुओं के अच्छे उपकरण बनते रहे। जिन कृतियों पर उन्हें डिग्रियाँ मिलती रहीं, उनमें से अनेक बहुत ही घटिया दर्जे की होतीं। बनारस युनिवर्सिटी के प्रो० मुकुटविहारीलाल जैसे किसी व्यक्ति ने यदि अपने अन्तःकरण को बेचने से इन्कार किया तो उसे खाली हाथ इङ्गलैंड से लौटना पड़ा।

× × ×

ब्रितानवी युनिवर्सिटियों के प्रोफेसर भारत की इस स्थिति से लाभ उठा कर भारत की स्वतन्त्र बौद्धिक प्रगति को किस प्रकार रोकते रहे उसका एक पते का उदाहरण है। अपनी जान हथेली पर लेकर की हुई तिब्बत की यात्राओं की गहरी खोज के बाद राहुल सांकृत्यायन १९३६ में भारतीय दर्शन के अनेक लुप्त कीमती ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ वहाँ से ले आये। वे विहार रिसर्च सोसाइटी में रक्खी गईं और उस सोसाइटी के प्राण स्व० आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने उनमें से छः ग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादनपूर्वक प्रकाशन का उपाय किया। प्रत्येक ग्रन्थ के सम्पादन के लिए दो विद्वान नियत किये गये, जिनमें से दो के सिवाय सभी भारतीय थे। दो विदेशी थे, एक रूस के शेर्वास्की, जिनसे बढ़ कर भारतीय दर्शन का विद्वान् मेरे मित्र धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि के

कथनानुसार भारत में भी कई शताब्दियों से नहीं हुआ और दूसरे जापान के योगीद्वारा। औक्सफर्ड के नये संस्कृत प्रोफेसर को इसका पता लगा तो उसने कहा यह कैसे होगा। उसने बिहार के अँग्रेज डायरेक्टर आव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन को लिखा। डायरेक्टर ने सोसाइटी के मन्त्री के कान उमेठे। वह था पहले कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का जमाना। पर काँग्रेसी मन्त्रियों को इन बातों की समझ और कुछ करने की हिम्मत होती तो कहना ही क्या था। औकसफर्ड की बिल्ली जो रास्ता काट गई, सो आजतक वह काम न हुआ। राहुल सांकृत्यायन, विधुशेखर भट्टाचार्य, सुखलाल, वासुदेव गोखले जैसे विद्वानों के परिपक्व ज्ञान से भारत और संसार वंचित रहा।

× × ×

हमें अपना मुख्य ध्यान वाङ्मय-विकास पर ही लगाना चाहिए था। वैसा क्यों न हुआ ?

मेरा उत्तर यह है कि एक तो देश में इस युग में फैले साधारण वातावरण के प्रभाव के कारण, और दूसरे इस कारण कि गांधीजी के आन्दोलन में जो साहब लोग सम्मिलित हो गये, पहले तो उन्हें कांग्रेस में अँग्रेजी के बजाय अपनी भाषा बोलना मनाने में और उसके बाद उन्हीं की खातिर अपनी भाषा का स्वरूप स्पष्ट करने में—हिन्दी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा सुलझाने में—हिन्दी के नेताओं का सब ध्यान और सब शक्ति लगी रही। ज्ञान की दौड़ में पिछड़ जाने से हमारे राष्ट्र की दुर्गति हुई थी; देश के पुनरुद्धार के लिए विश्व का सब नया ज्ञान हमारी जनता को उसकी अपनी भाषाओं में शीघ्र से शीघ्र मिलना चाहिए। इस अनुभूति की नींव पर हमारा राष्ट्रीय पुनरुत्थान खड़ा हुआ था। इस अनुभूति की प्रेरणा १६२० तक राष्ट्रीय स्वाधीनतावादी आन्दोलन में स्पष्ट चली आ रही थी। इस प्रेरणा के रहते यदि हमारे सामने अपनी भाषा के सम्बन्ध में कोई समस्या आती कि हमें अमुक शैली में लिखना चाहिए कि अमुक में तो हम उस समस्या को जल्द से जल्द सुलझा डालते, क्योंकि उसे सुलझाने के बाद ही हमारा असल कार्य—जनता तक ज्ञान पहुँचने का—शुरू होता। इन अधिकारियों को ऐसी कोई प्रेरणा न थी, जनता तक ज्ञान की ज्योति पहुँचाने के लिए उन्हें कोई वेदना न थी। उनके लिए स्वराज्य का यह अर्थ था कि उन्हें स्वयं ऊँचे पद मिल जाँय, इसलिए उन्हें भाषा-शैली की समस्या निपटाने की कोई जल्दी न थी। उलटा यदि वह समस्या सुलझ जाती तो हमारे सार्वजनिक जीवन में से अँग्रेजी को उखड़ना पड़ता और तब उनका नेतृत्व जो अँग्रेजी लफ्फाजी पर निर्भर था, बना न रह सकता। इसलिए उनका स्वार्थ इसमें था कि भारत की भाषा की उलझन शैतान की आँत की तरह लम्बी होती चले। हिन्दी के पक्षपाती उनकी इस चाल में आ गये। प्रतिद्वन्द्वी को हराने का एक दांव यह है कि उसे अपने लक्ष्य की तरफ न जाने देकर रास्ते के किसी झगड़े में उलझाये रक्खा जाय। गान्धीजी के अनुयायी बने हुए साहबों ने हिन्दी वालों को उनतीस बरस यों उलझाये रक्खा। उन्होंने सोच-समझ कर यह दाँव भले ही न खेला हो, उनकी सहज स्वार्थानुभूति ने उनसे यह खेलवाया इसमें कोई सन्देह नहीं।

आखिर यह झगड़ा था क्या जो उनतीस बरस लटकता रहा, और अन्त में सुलझा भी तो देश के दो टुकड़े होने के बाद और फिर भी कड़वाहट के साथ ? मैंने पिछले तेइस बरस हिन्दी-उर्दू के विवाद में जबान नहीं खोली, क्योंकि मैंने १६२२-२७ के कुछ विवादों से ही समझ लिया था कि इसमें उलझने का अर्थ होगा, अपने मार्ग से बहकना। आज मैं इस पर बोलने लगा हूँ, तो इस विचार से कि इस प्रश्न को देश के सामने ऐसा सुलझा कर रखने का यत्न करूँ कि फिर मेरा देश इसमें न उलझे।

प्रेमचन्द : साहित्य-दर्शन

श्री श्याम भटनागर

प्रेमचन्द ने भारतीय दृष्टिकोण को अपना कर ही साहित्य का विवेचन किया है। साहित्य का प्रधान उद्देश्य है आनन्द। मनुष्य आजीवन आनन्द की प्राप्ति के हेतु प्रयत्न करता है। उसके दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य होता है, आनन्द प्राप्ति। आनन्द का सम्बन्ध है आत्मा से। आत्मा सौन्दर्य-प्रिय है। वही सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान कर सकता है जो "कृत्रिमता या आडम्बर से कोसों दूर रहता है।" अतः "जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है वहीं आनन्द है।" असुन्दर में आनन्द नहीं। सुन्दरता में आकर्षण होता है, अतः वह शृङ्गार प्रधान है। किन्तु वह शृङ्गार जो कुत्सित भावनाओं को सजग करे वांछनीय नहीं, क्योंकि वह पतन का मार्ग है। अतः हमें कुत्सित भावनाओं में भी सौन्दर्य की खोज करना अपेक्षित है। अतः साहित्य का प्रधान कर्तव्य यही है कि वह मानवीय भावनाओं का परिष्कार कर अलौकिक आनन्द प्रदान करे। यहीं प्रेमचन्द के आदर्शवाद का उद्गम है।

प्रेमचन्द के शब्दों में "साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो; जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।" कल्पना प्रधान रचना, जिसके पात्र सामाजिक जीवन से परे हों, जिनमें मानवीय जीवन की अनुभूतियाँ तथा दैनिक जीवन की सचाइयाँ लुप्त हों, वह साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। साथ ही व्यक्तिगत वासनामूलक रचनाएँ भी उस श्रेणी से बाहर ही स्थान पाएँगी।

दैनिक जीवन का संघर्ष दो मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों पर विशेष अवलंबित है—काममूलक तथा अर्थ-मूलक। प्रेमचन्द विकृत काम मूलक वृत्ति का बहिष्कार करते हैं। अर्थमूलक ग्रन्थि तो उनके सारे साहित्य में समाई हुई है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रेमचन्द ने काम-ग्रन्थि का चित्रण ही नहीं किया। अगर ऐसा होता तो उनके उपन्यास, कहानियाँ अत्यन्त ही असफल होतीं! क्योंकि जीवन का अधिकांश भाग उसी पर आधारित है। परन्तु प्रेमचन्द ने स्वस्थ काम को ही प्रश्रय दिया है। उदाहरणार्थ 'अलग्यौझा' कहानी में केदार और मुलिया का आकर्षण; तथा गोदान में गोबर तथा झुनिया का नैसर्गिक प्रेम। दोनों ही चित्रों में कहीं भी कुत्सित भावों का चित्रण नहीं, संकेत भर भी नहीं।

जीवन में अर्थ का भी महत् स्थान है। और वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में हावी है भी। गोदान में होरी उसी की गुत्थी सुलझाते हुए इहलोक की लीला का अन्तिम दृश्य दिखा कर चला जाता है।

यहाँ प्रेमचन्द एवं मायाकोवस्की के साहित्यकार का उद्देश, थोड़े अन्तर के साथ, लगभग एक सा ही है। मायाकोवस्की का साहित्यकार कहता है कि—"A poet is not he, who goes about with long hair and lileats on lyrical love themes. A poet is he

who in an era of sharpened class struggle....fears no job, however prosaic, and fears no theme, whether of revolution, or the reconstruction of our national economy." प्रेमचन्द का यथार्थ वाद यहीं से आरंभ होता है।

"साहित्य का आधार जीवन है।" जीवन एक बृहद जन समुदाय के बीच व्यतीत होता है जिसे हम समाज कहते हैं। समाज में भले और बुरे प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें दोनों गुण समान रूप से पाए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है। अतः सत्य-असत्य का द्वन्द्व समाज की विशेषता है तथा वही उसे गतिशील बनाए है। बीच के व्यक्ति अत्यन्त घातक हैं। न जाने उनका ऊँट कब किस करवट बैठ जाए। वे समय को आँका करते हैं। विशेष कर समाज में बुरे व्यक्ति अधिक पाये जाते हैं। यहाँ बुरे व्यक्ति से तात्पर्य है घोर स्वार्थी। समाज में इनका पाया जाना भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। उनको या तो शिक्षा नहीं मिली या उनका दृष्टिकोण संकुचित है। साथ ही उनकी कूप-मण्डूकता भी उसका प्रमुख कारण है। उस दृष्टि-कोण को विशाल बनाने की आवश्यकता है। जिन्हें शिक्षा मिली भी है तो वह अपूर्ण है तथा वह घोर व्यक्तिवादिता को बढ़ाने वाली है। शिक्षा का आधार व ढङ्ग ही गलत है।

साहित्य समाज की ही वस्तु है। अतः समाज का ही चित्रण उसमें अपेक्षित है। उपर्युक्त गुण-प्रधान व्यक्तियों की ही संख्या समाज में अधिक है अतः उनके चित्रण की ही बाहुल्यता साहित्य में होगी। इनका चित्रण पाठक के आगे कल्मष ही रखेगा। साहित्य का उद्देश्य है भावनाओं का परिष्कार कर आनन्द प्रदान करना। फिर इस प्रकार के चित्रण मानवीय भावनाओं का परिष्कार किस प्रकार करने में समर्थ होंगे! डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में प्रेमचन्द का "यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है, और उसकी कमजोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है। "अतः प्रेमचन्द उन दुर्बलताओं में भी एक सौन्दर्य की खोज कर एक काल्पनिक स्वर्ग की स्थापना करना चाहते हैं, जहाँ दुर्बल मानव के "चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ।" अतः मनुष्य के सामने एक स्वस्थ आदर्श का होना अतीव आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यथार्थ चित्र को स्थान ही नहीं। उसको तो है ही अन्यथा मानव-चित्रण सच्चा कैसे होगा। प्रेमचन्द मानवीय जीवन को ऊपर उठाना चाहते थे। अतः उसके हेतु ठोस आदर्श की आवश्यकता उन्हें महसूस हुई। "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता" "वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है; हममें सद्भावों का सञ्चार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए।"

इस प्रकार प्रेमचन्द यथार्थ एवं आदर्श में समझौता करते हैं। वे समाज के यथार्थ चित्रण से घबरा उठते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त कटु है। साथ ही उनका आनन्दमय उद्देश्य भी वहाँ छिन्न-भिन्न होता दीखता है। अतः उन्हें आदर्श की शरण जाना ही पड़ा। प्रेमचन्द इस समझौते को "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कहते हैं। यथार्थ के साथ-साथ आदर्श को भी चलाना चाहते हैं; पर वस्तुतः उनका आदर्श यथार्थ पर पूर्णतया हावी हो गया है। किन्तु धीरे-धीरे प्रेमचन्द का आदर्शवाद भी 'गोदान' में आकर यथार्थवाद के सामने झुक गया है। होरी की मृत्यु का चित्रण उसी का प्रमाण है। साथ ही उनकी धार्मिक आस्था का भी चित्रण उसी में मिल जाएगा।

प्रश्न उठता है, कि प्रेमचन्द में ये विपरीत धाराएँ किस प्रकार प्रश्रय पासकीं ? साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। अतः उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर ढूँढने के निमित्त प्रेमचन्द के काल की राजनीति का संक्षेप में अध्ययन करना होगा, तथा देखना होगा कि प्रेमचन्द पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

प्रेमचन्द के समय राजनीतिक आन्दोलन तीव्र-गति से चल रहे थे। राजनीति का वह महत्वपूर्ण युग था। वैसे ही महान् व्यक्तित्व वाले उस युग के कर्णाधार थे। महात्मा गान्धी व उनकी कांग्रेस उस समय सक्रिय थी। जनता में काफी सजगता आ गई थी। गान्धीजी के समस्त आदर्श जनता के सामने थे, और उसका संघर्ष उनकी पूर्ति के हेतु ही हो रहा था। प्रेमचन्द पर भी इन आदर्शों की पूर्ण छाप पड़ी। असहयोग आन्दोलन का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। आदर्शवाद इस युग की प्रधान विशेषता थी। साथ ही यह आदर्शवाद भारत की परम्परा का प्रभाव था; वह उस युग विशेष की ही देन नहीं थी।

दूसरी ओर प्रेमचन्द के उर पर प्रभाव पड़ा वैयक्तिक अनुभवों का। सामाजिक परिस्थितियों ने उन्हें यथार्थ की ओर मोड़ा। ये यथार्थ अनुभव इतने गम्भीर थे कि उनका आदर्शवाद उनके आगे टिक ही नहीं पाया। आरम्भ में उन्होंने यथार्थ को भयंकर समझा था, तथा उन्हें उस पर आदर्श का आवरण डालना आवश्यकीय ज्ञात हुआ। यह इस परम्परा का प्रभाव ही था। परन्तु वर्ग-संघर्ष ने इस आदर्शवाद को पीछे छोड़ देने के हेतु प्रेमचन्द को विवश कर दिया। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में गोदान के अन्त में "किसान मुर्दा है, उसकी स्त्री मूर्च्छित और सूदखोर दातादीन पुरोहित के रूप में अब भी हाथ पसारे सामने खड़ा है। जमींदार का लगान, कन्या का विवाह, धर्म का तकाजा न जाने कितने फंदों में किसान फँसा है। वह सुलझ कर भागना चाहता है लेकिन फंदा और तंग हो जाता है। और अन्त में एक दिन उसके प्राणों का अन्त होकर ही रहता है। महाजनी शोषण का सीधा सम्बन्ध जमींदारी प्रथा से है। जमीन का लगान देने के लिए किसान कर्ज लेने पर बाध्य होता है। सामाजिक आवश्यकतायें उसे उकसाती हैं। उसके पसीने की कमाई सूद बन कर महाजन के पेट में भरती जाती है और इस यंत्रणा से बचने के लिए कानून, कचहरी कुछ भी उपयोगी सिद्ध नहीं होते। प्रेमचन्द ने कोई आदर्शवादी समझौता 'गोदान' के अन्त में नहीं रखा। शोषण का क्रम अबाध गति से चलता ही रहता है।"

(पृष्ठ २७४ का शेषांश)

रासो में तो फिर भी प्राचीनता चमक रही है। संस्कृत काव्यों में 'महाभारत' की भी ऐसी ही दशा हुई है।

अतः हमारी सम्मति में पृथ्वीराज रासो अपभ्रंश युग के समीप की ही रचना है। उसका लेखक चन्द वरदायी 'तनयश्चन्द्रराजस्य चंद्रराज-श्वाभवत्' में आया हुआ चंद्रराज ही है जो पृथ्वीराज का समकालीन, उसका कवि और सामन्त है। वह विभिन्न कवियों के हाथों में पड़ कर अपने मूल रूप से दूर जा पड़ा है। जैसा 'राठौरांरी ख्यात' में लिखा है, उसका सम्पादन अमरसिंह नाम के उदयपुराधीश के समय में हुआ और चन्दवरदायी के वंशज श्री नानूराम भट्ट के कथनानुसार कम से कम उसके तीन संस्करण हुए हैं, फिर भी जिस रूप में वह इस समय हमारे सामने है, उस रूप में भी वह हिन्दी साहित्य का एक अनुपम अलंकार है और हिन्दी भाषा भाषियों के लिये गर्व की वस्तु है।
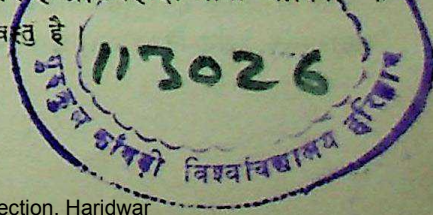
पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता

श्री प्रो० मुन्शीराम शर्मा एम० ए०

प्रत्येक नागरिक अपने देश की परम्पराओं से प्रेम करता है और उन परम्पराओं के निर्माण में जिन व्यक्तियों और स्थानों का योग होता है, उनके प्रति स्वभावतः उसके हृदय में श्रद्धा की भावना जागृत होती रहती है। राजस्थान का, हमारे देश के मध्यकालीन इतिहास में, विशेष स्थान है। उसने हमारी संस्कृति और स्वाधीनता की रक्षा में जो रक्त-दान दिया है, जिस प्रतिभा का उत्सग किया है, वह चिरकाल तक हमारी स्मृति में जागृत रहेगा। राजस्थान के तप्त बालुका-कणों में हमारे गौरवशाली तेज का प्रतिबिम्ब है। उसकी शीतल निशाओं में हमारी सुषुप्त आध्यात्मिकता और उसके वात्याचक्र में हमारा क्रान्तिपूर्ण पौरुष निहित है। राजस्थान के अनेक अवयव हिन्दू हृदय के लिये तीर्थ स्वरूप हैं। वहाँ के कीर्तिशाली कवियों ने अपने अपर गीतों द्वारा इन अवयवों के प्रति न केवल स्वयं श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, प्रत्युत उन गीतों के पढ़ने वाले तथा सुनने वाले विशाल जन-समूह के अन्तर्गत भी उनके प्रति श्रद्धा का उद्रेक कराने में सफलता प्राप्त की है। इन कवियों में महाकवि चन्द वरदाई का नाम अग्रगण्य है। आदि कवि वाल्मीकि के समान वह न केवल राजस्थानी साहित्य के, अपितु हिन्दी साहित्य के भी प्रथम महाकवि हैं। आपका लिखा हुआ पृथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य की अमर निधि है।

पृथ्वीराज रासो एक विशालकाय महाकाव्य है। इसमें ६६ समय अर्थात् अध्याय हैं जिनमें हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट महाराज पृथ्वीराज के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इन घटनाओं में कुछ ऐतिहासिक हैं और कुछ काल्पनिक। काव्य परम्परा के अनुकूल दोनों प्रकार की घटनाओं का सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है। काव्य की इस परम्परा को न समझने वाले विद्वान रासो पर नाना प्रकार के अनर्गल एवं अनावश्यक आक्षेप लगाते हैं। यदि इस परम्परा पर वे थोड़ी देर के लिए भी विचार करेंगे तो उन्हें रासो जाली नहीं, एक महत्वपूर्ण सत्काव्य के रूप में दिखलाई पड़ेगा।

इतिवृत्त और कल्पना काव्य के चिरकालीन उपादान हैं। इतिवृत्त उसकी प्रतिष्ठा भूमि है तो कल्पना उसका विकास। एक उसे यथार्थता प्रदान करता है तो दूसरा आदर्श। एक उसे निराधार उड़ने से बचाता है तो दूसरा उसका पाशविकता से त्राण करता है। मानवता के विकास में दोनों ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा पंगु है। प्रत्येक साहित्य दोनों को साथ लेकर चला है। हिन्दी साहित्य भी उसका अपवाद नहीं है।

पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में भी, जैसा प्रत्येक काव्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, यह भ्रान्त धारणा दूर हो जानी चाहिए कि वह इतिहास है। इति = ऐसा, ह = निश्चयपूर्वक; आस = हुआ— यह कथन किसी भी काव्य पर नहीं घट सकता। क्या वाल्मीकीय रामायण और क्या महाभारत, क्या रामचरित मानस और क्या सूर सागर— कोई भी काव्य शुद्ध इतिहास नहीं कहा जा सकता। सब पर कल्पना का आवरण चढ़ा हुआ है।

इतिहास पर कल्पना का आवरण तीन रूपों में दिखाई पड़ता है। एक तो ऐतिहासिक घटना के क्रम विन्यास में परिवर्तन करना, द्वितीय घटना के स्वरूप में परिवर्तन करना और तृतीय नितान्त

नवीन, कल्पित कथाओं का समावेश करना। क्रम विन्यास का परिवर्तन भी दो प्रकार का होता है:— एक काल सम्बन्धी; द्वितीय पात्र सम्बन्धी। काल सम्बन्धी क्रम विन्यास के परिवर्तन का उदाहरण रामचरितमानस में स्वयंवर के अन्तर्गत परशुराम का प्रवेश है। वाल्मीकि रामायण और केशव-कृत रामचन्द्रिका में परशुराम स्वयंवर के पश्चात् आते हैं। पात्र सम्बन्धी क्रम विन्यास का परिवर्तन रामचन्द्रिका में मुद्रिका तथा वन गमन के प्रसङ्ग में दिखाई देता है। घटना के स्वरूप परिवर्तन का उदाहरण साकेत के कई स्थलों पर है। सम्पूर्ण साकेत भी इसका निदर्शक कहा जा सकता है— विशेष रूप से उसमें आये हुए कैकेयी और चित्रकूट-सभा के चित्र। साकेत सन्त के रचयिता ने भी चित्र-कूट-सभा के प्रसंग को परिवर्तित कर दिया है। कृष्णायनकार ने द्रोणवध तथा जयद्रथ वध सम्बन्धी घटनाओं के रूप में परिवर्तन किया है। नितान्त नवीन तथा कल्पित कथाओं के समावेश के उदाहरण रामायण में शम्बूक-वध, साकेत में उर्मिला, माण्डवी आदि के चरित्र, जायसी कृत पद्मावत का पूर्वार्ध आदि हैं। ये सब परिवर्तन किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर किये गये हैं। पृथ्वीराज रासो के रचयिता ने भी अपने नायक के उत्कर्ष-वर्धन के लिये अनेक अभिनव कल्पना-प्रसूत घटनाओं का समावेश अपने काव्य में किया है। इन परिवर्तनों से काव्य का मूल्य कम नहीं होता, प्रत्युत बढ़ता ही है।

कभी-कभी काव्य का सम्पूर्ण ढाँचा कल्पना के आधार पर खड़ा किया जाता है, जिसमें आन्तरिक भावनाओं के विश्लेषण की प्रधानता रहती है; जैसे कामना, प्रबोध चन्द्रोदय तथा ज्योत्सना नाम के नाटक। अतः रासो में वर्णित घटनायें इतिहास की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, तो कौन सी अनोखी बात हो गई? उसका एकान्त इतिहास-सम्मत होना अवश्य आश्चर्य जनक होता।

रासोकार ने इतिहास का आधार लिया है, इससे तो कोई भी आलोचक इन्कार नहीं कर सकता। उसके ग्रन्थ में कुछ कल्पित नाम छोड़कर प्रायः अन्य सभी नाम ऐतिहासिक हैं, जैसे पृथ्वी-राज, मुहम्मद गोरी, चामुण्डराय, कैमास, परमाल जयचन्द आदि। घटनायें भी अधिकाँश में ऐतिहा-सिक हैं। जो कल्पित जान पड़ती हैं, उनमें से भी कुछ इतिहास-सम्मत सिद्ध हो सकती हैं; और नहीं तो उन्हें कल्पित ही रहने दीजिये। काव्य की शोभा इसी में है।

घटनाओं के आधार पर तो नहीं, पर भाषा के आधार पर यह बात असन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि रासो अपने वर्तमान रूप में एक समय की रचना नहीं है। कम से कम भाषा के तीन रूप उसमें दृष्टिगत होते हैं। एक उसका प्राचीन रूप है, जो अपभ्रंश युग कहा जा सकता है। भाषा के इस रूप के अन्तर्गत धर्म के लिये ध्रम्म, कर्म के लिये क्रम्म, मर्याद के लिये म्रज्जाद, गंधर्व के लिये गंध्रब्ब; कंदर्प के लिये कंद्रप्प, दुर्ग के लिये दुग्ग, सागर के लिए सायर, वृषभ के लिये वसह, इन्द्र के लिये विंद या वींद, शब्द के लिए साद, स्त्रीणि के लिए तिय, विधि के लिये विह जैसे अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। कारक विभक्तियों के रूपों में भी अपभ्रंश की प्रवृत्ति के अनुसार 'ह' चिह्न लगा हुआ है जैसे जादू कुलह, भ्रुसुण्डह, तीरह, दिस्सह, दुज्जह, समुदह, बाँसह आदि। अपभ्रंश युग में प्रयुक्त छन्द भी रासो में पाये जाते हैं, जैसे गाथा, दूहा आदि। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में गाथा नाम के छन्द का कहीं पर भी प्रयोग नहीं हुआ। उस समय के प्रसिद्ध प्रयुक्त छन्द दोहा, चौपाई, कवित्त और सवैये हैं। रासो में प्रयुक्त गाथा छन्द उसकी प्राचीनता का अचूक प्रमाण है। यदि रासो १७ वीं शताब्दी की रचना होती, तो उसमें उस युग के छन्दों का प्रयोग एवं प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता।

रासो की भाषा का द्वितीय रूप अपभ्रंश से

असंपृक्त, संस्कृत की कोमल पदावली से मुक्त, मार्दव-सम्पन्न ब्रजभाषा के निकट का प्रतीत होता है। 'मनहुं कला ससभाँन कला सोलह सो बन्निय' तथा 'मन अति भयो हुलास विगसि जनु कोक किरन-रवि'—पंक्तियों से प्रारम्भ होने वाले छन्दों में इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। परन्तु ऐसे छन्दों में भी अप्प, चहुट्टिय, चक्कित, बन्निय, पिन्निय, अहिप्पुट्टिय, विह आदि शब्दों का प्रयोग उनकी प्राचीनता का द्योतक है। इस प्रकार की भाषा में भुल्ल, फुल्ल, इक्क, तिही, छुप्पति, पुच्छत, कवन, दिष्षिय, रष्षत, सच्चसच्चाये जैसे अनेक शब्द अपभ्रंश के निकट के ही हैं। १७ वीं शताब्दी में ये शब्द भूल, फूल, इक, ताहि, छपति, पूछत, कौन, देखिय, राखत, सच बन गये हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से रासो में प्रयुक्त शब्दों का रूप १२ वीं शताब्दी के आस पास का ही मानना पड़ेगा।

तीसरी प्रकार का भाषा का रूप आधुनिक व्रजभाषा के ढाँचे में ढला हुआ है, जैसे 'प्रबल भूप सेबहिं सकल', 'सषियन संग खेलत फिरत', 'मुक देखत मन में हँसे, कियो चलन को साज', 'जीत भई पृथिराज की'—इन पंक्तियों की क्रियायें प्राचीन अर्थात् अपभ्रंश के समय की नहीं हैं। परन्तु फिर एक कठिनाई आकर उपस्थित हो जाती है। यह निश्चित है कि ऐसी पंक्तियाँ प्राचीन नहीं हैं, पर इनके साथ ही जो दूसरी पंक्ति सम्बद्ध है, उसमें शब्दों के कुछ प्राचीन रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं, जैसे इक्क, दिष्षिय, साद इत्यादि।

वस्तुतः भाषा की दृष्टि से रासो में प्रयुक्त शब्दों के रूप एक युग के नहीं हैं। उसमें सूर और तुलसी का युग एक ओर दिखलाई देता है, तो कबीर का युग दूसरी ओर और अपभ्रंश का युग तीसरी ओर। कबीर के समय में संज्ञाओं के अधिकरण कारक बनाने में अन्त में 'इ' प्रत्यय का प्रयोग कर दिया जाता था; जैसे 'कर में' के लिये 'करि', 'भूर में' के लिये 'भूरि', 'देवल में' के लिये 'देवलि'। इसी प्रकार रासो में 'मार्ग में' के लिये 'मारगि', 'हद में' के लिये 'हदि', 'गौख में' के लिये 'गष्षि' का प्रयोग मिलता है। इसी के साथ मँह भी (सो तिहि मँह रष्षत भई) जो खड़ी बोली के 'में' का पूर्व रूप है, पाया जाता है।

यह ठीक है कि रासोकार ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'षटभाषा' का प्रयोग किया है जो भिखारीदासजी के मतानुसार व्रज, मागधी, संस्कृत नाग, अरबी और फारसी भाषाओं का सम्मिश्रण कहलाती है; पर शब्दों के विभिन्न युगीन प्रयोगों का क्या उत्तर होगा—यह अवश्य चिन्तनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि रासो अपने मूल रूप में इस समय कहीं भी उपलब्ध नहीं है। रासो के जो कतिपय संस्करण इस समय मिलते हैं वे सबके सब चन्द बरदायी के पश्चात् तैयार हुए हैं। इन सभी संस्करणों में रासो का मूल रूप भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो जाता है। गाथा, कवित्त (छप्पय) पद्धरी आदि छन्दों में प्राचीनता के पर्याप्त लक्षण मिल जाते हैं। पर उनके रूप को भी विभिन्न संस्कर्ताओं ने अपने-अपने ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। विभिन्न हाथों में पड़ जाने से रासो के रूप भी भिन्न-भिन्न हो गये हैं। ८००-६०० वर्ष के प्राचीन काव्य की लोक-प्रियता का ही यह परिणाम है। ३०० वर्ष पूर्व का लिखा हुआ 'राम-चरित-मानस' लोक-प्रिय होने के कारण ही आज अनेक क्षेपकों से ओत-प्रोत दिखलाई देता है। उसमें प्रयुक्त शब्दों के रूप भी भिन्न-भिन्न होगये हैं। व्रज, अवधी, बुंदेली और खड़ी—सभी बोलियों के रूप उसमें पाये जाते हैं। यही अवस्था आल्ह-खंड की है। है वह चन्द वरदायी के समकालीन जगनिक (जगनायक) कवि का लिखा हुआ, पर उसकी लोक प्रियता ने उसे एकदम आधुनिक बोलियों के ढाँचे में ढाल दिया है—यहाँ तक कि उसमें प्राचीनता के चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रहे हैं।

(शेष पृष्ठ २७१ पर)

महाकवि विद्यापति के श्रीकृष्ण

कुमारी उर्मिला वार्ष्णेय एम० ए०, सरस्वती

वीरगाथा काल के अंतिम चरण में कृष्ण कथा को आधार बनाने का श्रेय आपको ही है। कृष्ण-उपासक सूर जयदेव आदि सभी कवियों से विद्यापति ने अपने नायक को एक नये दृष्टिकोण से ही देखा, बहुधा श्रीकृष्ण के शिशु और बाल्य रूप को सर्वथा भुलाकर एक साथ तरुण नायक रूप में उनकी कल्पना करना। कृष्ण की माधुरी मूरत में विभोर होकर वे पद नहीं गाते, वरन् उन प्रसंगों को ही लेते हैं, जिसमें उनके तरुण नायक श्रीकृष्ण के श्रृङ्गार रस की पुष्टी हो (विद्यापति की पदावली, रामवृक्ष बैनीपुरी) के सर्व प्रथम पद में श्री कृष्ण नायिका राधा की आतुरता से प्रतीक्षा करते हुये देखे जाते हैं।

नन्दक नन्दन कदमक तरु तीरे,
धीरे-धीरे मुरली बजाय ।
समय संकेत निकेतनि बइसल,
बेरि बेरि बोलिय पठाय ॥

× × ×

सामीर तोर लाग अनुछन; विकल मुरारि ॥
जमुनक तीर उपवन उद्वेगल ।
फिर-फिर ततहि निहारि,
गोरस बेचन उद्दत जाइत ।
जनि-जनि पुछे बनमारि ॥

विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। इसके लिये उन्होंने आधार बनाया श्रीकृष्ण और राधा को। कवि प्राचीन संस्कृत परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन बड़े सुन्दर ढङ्ग से करता है। यद्यपि श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा के सौन्दर्याङ्कन में उन्हें अधिक सफलता मिली है, फिर भी। श्रीकृष्ण। के सौन्दर्य-वर्णन को उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। उनके 'कान्ह' के रूप के बनाने में ब्रह्मा ने कामदेव के कोष का दिवाला ही निकाल दिया है।

कि कहव सीख कानुक रूप
के पीत आएत एखन स्वरूप,
अभिनव जल धर सुन्दर देह
पीत वसन पर दामिन रेह।
सामर झामर कुटिलहिं केश
काजरे साजल मदन सुवेश,

× × ×

विद्यापति कह कि कहव आर
सून करल विह मदन भंडार।

सूरदास के बाल कृष्ण, मीरा के गिरधर नागर रसखान के आराध्य 'कारी कमरिया' के धारण करने वाले माखन चोर, रहीम के चितचोर, जयदेव के मनमोहक राधावल्लभ, चैतन्य के एक-मात्र आधार, गोविन्ददास के गोविन्द, गीता में कर्मयोग का उपदेश देने वाले निर्लेप, जितेन्द्रीय योगीश्वर, महाभारत के ऐतिहासिक अमर पुरुष, कौरव कुल संहारक माधव पहली वार साधारण लौकिक नायक के रूप में आते हैं:—

राधा के विरह में कितनी दैन्य कारुणिक दशा का वर्णन उन्होंने किया है।

आज हम पेखल कालिन्दी कूल,
तो बिनु माधव लोटय धूल।
कत कत रमीन मनहि नहिं माने,
किय विषयाह समय जल दाने ॥

फिर भी इस लौकिक रूप के पीछे आध्यात्मिक रूप की छाया भी स्पष्ट सी दिखाई देती है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि "आध्यात्मिक रंग

के चश्मे आज कल बहुत सस्ते हैं। उन्हें चढ़ा कर जैसे कुछ लोगों ने गीत गोविंद के पदों में आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के पदों में" किन्तु प्रामाणिक तथ्य कैसे छिपाया जा सकता है? विद्यापति ने श्रीकृष्ण को कितना ही लौकिक चित्रित करने का प्रयास किया हो पर वे उनके आध्यात्मिक रूप को सर्वथा छिपाने में असमर्थ रहे हैं:—

"भन विद्यापति सुनि बर नारि,
धीरज धरहु मिलत मुरारि।"

× × ×

"ऐहो विद्यापति भाने,
गुँजरि भीज भगवानि"

× × ×

वे भक्ति विभोर होकर भी कह उठते हैं कि हे माधव! अखिल विश्व में ढूँढ़ आया पर खोज न पाया कि तुम्हें किसके समान कहूँ क्योंकि—

जौं श्रीखंड सौरभ अति दुर्लभ,
तो पुनि काठ कठोर।
जौं जगदीस निसाकर,
तो पुनि एकहि पच्छ उजोर॥
मनि समान और नहिं दोसर,
तिनकर पाथर नामें।
तो हार सरिस एक तोहें माधव,
मन होइछ अनुमाने॥

कवि कहीं-कहीं रहस्यवादी बनकर अपने आराध्य के विरह में व्याकुल होकर आत्म निवेदन करता है—

माधव हमार रहल दुरदेस,
के ओ न कहे सखि कुसल सँदेस,
जुग जुग जिवथु बसथु लख कोस
हमर अभाग हुनक नहिं दोस।

यद्यपि कृष्ण कथा का आधार भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण है परन्तु श्रीकृष्ण उपासकों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार अनेक रूपों में परिवर्तन कर उनकी आराधना की। विद्यापति केवल लीला गान से ही प्रसन्न हैं। उनके काव्य में मस्तिष्क और हृदय का अद्भुत सम्मिश्रण है। उन्होंने कृष्णचरित्र को अपने काव्य में नवीन और मौलिक रूप दिया है।

सन्तवर तुकाराम ने एक वार पूजाभावना से प्रेरित होने वाले स्नेहियों से कहा था "मैंने खुली आखों से अपने को मरते देखा।" पूज्य गुप्त (श्री मैथिलीशरण) जी के सम्मुख मेरा अभिनन्दन उसी स्थिति का चित्रण है। मुझे कविता काल में दो युग प्राप्त हुए हैं। इन युगों की कविताओं में अच्छाई के तत्व का श्रेय श्री गुप्त जी को है और जो अपवाद है, वह मेरा है।

श्री चतुर्वेदी जी ने आगे कवि और कविता के प्रति कहा, कि कलाकार में मीठी मुस्कान होती है। अपने मातृत्व के निर्माण में जिस प्रकार माता को लज्जा आती है उसी प्रकार कला के निर्माण में कलाकार को लज्जा आती है। भूतकाल की कला को खोकर हम विश्व में लज्जित हैं। भूतकाल को हमारे जीवन में उतरना आवश्यक है। हम जीवन के धनुष में श्वासों की प्रत्यञ्चा से संकल्पों के तीर पर भूतकाल की ओर जितना बढ़ेंगे, उतना ही हमें भविष्य दर्शन होता जायगा। —पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी

'देवीचन्द्रगुप्तम्' का आनुमानिक कथानक

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

साहित्य-संदेश के किसी पिछले अंक में 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से कुछ सानुवाद उद्धरण उपस्थित करते हुए मैंने इस प्रश्न पर विचार किया था कि 'क्या रामगुप्त और चन्द्रगुप्त परस्पर अनुरक्त थे?' कुछ और उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं, जिससे 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक लुप्त नाटक के कथानक का कुछ अनुमान लगाया जा सके।

देवीचन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो विदूषकं प्रति।
सद्वंशान् पृथुवर्ष्मविक्रमबलान् हत्वोद्धतान् दन्तिनो
हिंस्रस्याथ गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतात्।
एकस्यापि विधूतकेसरसटाभारस्य भीता मृगा
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया॥

यह अवतरण राजा भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' में से लिया गया है। विदूषक ने चन्द्रगुप्त से कहा होगा कि शत्रु के नगर में अकेले मत जाओ, वीर सुभटों को स्त्री-वेश में अपने साथ लेते जाओ। इस पर चन्द्रगुप्त की उक्ति है—

सद्वंशशाली, प्रचण्ड देह तथा विशाल विक्रम-बल वाले उद्धत हाथियों का संहार करके पर्वत की गुफा के मुख से सामने निकलते हुए, अपनी गर्दन के बालों को फरफराते हुए हिंसा की प्रतिमूर्ति एक ही वीर सिंह की गन्ध मात्र से भयभीत होकर बेचारे अनेक हरिण भग जाते हैं—वीर अकेला क्या नहीं कर सकता? इसलिए उसे संख्या से क्या सरोकार? वह एक ही असंख्य सैनिकों के लिए पर्याप्त है। ऊपर का पद्य अन्योक्ति का सुन्दर उदाहरण है, जिसके कुछ शब्दों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

पर्वत = वह स्थान जहाँ युद्ध हुआ था।
गुहा = अन्तःपुर
गुहामुख = अन्तःपुर का द्वार
दन्ती = शकपति तथा आस-पास के सुभट
मृग = सेना के सिपाही

शकराज का वध करके चन्द्रगुप्त किस मार्ग से और किस वेश में लौटा होगा, इसकी व्यञ्जना भी उक्त अन्योक्ति में है।

१२ वीं शताब्दी की फारसी की इतिहास-पुस्तक मुजम्मुल तवारीख में वरकमारीस तथा रव्वाल की जो कथाएँ मिलती हैं, उसके अनुसार वरकमारीस (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) और सामन्त-पुत्र हथियार ले लेकर स्त्री-वेश में शत्रु के शिविर में पहुँचे थे। किन्तु प्रसाद ने अपने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों को शक-शिविर में भेजा है। ध्रुवस्वामिनी के शक-शिविर में जाने का उल्लेख प्रसादजी के उक्त नाटक के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है, यह प्रसाद की कवि-कल्पना ही रही हो।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' का निम्नलिखित पद्य शृङ्गार-प्रकाश तथा नाट्य-दर्पण दोनों में मिलता है—

"वेश्यायां नायिकायां विनयरहितमपि, चेष्टितं निबध्यते। यथा विशाखदत्ते देवीचन्द्रगुप्ते माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्तिः।
आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरुचोराबध्नता नेत्रयोः।
प्रत्यङ्गेषु वरानने। पुलकिषु स्वेदं समातन्वता॥
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं संपूर्णयोरप्यसौ
केनात्रास्पृशताप्यधोनिवसनग्रन्थिस्तवोच्छ्वासिता

हे मनोहर मुख वाली! नील कमल की कांति वाले तुम्हारे नेत्रों में आनन्दाश्रुओं का उद्रेक करने वाले, रोमांचित तुम्हारे प्रत्येक अंग को स्वेद से

आर्द्र कर देने वाले, तुम्हारे पूर्ण रूप से उभरे हुए नितम्बों को प्रफुल्ल करने वाले किस पुरुष के हस्त-स्पर्श के बिना ही तुम्हारे कटि-वस्त्र की यह गांठ ढीली हो गई ?

माधव सेना मौन धारण कर लेती है। चन्द्रगुप्त उसे सुमधुर बचनों से रिझाने का प्रयत्न करता हुआ कहता है—

"चन्द्रगुप्तः—

प्रिये माधवसेने, त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय।
कण्ठे किंनरकण्ठि बाहुलतिकापाशः समासज्यतां॥
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम्
पादौ ते जघनस्थलप्रणयिनी संदानयेन्मेखला।
पूर्वं त्वद्गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति॥"

हे प्रिय माधवसेने! तू मुझे बन्धन की सजा दे। हे किन्नर-सदृश मधुर कंठ वाली! मेरे गले में तू अपनी सुकुमार भुज लता का पाश डाल। अपने स्तनों के मित्र हार द्वारा मेरे दोनों हाथों को जोर से जकड़ ले। जघनस्थल की सखी मेखला द्वारा मेरे पैरों में बेड़ी डाल दे। मेरा हृदय तो तुम्हारे गुणों द्वारा पहले ही आबद्ध हो चुका है, उसे बन्धन की आवश्यकता नहीं।

नाट्य-दर्पण में से 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का एक अंश और उद्धृत किया जा रहा है—

"अंकान्ते अंकमध्ये वा सनिमित्तं रंगात् पात्रस्य बहिर्निःसरणं निष्क्रमः। तत्प्रयोजना अनुशक्तिकादेराकृतिगणत्वाद् इकणि उभयपदवृद्धौ नैष्क्रामिकी। यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमांकान्ते—
बहुविहकज्जविसेसं अइगूढं णिण्हवेउ मअणादो।
णिक्कमइ चन्दउत्ता उत्तत्थमणा मणा रिउणो॥

(संस्कृत रूपान्तर)

बहुावधकार्यविशेषमतिगूढं निन्हूय मदनात्।
निष्कामति चन्द्रगुप्तः उत्त्रस्तमना मनाग रिपोः॥"

अर्थात् उन्मत्त का वेश धारण करके अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य-विशेष को उन्माद के बहाने अत्यन्त गुप्त रख कर शत्रु से किंचित् भयभीत चन्द्रगुप्त निकल रहा है।

इस सम्बन्ध में लिखे गये अपने पूर्ववर्ती लेख तथा प्रस्तुत उद्धरणों के आधार पर 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के आनुमानिक कथानक की रूपरेखा यहाँ नीचे दी जा रही है—

"गिरनार की घाटी में रामगुप्त ने वीरता से शत्रु-सेना के साथ युद्ध किया किन्तु उसका साहस निष्फल गया; शत्रु की विजय हुई। सेना की घबराहट को शान्त करने के लिए उसने शकराजा तृतीय रुद्रसिंह से सन्धि की जिसके अनुसार शकराज के पास अपनी रानी ध्रुवदेवी को भेजना उसने स्वीकार कर लिया।

परकलत्रकामुक शकराज को मृत्यु की शिक्षा देने के लिए रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में शत्रु-शिविर में जाने के लिए अपने बड़े भाई के पैरों पड़ अनेक बार विनयपूर्वक आग्रह किया किन्तु बन्धुवत्सल रामगुप्त ने साफ इन्कार कर दिया। अन्त में माधव सेना गणिका की सहायता से ध्रुवदेवी के वेश में चन्द्रगुप्त शकराजा के अन्तःपुर में गया और उसका काम तमाम कर डाला। फिर उन्मत्त का वेश धर सेना का नेतृत्व कर उसने शक राजधानी पर विजय प्राप्त करली। चन्द्रगुप्त के अद्भुत पराक्रम से प्रसन्न होकर रामगुप्त ने अपने सिर का मुकुट उतार कर अपने विजयी भाई के सिर पर रख दिया। कहा जाता है कि रामगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त के एक भाई और था। यह रामगुप्त से छोटा किन्तु चन्द्रगुप्त से बड़ा था। बड़े भाई के राज्य से निवृत्त होने पर, सम्भव है, इस बीच के भाई ने विद्रोह का झगडा खड़ा किया हो और छोटे भाई के हाथों इसकी मृत्यु हो गई हो और फिर चन्द्रगुप्त द्वितीय निष्कण्टक राज्य का स्वामी

बन गया हो। फिर उसने साम्राज्य का विस्तार कर उसे दृढ़ता पूर्वक स्थापित किया हो।*

मुन्शीजी ने जो 'ध्रुवस्वामिनी देवी' नामक नाटक लिखा है उसमें उन्होंने चन्द्रगुप्त के छद्मोन्माद का उल्लेख किया है। राखाल बाबू ने अपने उपन्यास 'ध्रुवा' में माधवसेना का चित्रण किया है। जान पड़ता है दोनों लेखक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों से प्रभावित हुए हैं। 'मृच्छकटिक' का चारुदत्त वसन्तसेना गणिका से प्रेम करता है फिर भी समाज में वह समादृत और सच्चरित्र हैं। 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' का चन्द्रगुप्त माधवसेना से प्रेम करता है, फिर भी वह नाटक का नायक है और समाज में उसकी उच्च स्थिति को कोई क्षति नहीं पहुँचती। तत्कालीन सामाजिक अवस्था के अध्ययन के लिए इन संस्कृत नाटकों में बहुत से उपयोगी संकेत मिलते हैं। भारतवर्ष के सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए इस प्रकार के साहित्य का अत्याधिक महत्व है जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए! 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का जो आनुमानिक कथानक मैंने प्रस्तुत किया है, उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की कट्टरता नहीं है। यह विषय अध्ययन-सापेक्ष है। ध्रुवस्वामिनी को लेकर भारतीय भाषाओं में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन में यह आनुमानिक कथानक सहायक होगा, ऐसी आशा है।

* द्रष्टव्य—'साहित्य अने विवेचन' में 'समुद्रगुप्तनो क्रमप्राप्त उत्तराधिकारी' शीर्षक निबन्ध पृ० २४४-४५

(पृष्ठ २८२ का शेष)

कार्यों का लक्ष्य व्यक्ति का स्वार्थ नहीं, अपितु वे व्यक्ति समाज के प्रति कर्तव्य रूप बन गये हैं। सामाजिक बांटों से उनको तोला जा सकता है।

राक्षस को अपनी ओर मिलाकर चाणक्य ने रक्तहीन क्रान्ति को सफल बनाया। इस कार्य की सफलता हेतु यदि छल और कपट और झूँठ का आश्रय लिया गया, तो उसमें कोई बड़ी हानि नहीं प्रत्युत जो कार्य कुछ वर्षों में मूर्त होता वही कुछ महीनों में साकार हुआ।

चाणक्य और राक्षस दोनों का चरित्र पूर्ण आदर्शमय है। दोनों की निस्वार्थ सेवा और कार्तल्लीनता युग-युग सराहनीय रहेगी। दोनों का चरित्र ही नाटक को एक पूर्ण शिक्षा प्रद और आदर्श नाटक बनाने में समर्थ है।

नाटक का कितना महान आदर्श है, गुणज्ञ शत्रु को जीत कर अपना बनाओ, हिंसा या बल के द्वारा नहीं, परिस्थितियों के घटना चक्र के निर्माण द्वारा उसके हृदय पर शासन करो, तब सच्ची सफलता मिलेगी।

अतएव यह कहा जा सकता है कि नाटक ध्वंसात्मक नहीं बल्कि रचनात्मक कार्य पद्धति की ओर संकेत करता है, इसीलिये इस नाटक को परिणत का नाटक कहा गया है, ध्वंश का नहीं।

मुद्रा राक्षस में चाणक्य और राक्षस

श्री पारसमल खीवसरा

मुद्राराक्षस नाटक अपनी स्वगत विशेषताओं के कारण संस्कृत नाट्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह नाटक शुद्ध रूप में ऐतिहासिक तत्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनैतिक परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन करते हुए यह नाटक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के चरम उत्कर्ष और नन्दवंश के विनाश का एक आंशिक चित्र उपस्थित करता है। मौर्य साम्राज्य स्थापित हो चुका था परन्तु राष्ट्र को एक बहुत खतरे का सामना करना शेष था। उसमें विफलता उपलब्ध होने पर मौर्य साम्राज्य को प्रतिष्ठा की ही नहीं प्रत्युत धन और जन की अपरिमित हानि भी उठानी पड़ती। यह कार्य राजनीति विशारद सर्वगुण सम्पन्न तथा नीतिकुशल चाणक्य ने पूर्ण किया जिससे केवल विजय लक्ष्मी ही हाथ न लगी अपितु राष्ट्र को एक सम्बल मन्त्री का अवलम्ब मिला जिससे देश सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर अग्रसर हुआ।

राजनीति का विषय साधारण कोटि की जनता के लिये योंही नीरस होता है परन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और रस-युक्त विधि से प्रस्तुत किया गया है। यही इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। विषय की गहनता और घटनाओं की जटिलता विद्यमान रहते हुए भी नाटक नाटकीय तत्व की दृष्टि से एक पूर्ण सफल नाटक है। नाटककार ने अपना नाट्य-कौशल रंग-शाला के मङ्गलाचरण द्वारा नाटक में वर्णित घटनाओं का पूर्वाभास देकर प्रस्तुत किया है। महादेवजी की वाक्चातुर्यता और कपटपूर्ण विचार-विनियम यह प्रगानुमान कराता है कि नाटक राजनीति की कूट चालों से पूर्ण है।

धनिया कौन तुम्हारे सिर पर,
इन्दुकला क्या नाम यही।
परिचित भी क्यों भूल गई तू,
है यह इसका नाम सही॥
कहती ललना को, न शशि को,
कह दे विजया नहीं विश्वास।
सुरसरि के यों गोपन इच्छुक,
शिव का शाठ्य हरे सब त्रास॥

नाटक की कथा रोचकता से पूर्ण है। एक जिज्ञासा, रहस्यभावना प्रारम्भ से अन्त तक नाटक में बनी रहती है। नाटक के विषयानुकूल ही पात्र तथा उनका पारस्परिक कथोपकथन है। प्रमुख पात्रों का विशद चरित्र चित्रण नाटककार की काव्य कुशलता का परिचायक है। दो राजनीतिज्ञों तथा उनके आश्रयदाताओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त घटनाओं के रहस्य का उद्घाटन नाटक को उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँचा देता है।

नाटक के प्रधान पात्र कूटनीति के धुरन्धर विद्वान् सम्राट चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य ही हैं। मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य के जीवन का केवल वही भाग दर्शाया गया है जो चन्द्रगुप्त की अस्थिर राज्य लक्ष्मी को स्थिर एवं दृढ़ बनाने में व्यतीत हुआ। वस्तुतः वह भी जीवन की केवल एक झाँकी मात्र है। चणक ऋषि के पुत्र होने के कारण चाणक्य कूटनीति के कुशल प्रयोक्ता होने के कारण कौटिल्य कहलाये अन्यथा आपका यथार्थ नाम विष्णुगुप्त था। नन्दवंश के स्वामिभक्त अमात्य राक्षस उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। नाटक में वर्णित चाणक्य का समस्त जीवन राजनीति के षडयन्त्रों के मध्य में व्यतीत होता है, उसकी निस्वार्थ सेवा दृढ़ प्रतिज्ञ-

शीलता दूरदर्शिता और देश हित उनका महान् त्याग आज भी हमारे सम्मुख प्रमाण स्वरूप है। देव और भाग्य को कर्माधीन मानने वाला कर्मवीर विलासी नन्दवंश को समूल नष्ट कर पूर्ण आत्म विश्वास के साथ शूद्र जाति के एक युवक को सम्राट पद पर सुशोभित करना उसकी कार्य प्रवीणता का ही द्योतक है। नव गुणों का सच्चा जौहरी, वेदक शास्त्रों का पूर्ण पण्डित, रसायन विद्या का ज्ञाता, आदि गुण उसकी बहु विज्ञता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

नाटक की समस्त घटनाएँ राजनीति के दाँव-पेच उसी के द्वारा सञ्चालित होते हैं, घटनाओं पर उसका नियंत्रण ठीक उसी प्रकार है जैसे एक नट का कठपुतलियों पर होता है। चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी राक्षस की परिस्थितियों से पूर्ण परिचित है। यही नहीं उसके समस्त कार्य कलापों पर अपना आधिपत्य जमा उनको इस विधि से सञ्चालित करता है कि अपना हित साधन हो। चाणक्य यथाशक्ति सचेत है, राक्षस को अपने वश में करने हेतु, स्वपक्ष और परपक्ष और दोनों पक्षों के प्रेमियों और द्वेषीजनों को जानने की इच्छा से विविध देशों की भाषा वेश तथा आचार व्यवहार में निपुण भिन्न भिन्न रूपधारी अनेक गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया। वे कुसुमपुर निवासी नन्द के मन्त्री और मित्रों की गतिविधि एवं उनके कार्य व्यवहारों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते भालते रहते हैं। अपनी नीति और चातुर्यता के बल पर शत्रु और उसके हृदय पर विजय प्राप्त की। उसकी स्वामिभक्ति दूरदर्शिता तथा गुण ग्राहकता और सच्ची देश सेवा से प्रेरित नीति ने वह कार्य सिद्ध किया जो तलवारों से या लाखों मनुष्यों के बलिदानों से भी सम्भव न था। देखिए अपनी नीति पर कितना आत्म विश्वास था ?

वृषल हेतु निज मति से करके,
सम्मुख अपने आज आधीन।
बल्य मंत गज तुल्य करूँगा,
तुम को अब मैं कार्य लीन॥

राक्षस को मन्त्री पद स्वीकार कराने हेतु चाणक्य ने उन परिस्थितियों तथा घटना चक्रों का निर्माण किया कि राक्षस का हृदय ही परिवर्तन होगया।

चाणक्य की नीति के मूलमंत्र हैं—

'विश्वस्तेष्वपि न विश्वसेत"

अर्थात् विश्वस्त से विश्वस्त पुरुष पर भी विश्वास न करो। अर्थात् परीक्षा लेकर विश्वास करो। दूसरी नीति मन्त्र है—

"मनसा चिन्तित कर्म वचसा न प्रकाशयेत"

अर्थात् मन की सोची हुई बात का पता वाणी को भी न लगे।

तीसरा नीति मन्त्र है—

"दैव भवि द्वास प्रमाणस्ति"

अर्थात् मूर्ख लोग ही देव और भाग्य पर विश्वास करते हैं। चाणक्य के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि जब तक चिन्तित कर्म या अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न हो तब तक चैन या शान्ति कैसी ? चाणक्य की निस्वार्थ सेवा उसका देश प्रेम चन्द्रगुप्त का पूर्ण विश्वास उसके गुप्तचरों की कार्य प्रवीणता पारस्परिक सहानुभूति तथा उसका आत्म बल और मानव स्वभाव का सच्चा परीक्षक आदि गुण ही उसकी सफलता के मूल कारण थे। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त को इस बात पर लज्जा हो रही है कि आर्य ने दुर्जय शत्रुओं को बिना युद्ध के ही पराजित कर दिया।

शयन निरत मुझसा नृपति, जगते सचिव उदार।
सकल जगत जय कर सके तज भी धनु व्यापार॥

राक्षस के चरित्र में चाणक्य के सदृश साहस नीति चातुर्यता तथा कार्य प्रवीणता दृष्टिगोचर नहीं होती। वे राजनीति की कूट चालों को समझने में

कभी-कभी ही नहीं बल्कि सर्वथा ही भूल करते हैं, जीव सिद्धी मित्र है अथवा शत्रु का गुप्तचर यह वह अन्त तक निर्णय नहीं कर सका, अन्त में यही इसके पतन का कारण बना। वह राजनीतिज्ञ अवश्य था, चन्द्रगुप्त के नाश हेतु उसने गुप्तचरों का जाल सा बिछा रखा था, पर गोपनीय नीति और मनुष्य को पहचानने की शक्ति के अभाव स्वरूप सफलता देवी उसके हाथ न लगी। सहज विश्वासीपन ही के कारण उसको प्रत्येक कार्य में असफलता मिली। उसका हृदय स्वामी-भक्ति स्वाभिमान और आत्म-गौरव से पूर्ण था, इसलिये तो चन्द्रगुप्त द्वारा मन्त्री पद के निमन्त्रण को पाकर भी उसे स्वीकार नहीं किया, परन्तु परिस्थितियों के फेर में पड़कर मित्र स्नेह वश अपने पूर्व प्रण को भूल जाता है और सम्राट चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद स्वीकार कर लेता है। राक्षस के चरित्र में सफल राजनीतिज्ञ के गुणों के अतिरिक्त शस्त्र वीरता तथा एक योग्य सेनापति के गुण अधिक लक्षित होते हैं। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सेनाओं ने कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया है यह समाचार सुनकर अति अधिक आवेश में अपनी तलवार खीचकर क्रोध प्रकट करता है, तथा चन्दनदास की रक्षा हेतु शीघ्र ही अपनी तलवार को म्यान से बाहर निकालता है :—

जलधर रहित नभतुल्य जिसकी,
मूर्ति शोभित हो रही।
यह समर पुलकित हाथ में मम,
खड़ग लख पड़ता वही॥
जिसके अधिक बल की परीक्षा,
युद्ध मध्य हुई अहा।
अब सुहृद प्रेम अधीन मुझको,
रण समुद्यत कर रहा॥

राक्षस की एतिहासिकता का पूर्ण प्रमाण न मिलने पर भी नाटक की शुद्ध एतिहासिक पृष्ठ भूमि तथा घटनाओं की सत्यता के आधार पर ऐसे प्रमुख पात्र को कल्पित मान लेना बुद्धि सङ्गत प्रतीत नहीं होता। राक्षस में एक सफल कूटं नीतिज्ञ की अपेक्षा शस्त्र वीर सेनापति, योग्य अमात्य, मित्र स्नेही स्वामी भक्त और निस्वार्थ सेवी आदि गुण ही अधिक लक्षित होते हैं।

१—सामान्यतः मुद्रा राक्षस नाटक पर दो आक्षेप किये हुये हैं। नाटक में स्त्री पात्रों का अभाव है जिससे नाटक में रोमान्स नहीं रहा अथवा दूसरे शब्दों में नाटक में माधुर्यता और सौन्दर्यता का पूर्ण अभाव है।

२—नाटक से कोई उच्च शिक्षा नहीं मिलती है, दोनों ओर के पात्र शत्रु को मार्ग से हटाने के लिये अवसर पड़ने पर घृणित से घृणित कार्य करने में भी तनिक सङ्कोच नहीं करते।

प्रथम आक्षेप के उत्तर में यही कहा जा सकता है, कि चूँकि नाटक शुद्ध राजनीतिक चालों से पूर्ण है और राजनीतिज्ञ के लिये स्त्रियां सुख और दुख में भार सी प्रतीत होती हैं, और चूँकि यह राजनीति मूलक नाटक है और वीर रस प्रधान है इसलिये इसमें सौन्दर्य और माधुर्य अथवा शृङ्गार और करुण रस को खोजना या आशा करना व्यर्थ ही है। उसमें कर्म वीरत्व का सन्देश है, आदर्श और त्याग का द्वन्द है। नाटक के अन्तिम अंकों में स्त्री रङ्गमञ्च पर अवश्य आती है, परन्तु वह भी अपने कर्तव्य पर बलि होने के लिये दृढ़ है। चन्दनदास की तरह वह भी स्वार्थ त्यागिनी के रूप में प्रदर्शित है।

नाटक पर दूसरा आक्षेप सर्वथा निराधार है, तथ्य हीन है। नाटक में राजनीति मूलक वे आदर्श वर्णित हैं जो अन्यत्र अलभ्य हैं। देव और भाग्य पर विश्वास करने वालों की पराजय और उनका कर्मवीरत्व का सन्देश देकर नाटक अजर अमर बन सका है।

नाटक में वर्णित घटनाओं के औचित्य को व्यक्ति के मापदन्ड से नहीं आंका जा सकता, उन

(शेष पृष्ठ २७६ पर)

छायावाद की पृष्ठभूमि

श्री यशदेव

........उन्नीसवीं शताब्दि के यूरोप में प्रायः सभी विचारधाराएँ हेगल के विज्ञान-वाद और स्पिनोजा के निसर्गवाद से प्रभावित थीं। अध्यात्म वाद की इस लहर ने चिन्तन और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों में एक विशेष सूक्ष्म और रहस्यभाव का पुट दिया। प्रकृति का सौन्दर्य किसी विराट् सूक्ष्म-सत्ता की भावना से सजीव हो उठा। उसके लिए आँसू और वर्षा में अब विशेष अन्तर न था, वह इन दोनों ही के पीछे किसी अज्ञात हृदय की वेदना को विह्वल देखता था।

हेगल की उस विचारधारा का, जो ब्रह्म को विश्वातीत न मान कर स्वयं विश्व की प्रान भूत सत्ता या एकमात्र अस्तित्व मानती थी, पूँजीवादी युग के लिए सहज हो उठना स्वाभाविक ही था। बुद्धितत्व पर उसके अधिक बल देने से तो उसका दर्शन और भी अधिक प्रेषनीय हो सका। उसने कहा—

The real is rational and the rational is real.

'यथार्थ' और तर्क के विषय में हम पीछे लिख आए हैं कि वह किस प्रकार परिस्थिति-सापेक्ष हैं, किन्तु विज्ञानवादी हेगल तर्क को असीम बुद्धितत्व की जो स्थूल 'अस्तित्व' का साक्षी है, प्रक्रिया मानता है। उसके अनुसार मूल-अस्तित्व बुद्धि या चित है और चित की प्रवृत्ति ही प्रकृति का निर्धारण करती है। किन्तु यह कितना भ्रामक है, यह हम पीछे देख आये हैं। चित भी परिवृत्ति का ही निर्माण है, मनुष्य अधिक विकास कर समाज से प्रतिक्रिया और प्रक्रिया को निर्धारित करता है। यही ठीक है कि व्यक्ति इस प्रतिबिम्ब का निष्क्रिय दृष्टा नहीं, उसमें स्नायविक विकास भी काफी प्रभाव शाली होता है किन्तु यह विकास भी परि-वृत्ति—सापेक्ष ही है न कि चित्तसापेक्ष। अतः हेगल की विचार धारा से हम मूलतः ही सहमत नहीं, और वह आज गलत प्रमाणित हो चुकी है।

जो भी हो, हेगल में उस युग का आत्म-विश्वास स्वातन्त्र्यभावना और बुद्धि के प्रति उत्साह ही मूर्त हो उठा था। किन्तु स्वतन्त्रता का यह उल्लास किन्हीं ठोस आधारों पर न था क्योंकि समाज और व्यक्ति पूँजीवादी अन्तर्विरोधों से निपीड़ित हो रहा था; पूँजीवाद ने विज्ञान की विजय-वाहिनी से जो जय-घोषणा की थी वह स्वयं दलदल में फँस गया था। स्वतन्त्र व्यापार और तीव्र प्रतियोगिता ने जिस व्यक्तिवाद को जन्म दिया था और तज्जन्य प्रजातन्त्र के आदर्श ने जिस स्वातन्त्र्य भावना को उत्पन्न किया था, उसका सामाजिक सम्बन्धों से कहीं मेल न था, क्योंकि व्यक्ति अर्थ तन्त्र की भयानक अनिश्चित और क्रूर मशीन में कहीं भी अपने आपको निश्चित और स्वतन्त्र अनुभव नहीं कर सकता था। किन्तु इसका कारण वह स्वतन्त्रता की कमी को ही समझता रहा जिस स्वतन्त्रता ने उसको उस अवस्था में ला पटका था और उस बन्धन का दोषी उस समाज को ठहराता था जिसके कारण वह कर्त्तव्यों और नैतिकता के बन्धनों में बँधा था। किन्तु उसकी स्वतंत्रता का अर्थ एकवर्ग की स्वतंत्रता था क्योंकि सर्व हारा वर्ग की परतन्त्रता पर ही तो उसकी स्वतन्त्रता का भवन खड़ा हो सकता था। साधारण तथा निम्न मध्यम वर्ग भी अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव न कर सकता था क्योंकि उसी के सिर पर अन्ततः पूँजीपति के लाभ का दायित्व था। फिर भी यह वर्ग अपना प्रतियोगी पूँजीपतियों को ही समझता रहा और उसकी सहूलियतें न पाकर

निराशा और क्षोभ को जन्म देता रहा। नवीन युग की विचारधाराओं को इसने प्रश्रय दिया किन्तु वास्तविकता को न समझ कर उसके परिणामों का कारण वह वर्ग को नहीं सामाजिकता को समझता रहा।

इसीलिए उस युग में प्रत्यक्ष बन्धनों पर मानसिक स्वातन्त्र्य का पर्दा डालकर आध्यात्मिक रस सृष्टि की प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी सामाजिक-उद्देश्य और आदर्श के अभाव में बुद्धि वादी विकृतियों की ही सृष्टि कर सकता है, किन्तु उस युग की आशा और विश्वास से अनुप्राणित परिवृत्ति वे उसको—उसकी निराशा को—स्वप्नलोक में निर्वासित कर दिया क्योंकि वह आशा और विश्वास एक वर्ग की ही निधि थे ? यही कारण है कि उसका विश्व ब्रह्म की ओर उन्मुख न होकर स्वयं ब्रह्म हो रहा था; उसका ब्रह्म उसकी काल्पनिक स्वतंत्रता का प्रतीक था, जिसमें यह विश्व उसके चित्त से निर्धारित होता है; वह स्वयं इस कार विश्व-नियन्त्रण का काल्पनिक आनन्द प्राप्त कर सका। यह 'सम्पूर्ण' उसकी ही आत्माभिव्यक्ति था। वास्तव में यह उसके अहम् का वृहदीकरन मात्र था।

बुद्धिवाद के प्रसार का कारण विज्ञान को बताया जाता है, यह ठीक ही है; किन्तु पूँजीवादी युग में, जबकि सर्वहारा अपनी सम्पूर्ण कलात्मक-चेतना खो चुका होता है और पूँजीपति के लिए आर्थिक प्रतियोगिता ही प्रमुख होगई रहती है—भावना को स्थान नहीं हो सकता। विज्ञान अप्रत्यक्ष शक्तियों को समाप्त करने के कारण बुद्धिवाद का जनक तो है किन्तु यह बुद्धिवाद भावना को समाप्त नहीं कर देता। इससे हम अज्ञता सुलभ श्रद्धा को छोड़ कर ज्ञानपूर्वक अपनी भावनाओं को नियोजित करते हैं। श्रद्धा सत्य के प्रति भावात्मक प्रवृत्ति है, सम्भवतः विज्ञान सत्य का अपघातक नहीं, 'प्रत्युत' दृष्टा को निश्चयात्मकता ही देता है। अतः विज्ञान को श्रद्धा का विरोधी नहीं कहा जा सकता'। वैज्ञानिक बुद्धिवाद मानवता के युग में अद्वितीय घटना होता, क्योंकि इससे हमारी श्रद्धा को दृष्टि भी मिलती और इस प्रकार श्रद्धा और बुद्धि पृथक् न रह कर ज्ञान का गौरव पाते, किन्तु पूँजीवाद ने बुद्धिवाद को तर्क का पर्याय बना दिया क्योंकि उसका 'सत्य' गौरव-शाली न था, इसी से श्रद्धा को वहाँ कोई स्थान नहीं हो सकता था और वह सत्य भी एक वर्ग का सत्य था सभी का समान नहीं। अतः विज्ञान-दत्त अभिज्ञता को पूँजीवाद से हीन दिशा ही मिली। अतएव बुद्धिवाद का विकृतरूप ही हमारे सम्मुख आया और आज जबकि पूँजीवाद अपने अन्तिम चरण में है, उसकी विकृति शतमुखों से ध्वनित हो रही है। कलाएँ सस्ते मनोरञ्जन के लिए वेश्यावृत्ति करने को वाध्य हो गई हैं और बुद्धि वितृष्णा उत्पन्न करने को मजबूर। गम्भीर और महान 'दर्शन' तथा स्वतः प्रवाह शिव-सौन्दर्य को आज कोई स्थान सम्भव नहीं, क्योंकि आज इतनी सजीवता ही शेष नहीं जो चिन्तन और संयम का भार सह सके, आज तो विस्मृति की आवश्यकता है। इसका कारण वह श्रम-विक्रय ही है जो श्रमिक के पास अपना कहने को कुछ भी नहीं छोड़ता और उसके कला-बोध को कुण्ठित कर देता है। दूसरी ओर वह प्रतियोगिता है जो पूँजीपति को भावना शून्य असामाजिक तथा अमानवीय बना देती है। क्योंकि उसका वातावरण ही ऐसा होता है जहाँ जीवन को निर्वासित कर देना अनिवार्य रहता है, अतः उसकी जीवन की प्यास, अमूर्त अनभिव्यक्त और अनिर्धारित प्रवृत्तियाँ (Instincts) तृप्ति के लिए बेचैन हो उठती हैं। क्योंकि वह वाह्य परिवृत्ति के साथ अन्तर की ओर लौट नहीं सकता (उसकी परिवृत्ति है अर्थ की जड़ दासता) और क्योंकि वह प्रवृत्ति का आन्तरिक परिवृत्ति से (जो सामाजिकता

का वरदान (अभिशाप) है।) कोई सामञ्जस्य नहीं बिठा पाता, अतः उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह प्रवृत्ति की प्यास बुझाने के लिए अन्तर और वाह्य परिवृत्ति से छुटकारा पाये—विस्मृति खोजे। श्रद्धा और प्रेम को हमारी परिवृत्ति के शिव और सौन्दर्य से पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु बुद्धि परिवृत्ति की दुहिता होकर भी किसी सिद्धान्त विशेष के आधार पर उससे निर्लिप्त भी हो सकती है। यह ठीक है कि वह परिवृत्ति से पृथक कुछ नहीं किन्तु वह परिवृत्ति के आधार पर परिवृत्ति को अस्वीकृत भी कर सकती है, क्योंकि भावना को उसके विषय Object से पृथक नहीं किया जा सकता जबकि बुद्धि अपने विषय से सहज ही पृथक की जा सकती है। अतएव बुद्धि व्यक्तिवाद से समर्थित होकर पारलौकिकता और लौकिकता दोनों से ही निषेध कर सकती है और व्यक्तिवाद की जनक सामाजिक परिवृत्ति के आधार पर समाज का निषेध कर वीभत्स तृप्ति में निर्वासित हो सकती है। भावना परिवृत्ति का प्रवृत्तीकरण है अतः वह भी अच्छी या बुरी हो सकती है किन्तु उस सीमा तक नहीं, यदि वह क्रोध और द्वेष इत्यादि की बुरी संज्ञा ही नहीं पा जाती। प्रेम या श्रद्धा सुन्दर और सत्य का भावन है; अनुभूति एक ही सत्य और सौन्दर्य व्यक्ति को सभी सत्यों और सौन्दर्यों के प्रति संवेदनशील बना देगा और उसकी यह संवेदना जितनी ही अधिक बलवती होगी वह उतना ही अधिक परिष्कृत और 'महान्' बन जायेगा, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक अप्राकृतिक, अवैयक्तिक और मानवीय होगी। घृणा और क्रोध भी भावनाएँ ही हैं किन्तु ये मूलतः निषेधात्मक और अस्थाई हैं, क्योंकि ये समाज-विरोधी हैं। अतः मनुष्य स्वयं ही इन्हें स्थाई नहीं रखना चाहता। यदि ये कुछ स्थायित्व बना ही लें तो भी ये अपकारक सामाजिक हैं—बुद्धिवाद के समान शून्य में निर्वासित नहीं कर सकतीं। अतः बुद्धिवाद तर्क विशिष्ट होने से जीवन और मनुष्यता के प्रति निषेध रूप में ही आया। किन्तु वे लोग जो न तो सर्वहारा थे और न पूँजीपति, जिन पर परम्पराओं का भार था और नवीन से असमर्थता सुलभ डाह, जो पूँजीवाद की रहस्यमय प्रक्रिया न समझ सकने से अन्तर्विरोधों में उलझ रहे थे, जो न तो अपनी परिवृत्ति से सन्तुष्ट थे और न सकारणता से अभिज्ञ। वे या तो सूनेपन की ओर लौट रहे थे या हलचल में अपने आप को खो रहे थे। इनमें भावना थी किन्तु कोई स्वीकृत दृष्टि-विन्दु न था, इसी से इनकी अनुभूति प्रथम आत्म-केन्द्रित हो फिर विषया की ओर प्रवृत्त होती थी, इसी से इस युग के काव्य में अहं-व्यक्ति प्रधान है और वह विषयों को उसी माध्यम से इकाई रूपेण—निरपेक्ष देखता है। और उसी निरपेक्ष सौन्दर्य या निरपेक्ष सत्य को अपनी कल्पना में असीम और शाश्वत बना लेता है। उसकी प्रेयसी नारीत्व की गरिमा और मंजुलता की प्रतीक होते-होते स्वतन्त्र तत्व के रूप में उपस्थित होती हैं, निराश्रय भावना विश्व-कथा का संगीत बन जाती है और 'अनन्त' चिर-विरह की वेदना लेकर उसकी आत्मा की गहराइयों में पर्यवसित होने लगता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि उस काल का इंग्लिश साहित्य बेजान है, किन्तु हमारी उपर्युक्त विशेषताएँ इसमें विद्यमान हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, इसका क्या कारण है, कि इन कमियों को लेकर भी यह साहित्य प्रभावशाली है! तब प्रश्न उत्पन्न होता है।'

इसके उत्तर के लिए हमें एक और प्रश्न करना होगा। इलियट का काव्य, जो जीवन से निषेध करता है, इतना प्रभावशाली क्यों है? बच्चन और अञ्चल का साहित्य इतना सरस क्यों है? *

* यहाँ बच्चन और इलियट में समानता दिखाना अभीष्ट नहीं। न समानता है ही।

पीछे साहित्य की शाश्वतता का कारण देखते हुए हम बतला आए हैं, कि "कला का मूल स्रोत भावानुभूति है और यह अनुभूति प्रवृत्तियों का समाजीकरण।" भावात्मकता जहाँ है, वहीं काव्य है, अतः इलियट, बचन या अञ्चल के पद्य भी, जहाँ अनुभूति है, काव्य हैं; किन्तु केवल काव्यत्व ही प्रेषनीय नहीं हो सकता। अनुभूति को विचार भी प्रभावित करते हैं। 'वर्तमान' समाज में ये विचार विद्यमान थे, जो इनके काव्य में अभिव्यक्ति पा रहे थे, अतएव वे इतने अधिक प्रेषणीय भी हो सके, जिस दिन यह विचार धारा नहीं रहेगी। उस दिन भी अपनी अनुभूति की गहराई के कारण ये काफी प्रभावशाली रहेंगे, किन्तु कुछ विशेषणों के साथ मिट भी सकते हैं। किन्तु अपनी इसी कमी के कारण ये सतकाव्य–महत्‌काव्य—नहीं कहला सकते; यही रोमैंटिक काव्य के लिए भी (अंशतः) सत्य है, अन्तर केवल परिमाण का है। सामाजिक मनुष्य में यह विशेषता है कि वह 'स्वभावतः' शिव का ही स्वागत करेगा, जो कवि अपनी अनुभूति को जितना अधिक आत्म केन्द्रित करता जाएगा, उसकी अनुभूति उतनी ही निष्प्राण तथा क्षय-शील होगी। फिर जिस निराशा, पराजय और नश्वरता को इन्होंने अपना आदर्श बनाया उससे किसी महान् सृजन की आशा ही व्यर्थ है। सभ्य-पूर्व का मृत्यु य, सामन्तयुगीन धर्म की नश्वरता की ओर निरन्तर जागरूकता इस जीवन को अधिक पूर्ण बनाने की प्रेरणा ही देती थी किन्तु इलियट की जीवन की नश्वरता के प्रति पराजय भावना जीवन से पलायन है।

तो भी शैली और बायरन का काव्य पर्याप्त सजीव और सप्राण है, उसमें पराजय भावना सीमा तक नहीं पहुँची। शेक्सपीयर के बहादुर और जीवन के साथ खेलने वाले पात्रों को तो हम वहाँ नहीं पा सकते, इस युग में जो एक विशेष 'समझदारी' और जीवन से निराशा उत्पन्न हो गई है, वह इसको स्वभावतः निर्दल बना देती है, तो भी इनमें उत्साह है, जीवन है और उसके प्रति आनन्द और आह्लाद की भावना भी है।

× × ×

ये विचार और अनुभूतियाँ हमारे देश में भी आकाश मार्ग से आईं और हमने इनका स्वागत किया—क्योंकि हमारे यहाँ जो आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनमें राज-दरबारों का साहित्य स्थान नहीं पा सकता था। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ एक विशेष राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवाद की जो लहर आई वह यूरोप की भूमि की ही उपज थी। हमारी भूमि इसके लिए तैयार थी किन्तु बिल्कुल भिन्न आधारों के साथ। हमारे यहाँ न तो वैज्ञानिक समृद्धि का युग आया और न हम अपने स्वाभाविक सांस्कृतिक विकास के लिए स्वतन्त्र थे, हमें तो केवल पूँजीवाद से शोषण और दूसरी संस्कृति से 'जबरदस्ती की दोस्ती' मिली। इसकी प्रतिक्रिया हुई अवश्य, जिसे हम चर्खे के आन्दोलन में विशेष रूप से देखते हैं, किन्तु यह संरक्षण सम्भव नहीं हो सकता था, क्योंकि हम पीछे की ओर इसके लिए देख रहे थे। इस सबके कारण हमारी सांस्कृतिक भूमि दृढ़ और निश्चित नहीं हो सकी, अतएव हमारे साहित्य में निराशा और क्षणशील प्रवृत्तियाँ ही अधिक हैं।२

छायावाद, विचार-धाराओं की इसी परिवृत्ति के साथ आया। तत्कालीन सुधार आन्दोलनों से समर्थित द्विवेदी युग के निरन्तर विरोध करने पर भी इसे रोका नहीं जा सका। सुधार आन्दोलनों का मुख्य कारण दूसरी संस्कृति के संघर्ष में आई हुई अपनी संस्कृति के प्रति संरक्षण की भावना ही थी, इसी से उन दिनों इस देश के सर्वाधिक प्राचीन और सभ्य तथा आर्यों का ही देश होने पर बल दिया जाता था। इतना ही नहीं, आज की प्रत्येक नवीन खोज, को भी पुरातन ग्रन्थों में लिखित प्रमाणित कर नवीन को अपनाने की प्रवृत्ति भी

स्पष्ट थी। इसके लिये सामाजिक आदर्श, श्रद्धा और उत्साह आवश्यक हैं, किन्तु पराजित संस्कृति और विशृङ्खलित अर्थ-तन्त्र इस संघर्ष में अधिक देर नहीं टिक सकते थे। नवीन परिस्थितियाँ जिन विचार-धाराओं को निमन्त्रण दे रही थीं, यह उनके प्रति प्रतिक्रिया भाव थी; वे नवीन को स्वीकार करने को अब तैयार तो थे, किन्तु पुरातन से अनुमति लेकर। अतएव हमारा समाज उन सुधारवादी विचार-धाराओं को चाहता हुआ भी अपना न सका। द्विवेदी युग भी उन्हीं परिस्थितियों में आया था, अतः उसके लिए भी यही सत्य है। वह युग जो कभी कभी पुरातन को अस्वीकार करता है वास्तव में विशेष पुरातन को ही, क्योंकि इसमें (मध्य-युग में) हमारी संस्कृति निरन्तर पराजित होती रही, जबकि संघर्ष के लिए प्रेरणा स्वर्ण युगों से ही मिल सकती है।

परिणाम-स्वरूप द्विवेदी युग के पश्चात् शीघ्र ही छायावाद ने जन्म लिया। प्रसाद तो द्विवेदी-युग के मध्याह्न में ही काव्य-क्षेत्र में आगये थे और इन्दु में प्रकाशित होने वाली उनकी छायावादी कृतियाँ 'सरस्वती' के प्रकोप के बावजूद पसन्द की जा रही थीं। कुछ ही समय पश्चात् आने वाले निराला के स्वच्छन्द छन्द और पन्त की कोमल-कान्त पदावली तथा सूक्ष्म भाव-गुंफन शैली ने एक नवीन आन्दोलन सा खड़ा कर दिया। निरालाजी की प्रथम मुक्तक रचना 'जुही की कली' इतनी प्रसिद्ध हुई कि और किसी भी कविता को इतनी प्रसिद्धि का श्रेय देना कठिन सा प्रतीत होता है।

बहुत से आलोचक छायावाद को द्विवेदी युग के स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह बतलाते हैं। यह वाक्य बहुत ही प्रसिद्ध हुआ, किन्तु यह बहुत ही उपहासास्पद भी है। यदि बात इतनी ही आसान होती तब तो कहना ही क्या क्योंकि इसका अर्थ है कि काव्य आत्मा की आँख मिचौनी की क्रीड़ा का उद्‌गम मात्र है जिसका अपनी परिस्थितियों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। यदि यह मान ही लिया जाये तो द्विवेदी-युग को किसकी प्रतिक्रिया कहेंगे? रीतिकालीन काव्य किस स्थूल से तंग आ गया था? यदि उसे भक्ति की प्रतिक्रिया मान लिया जावे तो संस्कृति का रीतिकाव्य किस भक्ति-काव्य की प्रतिक्रिया थी? स्वयं भक्ति-काव्य किस स्थूल की प्रतिक्रिया थी? वीर काव्य किस शान्त रस के विरुद्ध विद्रोह था?

यह ठीक है कि युग-विकास क्रिया-प्रतिक्रिया रूप में होता है, किन्तु यह परिवर्तन आधारभूत आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में पहिले होता है, पीछे उनके आधार पर काव्य में। ग्राम्य-साहित्य में यह परिवर्तन प्रायः न के बराबर दीखता है, बाहर से जो नवीन विचार वहाँ जाते भी हैं वे उनको दूर तक परिवर्तित न कर स्वयं उनके अनुसार ढल जाते हैं, इसका कारण क्या ग्राम्य जीवन में स्थूल और सूक्ष्म का कुण्ठित होना है? स्पष्ट ही इसका उत्तर नकारात्मक होगा, क्योंकि इसका कारण वहाँ की आर्थिक परिस्थितियों का बड़ी धीमी चाल से विकसित होना है। यदि वहाँ आर्थिक परिवर्तन ला दिये जायें तो सब कुछ पल में ही बदल जायेगा। अतः छायावाद के लिये भी यही सत्य है।

किन्तु छायावाद को द्विवेदी-युग की आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन का ही परिण... नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हमारा निर्माण केवल आर्थिक परिस्थितियों से ही नहीं सांस्कृतिक संघर्षों से भी प्रभावित हो रहा था। द्विवेदी-युग जहाँ सांस्कृतिक संरक्षण और जागरण का परिणाम था वहाँ छायावाद काल नवीन संस्कृति और विचार-धारा की स्वीकृति का, तो भी छायावाद काल की आर्थिक परिस्थितियाँ भी कम सहायक नहीं हुईं।

(शेष पृष्ठ २९२ पर)

'कुरुक्षेत्र' का विचार-तत्व

श्री सिद्धनाथ कुमार, एम० ए०

युद्ध मानवता के इतिहास का वह रक्त-चिह्न है, जिसने प्रत्येक युग में भावुक हृदयों को आँदोलित किया है और चेतन मस्तिष्कों से अपने औचित्य का समाधान माँगा है। वर्तमान युद्ध-समस्त संसार, जिसे अपने सम्मुख ही दो भयंकर महायुद्धों तथा अनेक छोटे युद्धों और क्रान्तियों को देखना पड़ा है, इस रक्त-चिह्न को और भी ज्वलन्त रूप में युग के सामने उपस्थित कर रहा है। 'दिनकर' के जागरूक कवि ने अपने 'कुरुक्षेत्र' में इसी रक्त-चिह्न की समस्याओं पर विचार किया है।

'कुरुक्षेत्र' एक काव्य-ग्रन्थ है, लेकिन जब यह कहा जाता है, कि कवि ने इसमें युद्ध की समस्याओं पर विचार किया है, तब तात्पर्य केवल यही होता है, कि 'कुरुक्षेत्र' एक चिन्तन-प्रधान काव्य है। स्वयं कवि ने कहा है—'दरअसल' इस पुस्तक में मैं, प्रायः सोचता ही रहा हूँ' अथवा 'ये ही कुछ मोटी बातें हैं, जिन पर सोचते-सोचते यह काव्य पूरा हो गया।' वास्तव में, 'कुरुक्षेत्र' में चिन्तन प्रधान है, यही भावना के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है। ये भावनाएँ युधिष्ठिर और भीष्म के जीवन से सम्बद्ध हैं; जहाँ ये पात्रों के जीवन अथवा तत्कालीन युग की पृष्ठभूमि से अलग हो जाती हैं, वहाँ (जैसे, सप्तम सर्ग में) केवल बुद्धि की वाणी ही सुनाई पड़ती है। इसीलिए, कवि का यह कथन कि 'यह तो, अन्ततः, एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है, जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है' सत्य नहीं ज्ञात होता। तथ्य यह है कि 'कुरुक्षेत्र' में विचार प्रधान है, भावनाएँ गौण। यहाँ हमें इन्हीं विचारों द्वारा प्रस्तुत युद्ध की समस्याओं और उनके समाधानों पर प्रकाश डालना है।

सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित विचारों का संघर्ष कवि के मन में उठे हुए तर्क-वितर्कों का संघर्ष है। प्रत्यक्ष रूप में कवि के विचार युधिष्ठिर के विचारों से साम्य रखते हैं। जिस प्रकार कवि युद्ध का मूल, व्यक्तियों के स्वार्थों के संघर्ष में देखता है—

> विश्व मानव के हृदय निर्द्वेष में।
> मूल हो सकता नहीं, द्रोहाग्नि का,
> चाहता लड़ना नहीं समुदाय है।
> फैलतीं लपटें विषैली, व्यक्तियों की साँस से।

उसी प्रकार युधिष्ठिर भी कहते हैं—

> दुनिया तज देती न क्यों उनको।
> लड़ने लगते जब दो अभिमानी?

लेकिन यद्यपि कवि ने अपने शब्दों में कभी भीष्म के विचारों का समर्थन नहीं किया है, पर 'कुरुक्षेत्र' का अथवा दूसरे शब्दों में, कवि का, प्रतिपाद्य वही है, जो भीष्म की वाणी से बार-बार व्यक्त हुआ है—

> पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग।

तात्पर्य यह कि 'कुरुक्षेत्र' में प्रारम्भ से अन्त तक कवि ही दोनों पक्षों से सोचता और बोलता रहा है।

युद्ध के सम्बन्ध में प्रथम प्रश्न उसके कारण से सम्बन्ध रखता है। जैसा ऊपर कहा गया, 'दिनकर' ने 'स्वार्थ लोलुप सभ्यता के अग्रणी नायकों के पेट में जठराग्नि-सी' जलती हुई 'कुटिलद्रोहाग्नि' को ही युद्ध का कारण माना है। युधिष्ठिर ने इसी को दूसरे शब्दों में कहा है—

> पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
> हो गया संहार पूरे देश का।

इसके विरुद्ध भीष्म का कथन है—

किन्तु, मत समझो कि इस कुरुक्षेत्र में
पाँच का सुख ही सदैव प्रधान था।

भीष्म का कथन सत्य है कि बहुत से नृपों के हृदय में प्रतिशोध की ज्वालाएँ धधक रही थीं, कर्ण, पार्थ-वध का प्रण निभाना चाहता था। द्रुपद के मन में आचार्य द्रोण से वैर-साधन की आकांक्षा थी, अनेक राजे कृष्ण के सुधारों से क्षुब्ध थे, लेकिन कुरुक्षेत्र में गिरी हुई अठारह अक्षौहिणी सेना, जिसके एक-एक व्यक्ति की जीवन-गाथा देने में महाभारत भी असमर्थ है, के युद्ध में सम्मिलित होने के पर्याप्त कारण का 'कुरुक्षेत्र' में अभाव हैं। भीष्म के तर्क इसकी व्याख्या नहीं कर सके हैं। कारण स्पष्ट है, 'कुरुक्षेत्र' में उस युग-जीवन की व्यापकता का अभाव हैं, जो सामूहिक असन्तोष से उत्पन्न क्रान्ति की जन्म-भूमि बनता है। इसी से भीष्म के सभी तर्क और विचार कवि की एक पंक्ति ('फैलतीं लपटें विषैली व्यक्तियों की साँस से') से ही टकरा कर चूर-चूर हो जाते हैं। और युद्ध के कारण के सम्बन्ध में कवि का कथन सत्य है भी। प्रसिद्ध विद्वान् एवं पत्रकार लुई फिशर 'एक महान् चुनौती' ('The Great challenge') का प्रथम निबन्ध निम्नलिखित पंक्तियों से प्रारम्भ करता है—'युद्ध लहू से रँगी हुई राजनीति है। इसके आरम्भ होने से पहिले धारीदार पाजामा पहने हुए कूटनीतिज्ञ एक-दूसरे से शब्दों की लड़ाई लड़ते हैं और जब उन्हें सफलता नहीं मिलती, तो वरदी पहने हुए सिपाही बम सम्हाल लेते हैं।' प्रसिद्ध विचारक जॉन रस्किन ने भी सामान्य निरीह व्यक्तियों को युद्ध में सम्मिलित करने की प्रवृत्ति को लज्जास्पद कहा है—'Grant this (युद्ध की अनिवार्यता), and even then, judge if it always be neccessary for you to put your qurrel into the hearts of your poor, and sign your treaties with peasant's blood. You would be ashamed to do this in your private position and power. Why should you not be ashamed also to do it in public place and power?' (Lecture on 'War' in 'The Crown of wild olive etc') स्पष्ट है कि युद्ध के मूल कारण के सम्बन्ध में 'दिनकर' प्रसिद्ध विचारकों के साथ है।

लेकिन जहाँ एक ओर यह विचार सत्य है, वहाँ दूसरी ओर यह 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य के साथ सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में नहीं है। भीष्म की वाणी से कवि ने दमन और शोषण के विरुद्ध जन-जीवन की क्रान्ति का जय-गान कराया है, पर जैसा ऊपर कहा गया, इस क्रान्ति को जन्म देने वाली महाभारतकालीन परिस्थितियों के चित्र 'कुरुक्षेत्र' में नहीं आए हैं इसीलिए तृतीय सर्ग में जब भीष्म निरकुंश शासन एवं दमन से आक्रान्त जन-जन के सम्बन्ध में—

सहते-सहते अनय जहाँ
भर रहा मनुज का मन हो,
समझ कापुरुष अपने को
धिक्कार रहा जन-जन हो;

आदि बातें कहते हैं, तब ये मात्र विचार ही रह जाते है। वास्तव में बात यह है कि इन विचारों का जन्म आधुनिक युग के समस्त जीवन की धरती से हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' (प्रकाशन-काल अषाढ़ संवत् २००३) उस देश की रचना है, जहाँ के वासी शताब्दियों से पराधीनता की बेड़ी में जकड़े रहने तथा अनेक दमन-चक्रों के कारण त्रस्त हो रहे थे इसीलिए 'कुरुक्षेत्र' के कवि ने अपने त्रस्त देश को कर्म की प्रेरणा दी—

न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिलें तो लड़के,
तेजस्वी छीनते समर को
जीत, या कि खुद मर के।

ऐसा 'करो या मरो' का सन्देश (जिसे महात्मा गाँधी ने भी दिया था, यद्यपि उनका मार्ग 'दिनकर' के बतलाये मार्ग से भिन्न है) अपने समय के लिए उचित था, इसमें सन्देह नहीं। यह सन्देश 'कुरुक्षेत्र' की लोक-प्रियता एवं प्रशंसा का एक बहुत बड़ा कारण है, इसी की प्रेरणा से इसे 'नये युग की नयी गीता' तक कहा गया है। 'दिनकर'—जैसे युग के जागरूक कवि के लिए यह श्रेय का विषय है। लेकिन कहना यह है कि कवि के आधुनिक विचारों को पौराणिक भीष्म-युधिष्ठिर प्रसङ्ग में उचित आधार-भूमि नहीं मिल सकी है।

'कुरुक्षेत्र' का सबसे ज्वलन्त प्रश्न यह निर्णय करना है कि युद्ध का उत्तरदायित्व किस पर हो। 'दिनकर' के शब्दों में यह प्रश्न इस प्रकार है—'युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बि[छा] कर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है?' इस प्रश्न पर विचार करते समय यह याद रखना उचित होगा कि 'कुरुक्षेत्र' उस युग की सृष्टि है, जिस युग में युद्ध और हिंसा के विरुद्ध युग-पुरुष गाँधी ने अहिंसा का अस्त्र संसार [के] सामने रक्खा था। युधिष्ठिर अहिंसा-पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि उनकी अहिंसा महात्मा गाँधी की ही अहिंसा है। युधिष्ठिर कहते हैं—

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता,
और कहीं वज्र जलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के सङ्ग कहीं भीख माँग मरता।

प्रथम सात पंक्तियों तक तो गांधीवादी विचार-धारा ठीक चल रही है, लेकिन अन्तिम पंक्ति में पलायन का स्पष्ट स्वर है। गांधीजी की अहिंसा समर में जूझने का अस्त्र है, पलायन का मार्ग नहीं। लुई फिशर के शब्दों में, 'यदि आप निकट से देखें, तो आपको मालूम होगा कि गांधी की अहिंसा और शान्तिवाद एक ही नहीं हैं। गांधी की अहिंसा का अर्थ लड़ने से इन्कार करना नहीं है। यह वह अस्त्र है, जिससे गांधी लड़ते हैं। उपवास भी उनके लिए अस्त्र ही है ('एक महान चुनौती') फिर भी महाभारत-युद्ध से विक्षुब्ध धर्मराज अस्त्र-शस्त्र के विरुद्ध आत्मिक शक्तियों का पक्ष लेते हैं। इसके विपरीत भीष्म प्रतिशोध की नींव पर खड़े हुए तथा अधिकार के लिए लड़े गये युद्ध का समर्थन करते हैं, इसलिए कि पाप-पुण्य का निर्णय कर्त्ता हृदय की भावना पर निर्भर है—

है मृषा तेरे हृदय की जल्पना,
युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है।
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो॥

भीष्म का यह कथन सत्य है, और उनके [अ]नुसार अपने न्यायोचित स्वत्वों की रक्षा करना मनुष्य का धर्म है। इस धर्म की भावना पर स्थित युद्ध कभी पाप नहीं हो सकता इसीलिए तो—

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू,
त्याग-तप से काम ले यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

भीष्म ने हिंसा और युद्ध के पक्ष में जो तर्क दिए हैं उनके पीछे प्राचीन भारतीय ऋषियों के विचारों का भी बल है। 'गीता-रहस्य' (पृष्ठ ६१५) से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः॥ (वसिष्ठस्मृ० ३. १६)

अर्थात् घर जलाने के लिये आया हुआ, विष देने वाला, हाथ में हथियार लेकर मारने के लिए आया हुआ, धन लूट कर ले जाने वाला और स्त्री या खेत का हरणकर्त्ता ये छः आततायी हैं। मनु ने भी कहा है कि इन दुष्टों को बेधड़क जान से मार डाले, इसमें कोई पातक नहीं है। (मनु ८ ३५०-३५१) युधिष्ठिर भीष्म के विरोध में कोई तर्क नहीं उपस्थित करते। वे युद्ध से घृणा इसलिए करते हैं कि उनका हृदय कुरुक्षेत्र के रक्तपात एवं अन्य हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर क्षुब्ध हो उठा है। अहिंसा और असहयोग के द्वारा अनाचार एवं अत्याचार को परास्त करने की गांधीवादी नीति को कवि ने युधिष्ठिर के माध्यम से नहीं उपस्थित किया। संभवतः उसे इस पर आस्था नहीं है। इसी अनास्था का परिणाम है, कि भीष्म ने त्याग, तप आदि को योगियों और विरागियों का धर्म माना है, व्यक्तियों की विशेषता कही है—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी।
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को॥

कवि ने तप, करुणा, क्षमा, विनय आदि मानवीय गुणों को सामूहिक जीवन के अनुपयुक्त समझा है, लेकिन इसके लिए कवि को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने 'इस पागल कर देने वाले प्रश्न को, प्रायः उसी प्रकार उपस्थित किया है'। जैसा कि वह उसे समझ सका है। हाँ, आश्चर्य अवश्य किया जा सकता है। कि बापू का समयुगीन कवि, जो बापू को छूकर आए हुए पवन का स्पर्श पाकर गरिमा के महासिन्धु में बहने लगता है, अपने युद्ध-काव्य में बापू की अहिंसात्मक युद्ध-नीति को उचित स्थान न दे सका और भारत की स्वाधीनता प्राप्त जो युद्ध के दावानल से जले हुए, मानवता के इतिहास में एक अद्भुत घटना एवं सामूहिक जीवन में अहिंसा आदि के प्रयोग का प्रत्यक्ष प्रमाण है, के बाद तो 'कुरुक्षेत्र' (जिसका लेखन-काल स्वाधीनता-प्राप्ति के पहले है) के उपर्युक्त विचार असत्य सिद्ध हो गए हैं। कवि ने इसे समझा है, और स्वीकार किया है। संभवतः इसीलिए वह 'बापू' में कह सका है—

बापू ने राह बना डाली,
चलना चाहे, संसार चले,
डगमग होते हों पाँव अगर,
तो पकड़ प्रेम का तार चले।

युद्ध से सम्बन्धित एक और प्रश्न है, युद्ध कैसे रुके? विचारकों ने इसके उत्तर अपने-अपने प्रकार से दिए हैं। 'दिनकर' ने भी इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है। भीष्म कहते हैं—

रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो।

'विषदन्त' मानव हृदय की स्वार्थ, घृणा, विद्वेष आदि कुप्रवृत्तियों का प्रतीक है। भीष्म के अनुसार, बिना इनका नाश हुए धरती पर शांति का अक्षय साम्राज्य नहीं स्थापित हो सकता। इटली के प्रसिद्ध कवि पेट्रार्च ने भी कहीं कहा है—Five great enemies to peace in habit with us: viz., avarice, ambition, envy, anger, and pride. If those enemies were to be banished, we should infalliably enjoy peace.'

वास्तव में युद्ध-शमन का एक यही समाधान हो सकता है, और 'दिनकर' ने उसे प्रस्तुत किया है। लेकिन इसके साथ ही उसने एक दूसरा समाधान भी दिया है—

अथवा अजा के छागलों को भी बना दो व्याघ्र,
दाँतों में कराल काल-कूट-विष भर दो।

मनुष्यों के हृदय से घृणा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दुर्भावनाओं का विनाश किये बिना उनके हाथों में विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्र देने का जो परि-

णाम हो सकता है, उसका उदाहरण आज के संसार के सामने उपस्थित है। सभी वर्ग एक-दूसरे से भयभीत होकर किस प्रकार और अधिक सांत्रातिक युद्ध की तैयारी में लगे हैं, यह स्पष्ट ही देखा जा सकता है। अतः 'दिनकर' का दूसरा उत्तर प्रथम समाधान के साथ अथवा संयोजक से जोड़ा जा सकता है। यह विचारणीय है।

'दिनकर' ने आधुनिक साम्यवादी विचारों के अनुकूल युद्ध रोकने का एक तीसरा मार्ग भी बतलाया है—

जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुख भाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा॥

आज का संसार अधिकांशतः इन्हीं शब्दों में सोचता है, लेकिन मात्र इसीसे युद्ध शान्त होगा, यह संदिग्ध है। संसार के प्रारम्भिक समाज में, जैसा कि भीष्म ने सप्तम सर्ग में कहा हैं, प्रत्येक मनुष्य का अधिकार समान था—

उच्च-नीच का भेद नहीं था,
जन-जन में समता थी,
था कुटुम्ब-सा जन-समाज,
सब पर सबकी ममता थी।

लेकिन वही एक दिन—

लोभ-नागिनी ने विष फूँका,
शुरू हो गई चोरी।
लूट-मार, शोषण, प्रहार,
छीना-झपटी, बरजोरी।

अतः 'दिनकर' का तृतीय उत्तर भी अपूर्ण ही है। इसके लिए भी प्रथम समाधान ही अपेक्षित है। मानव-मानव में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हुए बिना (विश्व-इतिहास को देखते हुए जिसकी संभावना कम ही दीखती है) धरती कभी स्वर्ग नहीं बन सकती। और यह प्रेम-सम्बन्ध एवं विश्व-शान्ति कोई वाह्य उपकरण नहीं है, जो मानव-समाज पर आरोपित किया जा सके। यह तो मनुष्य की अंतःप्रेरणा से ही सम्भव है। 'कुरुक्षेत्र' के कवि की दृष्टि इस ओर है, उसने बार-बार कहा है—

यह न वाह्य उपकरण, भारबन,
जो आए ऊपर से,
आत्मा की यह ज्योति, फूटती,
सदा विमल अन्तर से।

'कुरुक्षेत्र' के उपर्युक्त युद्ध-सम्बन्धी विचारों को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं रह जाता, कि कवि ने युद्ध के चिरन्तन प्रश्नों के उत्तर अपने दृष्टिकोण से देने का प्रयत्न किया है। एकाध स्थान पर असंगतियों के रहते हुए भी कवि के विचारों में पर्याप्त शक्ति है। इन विचारों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं, लेकिन युद्ध के प्रश्न पर ऐसे प्रौढ़ विचारों को काव्य के माध्यम से उपस्थित करने का यह प्रयास हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है, इसे कोई अस्वीकार नहीं करेगा।

(पृष्ट २८७ का शेष)

छायावाद का उदय प्रथम महायुद्ध के दिनों में हुआ। इस समय सम्पूर्ण संसार ही संक्रान्ति-में से गुजर रहा था किन्तु हमारे ऊपर युद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव न होने पर भी बहुत अधिक घातक प्रभाव पड़ा, आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यधिक निराशाजनक होगई।

इसका अर्थ यह नहीं कि छायावाद का उदय निराशाजनक परिस्थितियों के कारण ही हुआ, यह विचारधारा तो यूरोप में पहिले ही उत्पन्न हो चुकी थी। यह विचारधारा और परिस्थितियां, दोनों मिल कर ही छायावाद को जन्म दे सकीं।

कविता
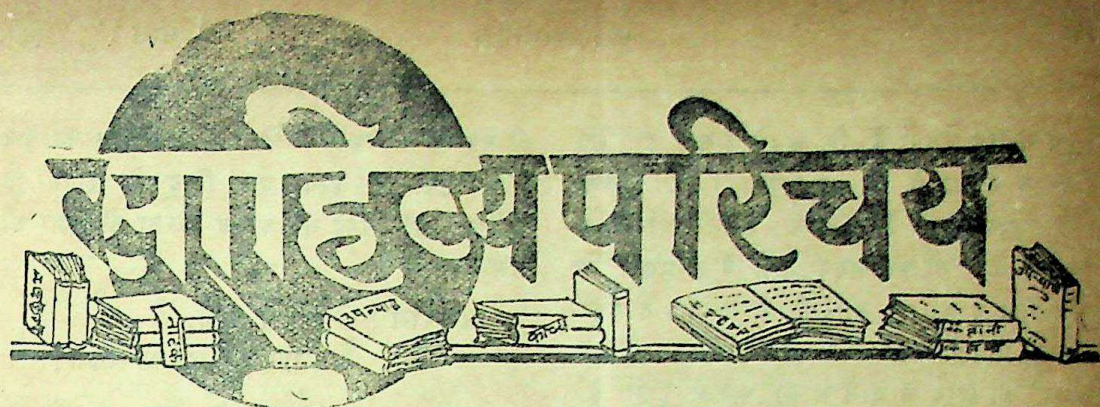
मिलन यामिनी—लेखक-श्री बच्चन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २२६, मूल्य ४)

'मिलन यामिनी' बच्चन के ६६ गीतों का संग्रह है। इन गीतों में कवि के मदिर सपनों के हेम-कण मुस्करा उठे हैं। कवि की अनुभूति मधु के रस भरे सुनहले उन्माद-तरल चित्रों, अमानिशा के करुण अवसन्न विषाद-जर्जर उच्छ्वासों, जड़-जगत की हलाहल विभीषिकाओं के आकुल-व्यग्र स्वरों से होती हुई जीवन की मिलन यामिनी में तृप्त मुखरित हुई है। यौवन के उल्लास में प्रेम के स्वर 'अमर क्षणों' की 'झनकार' बन कर गूँज उठे हैं। कवि की रूपसी की मुस्कान में कोटि किरणें छहर उठती हैं, रात की जुन्हाई उसमें नहा लेती है और उसके बिखरे सुरों में गान बँध जाते हैं। वह गाने लगता है—

मैं जलन का भाग अपना भोग आया,
तब मिलन का यह मधुर संयोग आया।

इस मधुर संयोग में कवि चारों ओर अपनी प्रेयसी की शत-शत रूप-राशि बिखरी हुई देखता है,

तुम निशा में औ तुम्हीं प्रात:किरण में,
स्वप्न में तुम हो, तुम्हीं हो जागरण में।

छन्दों में जो लय लहराती है, वह उसकी पदचाप है, पायल की रुनझुन उसका राग है, प्रकृति के प्राणों में उसका स्वर है, कुसुम के सौरभ में उसका निश्वास है। हर लता-तरु में उसके प्रणय की रागिनी है। कवि स्वयं उसमें घुल गया है। यह एकात्म रूप इतना सहज और नैसर्गिक है कि उसकी अनुभूति जो 'प्रतिध्वनि' पा चुकी है, 'ध्वनि' खोजने लगती है। पर यह 'प्रतिध्वनि' ही इतनी आकर्षक है कि 'मिलन-यामिनी' में वह बिन्दु और परिधि दोनों होगई है। अतः कवि में उल्लास है, विभ्रम और उद्भ्रान्ति नहीं। 'मिलन-यामिनी' उसके प्रणय का स्पन्दन है, संगीत है। वहाँ स्वरों में रंग भर जाते हैं और रंगों में रागिनी गूँजने लगती है—

गगन खड़ा हुआ विशाल ताल में,
गगन सुबद्ध भूमि अङ्कमाल में,
चटुल युगल तरंग में मगन मगन,
सुवर्ण किंकिणी बजी छनन छनन।

जीवन में यौवन के उद्दाम रूपों की प्रबलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे रूपों को बच्चन ने स्वर दिये हैं, पर इन स्वरों की विविध प्रतिक्रियाओं से वह अनभिज्ञ भी नहीं है। वह आश्वस्त है—

जग दे मुझ पर फैसला उसे जैसा भाए।
लेकिन मैं तो बेरोक सफर में जीवन के॥
इस एक और पहलू से होकर निकल चला।

कवि जीवन के सफर में बेरोक निकल जाना चाहता है, पर यह कार्य इतना आसान नहीं। कवि स्वयं जानता है कि विश्व का संघर्ष उसके सामने है, उसे संसार बाँधे है, काल बाँधे है, जंजीर और जंजाल बाँधे हैं। 'मिलन-यामिनी' के

आमुख में वह कहता है कि अपने 'लक्ष्य' का जब वह ध्यान करता है तो इस रचना से उसे 'उतना ही असन्तोष होता है, जितना अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से।' तो वह लक्ष्य क्या है? प्रणय के उन्मेष-विलास को वह सतरंजी अभिव्यक्ति दे सका है, अपने पाठकों को वह 'उत्तरोत्तर' भावों के 'शिखर' की ओर ले जाने में भी सफल हुआ है, किन्तु यदि उसका लक्ष्य कुछ और है तो वह भी उसके लिए असाध्य नहीं, कारण उसे मालूम है कि इस संसार में आँसू की 'बूँदें बोने से मोती की फ़सलें' [illegible] ती हैं, और उसने उस मनुष्य के भी दर्शन [illegible]ए हैं, जो 'हर स्वरूप में पवित्र है'—

विराग मग्न हो कि राग रत रहे,
विलीन कल्पना [illegible] सत्य में दहे।
धुरीण पुण्य का कि पाप में बहे,
मुझे मनुष्य जब जगह महान है॥

अर्चना के फूल—संकलनकर्त्ता-डा० राकेश गुप्ता, एम० ए०, डि० फिल, प्रकाशक—साहित्य-निकुंज, प्रयाग। पृ० सं० १२०, मूल्य २।)

'अर्चना के [illegible]' में हिन्दी काव्य की वाणी बापू के बलिदान पर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है। गाँधी की हत्या मनुष्य के सत्व को चुनौती है और शॉ के शब्दों में [illegible] लगता है मानो अधिक अच्छा होना ही सङ्कटापन्न हो। यह वाक्-विदग्ध [illegible]क्ति नहीं, गरल सत्य है। मनुष्य की इस क्[illegible]ता ने विश्व के हृदय को हिलाया है और हिन्दी के कवियों की वाणी जो बापू से निकटता का बोध करती है, इस काँड पर फूट पड़ी है। फलतः विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कवियों के अर्घ्य-दान का ढेर लग गया।

इन कविताओं में कवियों का क्रन्दन, दुख और आक्रोश तो है ही, साथ ही साथ उस 'काल-जयी कीर्तिमान' के अमर गौरव की जय भी है। पर इन्हें पढ़ने पर दो बातें और भी स्पष्ट हैं। एक तो यह कि अधिकाँश कवियों को इस बात का दुख है कि गाँधी की हत्या एक हिन्दू के द्वारा हुई (शायद और कोई यह काण्ड करता तो लज्जा की बात न होती)—

अरे राम! कैसे हम झेलें,
अपनी लज्जा, उसका शोक?

दूसरी बात यह कि मानों कवि-कर्म-पूर्ति के लिए गाँधी हत्या-काण्ड पर अर्घ्य चढ़ाना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि कवि की अनुभूति सहज और मार्मिक न होकर शब्दों में घेरे काटने लगी—

आज गिरि का शृङ्ग टूटा,
आज भारत भाग्य फूटा।
× × ×
कैसे ले पाएँगे यह,
तब पुनीत प्राणार्पण हम!
× × ×
हो गया क्या देश के,
सबसे जरूरी दीप का निर्वाण!

पर जहाँ हिन्दू-हिन्दू की घुटन से और शृङ्ग टूटने—भाग्य फूटने के चीत्कार से ऊपर उठकर कवि ने उस मृत्युञ्जय के स्वरों को अपने प्राणों में उतरते देखा है, वहाँ उसकी वाणी का जय घोष मानव के लिए वरदान हो सका है—

मानव के अन्तरतम शुभ्र,
तुषार के शिखर
नव्य-चेतना मंडित, स्वर्णिम,
उठे हैं निखर!

—श्री मोहनलाल एम० ए०

उपन्यास

दो पहिये—लेखक-श्री राजनारायण शर्मा 'दर्द'। प्रकाशक—अनुभूति प्रकाशन कुटीर। पृष्ठ १२३, मूल्य २)

यह एक छोटा सा मनोवैज्ञानिक, विचारोत्तेजक सामाजिक उपन्यास है जिसमें स्त्री-पुरुष की समस्या का विवेचन हुआ है। स्त्री-पुरुष ही जीवन-रथ के दो पहिये हैं। 'दोनों को साथ तो चलना होगा परन्तु अपने-अपने स्थान पर ही। यदि बाँया पहिया दाहिने पहिए के साथ लगा कर यह गाड़ी चलाई गई, तो इसके अर्थ होंगे गृहस्थी का पतन, समाज का पतन, देश का पतन (पृ० २२) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण अवांछित है पर प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देकर वस्तुस्थिति को न आँकना अज्ञता है। पुरानी चीजें सब अच्छी नहीं, नई चीजें सब बुरी नहीं। समय की माँग है कि नीर-क्षीर विवेकी बन हम समाज को बदलें पर अक्ल से, नकल से नहीं।' लेखक को समाज की विभीषिकाओं को देख कर 'दर्द' हुआ है और उस दर्द का बहुत कुछ सही निदान भी उसने किया है। विधवा-विवाह से डरना तो कायरता है; परिस्थिति को देखकर गर्भिणी कुमारी को भी अङ्गीकार करना 'धर्म' है, उसको ठुकराना निकृष्ट समाज भीरुता। बेला के गर्भ रह जाता है। उस गर्भिणी का विवाह होता है सुधारवादी रमानाथ के साथ। रमानाथ के घर वाले बेला को निकाल देते हैं, पर पति अपनी पत्नी को निर्दोष मान कर उसे पुनः स्वीकार करता है। विवाह होने के पहले ही हार्डी की टेस गर्भिणी हो जाती है पर हार्डी उसे पवित्र ही मानता है। टेस का पति उसे ठुकरा देता है पर बेला का पति रमानाथ उसे पवित्र मान कर अङ्गीकार करता है। भोली-भाली निर्दोष स्त्रियों को हिन्दू-समाज ठुकराता जायगा तो यह अवनति और हीनता के अन्धकूप में गिरे बिना नहीं रह सकता।

स्त्री-पुरुष की प्रतियोगिता का प्रश्न नहीं होना चाहिए—यही उपन्यास का निष्कर्ष है। पुरुष स्वार्थी है, नारी त्याग की मूर्ति। यदि नारी भी स्वार्थी बन गई तो समाज चौपट हो जायगा। 'पुरुष सफर , नारी मञ्जिल।' उपन्यास की शैली संस्कृत गर्भिता है। उपन्यास रोचक और पठनीय है।

कुली—लेखक श्री मुल्कराज आनन्द, प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ४६०, मूल्य ६)

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त श्री मुल्कराज आनन्द का यह 'बहु प्रशंसित उपन्यास है' जिसका देश-विदेश की अनेकानेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसका नायक ग्रामीण मुन्नू है जो कुली का काम करता हुआ चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही टी० बी० का शिकार होकर रंग-बिरंगी दुनिया को देखता हुआ अपनी इहलीला समाप्त करता है। अपने चाचा-चाची से उत्पीड़ित मुन्नू शहरों में आकर कई तरह की नौकरियाँ बजाता है। घर में बर्तन माँजने से लेकर शिमला में रिक्शा चलाने तक। एक ग्रामीण शहरों को किस तरह से मन लगा कर देखता है इसका बड़ा ही रोचक और सरस वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। किसी की डाँट-फटकार, किसी का लाड़-प्यार, किसी मेम साहिबा का प्रणय—सभी कुछ उसको मिलता है और इस कुली का जीवन भी कई प्रवाह लेता है। उपन्यासों के नायक उच्चकुल के ही हों यह आज आवश्यक नहीं क्योंकि जनतन्त्र में मनुष्य का मनुष्य की हैसियत से महत्व है। सभ्य कहलाने वाले हम लोगों का इस विशाल मजदूर-समुदाय के साथ कैसा निर्दय एवं अमानुष व्यवहार है—इसी का यह जीता-जागता कच्चा चिट्ठा है। इस उपन्यास के दायरे में सभी कुछ आ गया है—प्रकृति, ग्राम, शहर, मालिक, नौकर, ठाकर, चाकर पर सबका केन्द्र है मुन्नू। लेखक का इन मजदूरों के साथ जैसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा हो—इतना मर्मद्रावक, सजीव चित्रण और इतनी सीधी-सादी अनलंकृत शैली—यह सब उपन्यास की खूबियां हैं। मुन्न सरीखे कुली कितने साहसी,

निर्भीक, परिश्रमी होते हैं पर दुनिया से उनको मिलता क्या है—रोटी के बदले में पत्थर और ठोकर! कुलियों के जीवन के प्रति लेखक की अर्थशास्त्री की सी रूखी सहानुभूति नहीं, कवि की सी सहज और प्रेरक समानुभूति है। मजदूरों की बढ़ती हुई चेतना का भी इसमें दिग्दर्शन है और साम्यवाद का बीजारोपण भी। गरीबों की दुनिया भी निराली ही है—नगर की हर्म्य-अट्टालिकाओं से कम मनोरञ्जक नहीं। उपन्यास दुःखान्त है ठीक ही क्योंकि मजदूरों के जीवन का अन्त सुख में यहाँ अभी हुआ कहाँ? मजदूरों के जीवन का ऐसा सहज, करुण, हृदय-द्रावक और मर्मस्पर्शी वर्णन अन्यत्र कम मिलेगा। पुस्तक सबके पढ़ने, गुनने योग्य है। मजदूरों की गरीबी का वर्णन करते हुए प्रेस को भी जैसे गरीबी का सामना करना पड़ा है। जैसे मजदूर कितने लँगड़ाते-लड़खड़ाते चलते हैं वैसे ही न जाने कितने अक्षर अपना आत्माभिमान खोकर इसमें सिर-कटे हो रहे हैं। मजदूरों का पक्ष लेते हुए भी लेखक जैसे निष्पक्ष सा होकर वस्तुस्थिति बता रहा है—इसीलिए इसमें कट्टरता और दुराग्रह कहीं नहीं है। स्वार्थ में मदान्ध हम मानवता का गला न घोंट दें—यही जैसे इस उपन्यास की 'टेक' हो।

विसर्जन—लेखक-श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ४०५, सजिल्द, मूल्य छः रुपये।

लेखक हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासकार हैं। 'बिदा',-'विकास', 'विजय', 'बयालीस'—इन पूर्व-प्रकाशित उनके उपन्यासों का हिन्दी जगत् में अच्छा स्वागत हुआ है। उनके नवीनतम उपन्यास 'विसर्जन' से लेखक का अगाध स्वदेश प्रेम स्पष्ट प्रतिभासित होता है। देश का प्रेम इन्होंने अपने पूर्वजों से बिरासत के रूप में प्राप्त किया है। इस राजनीतिक और ऐतिहासिक उपन्यास में बयालीस के बाद के भारत का सजीव चित्रण हुआ है। गान्धीवाद के सिद्धान्तों का रोचक कथानक द्वारा स्पष्टीकरण ही इस उपन्यास का मन्तव्य रहा है, जिसमें लेखक को बहुत कुछ सफलता मिली है। 'लोकतन्त्र का आवरण ओढ़े पूँजीवाद' और 'प्रभुसत्ता को अपनाये जनवाद' दोनों धाराओं के समन्वय रूप में उन्होंने गान्धीवाद को परखा है और श्रद्धापूर्वक चाहा है। मिलमालिक और मजदूर का सम्बन्ध, अंग्रेजों की भारत में कूटनीति, अंडमान के चित्र, अंग्रेजों के जमाने में न्यायालयों के रङ्ग-ढङ्ग—यह सभी इस उपन्यास में मिलेगा। पूँजीवादियों की लोलुपता और चरित्रभ्रष्टता से ही उपन्यास शुरू होता है, पर सेठ वामनदास की लड़की बैरिस्टर कनक गान्धीवाद से प्रभावित हो अपनी सम्पत्ति ठुकरा कर गरीब उर्मिला से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करती है! मजदूरों का पक्ष लेने के कारण कनक और उर्मिला को काला पानी हो जाता है, पर अन्त में सत्य की विजय दिखाई गई है, जैसे गान्धीवाद की विजय से भारत स्वतन्त्र हुआ। इतिहास की पुस्तकों से कहीं अधिक सच्चा और हृदयग्राही वर्णन मिलेगा इस उपन्यास में। बयालीस के बाद के इतिहास का। 'In history every thing is false except names and dates, in fiction every thing is true except names and dates.' वाली बात यहाँ बहुत कुछ चरितार्थ हुई है। मनोवैज्ञानिक विषयों पर पूरे निबन्ध के निबन्ध इसमें मिलेंगे जो उपन्यास को विचारोत्तेजक बनाने में योग देते हैं। श्रीवास्तवजी अगर स्वतन्त्र निबन्ध रचना करने लगें तो निश्चय ही हिन्दी को मौलिक चीज दे सकते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में कई जगह जीवन का अनुभव और सच्चा ज्ञान भरा है। उपन्यास सर्व-संग्रहणीय है। लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

अन्नपूर्णा—अनुवादक-श्री ओंकार शरद, प्रकाशक—न्यू लिटरेचर, जीरोरोड, इलाहाबाद। पृ० सं० २६२, मूल्य ३)

विदेशी भाषाओं की मान्य कृतियों का राष्ट्र-भाषा हिन्दी में अनुवाद हो यह अत्यावश्यक और परम वांछनीय है। हिन्दी के अनुवाद-साहित्य को अभी प्रौढ़ और विकसित होना है। चीनी जीवन पर लिखे गये प्रसिद्ध उपन्यास Good earth का यह हिन्दी अनुवाद है। इसकी लेखिका श्रीमती पर्लबक को इस पर नोबल पुरस्कार भी मिल चुका है। यह अमेरिकन महिला वर्षों चीन में रही हैं और वहाँ के सांस्कृतिक, समाजिक जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इसका नायक वैंगलुङ्ग किस तरह धरती माता की सेवा कर गरीब से अमीर बनता है; फिर अमीर बनकर कैसे स्त्रियों के फेर में पड़कर अपना सर्वस्व नष्ट करता है, फिर धरती पर ही भरोसा करके उठना चाहता है—इन्हीं का इसमें मार्मिक और हृदयग्राही चित्रण हुआ है। चीन की दासी प्रथा का रूप इसमें बहुत स्पष्ट हुआ है। भारत और चीन के जीवन में कितनी समानता है, यह सब भी इससे सहज ही मालूम होगा। पुस्तक अत्यन्त रोचक और पठनीय है। पर्लबक के सभी उपन्यासों का हिन्दी में सस्ता अनुवाद होना चाहिए। अनुवाद में स्वाभाविकता तो नष्ट नहीं हो पाई है, पर लिङ्गभेद की इसमें स्थान-स्थान पर इतनी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं, कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। भाषा की स्वरूप-रक्षा में इससे बड़ी क्षति पहुँची है। छपाई-सफाई भी साधारण है। छपाई और लिङ्ग की भूलें कहीं-कहीं बड़ा अजीब तमाशा खड़ा करती हैं। अनुवाद भी सर्वत्र निर्दोष नहीं हुआ है—कुछ स्थलों पर प्रत्यक्ष अनुवाद सा लगता है, जो अनुवाद की सबसे बड़ी त्रुटि है। पर कुल मिलाकर पुस्तक सबके लिए संग्रहणीय है।

पशु और मानव—मूल लेखक-अल्डुअस हक्सले, अनु०-मोहनलाल एम० ए०, साहित्य रत्न, प्रकाशक-रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स चाँदनी-चौक, देहली। पृ० सं २४०, मूल्य ३॥) रुपये।

प्रस्तुत उपन्यास अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और विचारक हक्सले की नवीन कृति Ape and Essence का अनुवाद है। गान्धी की हत्या से लेखक के विचारों में जो विक्षोभ हुआ है, उसीका परिणाम है यह उपन्यास जिसमें वर्तमान सभ्यता का खोखलापन चित्रित हुआ है। उपन्यास में कथानक न के बराबर हैं, विचारों की शृङ्खला भी सबके लिए सुबोध नहीं। साधारण पाठक के लिए इसकी व्यञ्जना समझ सकना टेढ़ी खीर है। ऐसी पुस्तक का आदर्श अनुवाद भी अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी जैनेन्द्रजी के शब्दों में (जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है) 'प्रस्तुत अनुवाद लगभग उतना अच्छा हुआ है, जितना हो सकता है।' परन्तु अनुवाद अच्छा होते हुए भी सब चाव से इस पुस्तक को पढ़ सकेंगे, इसकी आशा नहीं की जा सकती। उपन्यास शब्द से जो धारणा बनती है, वह इसमें है ही नहीं। इसको तो समझने के लिए बुद्धि का पूरा व्यायाम करना पड़ेगा, पर व्यायाम के पश्चात् बुद्धि को पूरा बल और साहस मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। वास्तव में यह पुस्तक साधारण पाठक के मतलब की नहीं है। बुद्धिवादी और विद्वान लोग इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो उन्हें इसमें अवश्य ही रस मिलेगा।

—प्रो० नागरमल सहल, एम० ए०

कहानी

लङ्का-महाराजिन—लेखक-श्री ओङ्कार शरद, प्रकाशक-न्यू लिटरेचर, जीरो रोड, इलाहाबाद। पृ० सं० १६६, मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के १७ स्केचों और कहानियों का संग्रह है। इन सबके कथा आधार के लिए शरद तथा-कथित बड़े लोगों, नेताओं, अफसरों, पदाधिकारिओं—के पास नहीं जाता, वह अपने पास-पड़ोस की दुनिया को देखता है और

उन सामान्य लोगों के व्यक्तित्व में जो कुछ उसे 'महत्वपूर्ण दिखाई देता है, उसे वह सम्हाल लेता है। अपनी भूमिका में वह यही कहता है—"इसी अनुभूति से प्रेरित हो कर इस 'लक्का-महराजिन' में काल्पनिक पात्रों के काल्पनिक चित्रण में जमीन आसमान के कुलाबे मिलाने की परम्परा से अपने जीवन में घुले-मिले जीवित पात्रों की ही बहुत सीधी सादी तस्वीरें खींचने की मैंने कोशिश की है।"

अतः इन स्केचो और कहानियों को हम तस्वीरें ही कहेंगे। इन तस्वीरों में उसने अपने पात्रों के बाह्य आकार को तो बाँधा ही है, पर उनके अन्तस को भी निकाल कर रखने का प्रयत्न किया है। ये रेखा चित्र हैं जहाँ वर्णों की गहराई की अपेक्षा टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही मिलेंगी लेकिन वे इतनी सक्षम हैं कि पात्रों के जीवन के कुछ पहलू को उभार सकी हैं। लेखक अपने पात्रों के साथ संवेदनशील है जिसके कारण उसके स्केचों में नैसर्गिकता (naturalness) है। लंका महाराजिन, केदार, अम्मा आदि कितने ही पात्र हमारी आत्मा को जीत लेते हैं।

संकलन में जो कहानियाँ हैं वे भी रेखा-चित्र के ही निकट हैं यद्यपि उनमें कथानक का आधार अधिक स्थूल है। कहानियों के रूप में वे अधिक सफल भी नहीं, पर उनकी मार्मिकता असंदिग्ध है।

दो बूँद आँसू—लेखक–प्यारेलाल 'टिकट', प्रकाशक–बाबू केदारनाथ, पुस्तक मन्दिर, पा० मोकामा घाट (पटना)। पृष्ठ ८८, मूल्य १।)

'दो बूँद आँसू' में 'टिकट' की १२ कहानियाँ हैं। प्रथम कहानी के शीर्षक पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। कुछ कहानियाँ कहानियाँ नहीं हैं, कहानी लिखने की ओर लेखक का प्रयास है। 'प्रतिशोध', 'डाकू', 'स्वर्णमय जीवन' आदि रचनाओं में कोई विशेषता नहीं है। इन सब कहानियों में किसी समस्या का चित्र देखना असङ्गत होगा, कारण उनमें लेखक के 'टूटे सपने', 'नैराश्य', 'धोखा' आदि हैं। इन कहानियों की सफलता यही है कि टिकटजी अपनी बात आग्रहपूर्वक कहना चाहते हैं और पाठक उसे रोचकतापूर्वक सुन भी लेते हैं। आशा है, समय की गति के साथ उनकी अनुभूति में और भी तीव्रता आयगी।

—मोहनलाल एम० ए०, 'साहित्य-रत्न'

बन्धनों की रक्षा—लेखक–आनन्दमोहन अवस्थी, प्रकाशक–लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर। पृष्ठ ८३, मूल्य १)

पुस्तक में २८ लघुकथाएँ संग्रहित हैं। सभी कथाएँ साधारण जीवन से सम्बन्ध रखती है परन्तु लेखक ने उन साधारण घटनाओं को दो और तीन पृष्ठ की इन छोटी कथाओं में इस प्रकार अंकित किया है कि एक ओर तो वे भावनाओं को उद्वेलित करती हैं और दूसरी ओर मानव हृदय पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं। भाषा-शैली आडम्बर हीन और स्वाभाविक है। लेखक ने इन सब घटनाओं को जीवन में जैसा अनुभव किया है उसको वैसा ही अंकित किया है परन्तु एक दो कथाएँ ऐसी भी हैं कि जिनके लिखने का उद्देश ही समझ में नहीं आता जैसे "एक आदमी का इतिहास"।

—दयाप्रकाश एम० ए०

श्री शङ्कराचार्य का आचार दर्शन—लेखक–डाक्टर रामानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० फिल, प्रकाशक–हिन्दी साहित्य समेलन प्रयाग। पृष्ठ २२१, मूल्य ५)

शाङ्कर वेदान्त का भारत की विचार-धारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। साधारणतया शाङ्कर वेदांत मायावाद का पोषक माना गया है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' जगत को मिथ्या मान कर आधार का कोई महत्व नहीं रहता। परमार्थ और व्यवहार में अन्तर करके आचार को महत्ता दी

जाती है किन्तु परमार्थ की दृष्टि से आचार मिथ्या ही रहता है। वेदान्त के सिद्धान्त में दुरुपयोग भी काफी हुआ। अपने को त्रिगुणातीत समझ कर लोगों ने आचार की अवहेलना भी पर्याप्त मात्रा में की। ईसाई आलोचकों ने वेदान्त को अनाचार धर्म नहीं तो कम से कम निराचार धर्म कहा। लेखक ने इस आक्षेप के सामना करने के लिए पुरानी भित्ति से काम नहीं लिया। ब्रह्म और जगत् की व्याख्या एक नये दृष्टि कोण से की। उसमें वेदान्त सूत्रों के शारीरिक भाष्य मात्र पर शाङ्कर सिद्धान्तों से अवलम्बित न करके आचार्य की पूर्ण कृतियों पर आश्रित किया है। उनके आधार पर लेखक ने जगत के मिथ्यात्व को निराकरण का आचार को आत्मानुभव का साधन माना है। निष्काम कर्म द्वारा ही लेखक ने सत्व शुद्धि मानी है जो ब्रह्मानुभव में सहायक होती है। ब्रह्म और जीव की जगने के सम्बन्ध में लेखक के विचार इस प्रकार हैः—

"वेदान्त में ब्रह्म चरम सत्य है। वह समस्त सत्ता का अन्तर्निहित सत्य भी है, और उससे पृथक कोई वस्तु नहीं हैं। ब्रह्म में आरूढ़ रूप से कोई भी परिच्छिन्न पदार्थ मिथ्या नहीं है, ब्रह्म से (जिसमें सब की स्थिति है) पृथक कल्पित होने पर यह मिथ्या है। यदि गुण का अर्थ ब्रह्म को परिच्छिन्न अथवा निरुपित करना है तो ब्रह्म नितान्त निर्गुण है, किन्तु ब्रह्म में संस्थित होने के अर्थ में सभी गुण ब्रह्म में हैं। सभी परिच्छिन्न सत्व किसी न किसी अंश में ब्रह्म के ही प्रतीक हैं, यद्यपि ब्रह्म स्वयं सर्वातीत है"

यद्यपि यह विचार नितान्त मौलिक तो नहीं कहे जा सकते, नन्ददासजी की गोपियों के भी कुछ ऐसे ही विचार थे 'जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते? बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहो कहाँ ते'। हेगिल आदि के भी सिद्धान्त ब्रह्म को सश्लिष्ट और अतीत मानने के पक्ष में हैं। शाङ्कर वेदान्त के कुछ प्राचीन अनुयायी भी इसी पक्ष के बतलाये जाते हैं किन्तु लेखक ने अपने सिद्धान्तों को बड़ी मौलिकता और निर्भीकता से प्रतिपादित किया है और साथ ही आचार्य का भी पल्ला नहीं छोड़ा है। हम को ऐसे आलोचकों की आवश्यकता है जो प्राचीन विचार धारा और परम्परा को आगे बढ़ावें।

गजेन्द्रमोक्ष रहस्य—लेखक—श्री पण्डित बलि शास्त्री, प्रकाशक—स्वयं लेखक पं० जगदीशचन्द हिमकर द्वारा। पृष्ठ संख्या ३२०, मूल्य ४)

भक्त लोगों में गजेन्द्रमोक्ष की कथा प्रसिद्ध है। सूर और तुलसी ने भगवान के स्तवन में इस कथा का अनेकों स्थानों में उल्लेख किया है। यह आख्यान भगवान की कृपा और शरणागत वत्सलता का द्योतक है। विद्वान लेखक ने इस कथा की व्याख्या में प्रपत्तियोग को संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों से पुष्ट किया है। यद्यपि इसमें विष्णु के अवतार स्वरूप राम और कृष्ण दोनों को समान महत्ता दी है, तथापि कृष्ण-चरित वर्णन में लेखक कुछ अधिक भावुक दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने कृष्ण भगवान की व्रज की लीलाओं के साथ गीतोपदिष्ट [illegible] भक्ति की बड़ी [illegible]क व्याख्या की है। पुस्तक भक्त लोगों के लिए विशेष महत्व की है।

ईशावास्यवृत्ति—सम्पादक—आचार्य विनोबा भावे, प्रकाशक—सस्ता साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ७६, मूल्य १)

मूल पुस्तक मराठी में लिखी गई है। उसका अनुवाद श्री कुन्दर दिवाण ने किया है। इसमें ईशावास्य उपनिषद पर वृत्ति-लिखी गई है, और पाठकों में ईशावास्य (अर्थात् ईश्वर से सब व्याप्त है) मनोवृत्ति उत्पन्न की गई है। यह वृत्ति पुरानी वृत्तियों की ही रीति से लिखी गई है, और इसमें शङ्कराचार्यजी के भाषा का पूरा पूरा आश्रय विनोबाजी के विचारों के साथ दिया गया है। इसमें पदों के विभिन्न पाठ और अर्थ भी दिये गये हैं। वृत्ति पश्चात् अन्त में एक बार फिर पाठ और

सरल अर्थ दे दिया गया है। यह उन लोगों के अर्थ है, जो विशेष पाण्डित्य के साथ अध्ययन नहीं करना चाहते। ईशावास्य उपनिषद् में भी गीता के कर्म योग का ही पाठ पढ़ाया गया है। निष्काम कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते हैं।

—गुलाबराय

स्त्रियोपयोगी

पत्नी के पत्र—लेखिका-श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर, प्रकाशक—न्यूलिटरेचर, इलाहाबाद। पृष्ठ ३१६, मूल्य ३)

श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर द्वारा लिखित 'पत्नी के पत्र' में नवविवाहिता पत्नी के अपने पति को लिखे गये पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में पति-पत्नी का प्रगाढ़-प्रेम प्रदर्शित किया गया है। विवाहोपरान्त जब स्त्री अपनी माँ के घर जाती है, तो उसमें आह्लाद और कसक का एक अद्भुत सम्मिश्रण रहता है, नवीन-प्रणय की मधुर स्मृति उस परम आनन्द की शृङ्खला को तोड़ सी देती है। श्रीमती ठाकुर स्वयं स्त्री हैं, और स्त्री होने के नाते उन्होंने इस व्यथित—आह्लाद का सफल चित्रण किया है।

विवाह के पूर्व प्रत्येक बालिका चञ्चल और अल्हड़ होती है, किन्तु पश्चात् चांचल्य लुप्त हो जाता है, इसका निर्देश उन्होंने सुन्दरता से किया है।—इस पुस्तक में श्रीमती ठाकुर ने विशेषतः तारावती के सुखी वैवाहिक जीवन का चि अंकित किया है, किन्तु नारी पर किये जाने वाले पुरुषों के अत्याचारों को भी स्वीकार किया है। इन अत्याचारों का निराकरण नारी के विवाह न करने से नहीं किया जा सकता, स्पष्टतः तारावती ने मिस रमा के मन का विरोध करते हुये कहा है, "मैंने सुना है दूसरे देशों में लड़कियों ने विवाह का विरोध किया है, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उन्होंने स्वतन्त्र जीवन बिताना पसन्द किया है। इसको जानने के बाद भी अपने देश में अभी मैं इसकी आवश्यकता नहीं समझती।" अत्याचारों का दमन किस प्रकार किया जावे, इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। श्यामा के विषय में बातचीत होने पर संकेत मात्र मिलता है।

तारावती के सुखी जीवन के दिग्दर्शन के साथ-साथ बाल-विधवा लक्ष्मी, विलासी और दुराचारी पति की पत्नी, श्यामा, मद्रासी पत्नी, पति परित्यक्ता दुर्गा की कष्टमयी कथा भी पाठक के हृदय में कसक उत्पन्न कर देती हैं। यह पुस्तक केवल नारी से सम्बन्धित है, और नारी के ही मनोभावों का इसमें अङ्कन किया गया है। पत्र-संग्रह होने के कारण नारी की मूक-व्यथा, उसकी मार्मिक पीड़ा के हृदय स्पर्शी चित्र इसमें विचित्र नहीं किये जा सकते हैं, फिर भी प्रयास श्लाघनीय है।

— डा० किरनकुमारी गुप्ता एम० ए०

बालोपयोगी

मनोहर कहानियाँ—लेखक—पी० आर० श्रीनिवास शास्त्री। प्रकाशक-मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद, बसवन गुडी, बैंगलोर ४। पृष्ठ ६४, मूल्य ।=)

कहानियों की यह छोटी सी पुस्तक सद्विचार और सद्भावना प्रेरित करने के लिए बड़ी सुन्दर है। चौदह कहानियाँ इसमें हैं जो सभी आकर्षक है।

बच्चों के बापू—लेखक-डॉक्टर सत्येन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥)

महात्मा गान्धी के जीवन की झाँकी इस पुस्तक में संक्षेप में बच्चों के हितार्थ कराई गई है। विद्वान लेखक से जैसी सुन्दर पुस्तक की आशा की जा सकती थी, पुस्तक वैसी ही उत्कृष्ट है—पर गैट अप उतना आकर्षक नहीं है, जिसकी जरूरत थी।

परीक्षार्थी प्रबोध खण्ड १ की विषय-सूची

(साहित्य सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य अर्थात् २।) में)

पृष्ठ संख्या लगभग ३०० मूल्य ३)

पता: —साहित्य सन्देश कार्यालय, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा ।

विशेष रियायत समाप्त होगई

परीक्षार्थी प्रबोध द्वितीय खण्ड के लिये ३१ अक्टूबर तक जब कि पुस्तक प्रेस में छप रही थी साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य के साथ साथ हमने २।) में ही रजिस्ट्री डाक व्यय भी अपनी तरफ से देने की घोषणा की थी लेकिन अब भी हमारे कृपालु ग्राहक २।) मनीआर्डर से भेज रहे हैं जिससे हमें ।≈) उनसे और मंगाने पड़ते हैं और, इस प्रकार विलम्ब होता है क्यों कि इतने कम मूल्य की पोस्ट आफिस वाले भी वी० पी० नहीं लेते । अतः जो ग्राहक पेशगी रुपया भेजें उन्हें

२॥≈) का मनीआर्डर भेजना चाहिए

इसके साथ साथ दोनों खंड एक साथ मंगाने वाले ग्राहकों को ४।) में देने की सुविधा भी अब समाप्त करदी गई है—दोनों खंड एक साथ लेने पर ४॥) में ही दिये जायँगे पोस्टेज अलग—दोनों खंडों के लिये डाक खर्च सहित ५) का मनीआर्डर भेजना चाहिए अथवा एक पोस्ट कार्ड भेजकर वी० पी० से पुस्तक मँगानी चाहिए ।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

साहित्य संदेश

[वर्ष १२] आगरा—मार्च १९५१ [अङ्क ९]

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
...न्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र
*
प्रकाशक
...हित्य-रत्न-भण्डार, आगरा
*
मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा
*
...क मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।
२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।
५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

हिन्दी का नया प्रकाशन : फर्वरी १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

तुलसी—माताप्रसाद गुप्त २)
अनुशीलन—शिवनाथ एम० ए० १।।)
उद्धव शतक परिशीलन—अशोककुमारसिंह २)
प्रसादजी का चन्द्रगुप्त—कृष्णप्रसाद सिन्हा २।।)
डा० वर्मा के शिवाजी—ध्रुवनारायणसिंह ।≈)

कविता

गांधी गीता—श्री दामोदर शास्त्री ।।≈)
अवकाश के क्षण-शकुन्तला सक्सैना एम. ए. ।।।)

नाटक

बुझता दीपक—भगवतीचरण वर्मा २)

कहानी

फूलों भरा जनाजा—विश्वनाथ भटेले ।—)

बालोपयोगी

चरित्र निर्माण—राधेश्याम विद्यार्थी ।≈)
नए भारत के नेता—वेणीमाधव शर्मा ।≈)
जीवन की झलक—नित्यानन्द एम० ए० ।≈)
रवीर—वेणीमाधव शर्मा ।≈)
मा का बेटा—विष्णु प्रभाकर ।।।)
बच्चों के बापू—सत्येन्द्र ।।)

ऐतहासिक

पञ्जाब का इतिहास—धर्मवीर ८)

राजनैतिक

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास—म० गांधी ३।।)
बापू के कदमों में—राजेन्द्रप्रसाद ५)

विद्यार्थीपयोगी

मध्यमा प्रश्नोत्तर—नेमीचन्द जैन त्रिमूर्ति १।)
चन्दा एक विश्लेषण—परमेश्वरदत्त शर्मा ≡)

धार्मिक

रामचरितमानस का पाठ प्रथम भाग—माताप्रसाद गुप्त ४)
" द्वितीय भाग— " " ४)
रामचरितमानस—माताप्रसाद गुप्त ६)

विविध

मोमबत्ती बनाना—प्रो० एफ० सी० योहन १।।)
आयना बनाना— " " " १)
सोडा कास्टिक बनाना— " " २)
सील मुहर करने की वस्तुएँ— " १।।)
हस्तलेख से चरित्र ज्ञान—कैलाशनाथ मिहिरा बी० ए० ।।)

निबंध

बारह बातें—प्रो० कपिल १)
बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली—झाबामल शर्मा बनारसीदास चतुर्वेदी १०)
बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—" " ५)
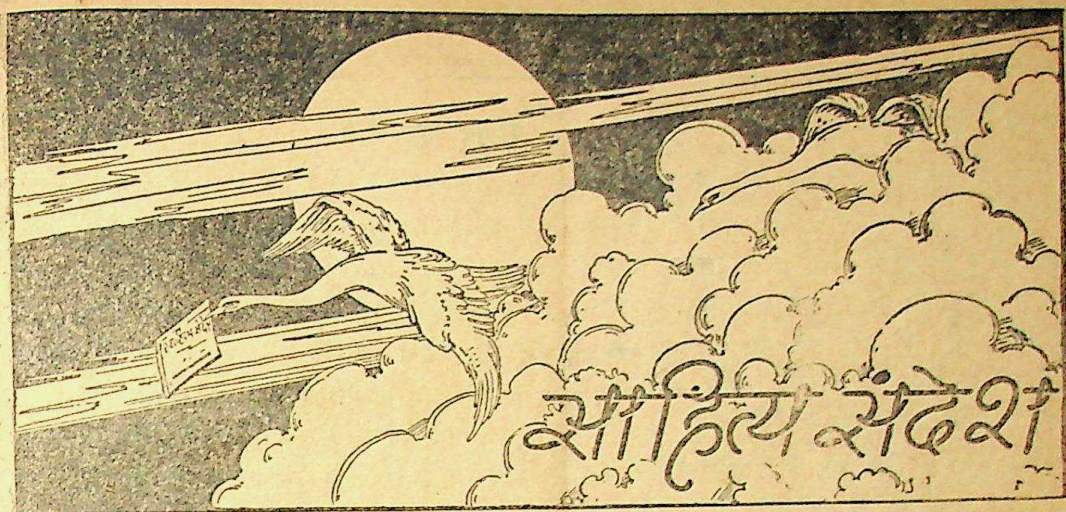
वर्ष १२] आगरा—मार्च १९५१ [अङ्क ९

हमारी विचार-धारा

श्रीमती होमवती का स्वर्गवास—

होमवतीजी आधुनिक साहित्य जगत की उज्ज्वल तारिकाओं में से थीं। साहित्य के दुर्भाग्य से गत ३ फर्वरी शनिवार को ४४ वर्ष की अल्पायु में उनका स्वर्गवास हो गया। वे उच्चकोटि की कहानी लेखिका और कवयित्री थीं। 'निसर्ग' और 'धरोहर' उनके कहानी संग्रह हैं और 'प्रतिच्छाया' 'उद्गार' और 'अर्घ' उनके काव्य के संग्रह हैं जो उनको चिरस्मरणीय बनाये रखेंगे। नारी होने के नाते उनके हृदय में स्वाभाविक करुणा थी जो उनके गीतों में प्रस्फुटित हुई और इसी नाते वे अपनी कहानियों में पारिवारिक जीवन के सच्चे और सजीव चित्र अङ्कित कर सकीं हैं। लेखिका और कवयित्री होने के अतिरिक्त वे साहित्यिक जीवन और साहित्य सर्जना की एक बड़ी प्रेरिका शक्ति थीं। उनके प्रभाव और सूत्रधारत्व में मेरठ की दो साहित्य परिषदें साहित्य परिषदों के लिए दीर्घ काल तक उदाहरण बनी रहेंगी। साहित्य में ठोस कार्य करने और दिशा निर्देश करने के लिए ऐसी परिषदों की अब भी आवश्यकता है। देवीजी की स्मृति रक्षा के लिये हम उनके सुपुत्र और मेरठ के साहित्यिकों से यह अपील करेंगे कि वे प्रसाद परिषद् की भाँति मेरठ में 'एक होमवती हिन्दी काव्य परिषद' स्थापित करें, जिसके वार्षिकोत्सव में हर वर्ष साहित्यक विचार विनिमय हुआ करे। साहित्यिकों के स्वागत के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता था और वे आतिथ्य सत्कार में साक्षात् देवी अन्नपूर्णा का रूप धारण कर लेती थीं। दिल्ली की रेडियो कमेटी की सदस्या के रूप में स्त्रियों के प्रोग्राम के सम्बन्ध में आपके सुझाव बहुमूल्य होते थे। हमको उनके सुपुत्र श्री रामावतार से हार्दिक सहानुभूति है कि ऐसी कल्याणमयी देवी की छत्र-छाया उनके ऊपर से इतनी शीघ्र ही उठ गई। होमवतीजी का स्वर्गवास उनके ही परिवार की क्षति नहीं है वरन सारे हिन्दी जगत की क्षति है क्योंकि वे सभी साहित्यिकों से पारिवारिक सम्बन्ध निभाती थीं। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे!

श्रीमती होमवतीजी की स्मृति में 'साहित्य सन्देश' का एक विशेषाङ्क निकालने की बात विचाराधीन है, जिसकी पूरी रूपरेखा निश्चय होने पर प्रकाशित की जायेगी।

कहानियों के विषय—

हिन्दी में कहानी-साहित्य की सृष्टि आजकल बहुत हो रही है। कोई पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं जिसमें एक-दो कहानी न निकलती हों। अपने साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण तो हैं, पर इन कहानियों के विषय सौ प्रतिशत नहीं तो नब्बे प्रतिशत प्रेम सम्बन्धी ही होते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे रोमांस के अतिरिक्त और कोई विषय रह ही नहीं गया है। उदीयमान देश के लिए यह कोई शुभ लक्षण नहीं है। प्रेम पर रचनाएँ हों ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। हाँ, पर दूसरे विषय अछूते क्यों छोड़े जाँय? हमारे लेखकों की रुचि एकाङ्गी क्यों हो? अभी 'हिन्दुस्तान' की कहानी प्रतियोगिता में जिन चार कहानियों पर पुरस्कार मिला है—वे हमने पढ़ीं। बहुत सुन्दर रचनाऐं हैं वे। पर विषय चारों के रोमांस पूर्ण हैं। यही लेखक यदि वीरता की, युद्ध की, साहस की, देश पर बलिदान होने की, पर-सेवा में जीवन उत्सर्ग करने की, बुराई मेंटने के लिए स्वयं मर मिटने की, अत्याचारी से रक्षा करने वाले की, हिंसक जीवों के बध की, वैज्ञानिक-अन्वेषण करने वालों की, भौगोलिक पर्य्यटन या अनुसंधान करने में ख्याति प्राप्त करने वालों की, डाकुओं से मुठ भेड़ करने वालों की चर्चाएँ कहानियों में करते तो उससे देश का कुछ भला होता—यही क्यों और सैकड़ों विषय हैं जिन पर सुन्दर कहानियाँ लिखी जा सकती हैं, और विदेशी साहित्य में जिन पर ढेरों पुस्तकें लिखी गई हों। हिन्दी के लेखक उनके प्रति क्यों उदास हैं? अब तो हमारे देश ने करवट बदली है—उसे स्वस्थ साहित्य की जरूरत है। उसे ऐसा साहित्य, ऐसी कहानियाँ आज का नवयुवक नहीं देगा तो कौन देगा? क्या हम आशा करें कि हिन्दी के लेखक और प्रकाशक इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विचारने और इस विचार को व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे?

प्रसाद जयन्ती—

१२ फरवरी को प्रसाद जयन्ती हिन्दी जनता में बड़ी धूम-धाम से मनाई गई। आधुनिक काल के कवियों में प्रसाद भी हरिश्चन्द्र की भाँति युग-प्रवर्त्तक थे। उनसे हिन्दी का आधुनिकतम काल का श्री गणेश होता है। उनके साहित्य में वर्तमान समय की सभी प्रवृत्तियों जैसे छायावाद रहस्यवाद दुःखवाद तथा सांस्कृतिक गौरवमय देश-प्रेम आदि के दर्शन होते हैं। वे मुक्तककार तो थे ही किन्तु कामायनी के रूप में उन्होंने एक अमर प्रबन्ध काव्य भी दिया। वे प्राचीनता के उपासक थे और कामायनी में अतीत की सुदूर पृष्ठभूमि में पहुँच गये थे जहाँ कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। कामायनी में उन्होंने भारतीय ज्ञान इच्छा और क्रिया के समन्वय और श्रद्धा के प्राधान्य का उद्घाटन किया, उन्होंने अपने काव्य द्वारा 'श्रद्धावान लभते ज्ञानं' गीता की इस उक्ति को सार्थक कर दिया। उन्होंने नाटकों के क्षेत्र में भी युग-परिवर्तन किया। उनमें हमको द्विजेन्द्र की ऐतिहासिकता और रवीन्द्र की भावुकता दोनों के ही पूर्णरूपेण दर्शन होते हैं और उनके पात्रों की त्यागमयी कर्मनिष्ठा और सांस्कृतिकता के कारण गर्व से हमारा मस्तक ऊँचा हो जाता है।

प्रसादजी पूर्णरूपेण भारतीय थे और भारत को उन पर गर्व है। प्रसाद साहित्य के अध्ययन के लिए उनकी पुस्तकों पर और भी टीकाएँ और समालोचनाएँ निकलने की आवश्यकता है जिससे कि हमारी जनता उनकी कविता का मर्म भली प्रकार समझ सके।

साहित्यकार संसद—

फर्वरी के महीने में हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में साहित्यकार संसद ने विशेष आकर्षण प्रस्तुत किया। इस संसद के स्वाध्याय मंदिर तथा सरस्वती सदन का शिलान्यास २० फर्वरी को भारत के राष्ट्रपति

मा० डा० राजेन्द्रप्रसाद ने किया। साहित्यकार संसद का यह भवन प्रयाग नगर से लगभग ३ मील दूर गंगा के किनारे रसूलाबाद नाम के एक छोटे से गाँव में निर्मित होगा।

साहित्यकार संसद आज से छः वर्ष पूर्व स्थापित हुई थी। यह संसद साहित्यकारों में उस प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप खड़ी हुई जो साहित्यकारों में सम्मेलन की राजनीति के कारण हुई थी। साहित्यकार को साहित्य-निर्माण के लिए सुविधा और अवसर प्रदान करना तथा उसे निजी चिन्ताओं से मुक्ति देना इस संसद का प्रधान धर्म माना गया था। संसद शनैः शनैः बल प्राप्त करके राष्ट्रभाषा के साहित्यकारों को ऊँचा उठाने और विश्व-साहित्य को वाञ्छित रूप देने की प्रेरणा और योजना में अवश्य सफल होगी ऐसा हमारा विश्वास है।

गुप्त और प्रसाद की महत्ता—

प्रसाद जयन्ती पर जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गईं उनमें हमारा ध्यान खिंच कर उन शब्दों की ओर जाता है जो 'प्रसादजी' के समान ही महान कवि डा० श्री मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्यकार संसद भवन में प्रसादजी का तैल-चित्र उद्घाटन करते समय कहे—

"प्रसादजी भविष्य द्रष्टा थे। उन्होंने हिन्दी को और मानवता को अपने साहित्यिक कृतित्व द्वारा जो देन दी वह आज भी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगी।" और इस प्रकार विचार करते हुए यह महाकवि अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में भी एक अभिमत तुलनात्मक दृष्टि से प्रकट कर गया। उन्होंने कहा—

"मेरा कार्य तो वर्तमान का था और शायद वह मेरे जीवन के साथ ही समाप्त भी हो जाय किन्तु प्रसाद जी का साहित्य अतीत की निधि के रूप में भावी पीढ़ियाँ बराबर सँजोती रहेंगी।" इस महाकवि के स्वाभाविक शील के अनुकूल ही ये शब्द हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' के साहित्य की भावभूमि का स्तर बहुत ऊँचा है, और वे वस्तुतः अमृत पुत्र हैं। 'प्रसाद' जैसे महाकवि के लिए आज मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आलोचक की आवश्यकता है जो विश्व-काव्य में तुलनापूर्वक 'प्रसाद' के साहित्य का यथार्थ मूल्याङ्कन कर सके।

साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार—

पीलीभीत के प्रसिद्ध भूमिपति तथा उद्योग-पति साहू जगदीशप्रसादजी ने 'साहित्यकार संसद' को दस हजार की निधि प्रदान की है। इसमें से दसवर्ष तक एक हजार का एक पुरस्कार प्रतिवर्ष हिन्दी की सर्वोत्तम रचना पर दिया जाया करेगा।

इस वर्ष यह पुरस्कार श्री वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'मृगनयनी' पर दिया गया है। हमें इस पुरस्कार की सूचना से बहुत प्रसन्नता हुई है। वास्तव में 'मृगनयनी' उपन्यास आज ऐसे पुरस्कार के सर्वथा योग्य था, और इस समय इससे महान रचना इन दिनों दूसरी प्रकाश में नहीं आयी। वर्माजी ने 'मृगनयनी' में इतिहास और मानव, सङ्गीत, कला तथा तक्षण, सौन्दर्य और शौर्य का जैसा अनोखा समन्वय प्रस्तुत किया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बुन्देलखण्डी रंग की स्वाभाविक छाप ने इसे बहुत रोमानी सरस किन्तु सहज बना दिया है—और इतिहास के मृत पात्र सजीव होकर मांसल-सौन्दर्य तथा गति तथा उच्च-भाव भूमि के कारण अमर हो उठे हैं। वर्माजी पुराने साहित्यकार हैं—प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार किन्तु अपनी देन में अद्‌भुत। और 'मृगनयनी' को उनके बुन्देलखण्डी उपन्यासों में सर्व श्रेष्ठ माना जा सकता है। वर्माजी इस पुरस्कार के सर्वथा योग्य थे। हम वर्माजी, संसद तथा पुरस्कार प्रदाता तीनों का इस कार्य के लिए अभिनन्दन करते हैं।

हिन्दी में कुछ नहीं है ?—

"इस बात से तो आज कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे देश में साहित्य-सेवियों का

जीवन अत्यन्त कष्टकाकीर्ण रहा है। जैसा कि आपने अपनी रिपोर्ट में लिखा है। "परतन्त्र तथा विदेशी भाषा से आक्रान्त देश में साहित्य सृजन संघर्ष साध्य ही होता है।" अतः जब तक समारे देश में विदेशियों का राज्य था हमारे साहित्यकारों को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। स्वतन्त्र होने के पश्चात् इस बारे में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु आज भी वैसी स्थिति नहीं है, जैसी अच्छे साहित्य सृजन के लिये होनी चाहिये। यद्यपि हमने यह निश्चय कर लिया है, कि हमारा सार्वजनिक सभी राज-काज हमारे देश की भाषाओं में ही कुछ वर्षों के बाद चलेगा, किन्तु आज भी हमारे यहाँ के शिक्षा शास्त्रियों, शिक्षितों और शिक्षार्थियों के मन से अंग्रेजी भाषा का वह मोह नहीं छूटा, जो अंग्रेजी राज्यकाल में उसके प्रति पैदा हो गया था। जान में या अनजान में हमारे यहाँ के बहुसंख्यक शिक्षितों के मन में यह भाव घर किये हुए है, कि हमारी अपनी भाषाओं में वैसी उच्चकोटि का साहित्य न तो है और न हो सकता है, जैसा कि अंग्रेजी में है। और इस भावना के कारण आज भी उनका लगाव अपनी भाषाओं के साहित्य से कुछ अधिक नहीं है। हमारे साहित्यकारों को जो आर्थिक कठिनाइयाँ सहनी पड़ी हैं और सहनी पड़ रही हैं, उनका एक कारण यही मनोवृत्ति है। क्योंकि इसके कारण हमारे यहाँ उनकी कृतियों का शिक्षित वर्ग में वैसा प्रचार नहीं होता, जैसा कि अन्य देशों में वहाँ के साहित्यकारों की कृतियों का होता है।"

साहित्यकार-संसद प्रयाग में दिये राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी का उपरि-उद्धृत भाषणांश इस बात को प्रमाणित करता है, कि हमारे साहित्य की कठिनाइयों का अधिकाँश कारण यह है कि लोगों की यह मनोवृत्ति दूर नहीं हुई है, कि जो कुछ है अँग्रेजी में है हिन्दी में कुछ नहीं है। हमारे अध्यापकों को यह मनोवृत्ति बदलने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे साहित्य सृष्टाओं का भी यह कर्तव्य है कि उत्तम साहित्य सृष्टि कर लोगों की इस धारणा को दूर करें।

कविताओं के रेकर्ड—

बन्धुवर श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी की मस्तिष्क-भूमि बड़ी उर्वरा और उनकी कल्पना बड़ी प्रखर है। हिन्दी साहित्य की उन्नति और हिन्दी प्रचार के लिए समय-समय पर वे कितने ही सुझाव देते रहते हैं। अभी आपने एक सुझाव कविताओं के रेकर्ड सम्बन्धी दिया है जिसका हम समर्थन करते हैं:—

"हमने किसी पत्र में पढ़ा था कि न्यूयार्क की एक संस्था (बौलिजन फाउन्डेशन) ने आधुनिक अँगरेजी कवियों की अनेक कविताओं को उन्हीं के स्वरों में रेकर्ड पर लिया है। टी० एस० इलियट, औडिन और कमिंग्स आदि की कविताओं के रेकर्ड बन गये हैं। क्या ही अच्छा हो यदि हमारे यहाँ कोई साहित्यिक अथवा व्यापारिक संस्था इस उदाहरण का अनुकरण करे।"

"कविवर मैथलीशरणजी गुप्त, बच्चनजी, दिनकरजी भगवतीचरण जी वर्मा, मुकुलजी इत्यादि कवियों की चुनी हुई कविताओं के रेकर्ड तैयार करने में कुछ अधिक पैसा तो खर्च होगा नहीं और फिर जितना पैसा लगाया जायगा उससे कहीं अधिक मुनाफे में मिल सकता है। कविवर गुप्तजी से साकेत के सर्वोत्तम अंशों का पाठ कराया जा सकता है बचन जी से "वह पग ध्वनि मेरी पहचानी।" तथा "नीड़ का निर्माण फिर-फिर" इत्यादि कवितायें पढ़वाई जा सकती हैं। दिनकरजी से हिमालय, और इसी प्रकार अन्य कवियों की कविताओं के रेकार्ड बनाये जा सकते हैं। कोई प्रगतिशील सिनेमा-कम्पनी भी इस काम को आसानी से कर सकती है।"

रस-सिद्धान्त और कीथ

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

भारतीय साहित्य में उदात्त चरित्र को लेकर आदर्शोन्मुख रचनाएँ की गईं। पाश्चात्य समीक्षकों की मुख्य आपत्ति यह है कि भारतीय कविता जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती; ब्रह्मानन्द-सहोदर रस काव्य को एकांगी बना देता है। काव्य का सीधा सम्बन्ध जीवन के चित्रण से है, न कि रस की उद्भावना से। रस के आस्वाद के लिए भारतीय नाटक और काव्य में ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये कि जिनसे कृत्रिमता आ गई। किसी भी असुन्दर वस्तु का चित्रण काव्योपयोगी नहीं है, यह धारणा बन गई। जीवन के भयानक तथा अप्रिय पक्षों का आदर काव्य में नहीं किया गया। साथ ही काव्य के लिए सामग्री का निर्देश इतना नपा-तुला और सीमित था कि कविगण जीवन-स्पर्शी काव्य न लिख सके। उन्होंने रस की सिद्धि के लिए आचार्यों द्वारा बताये हुए नियमों का अनुवर्तन किया जिससे मानव-जीवन की अवहेलना हो गई। रस की उद्भावना के लिये कवि-कर्म अत्यन्त सहज समझ लिया गया; विभाव-अनुभावादि की ऐसी स्थूल रेखा खींच दी गई कि कवि जीवन-द्रष्टा न बन सके। आनन्द-पर्यवसायी काव्य ही काव्य समझा गया। कीथ का यह भी कहना है कि रस-सिद्धान्त पर भारतीय दर्शन की छाप है। श्रेष्ठ कार्य का श्रेष्ठ और बुरे कार्य का बुरा फल मिलता है, इस कर्म-सिद्धान्त का काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। नियति का भयानक संघर्ष और प्रकृति की अज्ञेयता भारतीय नाटक और काव्य से बहिष्कृत कर दी गई। इस कारण भारतीय कविता रसमय तो रही पर जीवन-स्पर्शी न हो सकी। अरस्तू ने भी काव्य के प्रयोजनों में मनोरञ्जन का उल्लेख किया है किन्तु यह मनोरञ्जन जीवन की अनुकृति से सम्बद्ध है। यही कारण है कि पाश्चात्य कविता बहुमुखी जीवन-अनुभूतियों को ग्रहण करती है। इसके विरुद्ध भारतीय काव्य में वैचित्र्यमयी ऊहात्मक कल्पनाओं का प्राचुर्य, जीवन की अवहेलना, मनोविज्ञान का अनादर और चरित्र-चित्रण की उपेक्षा ही प्रायः देखी जाती है। श्री ए० बी० कीथ ने भारतीय नाटकों की आलोचना के सिलसिले में कालिदास जैसे विश्व-विश्रुत कवि के सम्बन्ध में भी अपने 'संस्कृत ड्रामा' में इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—

'मानव जीवन के गंभीरतर प्रश्नों लिये कालिदास ने हमारे लिए कोई संदेश नहीं रख छोड़ा है और जहाँ तक हम देख सकते हैं, ऐसे गंभीरतर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राटों ने जिस ब्राह्मण धर्मानुमोदित समाज-व्यवस्था की स्थापना की थी, उसमें वे (कालिदास) पूर्णतया सन्तुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने कभी उन्हें उद्विग्न नहीं किया। शकुन्तला नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि वह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया में चलता फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का प्रयत्न करता है और न उसका समाधान ही खोज निकालने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाये हैं और उस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है पर उनके ग्रन्थों से भी इसी नियम का प्राबल्य दिखाई देता है कि सब कुछ का अन्त सामञ्जस्य में ही होना चाहिए। ब्राह्मण धर्मानुमोदित-जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी सङ्कीर्णता लादी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है।

यही नहीं, ब्राह्मण धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही "चण्ड कौशिक" जैसे नाटक लिखे जा सके हैं जहाँ एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न ऋषि विश्वामित्र की विदितजनोचित प्रतिहिंसा से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।" *

इस उद्धरण पर विचार करते हुए डा० द्विवेदी कहते हैं—"यह नहीं कहा जा सकता कि कीथ ने जो बातें कही हैं, वे गलत हैं। गलत है उनकी दृष्टि-भङ्गी। सचाई गलत ढङ्ग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षणभंगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है, और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभात हो रही है, वह जीवन के गभीरतर प्रश्नों की बात मानता ही कहाँ है कि उसका उत्तर देता फिरे? उसके मन से तो जीवन के गभीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे जीवन कहा जाता है, वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्मबन्ध के भोग के लिए एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्म प्रपञ्चमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्याएँ जीवन के गभीरतर प्रश्न तो हैं ही नहीं, उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुख-स्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है। वास्तविक और गहन प्रश्न है इस लोक से बाहर का। भारतवर्ष का कवि उस पर ही दृष्टि जमाता है। वस्तुतः यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस अनुभव करना चाहे तो उसे भारतवर्ष के इन चिरसञ्चित संस्कारों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। जब हम देश और काल के इन विश्वासों को ठीक-ठीक समझ लेंगे तभी उनके आधार पर रचित साहित्य के अनाबिल रस-रूप का परिचय पा सकेंगे। श्री कीथ जैसे विद्वान् को भी जब हम विचलित होते देखते हैं तो लगता है कि अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। एक क्षण के लिए सोचिए कि यदि आप भी ग्रीक ट्रेजेडी को उसी प्रकार भारतीय संस्कारों के चश्मे से देखें तो आलोचना कुछ इस प्रकार की होगी—

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन का गभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय 'सत्' है जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज-सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आई ही नहीं। ट्रोजन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गए, वे कभी भी जीवन के वास्तविक गाम्भीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे और उन्हीं के आदर्श पर लिखे गये उत्तरकालीन अंग्रेजी नाटक, एक ऐसे उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे जहाँ पर पद-पद पर परस्पर विरुद्ध जाने वाले कर्त्तव्य-द्वन्द्व उन्हें सताते रहे और अन्त तक वे किसी सामञ्जस्य-मूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृङ्खल बना दिया है, इस बात को यूरोपियन नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है।"

कहना बेकार है कि इस प्रकार की आलोचना से हम ग्रीक साहित्य के सौन्दर्य को खो देंगे। सचाई भी गलत ढङ्ग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है।*

डा० द्विवेदी की भाँति काव्य साहित्य पर राष्ट्रीय संस्कारों की छाप का उल्लेख स्व० प्रसादजी ने भी किया है। यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण

* द्रष्टव्य 'साहित्य का मर्म' (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० ३३

* द्रष्टव्य 'साहित्य का मर्म' पृ० ३४-३५

भी दिया है :—'यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है। इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में हो है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मान कर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।' देशान्तर और जात्यन्तर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है। इसलिए काव्य के देश-जाति-गत कुछ स्थायी उपलक्षण मानने पड़ते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में वैयक्तिक स्वाधीनता और सामाजिक विद्रोह की भावना अत्यन्त विरल है। इसका मुख्य कारण जन्मान्तर व्यवस्था तथा कर्मफलवाद में ढूँढा जा सकता है। "ईसवी सन् के आरम्भ में कर्मवाद का विचार भारतीय समाज में निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया था। जो कुछ इस जगत् में हो रहा है, उसका एक अदृष्ट कारण है, यह बात निःसंदिग्ध मान ली गई थी। जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धान्त ने ऐसी जबरदस्त जड़ जमा ली थी कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में इस भौतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असन्तोष का आभास नहीं मिलता। जन्मान्तरवाद के निश्चित रूप से स्वीकृत हो जाने के कारण प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध तीव्र सन्देह एकदम असंभव था। कवि कठिन से कठिन दुःखों का वर्णन पूरी तटस्थता के साथ करते थे और ऐसा शायद ही कभी होता था जब कोई कवि विद्रोह के साथ कह उठे कि यह अन्याय है, हम इसका विरोध करते हैं।"×

किन्तु आज समय ने पलटा खाया है। आज हम ऐसे वैज्ञानिक युग में रह रहे हैं जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण देश-गत दूरी अत्यल्प रह गई है। यातायात की सुविधा, रेडियो, प्रेस तथा अन्य आधुनिक सुविधाओं के कारण आज का साहित्यिक विश्व की विचार-धाराओं से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। यह सच है कि प्राचीन भारतीय नाटकों और काव्यों में वर्गगत चरित्रों की ही सृष्टि अधिकांश में हुई है, किन्तु प्रसाद के नाटकों और काव्यों में, श्री अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' जैसे उपन्यासों में तथा श्री जैनेन्द्र की अनेक कृतियों में व्यक्तिगत चरित्रों की भरमार है। आधुनिक नाटकों में भी घटनाओं का घातप्रतिघात तथा अंतर्द्वन्द्व ही विशेष आकर्षण की वस्तु है। कीथ ने संस्कृत नाटकों और काव्यों के जिस अभाव की ओर संकेत किया था, उसकी पूर्ति आधुनिक साहित्य द्वारा हो रही है। श्री दिनकर के शब्दों में "छायावाद हिन्दी में उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था। यह केवल साहित्यिक शैलियों के ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की परम्पराओं, रूढ़ियों, शास्त्र-निर्धारित मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिन्ता को सीमित करने वाली तमाम परिपाटियों के विरुद्ध जन्मे हुए एक व्यापक विद्रोह का परिणाम था और मनुष्य की दबी हुई स्वतन्त्रता की भावना को प्रत्येक दिशा में उभारने वाला था।" और फिर आधुनिक युग का प्रगतिवाद तो जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद पर प्रबल कुठाराघात कर रहा है। नवीन जैसा कवि तो जगपति तक का टेंटुआ घोंटने के लिए अपने विचार प्रकट कर चुका है। जिस दिन वह मनुष्य को लपक कर जूठे पत्ते चाटते हुए देखता है, उसके मन में इच्छा होती है, कि आज मैं इस दुनिया भर को आग क्यों न लगा दूँ। इतना ही नहीं, वह यह भी सोचता है—

"यह भी सोचा, क्यों न टेंटुआ,
घोंट स्वयं जगपति का।

× देखिए हिमालय संख्या २ में श्री दिनकर का लेख 'हिन्दी कविता में वैयक्तिकता का उत्थान' पृष्ठ २२

जिसने अपने ही स्वरूप को रूप,
दिया इस घृणित विकृति का।"

आधुनिक साहित्य में जो विद्रोह की भावना आज जग रही है, वह स्पष्ट ही वर्तमान युग का प्रभाव है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। प्राचीन साहित्याचार्यों ने नाटकों और काव्यों को नियमों की जिन मर्यादाओं में बाँध दिया था, आज के साहित्यकार उन्हें शृङ्खलाएँ समझकर छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, और यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि किसी भी साहित्यकार पर युग का प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। आलोचना के भी नये-नये प्रकार आज चल रहे हैं, मनोविश्लेषण तथा मार्क्सवाद को लेकर साहित्यिक कृतियों का समीक्षण किया जा रहा है, समीक्षा के पुराने सिद्धान्तों की जड़ें हिल रही हैं, किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी रस-सिद्धान्त अपना सिर ऊँचा किये हुए है, उसकी नित नये ढङ्ग से व्याख्या हो रही है। भारतीय-समीक्षा में रस-सिद्धान्त का वास्तव में बड़ा महत्त्व है। रस-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्यानन्द का ही सिद्धान्त है। पाश्चात्य समीक्षा काव्यगत आनन्द और नीति के ऊहापोह में व्यस्त रही किन्तु भारतीय आचार्यों ने आनन्द-पक्ष को इतनी ऊँची भूमि पर पहुँचा दिया था कि नीति-सम्बन्धी संशय के लिए इसमें स्थान ही नहीं रह गया। आनन्द-पक्ष के अन्तर्गत ही नैतिक पक्ष का भी समाधान हो गया। इन विशेषताओं के होते हुए रस की कल्पना को एकांगी और संकीर्ण नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य समीक्षा भाव-पक्ष और कला-पक्ष के समन्वय की समस्या में व्यस्त रही। बड़ी कठिनाइयों के बाद क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद वस्तु और रूप की एकता पर पहुँच सका किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के द्वारा रूप और वस्तु का समन्वय अधिक सुदृढ़ आधार पर किया है।

(पृष्ठ ३६२ का शेष)

को लक्ष्य कर नहीं चलती, न आज शत्रु को अभिभूत, अपमानित या पददलित करने में ही हम अपने वीर कर्म की इतिश्री समझते हैं। शत्रु के व्यक्तित्व के विरुद्ध नहीं, उसकी नीति के विरुद्ध ही हमारे युद्ध की घोषणा होती है। व्यक्तिरूप से तो आज सारा संसार हमारा बन्धु है—एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर। विश्व बन्धुत्व का यह आदर्श अभिनय छायावाद में सम्यक रूपेण मुखरित हुआ है। आज जब हमारी यह स्थिति है कि—

देखा दुखी एक भी भाई,
दुःख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ वेदना आई॥

तो यह नितान्त असंभव है कि हम किसी व्यक्ति अथवा समाज विशेष से शत्रुता रक्खें, मुसलमान हमारे बन्धु हैं, अंगरेज हमारे मित्र। यदि हमारा विरोध है तो उनकी भूलों से—उनकी भ्रान्त नीति से! ठीक उतना ही जितना हमें अपनी कमजोरियों के प्रति विद्रोह है। इस चेतनाधार को लेकर चलने वाला वीर-काव्य कभी हिंसा का प्रतिपादन नहीं कर सकेगा और न उसमें कटुता ही होगी। वह उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वीरता का उच्छ्वास होगा, जिसमें हिंसा के बदले आत्म-बलिदान, विध्वंस के बदले निर्माण और द्वेष एवं कटुता के बदले प्रगतिशीलता तथा प्रेम की ही भावना का प्राधान्य होगा। हिन्दी कविता ने इस युग में इस उच्चादर्श को प्राप्त किया है।

इधर जो कविताएँ लिखी जा रही थीं उनमें 'जय हिन्द' के भावों का पूर्ण प्रभाव था और हिन्दी के सभी कलाकारों ने अपनी कविता का विषय इसे बनाया। इसके बाद गांधीजी और उनके सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक कविताएँ भी लिखी जाने लगीं और कई काल-ग्रन्थ भी निकले। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वीर-काव्य पर राजनीति का विशेष प्रभाव पड़ा और सर्वदा पड़ता रहेगा। आशा है, हिन्दी का वीर काव्य अपने पथ पर अग्रसर होता रहेगा। एवमस्तु।

'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास

श्री गणपतिचन्द्र गुप्त

राजस्थानी भाषा के प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्ति के कारणों को लेकर समय-समय पर वादविवाद हुये हैं। 'रासो' 'डिंगल' आदि शब्द ऐसे ही हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा और उनकी व्युत्पति के सम्बन्ध में अपना अपना अलग मत प्रगट किया! 'रासो' शब्द की समस्या तो फिर भी बहुत कुछ हल हो गई, पर डिंगल शब्द अभी तक अपनी डिंगलता पर अड़े चल रहा है। विद्वानों ने इसका सम्बन्ध डगल-पत्थर आदि शब्दों से लेकर महादेवजी तक स्थापित किया तो भी इसकी समस्या हल नहीं हो पाई है। विभिन्न विद्वान इसकी व्युत्पत्ति ढूँढने के लिये किस प्रकार कल्पना के पंखों पर उड़े हैं, और फिर कितने हल्के या भारी तथ्य लेकर नीचे उतरे हैं, यह सब कुछ देखने के लिये हमें अब तक के उपस्थित सभी तर्कों एवं कारणों पर थोड़ी दृष्टि डालनी पड़ेगी।

सबसे पूर्व डा० एल० पी० टैसीटरी ने अपना मत देते हुए लिखा हैं कि—डिंगल शब्द का वास्तविक अर्थ है अनियमित अथवा गँवारू। यह भाषा ब्रजभाषा की अपेक्षा अनियमित अथवा गँवारू है इसीलिये इसका यह नाम पड़ा। दूसरा मत श्री म० म० पं० हरप्रसादजी शास्त्री का है जिसके अनुसार डिङ्गल शब्द 'डगल' शब्द से बना है। आपने अपने मत की पुष्टि के लिये चौदहवीं शताब्दी के एक प्राचीन पद का अंश भी उद्धृत किया है जो उन्हें कविराजा मुरारीदान से प्राप्त हुआ था। तीसरा मत श्री गजराजजी ओझा का है जिसके अनुसार 'ड' अक्षर की प्रधानता ही डिंगल नाम का आधार है। चौथा मत श्री पुरुषोत्तदास स्वामी का है जिन्होंने 'डिंगल' को डिम् और गल दो टुकड़ों में बाँट कर उनसे डमरू और गला अर्थ सिद्ध किया है। डमरू महादेवजी का बाजा है और महादेवजी वीर-रस के देवता हैं अतः वीर-रस वाली भाषा का नाम डिंगल होना निश्चित ही था। इनके अतिरिक्त श्री मेनारियाजी ने इसका कारण यह बताया है कि चारणोंने इस भाषा में बहुत डींग हाँकी इसी लिये डिंगल नाम पड़ गया। श्री चन्द्रधरशर्मा गुलेरी के अनुसार इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है केवल पिंगल के साम्य पर ही 'डिंगल' शब्द बना लिया गया है। पर उपर्युक्त सभी मतों की विवेचना करते हुये श्री उदयनारायणजी तिवारी ने इन्हें निराधार और न मानने योग्य ठहराया है। आपने 'वीर काव्य संग्रह' में इन मतों के सम्बन्ध में जो मत प्रगट किया है वह सर्वथा सुसंगत मालूम पड़ता है। वास्तव में हम डिंगल भाषा को अशिक्षित मनुष्यों की भाषा नहीं कह सकते और नहीं डगल पत्थर या महादेव जी को इस नामकरण का उचित कारण ही कह सकते हैं। तो यह सब कुछ देखने पर स्पष्ट है कि इस शब्द का अर्थ और ही कुछ है।

वास्तव में एक भाषा के नाम सूचक शब्द की विवेचना करते समय एक महान् तथ्य की उपेक्षा न कर देनी चाहिये। वह सबसे बड़ा तथ्य जो प्रत्येक भाषा के नाम पर लागू होता है यह है कि भाषाओं के नाम उसके देश या स्थान विशेष के नाम पर बनते है। प्रमाण के लिए कुछ शब्द लीजियेः—

१—विदेशी भाषायें—इङ्गलिश, फ्रैञ्च, फारसी, अरबी।

२—देशी भाषायें—बँगाली, गुजराती, अवधी, ब्रज।

३—राजस्थानी भाषायें—मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, आदि-आदि।

इसी तरह देखा जाता है कि बहुधा भाषाओं के नाम का आधार वहाँ का प्रदेश विशेष ही होता है। अतः 'डिंगल' शब्द का आधार भी राजस्थान का एक प्रदेश या स्थान विशेष का नाम ही है। राजस्थान में बहुत पहिले कोई 'डगल' नाम का अत्यन्त छोटा सा प्रदेश था जो अब शायद इतिहास के गर्त के कारण लुप्त हो गया है। इसी डगल के रहने वालों की भाषा डिंगल कहलाई। राजस्थान के इतिहास में कभी 'डगल' नाम का प्रदेश विशेष था या नहीं इसके प्रमाण के लिए हम श्री हरप्रसादजी शास्त्री वाला दोहा ले सकते हैं। यद्यपि शास्त्रीजी ने इस दोहे का अर्थ बताने का कष्ट नहीं किया पर हमारी समझ में उसका जो अर्थ हो सकता है वह नीचे दिया जाता है।

दोहा—दीसे जंगल डगल जेथ जल बगल चाटे।
अनहुँता गल दिये गलहुँता गल काटे॥

शब्दों का अर्थ—

दीसे = दिखता है।
जंगल = जंगल, बन ।
डगल = प्रदेश या स्थान विशेष का नाम।
जेथ = जहाँ
जल = पानी
बगल = राजस्थान का एक पक्षी।
चाटे = चाटना
अनहुँता = अनहोनी बात। जो बात कभी नहीं हुई हो।
गलदिये = गल देना यानी कहना या प्रचारित करना।
गल हुँता = गले से। 'हूँता' शब्द अपादान कारक का विभक्ति चिह्न है।
गल काटे = 'गल' एक आभूषण विशेष का नाम है जो गले में पहिना जाता है जिसे कई स्थानों पर 'गल पटिया' भी कहते हैं। काटे यानी काटना।

प्रसंग—ऐसा मालूम होता है कि इन पंक्तियों का लेखक 'डगल प्रदेश' में कुछ समय तक रहा था। वहाँ उसे कई कटु अनुभव हुए जैसे राज्य की अव्यवस्था, पानी की कमी, अनर्गल बातों का प्रचारित होना, और जगह-जगह लूट पाट। इन्हीं कारणों से उसने डगल प्रान्त की निन्दा में ये पंक्तियाँ निर्मित कीं।

भावार्थ—

डगल प्रदेश जंगल के समान दीखता है। बगलें वहाँ पानी चाटती हैं (अतः भला मनुष्यों को पानी कहाँ से मिलेगा) लोग व्यर्थ में अनहोनी बातों को प्रचारित कर देते हैं (जो वहाँ के निवासियों के अन्ध-विश्वासी होने का प्रमाण है।) और (रास्ते चलते हुए) लोगों के गले से आभूषण (गल पटिये) काट लिये जाते हैं।

अतः दोहे के अर्थ से स्पष्ट है कि लेखक डगल-प्रदेश में रह चुका था। दूसरे यहाँ 'डगल' शब्द का अर्थ सिवा किसी प्रदेश विशेष के नाम के और कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। अतः हमें उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि डगल प्रदेश की बोली का नाम ही डिंगल है जो धीरे-धीरे बहुत व्यापक बन गई है। बहुत सम्भव है कि यह डगल प्रदेश अब भी कहीं राजस्थान में इधर-उधर छोटे-मोटे गाँव के रूप में वर्तमान हो, या समय के अन्धकूप में पड़ कर सर्वथा विलीन होगया हो पर यह स्पष्ट है कि इतिहास में कई शताब्दियों पूर्व इसका जन्म अवश्य हुआ था।

अन्त में हम विद्वानों से आशा करेंगे कि वे अपना श्रम व्यर्थ की कल्पनाओं को दौड़ाने में न लगा कर उक्त स्थान (डगल) की स्थिति ऐतिहासिकता आदि-आदि खोज निकालने में लगावेंगे जो शायद ज्यादा श्रेयस्कर होगा।

हिन्दी का वीर-काव्य

श्री कृष्णकुमार सिन्हा

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में आठ रसों का उल्लेख किया है—

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानकाः।
बीभत्साऽद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इसके अतिरिक्त, उन्होंने अन्तर्धारा के रूप में सदा विराजमान रहने वाले मनोभावों का भी उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं—

रस	स्थायी भाव
शृङ्गार	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अद्भुत	विस्मय।

इन रसों में मुख्य—वीर शृङ्गार, रौद्र तथा बीभत्स हैं और इन्हीं से क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक रस की स्थिति मानी गई है। इन रसों में वीर रस का स्थान ऊँचा रहा है। वीर रस की सृष्टि आदि-काल में ही हुई, और उसकी मन्दाकिनी अब तक बह रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार आदि से किसी व्यक्ति के हृदय में उसको मिटाने के लिए जो उत्साह उत्पन्न होता है, उससे वीर रस की उत्पत्ति होती है। ऐसे तो प्रत्येक रस में उत्साह की मात्रा विद्यमान रहती है, पर किसी भाव का वेग ही उत्साह नहीं है। वेग की दो धाराएँ हैं—एक सुखात्मक और दूसरी दुखात्मक। परन्तु सुखात्मक अनुभूति ही उत्साह है। रसों की व्यापकता उसके विस्तार से आंकी जाती है, और समस्त साहित्य के इतिहास का जन्म वीर-रस की कहानी से भरी हुई है। संसार-साहित्य के शैशव-काल में—चाहे वह ग्रीक साहित्य हो या लैटिन साहित्य, संस्कृत हो या अरबी, अंग्रेजी हो या फ्रेंच—सबमें वीरत्व का वैभव बिखरा हुआ है। केवल हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में ही वीरता का नाद नहीं गूँजा बल्कि संसार के समस्त साहित्य का उद्भव—वीरता की गोद में हुआ है।

सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्यों में लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जब तक मनुष्य वर्बरावस्था में जीवन-यापन कर रहा था तब तक आपस में मलयुद्ध करके अपनी वीर प्रवृति को शान्त किया। जैसे-जैसे मानव सभ्यता के सोपान पर अग्रसर होने लगा, वैसे-वैसे वीर-रस का भी क्रमिक विकास हुआ।

प्राचीन ग्रन्थों में वीर-रस को चार भागों में विभक्त किया गया है—युद्ध-वीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर। इसके अलावे और भी हैं, पर वे सब इन्हीं के अन्तर्गत अन्तर्भाव माने गए हैं। हमारी दृष्टि से यह भेद असंगत प्रतीत होता है। कर्मवीर चाणक्य को हम युद्धवीर नहीं कह सकते, न सत्य-वीर हरिश्चन्द्र को धर्मवीर ही। यों तो हमारे साहित्य में इन चारों प्रकार के वीरों का वर्णन हुआ है, पर युद्धवीर का विशद-वर्णन है। युद्धवीर वर्णन में तो अनेक प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों की रचना हुई पर अन्य वीरों की प्रशस्तियाँ प्रबन्ध में नाम मात्र के लिए हुआ है।

राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार हिन्दी साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित किया जाता है। वह इस प्रकार है—

क—आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् १०५० से १३७५)
ख—पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् १३७५ से १७००)
ग—उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् १७०० से १६००)
घ—आधुनिक-काल (गद्यकाल, संवत् १६०० से अब तक)

यों तो जिस काल में जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा, उसी पर नामकरण हुआ है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इन कालों में वीर-काव्य की रचना नहीं हुई। इसका पूर्ण विवेचन काल-विशेष में किया जाता है।

आदिकाल वीर गाथा-काल के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। रस की दृष्टि से इस काल की रचनाएँ वीर-रस प्रधान हैं। यह युग युद्ध का युग रहा, क्योंकि उसका जन्म ऐसे समय में हुआ जबकि मुसलमानों के आक्रमण निरन्तर होते रहे। अंतिम गुप्त सम्राट हर्ष की मृत्यु के अनन्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया तथा साम्राज्य-भावना देश से तिरोहित हो चली। फलस्वरूप अनेक छोटे-मोटे राजपूत-राज्य—गहरवार, चौहान चंदेल और परिहार आदि—पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित हो गये। वे सब अपने गौरव तथा प्रभाव की वृद्धि के कारण आपस में लोहा लिया करते थे। यह सिर्फ शौर्य प्रदर्शन के रूप में था। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरापथ एक रणक्षेत्र बन गया। वीर अपने शौर्य को दरसाने में तल्लीन हो गये, तथा उन वीरों की प्रशस्ति लिखने वाले राज्याश्रित कवियों ने कीर्तिगान की बाँसुरी बजाई। वे अपनी कीर्तिगान की बाँसुरी से उनके शौर्य, पराक्रम और प्रताप का गुण-गान करते थे तथा अपनी वीर-रस से परिपूर्ण रचनाओं के द्वारा वीरों को उत्साहित किया करते थे। ये राज्याश्रित कवि चारण या भाट कहलाते थे। वे सब राज्य-दरबार में रहा करते थे, तथा अपने आश्रयदाताओं के विजयगान और बिरुदावलियाँ गाया करते। इनकी रचनाएँ ख्याल ख्यात ·|· के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस समय राजस्थान राजनीति का रङ्गमञ्च होते हुए भी साहित्य का रङ्गमञ्च था तथा उन ख्यातों की भाषा अधिकांश प्राचीन मारवाड़ी है। दृष्टान्त-स्वरूप यह पद्य है—

धोम कुँवर मारियाँ राव नाहण रीसाणौ।
गौ आसल सींधला साँग सूँ द्रोह कहाँगौ ॥*

अर्थात्—"धोम ने कुँवर को मार डाला जिससे उसका पिता नाहड़ नाराज हुआ, इसलिए धोम की असल जाति सींधला में जा बसी और उसी समय से दोनों में द्रोह उत्पन्न हो गया।"

जिस समय 'सन् १४०० के बाद कबीर का निर्गुण वाद, १५५० के बाद तुलसी और सूर का भक्ति प्रधान सगुणवाद प्रारम्भ हो गया था, तथापि उस समय भी राजस्थान में चारणों की वीर गाथा का अन्त नहीं हुआ था। इसी काल के प्रारंभिक भाग में हमें अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी का प्रथम रूप मिलता है जिसमें खुमान रासो और वीसलदेव रासो की रचना हुई।' इसका आदि-रूप नालन्दा तथा विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौधधर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार में मिलता है। × 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में से हुए हैं और वे अपने मत का संस्कार डालने के लिए सुसंस्कृत भाषा के प्रयोग के साथ-साथ अपनी अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा या काव्य भाषा का ही प्रयोग करते थे। यह भाषा

·|· ख्यात—राजपूताने की भाषा में ख्यात (ख्याति) का अर्थ इतिहास है।

* ख्यात मुहणोत नैणोत नैणासी Page 27. Prose Chronicies of Jodhpur collected by Dr. L. P. Testimoney.

× हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांस्कृत्यन

मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मग ही है। इसका सर्व प्रथम कवि सरहपाद या सरहा है। मागधी से निकलने के कारण डा० विनयतोष भट्टाचार्य्य ने सरहा को बङ्गाली का प्रथम कवि माना है[1] पर नालान्दा तथा विक्रमशिला की भाषा स्पष्ट बिहारी है। इसके अतिरिक्त उनका कथन भ्रमपूर्ण है क्योंकि उपर्युक्त स्थान बङ्गाल में नहीं है। यह संध्या भाषा के नाम से प्रचलित है।[2] उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियाँ देखिये—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणई।
अमणागमन ण तेन बिखंडिअ।
तोषि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।
× × ×
नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल।
चिअराअ सहाने भूकल।
उजुरे उजु छाड़ि भा लेहु के बंक।
निअहि बोहि, मा जाहु रे लंक॥

पर काशीप्रसाद जयसवाल का कथन है कि सन्ध्या नामक भाषा मिथिला के निकट संवत् ६७ के आसपास प्रचलित रही और उसका साहित्यिक रूप संवत् ८०० के आसपास प्रकट हुआ।

हिन्दी का प्रारम्भिक रूप अपभ्रंश ही था और इसी में खुमान रासो और बीसलदेव रासो की रचना हुई। चारण काल वीर रस के काव्यों से भरा पड़ा है। ये रचनाएँ हमें दो रूपों में उपलब्ध हैं—एक मुक्तक रूप में और दूसरी प्रबन्ध रूप में। यह प्रबन्ध काव्य भी दो प्रकार के दिखाई देते हैं एक में लम्बे जीवन-वृत्त हैं और दूसरे में वीरगीतों (Ballads) के रूप में। प्रबन्ध काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत—खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक, जसचन्द्रिका आदि ग्रन्थ हैं और वीर-गीतों में—वीसलदेव रासो आल्हा आदि हैं। ये सब ग्रन्थ 'रासो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध रसायन और कहीं-कहीं रास (आनन्द) से लगाते हैं। इसके अलावे इसका सम्बन्ध रहस्य से भी बतलाया गया है।

हाँ एक बात और। इन वीर काव्यों में शृंगार का पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है, क्योंकि प्रायः किसी की सुन्दर कन्या का पता चलते ही वह उपहार स्वरूप माँगी जाती थी और न मिलने पर युद्ध की भूमि तैयार हो जाती थी। इसका अर्थ यह है कि ये युद्ध मूल में प्रेम-द्वारा प्रेरित होते थे। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में 'प्रेम और युद्ध' (Love and War) की अनेक कथाएँ हैं उसी प्रकार हिन्दी वीर-काव्य में भी। हमारा हिन्दी का आदिकाल भी इसी को लेकर आगे बढ़ा।

नरपति नाल्ह कृत 'वीसलदेव रासो' वीरगीत के रूप में है। इसमें वीर और शृङ्गार का संकट है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। कवि ने सिर्फ संयोग तथा वियोग का ही गान गाया है—

कुँवरि कहइ सुणि, साँभरया राव।
काइँ स्वामी तू उलगइँ जाइ?
कहेउ हमारउ जइ सुणेउ।
थारइ छइ साठ अँतेवरी नारि॥
कड़वा बोल न बोलिस नारि।
तू मो मेल्हसी चित्त विसारि॥
जीभ न जीभ विगोयनो।
दव का दाधा कुपली मेल्हइ॥
जीभ का दाधा नु पाँगुरइ।
नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ॥

ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी कोई घटना ठीक नहीं है, इसमें काव्यात्मक गुण का भी नितान्त अभाव है। इस पुस्तक की रचना सिर्फ गान के लिये हुई है।

[1] J. B & R. S. LX—XXLI, page 247
[2] काशीप्रसाद जायसवाल का भाषण

प्रबन्ध काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' है। यह हिन्दी का सर्व-प्रथम महाकाव्य है। यह महाकवि चन्दवरदाई का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में ६९ समय अर्थात् अध्याय हैं। इसमें पृथ्वीराज का शौर्य शहाबुद्दीन से युद्ध, उसे पराजित कर अपनी उदारता तथा वीरत्व का आदर्श रख छोड़ना आदि का सुन्दर वर्णन है। इस पुस्तक की प्राचीनता पर बूलर ने सन्देह किया है। उसके अनुसार निम्न-लिखित आधार है—(क) जयनिक कवि रचित संस्कृत काव्य 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर इसकी वर्णित घटनाओं में सत्य नहीं है। (ख) तिथियों में उलट फेर (ग) ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं में भूल और (घ) भाषा की अर्वाचीनता। सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता रायबहादुर श्री पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने भी इसकी प्राचीनता पर सन्देह किया है, पर मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने रासो के असली होने के पक्ष में अपने मत को प्रस्तुत किया है। खैर हमें इस विवाद-ग्रस्त विषय के जाल में नहीं पड़ना है। पृथ्वीराज के समय मुहम्मद गजनवी भारत पर चढ़ आया था, सोमनाथ का मन्दिर लूटा जा रहा था पर जनता आध्यात्मिक ज्ञान की साधना और उसके उपार्जन में लगी हुई थी। पृथ्वीराज शाह से लोहा ले रहे हैं। शाह पराजित होते हैं। पकड़े जाते हैं। इसका सजीव वर्णन कवि ने यों किया है—

हुरव रंग रक्त वर भयो जुद्ध अति चित्त।
निस-बासर समुझि न परत न कोहार नह जित॥
जीति भई प्रथिराज की, पकरि साह ल संग।
दिल्लीं दिसि मारगि लगौ, उतरि घाट गिरि गंग॥
वर गोरी पदमावती, गहि गोरी सुलतान।
निकट नगर दिल्ली गये, प्रथीराज चहुँआन॥

'पृथ्वीराज रासो' के उपरान्त हमारी दृष्टि जगनिक रचित आल्हखंड पर पड़ती है। यह एक वीर-गीत काव्य है। यह इतना सर्वप्रिय हुआ कि इन वीर-गीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—अधिकतर उन सब देशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत थे—हुआ। यह गीत आल्हा-ऊदल के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह विशेषतः ग्रामों में बरसात के दिनों में गाया जाता है। गाँवों में अभी भी 'ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीर हुँकार सुनाई' देती है—

बारह बरिस लै कूकर जीएं
औ तेरह लै जिये सियार।
बरिस अठारह छत्री जीयें
आगे जीवन के धिक्कार॥

कितनी जोशपूर्ण ˈक्तियाँ हैं। हृदय के तार तार फड़क उठते हैं। वीरत्वपूर्ण वाणी की संगीतात्मक अभिव्यक्ति—जनता के कंठ में हुई है तथा जनता की जिह्वा पर उतर कर उसका रूप बदल गया। समय और परिस्थिति के अनुसार भाषा में परिवर्तन हुआ तथा वस्तु में भी बहुत अधिक उलट-फेर हो गया है। सतुरां, इस काल की अन्य छोटी-मोटी साहित्यिक सामग्री तथा डाक्टर एस० पी० टेसीटरी द्वारा संकलित 'एडिस्क्रिप्टिव केटलांग आफ बार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट' (A discriptive catelogue of bardic and historical Manuscript) के अध्ययन के उपरान्त हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस युग के काव्यांगों पर राजनीतिक वातावरण का अक्षरतः प्रभाव पड़ा है। इस युग में वीर-भावना का आधार है—राजा विशेष जिसके संरक्षण में चारण अपना जीवन-यापन कर रहे थे। इन रचनाओं में वीर रस का प्राधान्य अवश्य रहा है, पर साथ-ही-साथ उसमें चारण या भाट के संरक्षकों के व्यक्तित्व की प्रशंसा तथा उनका कीर्तिगान भी है। उन संरक्षकों की तुलना ईश्वर से की गई है। अतः इस प्रकार की भावना को हम वीर पूजा (Hero worship) कह सकते हैं। राज्याश्रित कवि के सम्मुख उनके संरक्षक ही सब कुछ है, यथा—

गरब करि ऊभो छइ साँभरयो राव।
मो सरीखा नहीं उर भुवाल॥
म्हाँ घरि साँभर उगहई।
चिहुँ दिसि थाण जेसल मेर॥
—वीसलदेव रासो।

उन रचनाओं में जो भी हो, इससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं। पर हमें यह भली-भाँति विदित है, कि वीरता की यह ध्वनि शृङ्गार के प्रांगण में हो रही थी। एक तो आदि-काल का साहित्य उपलब्ध है ही नहीं, पर उसी के आधार पर यह कहना पड़ता है, कि इन राजाओं ने अपनी वासना की पूर्ति के लिए या राज्य-हरण की लालसा के कारण ही युद्ध किया है। यह स्पष्ट है कि भारत की वीर-भावना इतनी सुसंस्कृत न हो पायी थी कि उसमें समग्र भारत का स्थान हो! यहाँ तो भारत का प्रत्येक नरेश अपने स्वार्थ में लिप्त था तथा इसी कारण देश में सर्वव्यापी संघर्ष और कलह थी। वे नरेश अपनी रक्षा स्वयं न कर सकते थे। तथा बेवस होकर उन्हें एक दूसरे नरेश के सामने सर झुकाना पड़ता था। और यही कारण है कि आदि-काल की रचनाओं में वीरत्व की भावना व्यक्तिगत है। उन्हें अन्य समुदायों से कोई सम्बन्ध नहीं था उसमें देश-प्रेम, देश-हित एवं देश-सेवक का प्रश्न ही नहीं था।

वस्तुतः इस काल के वीर-काव्य को हम वीर-भास काव्य (Pseudo-heroic) ही कहेंगे, विशुद्ध वीर-काव्य नहीं।

भारत पर मुसलमानों का आक्रमण होता रहा इसी बीच आजादी चली गई। अब चारणों को आश्रय देने वाला कोई न रहा। जनता सांसारिक दुःखों के कारण भगवद्-भजन में लीन हो गई। समयानुसार भाव और विचार में परिवर्तन अवश्य हुआ। पर हमारा वीर-काव्य मन्द गति से आगे बढ़ता रहा। वीर-रस की परम्परा कहीं खण्डित न हो सकी। भक्तिकाल में भी इसकी कहानी भक्त-कवियों के द्वारा कही गई। इस रस की निष्पत्ति तुलसी के 'रामायण' और सूर के 'सूर-सागर' में बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से हुई है। रामायण में कुछ ऐसे पात्र हैं, जिनकी नसों में सर्वदा खून की गर्मी विद्यमान है। इस प्रकार के पात्रों में लक्ष्मण और परशुराम उल्लेखनीय हैं। उदाहरण-स्वरूप देखिये। धनुष-यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण परशुरामजी से कहते हैं—

'यहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं,
जो तर्जनि देखत मरि जाँहि।'

इसके बाद कपि-भालुओं की सेना के समुद्र पार उतरने के समय राम से लक्ष्मण कहते हैं—

संधातेऊ धनु विशिख कराला,
उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला।

वास्तव में तुलसी का वीर-काव्य अपने ढङ्ग का है और अवश्य ही उसमें परिवर्तन का नर्तन होना चाहिये और हम देख भी रहे हैं कि उसमें पर्याप्त परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से हो भी रहा है। इसीलिए वीर काव्य के पात्र राजन न बनकर देवता गण बन गये। तुलसी आपस की फूट को कदापि पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि वे आदर्शवादी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के अनन्य भक्त थे।

इतना ही नहीं, सूर ने भी वीर रस का चमत्कार अपने गीति-काव्यों में दिखलाया है। एक समय महाभारत में भीष्म ने श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण करवाने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने का संकल्प किया था। देखिये—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गङ्गा-जननी को,
सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारत खण्डौं,
कपिध्वज सहित डुलाऊँ।

इती न करों सपथ मोहि हरि की,
छत्रिय गतिहि न पाऊँ ॥
पाँडब दल सनमुख ह्वै धाऊँ,
सरिता रुधिर बहाऊँ ।
सूरदास रण भूमि विजय बिन,
जियत न पीठ दिखाऊँ ॥

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य-प्रवाह उमड़ा, वह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन पर अवलम्बित न था। इस वीरत्व भावना की मन्दाकिनी को मन्द रूप से चलायमान रखने के लिए गंग, केशवदास आदि प्रभृति कवियों का जन्म हुआ। गंग ने वीर रस के कुछ रमणीय कवित्त लिखे हैं—

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत मान,
एक न तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की ॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसानी कहूँ मोह में गरद की।
गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की ॥

इस प्रकार केशवदास ने भी वीर-रस के अनेक कलात्मक कवित्त लिखे हैं। इन्होंने अपनी पुस्तक 'रतन-बावनी' में इन्द्रजीत के बड़े भाई रतसिंह की वीरता का छप्पयों में अच्छा वर्णन किया है। यही वीर-रस का एक सुन्दर काव्य है। इस युग में वीर-रस की कविताओं का लिखा जाना प्रायः नहीं के बराबर था क्योंकि अपने पराजय के दिनों में वे अपने शौर्य एवं पराक्रम के गीत कैसे गाते? इसके अनन्तर रीतिकाल का युग आया।

रीतिकाल में हमारे कवि मुसलमान सम्राटों के दरबार में रहकर अपना जीवन-यापन कर रहे थे। इन दिनों का जीवन वैभव-विलास के मध्य खेल रहा था। सब कवि प्रेम के तराने गा रहे थे। फलतः इस युग की कविता श्रृङ्गार के सागर में लहराने लगी। इस प्रकार उनकी दशा नैतिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय हो गई। उनकी वीरता निश्चेष्ट होकर सो रही। जो कुछ वीरता शेष रह गई थी, वह अदूरदर्शी औरङ्गजेब के अत्याचारों के रूप में रही। पर समाज पर कब तक इस प्रकार अनाचार और अत्याचार होता रहता। मानव की आत्मा कब तक पिञ्जर-बद्ध रहती, वह अकुला उठी भारत के दक्षिण में शिवाजी का सिंहनाद गूँज उठा। भारतीय मानव की पीड़ित आत्मा दक्षिण की पहाड़ियों तथा कंदराओं में बोल उठी। इस धर्मान्धता एवं अत्याचार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप 'गुरु गोविन्दसिंह', 'छत्रपति शिवाजी' और 'महाराज छत्रसाल' वीरता के प्रतीक बनकर आये। इन सबों ने स्वयं रणचण्डी का अवतार लिया, तथा इसकी गाथा कवित्त और सवैया में गाई जाने लगी। इस युग में श्रृङ्गार का प्राधान्य रहा, पर जोधराज, भूषण, सूदनलाल आदि कवियों ने वीर-बाँसुरी बजाई, वह ध्वनि देश के कोने-कोने में गूँज पड़ी। वीर रस की ध्वनि भूषण और लाल कवि में अधिक है। भूषण ने अपने काव्य का विषय—दो वीर पुरुषों को बनाया, कारण यह था कि उन दोनों ने हिन्दू-धर्म, सभ्यता और उसकी संस्कृति की रक्षा की। उन दो आत्माओं के प्रति तत्कालीन युग श्रद्धा एवं भक्ति दरसाता रहा, और यही कारण है कि भूषण की कविता जनता की गलहार बनी। भूषण की कविता में अपने आश्रयदाता का गुण-गान नहीं, बल्कि राष्ट्र के पालनहार का कीर्तिगान है। इसी से भूषण के वीर-रस से प्लावित उद्‌गार सारी जनता जनार्दन में घर कर गए। अतः भूषण की कविता हिन्दू-भावना से ओत-प्रोत हो गई। संघर्ष का सुन्दर रूप इन पंक्तियों में देखियेः—

वेद राखे बिदित, पुरान राखे सारयुत।
राम नाम राख्यो प्रति रसना सुधर में ॥

हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेउ राख्यो, माला राखी गर में ॥
× × ×
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज ।
देव राखे देवल, सुधर्म राख्यो घर में ॥

इसमें हिन्दू-संस्कृति की चीत्कार है, वह अपनी रक्षा के लिए पुकार रही है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि इस युग में वीर-गाथा काल की व्यक्तिगत भावना रीतिकाल में आकर जाति-भावना के रूप में परिवर्तित हुई। भूषण की इस भावना को जाति-विद्वेष के रूप में प्रकट की हुई नहीं कह सकते हैं। कारण यह है कि उन दिनों मुसलमान विदेशी थे और उनके द्वारा देश की रक्षा के लिए इस प्रकार की कविता करना—जाति भावना-के रूप में नहीं ले सकते। अपितु, तत्कालीन वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार यह देश भावना है। उस समय यह हिन्दू-भावना ही देश-भावना रही* एक बात और। भूषण ने 'तीन बेर खाती सो तीन बेर खाती है; नगन जड़ाती वे नगन जड़ाती हैं।' आदि कविताएँ लिखी हैं। उसका कारण यह है कि उन पर युग और परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे शृङ्गारिक कवि थे।

यों तो रीतिकालीन कविता का विकास हो ही रहा था, पर वीर साहित्य के निर्माताओं का भी अभाव न था। भूषण के अतिरिक्त, जोधराज, सूदन, गोरेलाल आदि कवियों का आविर्भाव हुआ, पर उनकी कविताओं में साहित्यिक सौन्दर्य एवं वीर भावना का सुन्दर ढङ्ग से निर्वाह न हो सका। भूषण के सदृश्य गोरेलाल ने युद्ध-वर्णन अत्यन्त ही मार्मिक ढङ्ग से किया है। 'छत्रप्रकाश'—लाल कवि की कीर्ति का एकमात्र स्तम्भ है। युद्ध वर्णन देखियेः—

छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो।
अरुन रँग आनन छवि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो।
सार धार को पहिरन हारो॥
दौरि देस मुगलन के मारौ।
दपटि दिल्ली के दल संहारौ॥
एक आन सिवराज निवाही।
करै आपने चित की चाही॥
आठ पात साही झकझोरे।
सबनि पकरि दण्ड लै छोरे॥
कटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध चहि रीति सों, बाँटि घरिन धरि लेहु॥

आदि पंक्तिया युद्ध-स्थल का चित्र प्रस्तुत करती हैं। इस काल में सूदन कवि ने 'सुजान चरित', जोधराज ने 'हम्मीर रासो' आदि ग्रन्थों की रचना की, जो आज भी अजर-अमर है। यह युग वीर काव्य-युग के अर्थ में दूसरा युग है। इस समय अर्थात् समयानुरूप वीरता का अर्थ है, हिन्दू जाति, हिन्दू सभ्यता, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू धर्म के गौरव को बचाये रखना, जिससे हमारा इतिहास सर्वदा के लिए जीता-जागता रहे। सुतरां यह भावना आधुनिक युग में खूब फली फूली।

रीतिकाल से पलायन कर वीरता की भावना भारतेन्दु की रचनाओं में यत्र-तत्र फूट पड़ी। हाँ, एक महत्वपूर्ण घटना घटी—अब तक हमारी वीरत्व-भावना का आधार भूषण द्वारा प्रचारित

*His excessive nationalism has at times led him to write some unpleasant things about owe muslim breather but his frult would look to be excusable in view of the spirit and the tendencies of that age.

Hindi selections, Book I by Sita Ram B. A., Page 83

'हिन्दुत्व' था, पर आज उसके स्थान पर 'भारतीयता' का शिलान्यास हुआ। इसका एक मात्र कारण है—१८५७ का विप्लव। इस विप्लव में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान दोनों ने अपना हाथ बटाया। हमें असफलता मिली, पर विजेताओं का संसर्ग हुआ। हमारी हार के बाद उनकी संस्कृति एवं सभ्यता की छाप हम पर पड़ी। हम उनके साहित्य से परिचित हुए और हमारे भीतर उसी प्रकार की भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगीं, जिस तरह उन विदेशियों के भीतर। अंग्रेजी के वीरोल्लासपूर्ण काव्यों को पढ़कर एवं वहाँ के स्वतन्त्रमय जीवन और वातावरण को देख कर हम भी स्वच्छन्द होने की चेष्टा करने लगे। सैकड़ों वर्ष का गुलाम देश अपने को अच्छी तरह पहचान गया और उसने विप्लव के तराने को हिन्दी काव्य-जगत में प्रस्तुत करना आरम्भ किया।

इस भारतेन्दु युग की वीरत्व-भावना अखिल भारतीय भावनाओं से पूर्ण रूप से परिचित थी। राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव हुआ जिसके फलस्वरूप शासन करने की रूप-रेखा में रद्दो-बदल हुआ और सभ्यता एक नवीन सोपान पर अग्रसर होने लगी। हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा और जन-समाज की दृष्टि में राष्ट्र का रूप ही बदल गया। इस युग के सर्वप्रथम कवि भारतेन्दु ही थे, जिन्होंने अपनी आवाज बुलन्द की और उसकी पृष्ठिभूमि के रूप में—अतीत गौरव की गाथा तथा वर्तमान का पतन था—यह उनकी स्वच्छन्द कल्पना (Romantic Imagination) की देन है। वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद का श्रेय सर्वप्रथम भारतेन्दु को ही मिला। उन्होंने कविता की धारा को मोड़ कर हमारे जीवन से जोड़ दिया। वे युग-पुरुष के रूप में आये और उन्होंने हमारी नवीन आशा तथा आकांक्षा को सरस्वती की वाणी दी। उनकी देश-भक्ति, सम्बन्धिनी भावनाओं का अवलोकन निम्नलिखित पंक्तियों में कीजिए—

आवहु ! सब मिलि रोवहु भारत-भाई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
अंग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी, कालरोग बिस्तारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत भारी॥
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

इन पंक्तियों में अंग्रेजी-शासन की प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने विजेता के देश में धन जाने तथा कर की कड़ी आलोचना की है। भारतेन्दु की पुकार में भारत-सुधार की प्रेरणा है। उन्होंने भारत की दयनीय परिस्थिति की ओर संकेत किया है—

सबै सुखी जग के नर-नारी,
रे विधना, भारत हि दुखारी।
भारत दुर्दशा लखी न जाई॥

इस प्रकार हम देखते हैं, कि भारतेन्दु के हृदय में नारी के प्रति सहानुभूति है। और वे उनकी दयनीय तथा शोचनीय अवस्था का अवलोकन करना नहीं चाहते। भारतेन्दु ने अपनी देशगत वीरत्व-भावना को प्रत्येक स्थल पर सजाया, यहाँ तक उनके नाटकों में यह भावना परिव्याप्त है। यों तो 'नील देवी' में इनका दृष्टिकोण कुछ संकुचित हो गया है। इनके देश-प्रेम के ज्वलन्त दृष्टान्त भारत-दुर्दशा, भारत देवी, तथा नीलदेवी है। सत्य हरिश्चन्द्र में भी इसका स्थान है। नाटक के अन्त में भारत वाक्य के रूप में राजा हरिश्चन्द्र के मुख से कहला दिया है। यथा—

खल जनन सों सज्जन दुखी,
मति होइँ हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत,
गहै कर दुख बहै॥

अन्तिम पंक्ति में भारत वर्ष को स्वाधीन होनेकी ओर निर्देश है। परन्तु वे अपने भावों को पूर्ण रूप

से प्रतिपादन न कर सके, कारण है—राजमय और राजदण्ड। दिनकरजी के शब्दों में भारतेन्दु ने भी यही माना है—

बंधा तूफान हूँ, चलना मना है,
बंधी उद्यम निर्झर धार हूँ मैं।
कहूँ क्या कौन हूँ ? क्या ? आग मेरी,
बंधी है लेखनी लाचार हूँ मैं॥

इसीलिए भारतेन्दु ने अपनी उद्दाम भावनाओं के साथ अपने नाटकों में राज्य-भक्ति भी प्रदर्शित की है। उदाहरण-स्वरूप—

भारत—[डरता और काँपता हुआ रोकर] हाय ! परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी।

भारत-भाग्य—अब सोने का समय नहीं है। अँग्रेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। हा भारत, तेरी क्या दशा हो गई ? हे करुणा-सागर भगवान्, इधर भी दृष्टि कर ! हे भगवती राजेश्वरी इसका हाथ पकड़ो।—'भारत-दुर्दशा']

भण्डोचार्य—
हरि पद में रत होइ न दुख कोउ कहँ ब्यापै।
अँगरेजन की राज इस इत थिर करि थाप॥
—विषस्य विषमौषधम्]

इन अवतरणों को देखकर कोई भी कह सकता है कि उनके हृदय में भक्ति की दो ज्योति विद्यमान थी। वे हैं—राजभक्ति और देश-भक्ति, पर दोनों के बीच द्वन्द्व था। जोश, उमंग और खून खौलाने वाली वीरता का निरूपण 'विजय वैजयन्ती' में कर सकते हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि में १८५७ का विप्लव देश के हित के लिए कोई अच्छी बात नहीं ठहरी। उन्होंने ब्रडैला में इस विप्लव की घोर निन्दा करते हुए कहा—

सन सत्तावन माहिं जबहिं कुछ सेना बिगरी।
तबै राज दिशि रही सुदृढ़ है राजा प्रजा सिगरी॥
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हीं।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निष्फल कीन्हीं॥
ठौर-ठौर निज घर लुटवाये अरु फुँकवाये।
प्राण खो पर ब्रिटिश वर्ग के प्राण बचाये॥

इधर दूसरी ओर भारतेन्दु की भाँति वे जनता की निर्धनता एवं दरिद्रता पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं—

सर्वस लिये जात अँगरेज,
हम केवल लिकचर के तेज।
× × ×
अपनो काम आपने ही हाथ सल हई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई॥

यह भावना बहुत दिनों तक चलती रही। दिन व दिन ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण उसके प्रति लोगों का अनुराग कम हो गया। देश में असन्तोष-भावना पूर्ण रूप से व्याप्त होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने उन दिनों नये-नये कानून का निर्माण किया जिससे सरकार के प्रति जनसाधारण का विश्वास उठने लगा। अब स्वदेशी प्रचार और विदेशी मालों का बहिष्कार का आन्दोलन विशेष रूप से भारत में चल पड़ा। इन विशेष परिस्थितियों का सामञ्जस्य हमारी हिन्दी में भी हुआ। गत महायुद्ध के बाद जालियानवाला बाग काण्ड और खिलाफत के प्रश्न ने देश में एक हलचल पैदा कर दी। इसके फलस्वरूप वीर साहित्य न दो कोटि के कवि हुए। एक वे जो गाँधी वादी सिद्धान्त से प्रभावित रहे, दूसरे वे जो उग्रबन कर गुलामी की जञ्जीर को भस्मीभूत कर देना चाहते थे।

गाँधी युग का अटल तत्व है—आत्म सम्मान की जागृति, जीवन की सच्ची समस्याओं का हल तथा विचारों में सत्य, अहिंसा और सेवातत्व। इसका परिचालन काव्य क्षेत्र में गुप्तजी की इस ध्वनि—

'हम कौन थे क्या हो गये हैं,
और क्या होंगे अभी।'

ने किया है। इधर हरिऔध ने देश सेविका के रूप में अपनी 'प्रियप्रवास' की राधा को प्रस्तुत किया। गुप्तजी के 'अनघ' में हम गाँधीवाद की सहिष्णुता-पूर्ण वीरत्व का निरूपण करते हैं। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य पर बाद के विचारों की गहरी छाप पड़ी है। अब हमारा दृष्टि-कोण बदल गया। इस समय अत्याचारी का दमन प्रेम-भाव से किया जाता है। इसका दर्शन गुप्तजी की पंक्तियों में कीजिये। यथा—

पापी का उपकार करो,
हाँ पापों का प्रतिकार करो॥
× × ×
आग्रह करके सदा सत्य का,
जहाँ कहीं हो शोध करो।
डरो कभी न प्रकट करने में,
जो अनुभाव जो बोध करो।
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो,
दृढ़ता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने,
करुणा करो, न क्रोध करो॥

गुप्तजी की 'भारत-भारती' व 'स्वदेश-संगीत' में हम सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का अनुभव करते हैं। 'साकेत' में हमें सत्याग्रह और युद्ध दोनों ही पक्षों का उद्घाटन मिलता है। एक दिन चिरगाँव ने पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करने की आकांक्षा प्रकट की—

मानस भवन में आर्य-जन,
जिसकी उतारे आरती।
भगवान भारतवर्ष में,
गूँजे हमारी भारती॥

निःसन्देह उसकी कामना फली-फूली, उसकी भारती गूँजी, समूचे हिन्दी-भारत में। इसके द्वारा राष्ट्र के तरुण-हृदयों के सोये भाव जाग्रत हुए और उनकी भारती का देश के कोने-कोने में प्रचार हुआ। ठीक उसी समय रुदन-क्रन्दन, गूँज-गायन के स्थान पर विध्वंस का उग्र रूप आ उतरा और देश के नौजवानों को शहीद होने के लिए ललकारा। और शहीद होने के लिए बलिदान कैसा?

बिगुल बज गई, चला सब सैन्य,
धरा भी होने लगी अधीर;
खाइयाँ, खोदीं रिपु ने हाय!
पार हो कैसे सैनिक वीर?
'पूर दें इनको मेरे शूर,
शरीरों से'—'देदिये शरीर?'
इधर यों सेनापति ने कहा,
उधर दब गये सहस्रों वीर।
सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञान, दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए ऊँचा विचार,
नहीं केवल अपना बलिदान।
—माखनलाल चतुर्वेदी

अथवा—

चाहती हो बुझना यदि आज,
होम की शिखा बिना सामान।
अभय हो कूद पड़ूँ, जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान॥
—दिनकर : हुंकार

सचमुच 'भारतीय आत्मा' का आह्वान भारत के कन्द्राओं में गूँजा और देश में भारत-माँ की बलिवेदी पर बलिदानों का ताँता लग गया। माँ की बलिवेदी खून से रँग उठी। वस्तुतः उनकी वीरता उनकी आत्मा से ऐसी घुल-मिल जाती है कि वे परमेश्वर की अर्चना करते हुए कहते हैं—

उठा दो वे चारों करकंज,
देश को लो छिगुनी पर तान!
और मैं करने को चल पड़ूँ-
तुम्हारी युगल मूर्ति का ध्यान॥

ठीक उसी समय छायावादी कवियों का ध्यान

भी उस ओर आकृष्ट हुआ। पन्त ने भी एक स्थल पर लिखा है—

नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन।
पावक पगधर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानव पन।

—गा, कोकिल।

इत्यादि कह कर पन्त ने प्राचीनता की चिता में नवनिर्माण के कणों को दिखलाया और दूसरी ओर निराला की लेखनी कापुरुषता को ललकार कर कहती है—

जागो फिर एक बार!
समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु से,
सिन्धु-नद-वीर-वासी—
सैन्धव तुरगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग;
सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज नाम
जब कहाऊँगा।

उपर्युक्त पंक्तियों ने हमारी वीरत्वमय चेतना को सजीव वाणी दी। इन दो छायावादी कवियों के विपरीत भी नवीन ने क्रान्ति का आवाहन किय पर उसमें संयतता को निकट आने से दूर रक्खा—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
बरसे आग जलद जल जायें।
भस्मसात भूधर हो जायें॥
नाश नाश की महा नाश की
प्रलयंकर आँखें खुख जायें॥

नवीनजी की कविता में जो जागरण का गान है, उसमें जीर्णशीर्ण पुरातन को भस्म कर देने वाली क्रान्तिकारिणी चिनगारियाँ हैं, वैसी अन्यत्र नहीं। उदाहरण-स्वरूप 'अनिल-गान' की पँक्तियाँ भी पर्याप्त होंगी:—

अनल गीत सुनने दो, ओ
यौवन के मदमाते वीर-वली।
अब उठ, आज जला दे सत्वर,
निज व्यक्तित्व, मोह ममता।
माँग अनल से भीख कि तुमको
मिले ज्वलित पावक क्षमता।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'जालियाँवाला बाग में बसन्त' शीर्षक कविता में वसन्त को कहा है—

परिमलहीन पराग दाग-सा बना पड़ा है,
हा! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।
आओ, प्रिय ऋतु-राज! किन्तु धीरे से आना
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे, यहाँ गोली खा-खा कर,
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी लाकर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं,
अपने प्रिय-परिवार-देश से भिन्न हुए हैं।

इस प्रकार के पदों में जहाँ देश के प्रति अनुराग परिलक्षित होता है, वहाँ-वहाँ कहीं पर विश्व-बन्धुत्व का भाव भी आ उमड़ा है।

इसके अनन्तर हिन्दी के वीरकाव्यधारा के पौराणिक-ग्रन्थ में एक नया जीवन आ जाता है। इसीलिए काव्य-नक्षत्र में उनका अपना इतिहास है, और वह नित्य नवीन शाश्वत और चिरन्तन है। हमारा 'दिनकर' आकाश का किरण नहीं बल्कि वह जीवन-जगत का किरण है। आजतक भारत में जितनी क्रान्तियाँ हुईं उसने सबको काव्य का जामा पहनाया। इसके पूर्व किसी ने अपनी बाँकी झाँकी न दी। दिनकर का कवि सहज ही 'पौरुष का पूँजिभूत ज्वाल' है। उन्होंने भारत के अतीत के साथ अपने अन्तर की पीड़ा का सङ्कट कर कविता को एक नया परिधान दिया। इनकी कविताओं में विगत वैभव का गान तथा भविष्य के स्वर्ण-विहान का स्वप्न है। 'दिनकर' गाँधीवादी सिद्धान्त से प्रभावित हो कर गाँवों की ओर लौटे जिसके फलस्वरूप

उन्होंने काव्य को जीवन-दान दिया। आज हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व, काव्य में, दिनकर कर रहा है—

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा,
स्वयं युग धर्म का हुँकार हूँ मैं।

कवि ने क्रान्ति को अपनी आँखों से देखा है और उसके संचालन का भार वहन करने के लिए युवक-दल को उलाहना दिया है—

खेल रहे हिल मिल घाटी में
कौन शिखर का ध्यान धरे।
ऐसा वीर कहाँ कि शलरुह
फूलों का मधुपान करे।

कभी-कभी कवि उन्हें चेतावनी देता है, कभी सचेत करता है—

लेना अनल किरीट भाल पर,
ओ आशिक होने वाले,
कालकूट पहले पी लेना,
सुधा बीज बोने वाले ॥

इसके अनन्तर कवि मूल मंत्र की सीख देता है, जिसे समाज अपनाये रक्खे—

धर कर चरण विजित शृङ्गों पर,
झंडा वही उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो,
खञ्जर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच
मत तलवों से काँटे रुककर।
फूँक-फूँक कर चल न जवानी,
चोटों से बचकर झुककर ॥

अब अन्तिम वार जय-यात्रा के लिए उत्तेजित करते हुए कवि कहता है—

चल यौवन उद्दाम,
चल चल बिना विराम।
जन्म-मरण दो घाट समर के,
बीच कहाँ विश्राम ?

इससे हालावादी 'बच्चन' का भी स्वर बदला और उसके काव्य में प्रगतिशीलता का रंग आ गया—

यह महान दृश्य है,
चल रहा मनुष्य है—
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथ-पथ, लथपथ,
अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !

वस्तुतः हालावादी कवि का यह विकास अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है।

इसके अतिरिक्त सर्व श्री रामदयाल पाण्डेय, श्यामनारायण पाण्डेय, विकट, सुधीन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी, आदि इस धारा के कवि हैं। इन महानुभावों का साहित्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। एक बात और। हमारे सामने न जाने कितनी मुसीबतें पहाड़ की तरह खड़ी हैं, उनका सामना करना अनिवार्य है। हम उसका समाधान करने का मार्ग खोजें, वह इस प्रकार—

क्या हार में क्या जीत में,
किञ्चित नहीं भयभीत मैं।
संघर्ष पथ पर जो मिले,
यह भी सही, वह भी सही ॥

भविष्य की ओर संकेत—

आज हमारे साहित्य में वीर-रस की भावना का आदर्श न व्यक्तिगत भावना है, न जाति-भावना, न देश-भावना अपितु विश्व-भावना। आज इसके आश्रय सेवक प्रत्येक जाति के हैं। हमारे साहित्य में इसका विकास उत्कृष्ट अवश्य हुआ है, पर उसमें गंभीरता तथा संयम की कमी है। राष्ट्र के उत्थान के लिए राष्ट्र की उन्नति के लिए, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए, जो कुछ भी हमारे मन में आया उसका बाहर डालना सुरुचिपूर्ण नहीं है। आज की जो कविता है, उसमें विध्वंस का जोश तो है पर निर्माण की वह क्रियात्मक प्रेरणा नहीं, जो क्रान्ति के मूल में होनी चाहिए। अतः यह हमारी वीर-भावना की प्रकृत भाव-भूमि नहीं। आज की वीरता विश्व

(शेष पृष्ठ ३४८ पर देखिए)

पद्मावत की आध्यात्मिक विवेचना

नवीन दृष्टिकोण से

श्री सत्यपाल शर्मा स्नातक, साहित्य-रत्न, एम० ए० प्रीवियस

हिन्दी साहित्य के असीम सागर को स्नेहाञ्चित सुमधुर आलिङ्गनों से उन्मत्त करती हुई, उसके वश में सदा के लिये समाजाने वाली, भावों की मधुरिमा-मयी विविध-धाराओं को अपने अन्तस्तल में लिये हुए अनवरत प्रवाहित होने वाली असंख्य सरस सरिताओं में से महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी की काव्य-कालिन्दनी प्रेम के अलौकिक सन्देश से सहृदयों के मानस को परिसिञ्चित करती हुई युगों तक अमर एवं सरस बनी रहेगी। उन्होंने अपने पद्मावत "प्रबन्ध काव्य" में मसनवियों की प्रेम-पद्धति नाथ-पन्थियों के हठयोग व भारतीय संस्कृति के मूल भूत रहस्यमय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व का सुन्दर समीकरन करके हिन्दी साहित्य को जो अनुपम गति प्रदान की है, उसके लिये कौन सहृदय कृतज्ञ न होगा ? हिन्दी-साहित्य संसार के लिये अद्वितीय वरदान के रूप में समर्पित इस अनुपम काव्य में कवि ने ऐतिहासिक कथा के आधार पर मनोरञ्जक ढङ्ग से आत्म-तत्व का जो विवेकपूर्ण सुन्दर विवेचन एवं विश्लेषण किया है। वह बहुत ही उत्कृष्ट एवं मननीय है। उसी पर इस लेख में कुछ विचार किया जायगा।

जैसा कि सभी को विदित है, इस काव्य के कुशल एवं भावुक रचयिता ने सूफीमत से प्रभावित होने के कारण—

"ईश्वर में प्रियतम की भावना करके"

काव्य की रचना की है। इसी को स्पष्ट करने के लिये कवि ने अन्त में स्वयं एक पद्य भी दिया है। जिसमें समस्त काव्य की रूपकात्मकता का स्पष्ट प्रतिपादन है। इसके अतिरिक्त मध्य में भी अनेकानेक "अलौकिक प्रियतम" के "अलौकिक सौन्दर्य" एवं "माधुर्य" को अभिव्यक्त करने वाले भावमय संकेत उनकी अन्योक्ति को और भी परिपुष्ट करते हैं। अतः यदि इनके काव्य में रहस्यवाद की किसी अस्पष्ट छाया की अनुकृति सहृदयों को होती हो तो इसमें किसी को आश्चर्य अथवा संशय नहीं होना चाहिये।

जैसाकि पूर्व कहा जा चुका है इनके आध्यात्मिक तत्त्व की विवेचना अतीव गम्भीर है और सम्भवतः इसी गम्भीरता के कारण (?) प्रायः अधिकतर समालोचक उसका विश्लेषण करने में असफल रहे हैं। इन्होंने केवल मात्र पूर्णभाग को जिसमें कि—"रतनसेन व पद्मावती का" मिलन होता है। आध्यात्मिक संकेत से पूर्ण बतलाया है। सम्भवतः उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि उन्होंने—

"पद्मावती को परमेश्वर का प्रतीक"

माना और ऐसे प्रसंग में भक्त का पुनः प्रत्यावर्त्तन उन्हें इष्ट नहीं था, क्योंकि उपनिषद् ऐसी अनुमति नहीं देती थीं। "नभ पुनरावर्त्तते" की अवाञ्छित वलि न दे सकने के कारण उन्होंने इससे यथाशक्ति बचने व संशय से दूर रहने का प्रयत्न किया, और परिणामतः "पद्मावती रतनसेन भेंट" तक ही उनको आध्यात्मिक प्रसङ्ग मानना पड़ा। अतएव हम देखते हैं कि मान्यवर शुक्लजी ने भी इस कथानक का आध्यात्मिक पक्ष उपस्थित करते हुए केवल पद्मावती के मिलन तक ही उसकी विवेचना की है। तथा जायसी के 'मिलान' को ईश्वर प्राप्ति का रूप दिया है। यदि हम भूमिका के उस भाग को जहाँ कि जायसी के 'मिलान' की व्याख्या की है, ध्यान से पढ़ें तो हमें उन पंक्तियों में शुक्लजी

का संशमित हृदय स्पष्ट दृष्टि-गोचर होगा। वे लिखते हैं:—

"साधक के विघ्नों का स्वरूप दिखाने के लिये ही कवि ने राजा रत्नसेन के लौटते समय तूफान की घटना का आयोजन किया है। लोभ के कारण राजा विपत्ति में फँसता है, और लंका का राक्षस उसे मिल कर भटकाने लगता है। यह लङ्का का राक्षस शैतान है, जो साधकों को भटकाया करता है।"

यहाँ पर कुछ प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं:—

१—प्रथम तो यह कि जब रतनसेन को पद्मावती प्राप्त हो गई, 'मिलान' पर रतनसेन पहुँच गया तो उसे फिर लौटने की क्या आवश्यकता?

२—दूसरे, "लौटते समय किया गया तूफान की घटना का आयोजन" यदि "साधक के विघ्नों का स्वरूप दिखाने के लिये है" तो निश्चित रूपेण वह अप्रासंगिक है। क्योंकि अब लौटते समय राजा साधक नहीं अपितु सिद्ध है। साधक तो पद्मावती की प्राप्ति तक था? अब पद्मावती मिल गई है।

३—तीसरे जो अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच गया फिर उसे लोभ करने का अवसर कहाँ कि उसे शैतान भटका ले जाय? और इस तरह उत्तरार्ध की कोई आवश्यकता नहीं?

इन सब कारणों से स्पष्ट है कि पद्मावती को ईश्वर का प्रतीक मानने पर काव्य की समासोक्ति सिद्ध नहीं की जा सकती, और यथा कथंचित् सन्तुष्टि एवं सान्त्वना के लिये काट छाँट कर उसको स्वीकार करना अपनी असमर्थता प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी का, "पद्मावती को ईश्वर का प्रतीक मानना"—

"....लड़की का मायके से पति के पास जाना, और जीव का ईश्वर के पास जाना—दोनों में एक प्रकार के साम्य की कल्पना निर्गुणोपासक भावुक भक्तों में बहुत दिनों से चली आती है?'

इस वाक्य के पूर्व रेखाङ्कित भाग से मेल नहीं खाता? क्योंकि इसमें पद्मावती ईश्वर की प्रतीक न रहकर जीव की प्रतीक हो गई?

अतः हमें जायसी के इस काव्य के आध्यात्मिक तत्त्व की विवेचना के लिए उनके अन्तिम पद्य का अनुशीलन करना होगा।

उन्होंने अपने काव्य के अन्त में सम्पूर्ण काव्य का रूपक बाँधने के लिये यह पद्य दिया है:—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिन चीन्हा।
"गुरु सूआ जेहि पन्थ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बांचा सोई न एहिचित बंधा॥
राघव दूत, सोई सैतानू।
माया अलादीन सुलतानू॥"

श्री शुक्लजी ने इसकी व्याख्या करते हुए जो कुछ लिखा है, उससे प्रतीत होता है कि वे भी पूरे काव्य में आध्यात्मिक तत्त्व को मानते हैं? परन्तु कथानक के साथ उसकी सङ्गति लगाते हुए वे 'मिलन' तक ही लगा पाये हैं। इसका कारण जैसा पूर्व कहा जा चुका है, पद्मावती को ईश्वर मानना ही है। वस्तुतः वह ईश्वर नहीं—अपितु जायसी के अनुसार (बुद्धि पद्मिनी चीन्हा) एक ऐसा ज्ञान है। जिसके प्राप्त होने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है अथवा जो ज्ञान ईश्वर तक पहुँचाता है। मोटे शब्दों में हम इसको 'आत्म-ज्ञान' कह सकते हैं। श्री शुक्लजी ने भी यही अभिप्राय लिया है—

"पद्मिनी ही ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है, अथवा चैतन्यस्वरूप परमात्मा है।"

इसमें प्रथम वाक्यार्थ में जो कुछ कहा गया है वही ठीक है और कवि का अभिप्रेत है। परन्तु बाद के 'अथवा' ने सब किया कराया मिट्टी कर दिया है। अब पद्मिनी को बुद्धि या ज्ञान मान कर अनुशीलन करने पर हम देखेंगे कि समस्त काव्य कितने सुन्दर एवं अविकल रूप में आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है।

विस्तार भय से संक्षेप में ऐतिहासिक कथा का कुछ संकेत देकर उसकी आध्यात्मिक विवेचना की जायगी। इससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मा ही यद्यपि सब कुछ जानने व करने वाला है परन्तु मन के द्वारा करने के कारण यहाँ मन को कर्त्ता रूप में माना गया है।

१—सुआ से पद्मिनी का रूप सुनना और राजा का विह्वल होनाः—

गुरु मुख से आत्म-ज्ञान व विशिष्ट आनन्दमयी (मधुमती) भूमिका का वृत्तान्त सुनने पर (शिष्य का) मन चञ्चल हो उठता है और उसके पाने को व्याकुल हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पद्मिनी एक ऐसी बुद्धि के रूप में मानी गई है जिसका वर्णन दर्शनों में 'विशोका ज्योतिष्मती' के रूप में किया गया है। अथवा चूँकि आत्मज्ञानी ही उस आनन्द-मयी मधुमती भूमिका को प्राप्त होता है जिसको पाकर बृहदारण्यक केः—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"

के अनुसार परमात्मा व समस्त ब्रह्माण्ड के पूर्णत्व की अनुभूति करता है, और जिसको पाकर ईशोपानिषत् के—

"तत्र को मोहः कः शोक एक त्वमनुपश्यतः"

के सुमधुर सर्वैकत्वा के सन्देश की रचनात्मकता का अनुभव करता है अतः वह 'आत्मज्ञान' ही पद्मिनी का भाव है। योग के अनुसार भी इसी मधुमती भूमिका की प्राप्ति व आत्मज्ञान के बाद परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः इसमें 'पद्मिनी' बुद्धि रूप में व उससे प्राप्त होने वाला 'आनन्द' पर-मात्मा रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

२—राजा का पद्मावती की प्राप्ति के लिए अनेकों विघ्नों का सहना और मध्य में सुआ और शिव की सहायता लेनाः—

मन उस आत्मज्ञान व मधुमती भूमिका की प्राप्ति के लिए अनेकों विघ्नों व आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाता है और कठिनता पड़ने पर—

"गुरुमेवाभिगच्छेत्"

के अनुसार गुरु के पास जाकर अथवा—

"अग्निरामार्थस्तव"

के अनुसार परमात्मा पर विश्वास रख कर उसी की प्रार्थना करते हुए उससे अनन्त साध्य एवं उत्साह प्राप्त कर 'अन्तःवृत्ति' के सन्मार्ग पर बढ़ने लगता है।

३—राजा का सिंहल के सातवें समुद्र पर पहुँ-चने पर पुलकित होनाः—

मन जब प्रगति करता हुआ अनुपम आत्म-ज्योति की अस्पष्ट किरण का आभास पाता है तो जायसी के शब्दों में—

'गा अँधियार रैन मसि छूटी।
भामिनसार किरन रवि फूटी॥

के आशामय स्वर से निनादित हो उठता है। और उसके साथ ही सब इन्द्रियादिक "अस्ति-अस्ति" कहकर आत्म तत्त्व के अस्तित्व की अस्पष्ट झलक पाते हैं?

४—पद्मिनी का मन्दिर में आना और रतनसेन का मूर्च्छित हो जाना—

परन्तु मधुमती भूमिका को प्राप्त करने से ठीक पहले मन अपनी "निद्रा" वृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है और उसके कारण उसकी सारी साधना निष्फल हो जाती हैं। और वह उस ज्ञान को पाने से वञ्चित रह जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि "मन" के रूप में रतनसेन का चरित्रचित्रण बड़ा स्वाभाविक एवं मनोरम हुआ है। यह विघ्न 'अलब्धभूमिकत्व' के नाम से योग-दर्शन में विदित है और प्रायः प्रत्येक साधक के मार्ग में आया करता है।

५—राजा का फिर अपने गुरु व शिव का स्मरण करके उनकी सहायता से पद्मावती को प्राप्त करना।

इस प्रकार विघ्न उपस्थित होने पर ईश्वर प्रणिधान आदि विधि द्वारा मन मधुमती भूमिका व आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

६—कुछ दिन आनन्दोपभोग करने के पश्चात् एक दिन पेड़ के नीचे उसे पक्षी का स्वर सुनाई पड़ता है और उसकी बोली सुनकर राजा को अपनी प्रथम पत्नी नागमती का स्मरण हो आता है और वह अपने देश लौटने के लिये व्याकुल हो जाता है।

यह विघ्न का दूसरा अङ्ग है। मधुमती भूमिका के प्राप्त करने पर भी मन के अपने स्वभाव के कारण साधक के मार्ग में 'अनवस्थितत्व' का विघ्न आता है। वह चंचल होने के कारण पुनरपि बाह्य सृष्टि व तद्गत प्रकर्ष सुख के स्मृति पथ पर अकस्मात् आरूढ़ होने पर अधः पतित हो जाता है। मन अब अन्तर्वृत्ति को छोड़ कर बहिःप्रवृत्त हो जाता है। सृष्ट्युन्मुख होता है।

७—लौटते हुए राजा को अनन्त द्रव्य मिलता है और उसके लोभ से वह अहंकारी हो जाता है और माँगने पर समुद्र की भर्त्सना करता है। मध्य समुद्र में जाते हुए तूफ़ान से घिर जाता है। पद्मावती बिछुड़ जाती है। राजा पुनरपि 'गुसाईं' की प्रार्थना करते हुए पश्चात्ताप करने लगता है—

अनवस्थित चञ्चल मन बाह्य सृष्टि में प्रवृत्त होने पर साधारण मानव से अपने आपको विभूतिमत् एवं श्रेष्ठ पाकर अहङ्कारी हो जाता है अब तक की हुई साधना का उपयोग वह अपनी उच्चता स्थापित करने में करता है। इस प्रकार के लोभ एवं अहङ्कार से गीता के—

ध्यायतो बिषयान् पुंसः सङ्गस्तेषपजायते
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रधोभिजायेत
क्रोधाद्भवति संमोह संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो ....

के अनुसार मन से बुद्धि पृथक् हो जाती है और मन उस आनन्द से वञ्चित होने पर प्रभु स्मरण करने लगता है।

यहाँ यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि पद्मावती की प्राप्ति की इच्छा से जब वह साधना सत्पथ पर अग्रसर हुआ वह मार्गगत सब विघ्नों का उपशमन अपने सामर्थ से करते हुए सब मनोविकारों पर विजय पाता रहा और लौटते हुए जब वह सांसारिकता की ओर उन्मुख हुआ पहिले ही पहल उसे लोभ और अहङ्कार ने आ घेरा और उनसे पराजित हुआ। इसीलिये—

'मोर मोर' कै खोराऊँ भूलि गरब अवगाह

कह कर उसने पश्चात्ताप किया। इसी प्रकार मन भी अन्तर्मुखी हो कर जब अनन्त ज्योति के प्रकाश की लालसा में बढ़ता है तब तो विजयी होता चला जाता है परन्तु बहिर्मुखी वृत्ति एवं सृष्ट्युन्मुख होने पर वह स्वयं विकारों से पराजित होता चला जाता है।

८—परमात्मा से प्रार्थना करने पर समुद्र पद्मावती से उसे मिला देता है। उसे लेकर चित्तौर आता है। दोनों के झगड़ने पर—

'धूपछाँह होउ पिय के रंगा।
दूनौ मिलि रहहिं एक संगा।"

कह कर उनको समझा बुझाकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। राघवचेतन या अलादीन भी उसका अब कुछ नहीं कर पाते।

मन ईश्वर प्रतिधानादिद्वारा पुनरपि बुद्धि को प्राप्त कर लेता और निष्कलङ्क होकर निष्काम रूप में सांसारिक समस्त व्यापार व्यवहार करता है। प्रकृति से संसर्ग होने पर भी उसके अन्दर माया ममता का अब उदय नहीं होता और इस प्रकार प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों को साथ लेकर वह अनन्त शान्ति का उपभोग करता है। इसी को ईशोपनिषद ने कहा—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयथं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

गीता ने भी—

'सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पंडिता'

कह कर इसका अनुमोदन किया है। वस्तुतः प्रकृति पुरुष, सत्य मिथ्या, यह सब धूपछाँह के सदृश हैं। जिस प्रकार अन्धकार के बिना प्रकाश का आभास या अनुभूति असम्भव है उसी प्रकार मिथ्याज्ञान के बिना सत्य की अनुभूति असम्भव है। यदि समस्त संसार में सत्य ही होता मिथ्या न होती तो सत्य का अनुभव ही न हो पाता। जन्म से ही प्रकाशानुभव से वञ्चित दौर्भाग्यहत पुरुष के लिये क्या अन्धतमस और क्या प्रकाश !! इसलिये सत्य के लिये मिथ्या-ज्ञान आवश्यक है। आत्मज्ञान व मायाविच्छेद के लिये माया का ज्ञान होना प्रथम आवश्यक है। इसलिये विद्या और अविद्या दोनों को 'धूप छाँह' के समान एकसाथ ले चलने वाला मन या साधक कभी माया ममता का शिकार नहीं हो सकता। यही इस काव्य का मूलआध्यात्मिक तत्व है। और जैसा कि कहा जाचुका है इस आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि केवल मात्र एक अंश या भाग में न होकर सम्पूर्ण काव्य में है। अन्यथा—

१—नागमती को गोरखधन्धा, राघवचेतन को शैतान व अलादीन को माया का रूपक देना,

२—रतनसेन का दक्षिण नायक होना,

३—'मोर-मोर' के अहङ्कार में पड़ने व तूफान की घटना का आयोजन,

४—नागमती और पद्मावती को समझाना,

इत्यादि अनेक रूपकात्मक प्रसङ्गों का कोई अर्थ न होगा।

इस प्रकार अध्ययन, मनन, एवं परिशीलन करने पर हमें स्पष्टतः ज्ञात होगा कि जायसी के महा-काव्य में सांख्य और योग के तत्वों से संघरित दर्शन गीता, व उपनिषत् की आदर्श भावमयी त्रिवेणी, प्रकृति पुरुष और प्रेम की धाराओं को अपनी स्नेह-मयी गोद में छिपाये हुए, परमपुरुष की ओर जाने के लिए व्याकुल कण्ठ से कलकलनाद करती हुई सतत प्रवाहित हो रही है जिसके कणमात्र के स्पर्श से भक्त का भावुक हृदय भक्ति के अतिशय आनन्द से और प्रेमी का कामनापूर्ण मानस मृदु माधुर्य से आप्लावित हो जाता है। यही महाकवि जायसी की परमरमणीय भावुकता व उनके काव्य की मधुरा-स्वादमय आनन्दात्मक आध्यात्मिक तत्व की अनुभूति उनके प्रकाश को अमर एवं समुज्ज्वल रूप में सहृदयों के अन्तस्तल में प्रतिफलित कर रही है। और यह प्रकाश 'आचन्द्र तारकं' इसी प्रकार साहित्य संसार में प्रदीप्त रहेगा इस में कोई सन्देह नहीं है।

हिन्दी कविता में भक्ति-भाव

श्री भगवतनारायण शर्मा

जब कोई व्यक्ति किसी वाह्य सत्ता के अस्तित्व अथवा गुणों से पराभूत होकर उसके प्रति अपना आत्म-समर्पण कर देता है, तब उस व्यक्ति के हृदय में उस सत्ता के प्रति एक नवीन तल्लीनता का संचार होता है। यह तल्लीनता परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न नहीं होती, वरन् उसका मूलाधार व्यक्ति की वाह्य एवं आन्तरिक प्रेरणा है। वह अपने चारों ओर अनन्त सृष्टि, अनंत आकाश एवं अनंत सागर को देखकर अनंत सत्ता का आभास करता है। यह आभास व्यक्ति के विभिन्न दृष्टिकोणों पर अवलम्बित है। यदि वह उस सत्ता को कुतूहल तथा गम्भीरता के साथ देखता है, तो वह उसकी दार्शनिक ढङ्ग से विवेचना करता है। यदि उसका दृष्टिकोण उस सत्ता के प्रति मन-मोहक हुआ, ऐसी अवस्था में वह विवेचना तथा गम्भीरता में न पड़कर आनन्दातिरेक से विह्वल हो नाचने लगता है। एक क्षण भरके लिए अपने को भूल-सा जाता है। यह तल्लीनता, विह्वलता एवं आत्म-विस्मृति 'भक्ति' के पर्याय हैं। भक्ति के लिए विवेचन अथवा मस्तिष्क की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी विह्वलता तथा अनुभूति की। अब यदि कहा जाय कि यह विह्वलता अथवा अनुभूति सदैव परिस्थितियों से प्रेरित होकर ही होती है, तो यह कथन उचित नहीं। जहाँ मनुष्यों में विचार हों, भावनायें हों, वहाँ अनुभूति बिना निमन्त्रण दिए ही उपस्थित होगी। और सच तो यह है कि अनुभूति रहित मनुष्य का जीवन ही निरर्थक है। कभी-कभी अवश्य परिस्थितियों से पराभूत होकर अनुभूति का उद्रेक होता है, पर ऐसा सदैव नहीं होता, और न ऐसी अनुभूति हमारे हृदयों में आनन्द एवं तल्लीनता का ही पूर्ण सञ्चार कर सकती है। अतः भक्ति का मूल श्रोत परिस्थिति न होकर किसी 'अनन्त सत्ता' के प्रति तल्लीन हो जाने की अनुभूति है। परिस्थितियों से प्रेरित अनुभूति में जो विह्वलता और जो आत्म-विस्मृति होगी, वह क्षणिक ही होगी। क्योंकि परिस्थितियों का अन्त होता है, और उस अन्त के साथ हमारी आत्मानुभूति का भी अन्त हो जाये, यह कहना यथार्थ नहीं। मनुष्य की आत्मानुभूति एवं आत्म-तल्लीनता ऐसी दो अमल-धवल धारायें हैं, जिनका आदि और अन्त उस हिमाद्रि से सम्बन्धित है जिनसे वे प्रवाहित हुई हों। जब तक हिमाद्रि है, गंगा-यमुना की धारायें भी हैं। सूर्य के आतप अथवा कंकरीले पथरीले मार्ग पर प्रवाहित होने से उनकी धारा भले ही क्षीण हो जाये, पर वह सदा के लिए अपना अस्तित्व खो बैठे, ऐसा तो नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति का जब तक अस्तित्व है, आत्मानुभूति और आत्म-तल्लीनता रहेगी। हाँ यह अवश्य है कि समय के आघात से उनका अस्तित्व कुछ दिनों के लिए क्षीण हो जावे। भक्ति का श्रोत अनादि एवं अनन्त है। अतः यह कहना कि परिस्थितियों के प्रभाव से हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव जागृत हुए पूर्ण रूप से सत्य नहीं। परिस्थितियाँ तो साधन-मात्र रहीं। उन्होंने भक्ति के क्षीण हुए श्रोत को सावन-भादों की वर्षा से परिपूर्ण कर दिया—यह अवश्य मान्य है।

ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार दक्षिणी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण अधिक देर में हुए। दक्षिण पर सबसे प्रथम आक्रमण सन् १३२६ ई० में अलाउद्दीन 'खिलजी' की अध्यक्षता में देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) पर हुआ था। इसके बहुत पहले अर्थात् ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में सगुण भक्ति के दो महान् आचार्य—क्रमशः 'रामानुज' तथा 'मध्व' दक्षिण में उत्पन्न हो चुके थे। अतः यह

तो निर्विवाद सिद्ध है, कि भक्ति की अमल धारा पहले से ही दक्षिण में प्रवाहित हो रही थी। अब यह जानना रह गया है, कि इस भक्ति-भाव के बीज हिन्दी कविता में कैसे आए ? क्या परिस्थितियों—राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों—के प्रभाव से; अथवा स्वतन्त्र भक्ति-भाव के प्रसरित विचार-तन्तुओं से ?

हमें हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव के मूल बीज नामदेव की वाणी में ही सर्व-प्रथम मिलते हैं। उन पर एक ओर तो नाथपंथियों तथा हठयोगियों की छाप थी, और दूसरी ओर भक्ति-पूर्ण भावना की। एक स्थान पर वह तत्कालीन प्रसिद्ध नाथ-पन्थी ज्ञानदेव से प्रभावित होकर कहते हैं—

"माइ न होती, बाप न होते, कर्म न होते काया।"

वहीं दूसरी ओर अपनी आन्तरिक-भावना एवं अनुभूति से प्रेरित होकर आनन्द-विभोर हो कीर्तन कर उठते हैं—

"भगत हेत मार्यो हरनाकुस,
नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।" आदि

भक्त नामदेव दक्षिण में उत्पन्न हुए थे। उनका समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने (सं० १३२८-१४०८) माना है। इस तिथि के अनुसार दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण प्रारंभ हो चुके थे, यह तो ठीक है। पर क्या इन्हीं आक्रमणों से प्रेरित होकर ही नामदेव की भक्ति-भावना प्रस्फुटित हुई ? यह एक सोचने का विषय है। यदि राजनीतिक परिस्थिति से भक्ति के दृढ़ तंतु निर्मित होते तो उनका निर्माण उत्तर भारत में ही होना चाहिए था, दक्षिण में नहीं। क्योंकि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव दक्षिण की अपेक्षा उत्तर पर अधिक पड़ा था। मठ और मन्दिर मथुरा एवं काशी के ढा दिए गये थे; पर बिठोबा (ठाकुर जी) का मन्दिर उस समय भी महाराष्ट्र देश में प्रतिष्ठित था। फिर मथुरा तथा काशी में भक्ति-भावना प्रस्फुटित न होकर बिठोवा भगवान के चरणारविन्द पर ही हो, यह समझ में नहीं आता। वस्तुतः, इसका मूल कारण यही है कि भक्ति के स्थायी अणु पहले से ही मानव-अनुभूत्याकाश पर संचरण कर रहे थे, उनका एकीकरण दक्षिण के तीन आचार्य—'रामानुज', 'मध्व' तथा 'निम्बक' ने किया। बाद में इन आचार्यों का प्रभाव 'नामदेव', 'बल्लभाचार्य' तथा 'रामानन्द' आदि भक्तों पर पड़ा और अन्त के दो महापुरुषों ने उन एकत्र किए अणुओं को उत्तरी भारत में ले जाकर 'अणुबम' का रूप दिया, जो बाद में जाकर कुछ आत्म-प्रेरणा तथा कुछ परिस्थितियों के कारण 'कबीर', 'तुलसी' तथा 'सूर', आदि भक्तों की अमर वाणियों से आहत होकर फूटा और तत्कालीन राजनीतिक एवं धार्मिक नैराश्य के लिए बहुत-कुछ विनाशकारी सिद्ध हुआ।

कुछ भी हो हिन्दी-कविता में भक्ति की भावना प्रधानतः दो कारणों से जाग्रत हुई। प्रथम और सबसे प्रमुख कारण तो 'रामानुज' आदि भक्तों की भावनाओं में भक्ति का पहले से ही उपस्थित होना था। साधारण जनता जिसकी ओर पहले से ही आकर्षित हो चुकी थी। स्वयं आचार्य शुक्लजी अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल के 'सामान्य परिचय' में लिखते हैं—"रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था, उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।" दूसरा कारण तत्कालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ थीं जिनकी प्रतिक्रिया एक नवीन आन्दोलन का रूप धारण कर हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुई। एक ओर इस आन्दोलन में सच्चे हृदयोद्गार तथा हृदय की उस अनन्त सत्ता (ईश्वर) के प्रति सच्ची स्नेहानुभूति थी, और दूसरी ओर मन्दिरों के स्थान पर मस्जिद बनाने की संकुचित एवं विदेशी भावना तथा धार्मिक 'गोरख-धन्धे' के विरुद्ध विद्रोह की एक प्रज्वलित चिनगारी थी। इस प्रकार भक्ति की जो लहर दक्षिण से उत्तर में आई, उपर्युक्त दो कारणों

से उसने धार्मिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और तभी से हिन्दी-कविता में भक्ति की अमल धारा बह पड़ी।

महाराष्ट्र-भक्त नामदेव के पश्चात् हिन्दी-कविता में भक्ति-भावनाओं का समावेश सन्त कबीर ने किया। कबीर ने अपनी कविता में जिस भक्ति का निरूपण किया वह "व्यक्ति-गत-ईश्वर (राम-कृष्ण) के प्रति नहीं थी। कबीर "निर्गुण" के उपासक थे, पर अनेक पदों में उन्होंने इसी 'निर्गुण' से व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध जोड़ लिया।" कभी प्रेम एवं भक्ति से विह्वल होकर वे 'हरि' को जननी कह उठते हैं—

"हरि जननी मैं बालक तेरा!
काहे न औगुन बगसहु मेरा।"

कभी अपने राम की 'बहुरिया' बनकर प्रेमातुर होने लगते हैं—

"हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै, मेरा जीव॥"

और कभी अपने इष्टदेव के प्रति रति-भावना से प्रेरित हो उठते हैं—

"बहुत दिनन में मैं प्रीतम पाए,
भाग बड़े घरि बैठे आए।"

भक्त के लिए भक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। कबीर का भक्त हृदय कभी-कभी पुकारने लगता है—

"अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं,
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौ।"

कबीर की इस 'निर्गुण-भक्ति' में भाव-व्यञ्जना तो थी, पर वह जन-साधारण के लिए 'गुह्य' तथा 'रहस्यमयी' होने के कारण सुलभ न होकर अटपटी थी। 'नानक' तथा 'दादू' आदि सन्तों ने इसी भक्ति-भावना का अनुकरण अपनी वाणियों में किया।

कबीर की 'निर्गुण-भक्ति' के अन्तर्गत जायसी की 'प्रेम-भक्ति-धारा' हिन्दी-कविता में प्रवाहित होती है। इसमें फारस के 'सूफी मत' तथा भारत की भक्ति-भावनाओं का अपूर्व सम्मिश्रण कई भक्ति का एक 'सामान्य मार्ग' निकाला गया था। किस प्रकार एक प्रेमी (भक्त) अपनी प्रेमिका (ईश्वर) को प्राप्त करने के लिए बीहड़ बनों तथा अथाह समुद्रों को पार करता हुआ, उस तक जाता है, आदि भावनाओं का वर्णन करके सूफी कवियों ने हिन्दी-कविता में अद्भुत भक्ति-भावों की व्यञ्जना की है।

पर हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव की सच्ची व्यञ्जना हमें 'सगुण-भक्ति' में ही देखने को मिलती है, जब 'भक्ति काल' के दो प्रधान स्तम्भ तुलसी और सूर अपने अपने इष्टदेव राम और कृष्ण को लेकर हिन्दी-साहित्य में अवतरित हुए।

तुलसी की भक्ति व्यंक्तिगत-ईश्वर (राम) की भक्ति है। तुलसी के राम 'भव-भय-हारी' तथा साधुओं (भक्तों) की रक्षा करने वाले हैं। भक्तों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि—

"जब जब होहि धरम कै हानी।
बाढ़हिं अधम असुर अभिमानी॥
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥"

और स्वयं भगवान भी भक्तों को धैर्य बँधाते हुए कहते हैं—

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहिं लगि धरहउँ नर बेसा॥"

भगवान सर्वत्र व्यापक हैं। वे भक्त की रक्षा के लिए पत्थर से भी उत्पन्न हो जाते हैं—

"अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिर जामी हैं,
राम, जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु
पाहन तें, न हिये तें॥"

ऐसे भगवान के लिए यदि भक्त यह कामना करे कि—

"यहि जग महँ जहँ लगि
या तन की प्रीति-प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों
होहु सिमिटि इक ठाईं॥"

तो उचित ही है।

तुलसी की भक्ति बड़ी सुगम है। भक्त शुद्ध हृदय, सरल वाणी तथा सरल कर्म्मों से भगवान की भक्ति प्राप्त कर सकता है—

"सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुवर-प्रेम-प्रसूति॥"

आदि भक्ति-भावनायें भक्तों के हृदय में पूर्ण भक्ति का सञ्चार कर देती हैं।

सूर की भक्ति में भी यही भाव-प्रवणता आदि से अन्त तक भरी पड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के भक्त हृदय को न तो तत्कालीन समाज से ही कुछ विद्रोह है और न धार्मिक परिस्थितियों से ही अधिक ममता है। उसे यदि विद्रोह है तो अपने भगवान के साथ और ममता भी है तो उसी के साथ। सूर के भगवान भक्तों के वशीभूत हैं—

"हम भक्तन के भक्त हमारे,
सुनि अर्जुन परितिग्या मोरी।"

और भक्तों के लिए ही अवतार धारण करते हैं—

"भक्त हेतु अवतार धरयो।"

भक्त जब भगवान की ऐसी प्रतिज्ञा देखता है तो उसके प्रति अनन्य भक्ति करने लगता है—

"स्याम बलराम को सदा गाऊँ
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को
स्वप्न हूँ माँहिं नहिं हृदय ल्याऊँ॥"

यह व्यक्तिगत भक्ति एवं अनन्यता की चरम सीमा है। भक्त जो कुछ भी है—बुरा है अथवा भला है—भगवान का ही है और वह भक्ति के लिए भगवान से संघर्ष करेगा; क्योंकि उस भगवान को छोड़कर भक्त के लिए अन्य कोई आश्रय ही नहीं और यदि है भी तो उसे वह चाहता नहीं—

"तुम तजि और कौन पै जाऊँ?
काके द्वार जाइ सिर नाऊँ,
पर हथ कहाँ बिकाऊँ?"

भक्त की भक्ति-भावों से भरी विवशता उस पतिव्रता स्त्री जैसी है जो अपने पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष की कामना ही नहीं करती। पति से संघर्ष हो जाने पर भी वह उससे पृथक नहीं होना चाहती। वह तो केवल अपने पति की अटल भक्ति चाहती है। इसी प्रकार सूर का भक्त हृदय सब छोड़ कर भगवान की निरन्तर भक्ति की कामना करता है—

"अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु,
नाहिनै रुचि आन॥"

इसी प्रकार नन्ददास की भक्ति-विह्वला गोपियाँ भी भगवान की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहतीं। वे भगवान के प्रेम में इतनी विह्वल हो जाती हैं कि उनकी तन्मयता के कारण कृष्ण (भगवान) उनके नेत्रों के समक्ष आ जाते हैं और तब भक्ति की चरम सीमा देखते ही बनती है—

"अहो नाथ श्री नाथ और यदुनाथ गुसाईं।
× × ×
काहे न फेरि कृपाल ह्वै,
गो ग्वालन सुधि लेहु।" आदि।

वस्तुतः, यह भक्ति-भाव की उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना है।

भक्ति-भाव की जैसी अपूर्व एवं वेदनापूर्ण अभिव्यञ्जना हमें 'मरुस्थल की मोहिनी धारा मीरा' के भावों में मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं। मीरा की भक्ति-भावना में एक टीस है, एक वेदना है और एक करुण पुकार है। प्रेमिका (भक्त) अपने प्रेमी (भगवान) के प्रेम (भक्ति) में 'दिवानी' होकर अविकल हो उठती है—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी,
मेरो मरम न जानै कोय।

फिर भी वह प्रेमिका (भक्त) धैर्य धारण किए है। क्योंकि—

"मीरा के प्रभु गहर गँभीरा,
धरें रहौ जी धीरा।
आधीरात प्रभु दरसन दै हैं,
प्रेम नदी के तीरा॥"

प्रेमी (भगवान) यदि मिलेगा, तो नीरव रजनी में प्रेम-नदी (भक्ति) के किनारे और यह सोचकर प्रेमिका (भक्त) का धैर्य धारण करना विह्वलता की पराकाष्ठा है।

जिस प्रकार एक नवागता कुलवधू अपने लज्जा-पूर्ण 'घूँघट' को खोले बिना अपने पति के मुखार-विंद का मकरन्द-पान नहीं कर सकती, उसी प्रकार माया-मोह के आवरण से आच्छादित भक्त का हृदय भगवान की चिरन्तन भक्ति का मधुर पान नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यकता है 'माया' के परदे से अनावरित होने की—

"घूँघट के पट खोल रे तोहि पिया मिलेंगे।"

मीरा की भक्ति-भावना की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी अपने कृष्ण (पति) के प्रति पूर्ण अनन्यता—ऐसी अनन्यता जिसके कारण उन्हें समस्त संसार स्त्री रूप में ही दिखाई देता है। यदि पुरुष है तो केवल वही नट-नागर नन्द नन्दन गोपाल। वह कहती हैं—"कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ?"

यदि सच पूछा जाय तो कृष्ण-प्रेम विह्वला मीरा का सम्पूर्ण जीवन ही भक्ति-भाव का प्रतीक है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव की पूर्ण व्यञ्जना हमें 'छछिया भर छांछ पर नाचने वाले माखन चोर' के भक्त 'रसखान' की कविता में देखने को मिलती है। भक्त के हृदय में त्याग और आत्म-समर्पण की इतनी दृढ़ता है कि वह अपने भगवान के प्रति ही नहीं वरन् भगवान के संसर्ग में आने वाली वस्तुओं पर भी सर्वस्व छोड़ने को प्रस्तुत है—

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।

वाहरे भक्त रसखान! कृष्ण की 'लकुटी' और 'कामरिया' पर ही तीनों लोकों का राज्य त्यागने पर तुल गये हो। भक्त का अपूर्व संतोष देखिए। उक्त पंक्ति में फूटा पड़ता है।

इस प्रकार अन्य भक्त-कवियों की भव्य-भक्ति भावनाओं की उर्मियों से हिन्दी-काव्य-सागर लगभग तीन सौ वर्षों तक वेग गति से उद्वेलित होता रहा। परन्तु कालान्तर में उसमें शिथिलता आने लगी और उर्मियों में 'ज्वार' का स्थान 'विहार' ने ले लिया।

हिन्दी-कविता में रीति-काल वासना पूर्ण भाव-नाओं का युग था। इस काल में भक्ति की लहर का अस्तित्व तो रहा, पर उसमें वह उद्वेलन न रहा जो एक समय हुआ था। कुछ इने-गिने कवियों ने ही भक्ति-भावनाओं का हिन्दी-कविता में उद्रेक किया। कवि-हृदय-मधुप जब नायक-नायिकाओं के सौंदर्य-मकरंद-पान से छक गया, तभी उससे भक्ति-भाव प्रस्फुटित हुए। यद्यपि इस युग में 'रामचन्द्रिका' जैसा विशाल ग्रन्थ राम के चरित में लिखा गया, पर उसमें भक्ति की वह सरस एवं कोमल भावना न आ सकी जो तुलसी आदि में आई थी। उसका कारण केशव का भक्ति-शून्य हृदय था। कुछ 'सेनापति' प्रभृत्त राम-भक्त कवियों ने अवश्य अवसर पाकर अपनी कविता में भक्ति-भाव भरे हैं—

"हरिजन पुञ्जनि में, वृन्दावन-कुञ्जनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर—तर जाय के।"

भक्त के भावों में भगवान के प्रति आत्म-समर्पण तथा भक्ति की अनुभूति तो है पर वह किसी के बोझ से दबी-सी लगती है। फिर भी इस युग में भक्ति-भावनापूर्ण कुछ रचनाएँ हुईं जो अधिकाँश में हृदय की न रह कर परिस्थिति की ही रहीं।

भक्ति-भाव की जो लहर वासनापूर्ण वातावरण में पड़ कर कुछ काल के लिए शिथिल पड़ गई थी

वह नवीन वायु के स्पर्श से पुनः चंचल एवं उद्वेलित हो उठी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश ने हिन्दी कविता में जहाँ एक ओर प्रगति का आह्वान किया वहीं दूसरी ओर भक्ति-भावों की भी उसने समुचित व्यञ्जना की।

मैथिलीशरण 'गुप्त' गोपालशरणसिंह तथा अयोध्यासिंह 'उपाध्याय' ने राम तथा कृष्ण की भक्ति-भावना अपनी कविताओं में प्रस्फुटित की है। पर उस भावना के पीछे 'बुद्धिवाद' का भूत लगा है। केवल 'गुप्त' जी ही ऐसे कवि हैं जिनपर आधुनिक 'बुद्धिवाद' का कम प्रभाव पड़ा है। उनके भक्त-हृदय को राम और कृष्ण के ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास है वे 'रँग में भँग' का आरम्भ राम के ईश्वरूप की प्रार्थना से करते हैं—

"लोक-शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया;
\+　　+　　+
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।"

भक्त अपने भगवान की भक्ति के लिए किसी से कुछ कहने नहीं जाता। 'गुप्त' जी को भी 'बुद्धिवादियों' से कुछ कहना नहीं। उन्हें तो अपने आत्माराम पर दृढ़ विश्वास है—

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
\+　　+　　+
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।"

भक्त की भगवान के प्रति सच्ची अनन्यता उपर्युक्त छन्द में कैसी भरी पड़ी है! चाहे राम मनुष्य ही क्यों न हों, पर भक्त उनके अतिरिक्त अन्य किसी को ईश्वर मानने के लिए प्रस्तुत नहीं।

भक्त जब भगवान के रहते हुए भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं कर पाता तो चिल्ला उठता है—

"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!"

और तब भगवान असंभव को संभव बनाकर भक्त से कहते हैं—

"हे पार्थ, प्रण पालन करो,
देखो अभी दिन शेष है।"

ऐसी अवस्था में अपना प्रण पूर्ण देखकर भक्त का हृदय भक्ति-भावना से गद्गद हो उठता है।

आधुनिक युग में हिन्दी-कविता में एक नवीन भक्ति-भावना और सुन पड़ती है। उसे हिन्दी के कई विद्वान मरुस्थल की मोहिनी धारा मीरा की भक्ति-भावना के सन्निकट देख रहे हैं। निःसन्देह, इस भक्ति-भावना में टीस है, वेदना है और उस अदृश्य सत्ता के प्रति एक करुण पुकार है। पर वह मीरा की सगुण भक्ति से सर्वथा भिन्न है। 'प्रेम की पीर' तथा आत्मसमर्पण की इस दशा को—

'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

तथा प्रेमिका (भक्त) का प्रेमी (भगवान) से मिलने की इस घोर साधना—

"प्रिय-पथ के ये शूल मुझे अति प्यारे ही हैं।"

को देखकर सहसा कवि के भक्त-हृदय की ओर मन आकर्षित अवश्य हो जाता है; पर साथ ही जहाँ—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी-
देख लूँ उस ओर क्या है।

की भावना में 'कुछ जानने' की इच्छा होती है, वहीं 'भक्तिवाद' से 'बुद्धिवाद' का विरोध आ पड़ता है। भक्त तो भगवान के प्रति बिना कुछ जाने हुए ही अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। अस्तु, आधुनिक युग में हिन्दी-कविता में भक्ति-भावना की समुचित व्यञ्जना हमें 'गुप्त' तथा कुछ गोपालशरणसिंह की कविताओं में ही मिलती है।

सारांश, हिन्दी-कविता में भक्ति-भाव की जो धारा दक्षिण में 'नामदेव' ने प्रवाहित की थी वह 'भक्ति-काल' में पूर्ण वेग से बहती रही। 'रीतिकाल' के आने पर उसकी धारा में शिथिलता आने लगी। पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में वह पुनः प्रवाहित होने लगी। आगे उसका क्या होगा यह भविष्य का विषय है।

आलोचना

काव्य में रहस्यवाद—लेखक-पंडित किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री, प्रकाशक-हिमालय एजेन्सी कनखल। पृष्ठ संख्या ३२। मूल्य ।=)

पण्डितजी ने इस छोटे ग्रन्थ में रहस्यवाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। आरम्भ में ही आपने रहस्य शब्द का संबंध काम शास्त्र के रहस्य से जोड़ा है। भक्त लोग भी रहस्य शब्द का प्रयोग करते हैं श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरित मानस में भी यह शब्द आया है—उस अर्थ में क्यों न लिया जाय। वाजपेयीजी ने शुक्लजी की उक्तियों को दुहराते हुए उसका साहित्यिक वाद के रूप में खण्डन किया है और उसमें कोई दोष भी नहीं किन्तु उसके खण्डन में उसके साधकों-सिद्धों और वर्तमान रहस्यबादी युवक कवियों के भ्रष्टाचार का अधिक सहारा लिया है। आचार्य शुक्लजी ने जहाँ रहस्यवाद और छायावाद को समझने का प्रयत्न किया है वहाँ उनकी भी निन्दा की गई है। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया कहा है। इस पर वाजपेयीजी बहुत रुष्ट हैं। सरसता का वे कोई मूल्य नहीं समझते है। हम इस बात में सहमत हैं कि रहस्यवाद की कविता उन्हीं लोगों को करना चाहिए जिनकी प्रवृत्ति कुछ ईश्वरोन्मुख हो। ढोंग के सभी खिलाफ हैं।

साहित्य में प्रगतिवाद—लेखक-श्री सोहनमल लोढ़ा, प्रकाशक-नव जागरण प्रकाशनगृह जोधपुर। पृष्ठ सं० ५२, मूल्य १)

लेखक के शब्दों में प्रस्तुत पुस्तक उनकी अप्रकाशित पुस्तक "जीवन और साहित्य में मार्क्सवाद" की प्रस्तावना व धुँधली झलक है किन्तु यह छोटी सी पुस्तक स्वतःपूर्ण है। लेखक प्रगतिवादी अवश्य है किन्तु संकुचित अर्थ में नहीं है। उसने बतलाया है कि मार्क्सवाद सामाजिक विकास की भाँति साहित्य की मूल प्रेरणा आर्थिक है। यह मार्क्सवाद की अपूर्णता और एकाङ्गीपन है। लेखक के मत से साहित्य पर कला की मूल प्रेरणा सिर्फ आर्थिक सम्बन्धों में ढूँढ़ना उतनी ही भारी भूल को प्रश्रय देना है जितनी फायडनी यह बात मान कर कि कला मात्र द्वन्द्व पीड़न का सात्विक विकास है। लेखक पूरे जीवन को ही साहित्य का प्रेरक मानता है। जब मार्क्सवाद ही जीवन का अपूर्ण और अर्द्ध विकसित दर्शन है तो उससे प्रेरित और उससे गति का दान लेने वाली एक धारा—प्रगतिवादी साहित्य या कला का आधार बनने की योग्यता नहीं रखता। लेखक ने ठीक ही बतलाया है कि मार्क्स के सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी के भौतिकवाद पर अवलम्बित है किन्तु अब विज्ञान ने भी पलटा खाया है। संसार की उन्नति में आर्थिक कारणों की अपेक्षा विचार और आदर्श अधिक काम करते हैं। कार्लमार्क्स ने वर्ग के सामने व्यक्ति को नगण्य माना है किन्तु लेखक और हमारे मत से भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सच्चा साहित्य सृजन व्यक्तित्व की अपेक्षा रखता है। वह पार्टी या वर्ग के पूर्व आयोजित आदर्श पर नहीं चल सकता। नेपोलियन भी साहित्य को पूर्व निर्धारित आधारों पर चलाने में

असमर्थ रहा था। इस हिसाब से प्रगतिवाद की आलोचना के भाव हलके पड़ जाते हैं। प्रगतिवाद ने प्रेमचन्द, यशपाल और अज्ञेयजी के मूल्याङ्कन में भूल की है। उनके कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा की गई है। पुस्तक आधुनिक प्रगतिवाद के मान बदलने के लिए एक चुनौती का काम देगी। —गुलाबराय

तुलसी—लेखक-डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० डी० लिट०, अध्यापक हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रकाशक—साहित्य कुटीर, प्रयाग। पृष्ठ १५४, मूल्य २)

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त 'तुलसी' के विशेषज्ञ हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से अध्ययन की ठोस वैज्ञानिक प्रणाली को प्रोत्साहन मिल रहा है, जिसमें शुद्धसार वस्तु को ही व्यवस्थित रूप से प्रकाश में लाया जाता है। डाक्टर गुप्त ने उसी प्रणाली में इस छोटी सी पुस्तक में तुलसी सम्बन्धी समस्त शोधों का उपयोग कर 'तुलसी' का अध्ययन किया है। इसमें १६ अध्याय हैं जिनमें तथाकथित जीवनियाँ, स्थानीय सामग्रियाँ, कृतियाँ, जीवन-वृत्त, गोसाईं उपाधि, रचनाओं का काल-क्रम, तुलसी पूर्व का राम-साहित्य, मौलिकता, चरित्र-चित्रण, तुलसी के राम, तुलसी के भरत, अन्यपात्र, आध्यात्मिक आधार, साधना, साधना का आदर्श तथा उपसंहार हैं। लेखक ने यथासम्भव वैज्ञानिक और न्यायदृष्टि का उपयोग किया है, फिर भी कहीं-कहीं 'दृष्टिच्युति' मिल ही जाती है। उदाहरण के लिए 'सोरों' की सामग्री पर विचार करते समय 'सन्त तुलसी साहिब' के मत बाँदा गजेटियर के मत से प्राधान्य देना। 'तुलसी साहिब' की दी गयी तीन तिथियों में से एक तिथि ठीक उतरती है, और कौन कह सकता है कि यह भी दैवयोग से नहीं। तुलसी साहिब के पास निश्चय ही वैज्ञानिक साधन शोध के नहीं होंगे। बाँदा गजेटियर के शोधकर्त्ता नये युग और नये साधनों से काम ले रहे थे, और यह सुनिश्चित है कि सोरों से जाकर किसी ने राजापुर में यह प्रचलित नहीं कराया होगा कि तुलसी सोरों से आये थे। तुलसी-साहिब ने उनका जन्म राजापुर माना यह तो बहुत साधारण धरातल की ही बात है, राजापुर से तुलसी का सम्बन्ध तो निश्चय ही रहा ही था। इसका किसी ने प्रतिवाद नहीं किया था, अतः जैसे सूरदास के रुनकुता में रहने की ख्याति से आज के युग में भी बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने उनकी जन्मभूमि भी रुनकुता में मान ली, वैसे ही तुलसी-साहिब ने स्वीकार करली हो तो आश्चर्य क्या? किन्तु सोरों से उनके सम्बन्ध की बात अन्यत्र कहीं न मिलकर भी मिलती है 'राजापुर' में—इसमें जो रहस्य है उसके महत्व को समझने का यत्न किया जाना चाहिए था, और सोरों की सामग्री को एक दम संदिग्ध दृष्टि से देखने की वृत्ति बदली जानी चाहिए थी। फिर भी लेखक ने निष्कर्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने दिया, उसने निश्चित रूप से न सोरों को न राजापुर को जन्म-स्थान माना है। इसी प्रकार 'गोस्वामी' के प्रयोग के सम्बन्ध में वे भूल गये हैं कि लिपि का जयकृष्णदास स्वयं लेखक है अतः गोस्वामी नहीं लिखता, जबकि अन्य विषयों में उनसे भिन्न व्यक्तियों ने लिखा है और इस शब्द का प्रयोग कर दिया है, जिससे जयकृष्णदास के प्रमाण का कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार गहन समीक्षा से कुछ विचारणीय स्थल मिल सकते हैं, किन्तु उससे पुस्तक के मूल्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। स्पष्ट, संचित और अधिकाँशतः निर्भ्रान्त वृत्त और विवरण तथा विचार यहाँ मिलते हैं।

रामचरित मानस का पाठ (दो भाग)—लेखक-डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० डी० लिट्०, प्रकाशक—साहित्य कुटीर प्रयाग। पृष्ठ सं० ६३२, मूल्य ४)+४) = ८)

यह डा० माताप्रसाद गुप्त का मौलिक तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयत्न है। इसमें रामचरित मानस

की प्राप्त प्रतियों की वैज्ञानिक समीक्षा और उनके पारस्परिक पाठ की तुलनात्मक तथा विचारात्मक विवेचना इस पुस्तक में दी गई है। इस प्रकार इस एक पुस्तक के द्वारा ही लेखक ने व्यवस्थित ढङ्ग से एक स्थान पर ही विविध प्रतियों के पाठों का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। इसमें वर्णित विषय पर विवेचना करने के लिये तो बहुत समय की अपेक्षा है, किन्तु साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लेखक की यह शुद्ध चेष्टा सर्वत्र व्याप्त मिलती है कि विचार करने में शुद्ध और तटस्थ दृष्टि का उपयोग हो, अतः अधिकाँशतः पुस्तक निर्भ्रान्त और विश्वसनीय है। किन्तु इसका सबसे अधिक मूल्य इसकी प्रणाली के कारण होगा, जो पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगी। मथुरा में सूरदास के 'सूरसागर' के पाठ-निर्धारण करने के सम्बन्ध में पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी भी ऐसी ही ठोस वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण कर रहे हैं। हम ऐसे प्रयत्नों का सादर स्वागत करते हैं। —सत्येन्द्र

स्वतन्त्र चिन्तन—मूल लेखक–कर्नल इङ्गार सोल, अनुवादक–भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रकाशक–श्री नाथूराम प्रेमी। पृ० सं० २२०, मूल्य १॥)

यह पुस्तक हेमचन्द्र मोदी पुस्तकमाला का चौथा पुष्प है। स्वर्गीय हेमचन्द्र मोदी बड़े स्वतन्त्र विचार के थे। उन्हीं की पुण्य स्मृति में यह ग्रन्थ-माला प्रकाशित हो रही है। कर्नल इङ्गर सोल के व्याख्यान और निबन्धों ने भदन्तजी के ईश्वर सम्बन्धी विचारों पर बड़ा प्रभाव डाला है। उसीने उनके ईश्वर रूपी हाथी की हत्या की थी। इस ग्रन्थ में ईसाई धर्म की भाषा-विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष आदि विषयों के सम्बन्ध की मान्यताओं और अन्ध विश्वासों की विज्ञान के आलोक में आलोचना की है। वे धर्म के नाम प्रचारित अन्ध विश्वासों के बहुत खिलाफ हैं। जो बात ईसाई धर्म के सम्बन्ध में कही गई है वह सभी धर्मों पर लागू होती है। सच्चे धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

'सच्चे धर्म को स्वतन्त्र होना चाहिए। दिमाग की सम्पूर्ण युक्ति के बिना सच्चा धर्म रागद्वेषादि वृत्तियों को बुद्धि के अधीन करता है। सच्चा धर्म कोई सिद्धान्त नहीं, मत नहीं, जीवन है।' धर्म के इस आदर्श से सहमत होते हुए भी हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि बुद्धि की सीमाएँ हैं। उसके आगे या तो अज्ञेयवादी रहना पड़ता है या कुछ विश्वास के साथ काम करना पड़ता है। धर्म का जो लक्षण (वह ताकत जो आदमी को पाप करने से रोकती है) लेखक ने दिया है उसके अनुकूल भी हमको नितान्त भौतिक आधार से आगे बढ़ना पड़ता है। निरे भौतिकवाद में मानवता के लिए भी स्थान नहीं रहता।

पुस्तक में मध्यकालीन योरुप और ईसाई धर्म के सम्बन्ध में बहुमूल्य बातें दी गई हैं। अनुवाद बड़ा प्रसादपूर्ण है। आशा है कि यह पुस्तक जनता का धर्म के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण बनाने में सहायक होगी।

कविता

मुक्त पाश—रचयिता–श्री द्वारिकाप्रसाद विजयवर्गीय, प्रकाशक–हिन्दी प्रचारिणी सभा बारां (राजस्थान)। पृष्ठ १२७, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में रचयिता ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की प्रमुख घटनाओं को पद्य-बद्ध करने का प्रयास किया है। सन् ब्यालीस, बम्बई अधिवेशन, आजाद हिन्द फौज, नेताजी प्रभृति तीस शीर्षकों के अन्दर के अन्तर्गत की प्रत्येक रचना यद्यपि अपने में स्वतन्त्र-सी है फिर भी मिला कर पढ़ने पर प्रबन्ध-काव्य-सा आनन्द देती है। किन्तु ऐसा लगता है जैसे कवि ऐतिहासिक तथ्यों के नीचे दब-सा गया है। कवि की भावना मुक्त होकर सामने नहीं आई है। सभी खण्डों के छन्दों की एकरूपता के कारण प्रवाह में मन्दता लक्षित होती है। परन्तु अनुभूति के स्फुलिंग सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं।

उत्तरा—रचयिता-श्री रघुवीरशरण सक्सेना साहित्य-रत्न, प्रकाशक—साहित्य-मण्डल सेंवढ़ा। पृष्ठ संख्या ६०, मूल्य १)

चार सर्गों में विभाजित यह खण्डकाव्य कवि की प्रथम रचना है। प्रथम सर्ग में उत्तरा को अभिमन्यु-वध का समाचार मिलता है, द्वितीय में सुभद्रा पुत्र-मृत्यु से दुःखित दिखाई गई है, तृतीय में सुभद्रा को कृष्ण सन्तोष दिलाते हैं और उत्तरा वैधव्य अवस्था में उनके पास आती है। अन्तिम सर्ग में कवि कृष्ण के मुँह से गीता के आधार पर आत्मा की अमरता का सन्देश देकर उत्तरा के शोक सन्तप्त हृदय को सान्त्वना दिलाता है। यद्यपि विषय पुराना है और कृष्ण का सन्देश हिन्दी-काव्य-जगत में अनगिनत बार व्यक्त हो चुका है तथापि इसे इस ढंग से लिखा गया है कि हृदय में नवीन भावनाएँ सहसा उठती हैं। कवि देश-काल से विरत भी नहीं है। युद्ध की विभीषिका का जो चित्रण सुभद्रा के मुँह से कवि ने कराया है वह विशेष-महत्त्व रखता है।

मगध-मुकुट—रचयिता-श्री सुरेन्द्रप्रसाद 'तरुण' प्रकाशक—रामदेव उपाध्याय 'पण्डा' पो० राजगिरि (पटना)। पृष्ठ ५८, मूल्य १)

मगध की प्राचीन राजधानी राजगिरि आज भी संसार की आँखों में बसा है। भगवान बुद्ध एवं भगवान महावीर की चरण धूलि से यह स्थान असंख्य बार पवित्र हो चुका है। प्रकृति का अनुपम वरदान जो इसे प्राप्त है वह सोने में सुगन्ध है। उसी राजगिरि के ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक महत्त्व को बिहार के नवोदित कवि 'तरुण' ने पद्य बद्ध किया है। राजगिरि की रम्य भूमि में खेल कूद कर काव्य का सुखद दुकूल पकड़ने वाला यह कवि वर्णन में सफल हुआ है।

ज्योतिर्मयी—रचयिता-श्री गोविन्दप्रसाद त्रिपाठी 'अनल', प्रकाशक—हिन्दी भाषा आश्रम, मन्धना, कानपुर। पृष्ठ २३, मूल्य ॥)

तेईस पृष्ठों की यह छोटी काव्य पुस्तिका स्फुरण, चिंतन, आरोहण और मिलन चार खण्डों में विभक्त है। भारतीय दार्शनिक-विचारधारा से प्रभावित इस पुस्तिका में आत्मा और परमात्मा के मिलन को काव्य का जामा पहनाने का प्रयास किया है। कवि के गम्भीर अध्ययन का आभास सर्वत्र ज्ञात होता है और यद्यपि नीरसता को दूर करने की चेष्टा की गयी है फिर भी विषय-गाम्भीर्य के कारण क्लिष्टता लक्षित होती ही है।

गाँधी-गीता—रचयिता-श्री दामोदर शास्त्री। प्राप्तिस्थान—आनन्द प्रेस, भागलपुर सिटी (बिहार) पृष्ठ ५८, मूल्य ।।=)

जैसा कि नाम से स्पष्ट है कवि ने एक सौ-पन्द्रह छन्दों में विश्व-वन्द्य महात्मा गाँधी के निर्वाण समय तक की सारी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को काव्य की लड़ी में बाँधने का प्रयास किया है। कवि महात्मा गाँधी के जीवन दर्शन से मात्र प्रभावित नहीं है अपितु व्यावहारिक रूपेण उस महापुरुष के बताये मार्ग पर चल भी रहा है इसकारण भावनाएँ निश्छल एवं यथार्थ के अधिक निकट हैं।

अवकाश के क्षण—रचयित्री-सुश्री शकुन्तला सक्सेना एम० ए०, प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार आगरा। पृष्ठ ८०, मूल्य ॥।)

प्रस्तुत काव्य-पुस्तक में कवियित्री के तेतीस स्फुट कविताएँ संग्रहीत हैं। सभी कविताओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवियित्री के हृदय में जिस समय जो भावनाएँ जगीं उन्हें काव्य के रूप में बांध दिया। 'कश्मीर की स्मृति में' शीर्षक कविता में कवियित्री जहाँ दो आने रोज के लिए अपने शरीर को बेच देने वाले बालक की विवशता पर 'आह! यदि पूँजीपति थोड़े हो जीना जान' कह कर प्रगतिवाद के घेरे में आती-सी लगती है वहाँ 'कल्पना के लोक में' उस पार बसने को उद्यत है जिसकी प्रगतिवाद खिल्ली उड़ाये बिना

बाज नहीं आता। किन्तु इन विषमताओं के बावजूद कवियित्री के उर-प्रदेश में नारी सुलभोचित त्याग और विरह की भावना विद्यमान है—उन्हीं भावनाओं के लघु रूप जिनसे हिन्दी-काव्य-जगत की आधुनिक मीरा, महादेवी अहर्निश आँखमिचौनी खेला करती हैं। 'प्रतिदान' में कवियित्री कहती है—

अधरों का लुट मधुमास गया,
पलकों में छुप बरसात रही।

त्याग भी कैसा ? वैसा कि जिससे धरती का कण-कण कुन्दन बन कर चमक उठे—

पोंछती दृगजल जगत का,
उषा-सी मैं बिखर जाऊँ !

ऐसा लगता है कि कवियित्री हिन्दी-काव्य-जगत में महादेवीजी की उत्तराधिकारिणी होकर रहेगी। भावनाओं को सुन्दर रूप से रखने में वे पूर्ण पटु हैं। कहीं-कहीं छन्दों में अपेक्षित लय के अभाव खटकते हैं किन्तु वैसे स्थलों में भी भावनाएँ विशृङ्खलित नहीं हुई हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई और गेट-अप सुन्दर है। —शिवप्रसाद लोहानी

भूमिका—श्री राजेन्द्रप्रसादसिंह, प्रकाशक—भारती-भण्डार, प्रयाग। पृ० सं० १७२, मूल्य ५)

'भूमिका' की कविताएँ दो खण्डों में विभक्त हैं, अन्त में परिशिष्ट ३ के रूप में 'भूमिका' कविता है, जिसके शीर्षक पर पुस्तक का नामकरण किया गया है। इन खण्डों की कविताएँ विभिन्न भाव-भूमि पर खड़ी हैं। एक में कवि ने मनुष्य के लिए 'अमल, नवल, अजेय जागरण' की रश्मि-रेखाएँ मिट्टी के कणों से ग्रहण की हैं, दूसरे में उसने उन्मन यौवन के स्वप्न-तरल उच्छ्वासों को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न किया है। एक ओर उसके काव्य-क्षितिज से प्रकाश की किरणें फूट रही हैं, दूसरी ओर मूर्च्छना के गीतों में प्रणय सिहक रहा है। जहाँ पूर्वार्द्ध में वह जन-जीवन का द्रष्टा है, उत्तरार्द्ध में स्व-केंद्रित। पर दोनों ही खण्डों की कविताएँ अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। कारण दोनों में कवि के व्यक्तित्व का उन्मेष, और उसके स्वरों का बल है।

प्रणय की जिन मदिर स्मृतियों को कवि ने संग्रहीत किया है, वे सहज ही हृदय को छू लेती हैं। उनमें कवि के प्राणों का सुप्त अभाव जाग उठता है—

भावना मेरी पली है शून्यता में,
कल्पना मेरी बसी है मूकता में।
तुम मुखर सुषमा सगुण हो सर्जना की,
मैं घिरा हूँ सखि ! स्वरों की सघनता में।

प्रणय के इन गीतों में अया-निशा की इतनी कुहा है, कि गीतों की कड़ियाँ पद-पद पर विशृङ्खल हो उठती हैं, और स्वयं कवि अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह यह भी अनुभव करता है कि इस अँधकार में उसके कवि के डूब जाने का भय है। अतः जागरण के लिए उसकी विह्वलता उसके प्राणों का गीत बन जाती है। उस ज्योति-स्तूप 'दिव्य हिरण्य पुरुष' से उसको प्रगति मिलती है। मिट्टी के अन्तराल को वेधकर वह उस किरण के दर्शन करता है, जिससे जीवन के मौलिक स्वरूप की रचना की जा सकती है। विशुद्ध दृष्टि से वह युग भी उस उन्मत्त बर्बरता को भी देखता है, जिसकी सर्व-ग्रासिनी भूख में युग-युग का सत्व स्वाहा होता जा रहा है। धरती की छाती पर सर्वनाश का विकराल मुँह खुला हुआ है। इस भीषण अनास्था की स्थिति में भी कवि का मनुष्यता पर अक्षुण्ण विश्वास है—

मनुष्यता अखंड विश्व-देव की पुजारिणी।
मनुष्यता अमर, विराट, ज्योति-रूप-धारिणी॥
कि जो बनी अपार ग्लानि पाप के विकास में।
बसी निमग्न ताप सी अनीति के प्रहास में॥

राजेन्द्रप्रसादसिंह के पास एक समर्थ कवि की वाणी है, उनके गीतों में मानवता के नव-निर्माण

के लिए आवश्यक तत्व हैं, उनके स्वरों में आस्था का आलोक है—

जले अचुक अमंद एक,
प्राण लौ प्रभामयी।
बले समस्त दीप ज्योति,
चिर मनुष्यतामयी॥

उनकी पुस्तक का हम अभिनन्दन करते हैं।

अंगार—कुमार विमलसिंह 'विमल', प्रकाशक—शारदा सदन, पचेना, पो० लखीसराय (मुंगेर)। पृष्ठ ७७, मूल्य १)

इस कृति में कवि ने विभिन्न भाव-भूमियों की कविताओं को संकलित किया है। यहाँ उसके 'शैशव' को स्वर मिला है, उसके यौवन ने 'मुग्ध' में आकर्षण पाया है, उसके पौरुष ने 'पूँजीपतियों से', 'किसान से' और 'कवि से' दो-दो बातें की हैं। वह जीर्ण-शीर्ण के नाश के लिए 'परिवर्तन' की अभिलाषा करता है, और समता का एक ऐसा जगत चाहता है जो—

हो रूढ़ि हीन, वह वर्ग-हीन।
हो भूख और पीड़ा विहीन॥

इसके लिए यदि आवश्यकता हुई तो वह अङ्गारों से भी खेल सकता है—

बढ़े यही 'अंगार' निरन्तर,
फूँक शंख, जग जाय कपाली।

आशा है, उसके अङ्गार को दीप्त मिलती रहेगी।

नारायणी—ब्रजकिशोर 'नारायण', प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस-लिमिटेड, पटना। पृ० सं० ८८, मूल्य १॥)

'नारायणी' श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' की तीसरी कृति है। 'सिंहनाद' और 'यशस्विनी' के बाद उनकी कविताओं का यह नवीनतम संग्रह विविध प्रकार की रचनाओं को आत्मसात किए हुए। १६४६ से ५० के अर्से में देश के अन्दर राजनीति, साहित्य और जीवन के स्तरों में जो परिवर्तन हुए हैं, इन रचनाओं में कवि उनके प्रति सचेष्ट है। इन परिवर्तनों की पार्श्वभूमि में ये कविताएँ लिखी गई हैं। इनमें उसने जहाँ तुलसी, निराला, पन्त और दिनकर को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, वहाँ समाज, कला और साहित्य के दायित्व की ओर भी दृष्टि डाली है। उसका तरुण हृदय झोपड़ी और महल की विषमता को देख कर विक्षुब्ध होता है—

झोपड़ी खड़ी इधर, उधर महल खड़ा
धूल है पड़ी इधर, उधर रतन जड़ा
एक दूसरे को दूर हमने है किया
किन्तु इधर और उधर जल रहा दिया!

'नारायणी' के गीतों में कवि की अन्तः प्रकृति की स्फूर्ति है। उसकी चेतना को बौद्धिक धरातल मिला है; पर कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिन्हें संग्रह में रखने का मोह कवि संवरण नहीं कर सका। 'ब्रह्मचारी जी की रजाई' को उनके लिए ही छोड़ देना उचित होता, कारण लोगों को ऐसी 'रूखी सी सूखी-सी, कौए की बीट जैसी' वस्तु को देखने का आग्रह कम ही होता है।

रस सागर—लेखक-श्री भगवद्दत्त 'शिशु', प्रकाशक—भारती भंडार, प्रयाग। पृष्ठ ६८, मूल्य २)

'रस सागर' कवि 'शिशु' के ३५ गीतों का संग्रह है। कवि ने अपने देव के पद-पूजन के लिए जिस अर्घ्य को एकत्र किया है, उसे वह पाठकों के सामने उपस्थित कर देना है—

अकिंचन हूँ वैभव से आज
रंकिनी अबला हूँ मैं आज।
पूजने को पद फिर भी देव,
दृगों में कुछ बूँदें ये शेष।
अर्घ्य ही है केवल अब शेष।

ईश्वर की अर्चना के लिए जिस विनय और

तन्मयता की आवश्यकता होती है, कवि के पास उसकी अक्षय राशि है, फिर भले ही वह वैभव से अकिंचन क्यों न हो। जीवन की तृष्णा और अशांति के बीच वह प्रभु के चरणों में अपना 'लघु-धाम' बना लेता है। यौवन और सौन्दर्य के आकर्षण से वह अनभिज्ञ नहीं है, किन्तु जीवन की असारता का ज्ञान होने के कारण वह भगवद्भजन को ही इष्ट मानता है। रूप की वास्तविकता तो भुलावा है, अतः उस पर जीना विनाश को निमंत्रण देना है। उसे ऐश्वर्य की असलियत का भी पता है—

जिसकी मिट्टी भी पुजती थी,
वह मिट्टी में मिलते देखा।
थी सुमन सेज जिसकी कल तक,
वह आज पड़ा भू पर देखा।

ईश्वर 'स्वयं सिद्धि' और 'अतुल ऋद्धि' है, उसमें कवि की जो आस्था है, वह वन्दनीय है, पर जीवन को 'भूल' के रूप में ग्रहण करना कहाँ तक वाञ्छनीय है, इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है। जीवन एक अभिशाप नहीं; अतः उसे "एक भारी भूल हूँ मैं" के रूप में ग्रहण करना उसके महत्व को विस्मृत करना है। इसीलिए शायद वियोगी हरि ने, इस पुस्तक के प्रारम्भ में दो शब्द लिखे हैं, कवि को मानव की सहज आराधना में लग जाने के लिए कहा है। इस पवित्र कामना का सभी समर्थन करेंगे, कारण कवि की ओर हम आशापूर्ण दृष्टि से देख सकते हैं।

—श्री मोहनलाल एम० ए०,

राजनीति

समाजवादी विचारधारा—लेखक-श्री बालकृष्ण बलदुवा, प्रकाशक-गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ। पृष्ठ ६४, मूल्य १॥)

बलदुवाजी के २८ चिन्तन कण इसमें तीन भागों में प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें लेखक की वह मानसिक स्थिति के चित्र हैं जो अमीरी-गरीबी के वैषम्य को देख कर उसकी प्रतिक्रियाएँ बनीं और जिसके परिणाम में उसे अनुभूतियाँ हुईं—मानवी; मानव-मानव की प्रतिष्ठा सम्बन्धी और मानवता की अप्रतिष्ठा के मूल से सम्बन्ध रखने वाली। लेखक ने पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट कर दिया है कि वे अनुभूतियाँ समाजवादी विचारधारा बन गई हैं। किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि इसमें आर्थिक समवितरण का ही राग अलापा गया है। लेखक ने मानवीय मूल्यों का ही अङ्कन करने का विशेष प्रयत्न किया है—इसीलिए प्रत्येक शब्द पठनीय हो गया है, शैली भी रोचक। आरम्भ में छोटे टाइप में एक मार्मिक समस्या की ओर संकेत कर दिया गया है, जिससे ध्यान मुख्य विषय पर केन्द्रित हो जाय। फिर स्थिति का विवेचन और अनुभूति का काव्यात्मक तथा कथात्मक शैली में निरूपण किया गया है। निरूपण संक्षेप में केवल आवश्यकता-भर के किन्तु हार्दिक शब्दों में किया गया है। पुस्तक पठनीय है। —सत्येन्द्र

नाटक

सम्राट खारवेल—(तथा दूसरे तीन एकांकी नाटक) लेखक-जयन्तीप्रसाद जैन साहित्य रत्न, विलराम, एटा, प्रकाशक श्री नवयुग जैन साहित्य-मन्दिर, खतौली। पृ० सं० ६८, मूल्य सवा रुपया।

यह एक संग्रह है, जिसमें जम्बू कुमार, अञ्जन, मुक्तियज्ञ तथा सम्राट खारवेल नाम के एकांकी हैं। 'मुक्तियज्ञ' कल्पना-प्रसूत है, शेष तीन जैन वस्तियों और जैन इतिहास से सम्बन्धित हैं। लेखक का यह उद्योग प्रशंसनीय, किन्तु अभी लेखक को अधिक अभ्यास की आवश्यकता है। आज हिन्दी में एकांकियों का स्वर बहुत ऊँचा हो चुका है। —सत्येन्द्र

Sahitya Sandesh, Agra.
MARCH 1951.

REGD. NO. A. 268
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

परीक्षार्थी प्रबोध-खण्ड १
का
तृतीय परिवर्द्धित संस्करण छप गया !

परीक्षार्थी प्रबोध का प्रथम संस्करण नवम्बर १६४६ में छपा था। उस समय उसकी इतनी अधिक माँग रही कि प्रथम संस्करण एक ही मास में समाप्त होगया, दूसरे महीने में उसका दूसरा संस्करण छपाया गया। दूसरा संस्करण एक वर्ष भी पूरा न चल पाया और नवम्बर में ही उसका दूसरा संस्करण प्रायः समाप्त हो गया।

इस दिसम्बर और जनवरी के महीनों में परीक्षार्थी प्रबोध के प्रथम और द्वितीय खण्ड दोनों की इतनी अधिक माँग आई कि हमें जनवरी मास में उसका तीसरा संस्करण निकालना पड़ा। अतः जिन सज्जनों को हमने प्रथम खण्ड नहीं भेजा है वे अब हमसे मंगा सकते हैं।

दोनों खण्ड रजिस्ट्री से एक साथ मंगाने पर साहित्य सन्देश के ग्राहकों को ५) का मनीआर्डर भेजना चाहिए। वी० पी० ५-) की भेजी जायगी।

प्रत्येक भाग का मूल्य ३) है लेकिन साहित्य सन्देश के ग्राहकों को यह पुस्तक पौने मूल्य में दी जायगी। ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिए।

विषय सूची मुफ्त मगाएँ।

नोट—जो सज्जन साहित्य सन्देश के ग्राहक नहीं हैं वे उसका वार्षिक मूल्य ४) भी साथ भेजदें।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण

लेखिका—डा. किरणकुमारी गुप्त एम ए.

हिन्दी साहित्य में यह अपनी पहली पुस्तक है, जिससे लेखिका को डाक्टरेट की उपाधि मिली है। इसमें मानव और प्रकृति से सम्बन्ध और हिन्दी साहित्य के वीरकाल से आधुनिक काल के काव्य प्रणेताओं की रचनाओं का विभिन्न विषयों का व्यापक, गम्भीर और आलोचनात्मक अध्ययन है। स्थान-स्थान पर प्रकृति चित्रण के सुन्दर उदाहरण भी दिए हैं। मूल्य ६)

मिलने का पता:—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

साहित्य संदेश

१२]　　आगरा—अप्रैल १९५१　　[अङ्क १०

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र

*

प्रकाशक

-रत्न-भण्डार, आगरा

*

मुद्रक

हित्य-प्रेस, आगरा

*

४), एक अङ्क का।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

हिन्दी कविता में युगान्तर—श्री सुधीन्द्र एम० ए० ८)
निर्गुणधारा—श्री वैजनाथ विश्वनाथ ३)
कहानियाँ : एक परिचय—श्री उपमन्यु बी०ए० १)
हिन्दी कवि परिचय—श्री श्रुतिकांत एम० ए० १)
काव्य रश्मि—आचार्य धर्मेन्द्र १।)
हिन्दी गद्य निर्माता—श्री श्रुतिकान्त एम०ए० १।।।)
मीरां एक अध्ययन—श्री पद्मावती 'शवनम' ३।।)
सिकन्दर एक अध्ययन—वैसानि श्रीरामुलगुप्त ।।।)
फूलों का गुच्छा एक अध्ययन—,, ,, ।।।)

कविता

मुक्त पाश—श्री द्वा० प्र० विजय वर्गीय १।)
हिडिम्बा—श्री मैथिलीशरण गुप्त ।।।)
पृथ्वी पुत्र—,, ,, ,, ।।।)
करुणामय—श्री राजेन्द्रकुमार शुक्ल २।)

नाटक

प्रतिनिधि एकाङ्की—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ३)
आदिमार्ग— ,, ,, ,, ५)
कर्म पथ—श्री प्रेमनारायण टंडन एम० ए० १।)

उपन्यास

अछूत—अनु० श्री मुल्कराज आनन्द १।।)
मधुर स्वप्न—श्री राहुल ५)
ये आदमी ये चूहे—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ३)

कहानी

टीलों की चमक—श्री जयनाथ नलिन १।।)
मृत्यु में जीवन—श्री अरुण १)
काले साहब—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ३।।।)
धुँधली तस्वीरें—श्री नरेन्द्र नरायनलाल १।।।≈)

राजनैतिक

तीसरा वर्ष—भारत सरकार का १।।)

ऐतहासिक

भारतीय समाज का एतिहासिक विश्लेषण—श्री भगवतशरण उपाध्याय ४)

प्रश्नोत्तर

नवीन प्रथमा आदर्श मार्ग प्रदर्शिका—श्री आर० आर० गुप्ता, एम० एल० टी० २।)
,, मध्यमा ,, ,, ,, ,, ,, ,, ३।)

विद्यार्थीपयोगी

विशारद दिग्दर्शन—आचार्य धर्मनरायन शर्मा २।।)
मध्यमा निबन्धावली—श्री सदानन्द मिश्र एम० ए० ३)

विविध

महान बनो—श्री कैलाशनाथ मिहिरा बी० ए० १)
दार्जेलिंग परिचय—श्री राहुल ४)

सभी प्रकार की हिन्दी की पुस्तकें मँगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

वर्ष १२] आगरा—अप्रैल १९५१ [अङ्क १०

हमारी विचार-धारा

राजभाषा परिषद—

इसी १० मार्च की बात है, दिल्ली में 'राजभाषा परिषद' की एक बैठक हुई। इस बैठक में अधिकांशतः पार्लियामेण्ट के सदस्य बुलाये गये थे। इसके सभापति थे पार्लियामेन्ट के स्पीकर माननीय मावलङ्कर महोदय। भाषणकर्त्ता सभी पार्लियामेन्ट के सदस्य थे, जिनमें से सेठ गोविन्ददास, श्री मन्नूलाल द्विवेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, माननीय गाडगिल आदि प्रमुख थे।

आज की परिषद के समक्ष प्रश्न यह था कि हिन्दी को राजभाषा शीघ्र से शीघ्र कैसे बनाया जाय? परिषद में इसी सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव रखे गये और स्वीकृत हुए। प्रस्तावों और भाषणों में कुछ भी नवीन अथवा विशेष ध्यान देने योग्य बात नहीं थी। जो बात ध्यान आकर्षित करती थी वह यह थी कि वही पुरानी बातें दुहरायी जा रही थीं—आज भी वही पुराने सन्देह और भय बने हुए हैं। आज भी हिन्दी भाषी क्षेत्र के प्रतिनिधि उन्हीं पुरानी वजहों से पार्लामेन्ट में अँगरेजी बोलते हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र के प्रतिनिधियों के लिए यह लज्जा की बात है, इसमें सन्देह नहीं।

हम यहाँ इन्हीं पृष्ठों में कई बार लिख चुके हैं कि हिन्दी को राजभाषा होने का अपना जन्मसिद्ध अधिकार मिला है। हिन्दी के साम्राज्य की चर्चा चलाना भ्रम के द्वारा देश का अहित करना है, उत्तर से दक्षिण तक संस्कृत का अधिकार क्या साम्राज्य भावना से हुआ था। हिन्दी उसी संस्कृत की स्थापना है, और समस्त देश के ऐक्य की प्रतीक है। यदि हम भारत को दृढ़ और एकसूत्र में बँधे देखना चाहते हैं तो हिन्दी को शीघ्र से शीघ्र समस्त देशवासियों को अपनी भाषा के रूपमें ग्रहण करना होगा। हमें तीन उद्योग साथ साथ करने होंगे—एक तो हिन्दी भाषियों को, विशेषतः लेखकों को भारत की अन्यभाषायें दक्षिण की सबसे पहले सीखनी होंगी,

और उनके प्राचीन साहित्य को हिन्दी में अनूदित करना होगा। दूसरे अहिंदी प्रान्तों में सांस्कृतिक पर्यटन करने की आवश्यकता है। हिन्दी-भाषियों के विविध दल इस साँस्कृतिक विनिमय के लिए तय्यार हों और वे देश में भ्रमण करें। तीसरे अन्य भाषा भाषियों को हिन्दी में लिखने का प्रलोभन दिया जाय, प्रोत्साहन दिया जाय।

हिन्दी के निर्माण का प्रश्न—

किन्तु एक बात बार-बार कही जाती है—जो हमारी समझ में नहीं आती। वह है हिन्दी के निर्माण की। यह कहा गया कि हिन्दी को समस्त भारत की आवश्यकता के अनुरूप निर्माण करना होगा, और यह नई हिंदी ऐसी होगी जो हिन्दी-भाषी क्षेत्रों की हिन्दी से भिन्न होगी। ऐसी बातें संसार की अन्य किसी भाषा के सम्बन्ध में नहीं कही गयीं। अँग्रेजी अपने घर में ही नहीं घर से बाहर भी बहुत प्रयोग में आती है, पर वह वही अँग्रेजी है जो अँग्रेज के देश में ढलती है। हिन्दी का किसी भी प्रकार का विकास हो, वह हिन्दी-क्षेत्र से अवश्य सम्बन्धित रहेगी। देश भर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके अभावों को दूर करना पड़ेगा, किन्तु ऐसा करने में उसके स्वरूप को विकृत करने की तो कोई आवश्यकता कैसे हो सकती है? हिन्दी को समृद्ध करने की आवश्यकता है, उसके निर्माण की बात सोचना हमारी दृष्टि में मिथ्या विचार है, जो कभी सफल नहीं हो सकता। ऐसी दृष्टि से उद्योग करने वालों के प्रयत्न निश्चय ही विफल होंगे।

ब्रज-साहित्य-मण्डल का सभापतित्व—

ब्रज-साहित्य-मण्डल के आगामी अधिवेशन के सभापति के लिए बाबू गुलाबरायजी को मनोनीत किया गया है। हम ब्रज-साहित्य-मण्डल को इस निर्णय के लिए बधाई देते हैं। यह बधाई 'साहित्य-सन्देश' इसलिए नहीं देता कि बाबू गुलाबराय उसके प्रधान सम्पादक हैं। वरन् यह बधाई वह इसलिए देता है कि उसने राजनीतिक पुरुष से गठबन्धन तोड़ने का साहस किया है। बाबू गुलाबराय शुद्ध-साहित्यिक व्यक्ति हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी युग के आज वे एक प्रकार से अकेले प्रतिनिधि हैं, जो हिन्दी की सेवा में अनवरत संलग्न हैं। उनकी लेखनी ने हारना और थकना जाना ही नहीं। वृद्ध हाथों से आज भी उनकी लेखनी नयी स्फूर्ति सरसाती चलती है। यह रहस्य बहुतों को चकित करता है। बाबूजी के व्यक्तित्व में कर्मठता है। उनकी कर्मठता का लाभ ब्रज-साहित्य-मण्डल को मिले, यही हमारी कामना है। उनकी सौम्यता, सूझ बूझ तथा अनुभव से मण्डल पुनः प्रगति पा सकेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

वादी साहित्यकार—

हिन्दी-साहित्य में वादों का जितना प्रपञ्च है, उतना शायद ही अन्य किसी भाषा के साहित्य में हो। 'वाद' निश्चय रूप से साम्प्रदायिक भाव ग्रहण करने लगे हैं। साहित्यकार को शुद्ध और स्वस्थ बुद्धि से अपने कर्म और धर्म को ग्रहण करने की आवश्यकता है। जिस देश का साहित्यकार अपने बुद्धि के आग्रह के अतिरिक्त किसी दूसरे का आग्रह स्वीकार कर लेता है, उसका महत्व नगण्य हो जाता है। सत्य से च्युत होने पर साहित्य का मर्म ही लुप्त हो जाता है। सत्य यह है कि वादों की साम्प्रदायिकता साहित्यकार को दुराग्रह के आवर्त्त में फँसा देती है। विचार-स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। बौना साहित्यकार विषम सृष्टि से जग और मानव को अकल्याण करने लगता है। हिन्दी के साहित्यकार को समय रहते सावधान होने की आवश्यकता है।

मौलाना अबुलकलाम आजाद और हिंदी—

भारत के शिक्षा-मन्त्री माननीय मौलाना अबुलकलाम आजाद ने लाल किले में साहित्य परिषद का उद्घाटन करते हुए यह संदेश दिया है कि भारत में सभी को हिन्दी की समृद्धि का प्रयत्न करना चाहिए। वास्तविक बात तो यह है कि यदि हमारा केन्द्रीय शिक्षा-विभाग ही यदि शिक्षा-मन्त्री

के इस सन्देश को ग्रहण कर सके, तो राष्ट्रभाषा और राज-भाषा की समस्या हल होने में अड़चनों का बहुत अभाव हो जाय।

प्रगतिशीलता की नयी परिभाषा—

अभी हाल में प्रगतिशील लेखकों के प्रमुखों ने यह निश्चय किया है कि प्रगतिशीलता की नयी परिभाषा की जाय। इस नयी परिभाषा से प्रगतिशीलता के अर्थ को व्यापक करने का यत्न किया गया है। इस प्रयत्न को हम अभिनन्दनीय समझते हैं। यथार्थ में तो नयी परिभाषा को इतना व्यापक करने की आवश्यकता है कि उसमें से साम्प्रदायिकता और गुरुडम की तथा दुराग्रह की गन्ध हट जाय और प्रत्येक व्यक्ति जो प्रतिक्रियावादी नहीं है, उसके अन्तर्गत आ सके।

आचार्य केशवप्रसाद का निधन—

काशी विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर आचार्य केशवप्रसादजी २१ मार्च को प्रातः काल स्वर्गवासी हुए—यह दुस्संवाद पढ़ कर हिन्दी के सभी हितैषी दुखी होंगे। आचार्य शुक्लजी के निधन के बाद केशवप्रसादजी काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष चुने गये थे और बड़ी योग्यता पूर्वक इस पद पर काम करते हुए गतवर्ष ही रिटायर हुए थे। आपके स्थान पर श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी अध्यक्ष चुने गए थे। श्री केशवप्रसादजी रीति शास्त्र के अद्वितीय विद्वान माने जाते थे। आपके परिवार के साथ हम हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं।

प्रान्तीय सरकार के पुरस्कार—

उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस वर्ष पुनः २५७००) के ३१ पुरस्कार हिन्दी के लेखकों को देने की कृपा की है। हिन्दी के लिए यह नई ही बात है, जो गत वर्ष से ही हमारे शिक्षामन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी ने प्रारम्भ की है। हम इस शुभ कार्य के लिए प्रान्तीय सरकार—विशेष रूप से श्री सम्पूर्णानन्दजी को साधुवाद देते हैं। हिन्दी के जिन लेखकों को यह पुरस्कार मिले हैं उन्हें भी हमारी हार्दिक बधाई है। इस वर्ष जिन लेखकों को जो पुरस्कार जिन पुस्तकों पर मिला है, उनकी सूची नीचे दी जाती है—

साहित्य—

श्री आनन्द कुमार १,५००) 'अंगराज'
श्री प्रतापनारा० श्रीवास्तव १,०००) 'ब्यालीस' और 'विसर्जन'
श्री वृन्दावनलाल वर्मा १,०००) 'मृगनयनी' और 'अचल मेरा कोई'
श्री किरनकुमारी गुप्ता १,०००) 'हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण'
श्री किशोरीदास वाजपेई १,०००) 'हिन्दी निरुक्त' और 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण'
श्री खुवंश ८००) 'प्रकृति और हिन्दी काव्य'
श्री गुलाबराय ८००) 'सिद्धान्त और अध्ययन'
श्री विनोदशंकर व्यास ८००) 'नक्षत्र लोक'
श्री देवीदयाल चतुर्वेदी ५००) 'प्रवाह'
श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी ५००) 'उनकी लड़ियाँ'

इतिहास—

श्री सत्यकेतु विद्यालं० १,५००) 'यूरोपका आधु० इति०'
श्री बल्देव उपाध्याय ८००) 'श्री शङ्कराचार्य'
श्री क्षेमचन्द सुमन ६००) 'नए भारत के निर्माता'
श्री नरायनप्रसाद अरोड़ा १,०००) 'कानपुर का इतिहास'
श्री बेंकटलाल ओझा ५००) 'हिन्दी समाचारपत्र सूची'
श्री रामलगन त्रिपाठी ५००) 'महाभारत प्रकाश'

राजनीति—

डा० ब्रजमोहन शर्मा १,२००) 'प्रमुख देशों की शासन प्रणालियाँ और राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त'
श्री महादेवप्रसाद शर्मा १,०००) 'राजनीति के सिद्धान्त'
श्री श्याम लाल पाण्डे ८००) 'जनतन्त्र वाद'
श्री गङ्गाप्रसाद उपाध्याय ६००) 'कम्यूनिज्म'

अर्थ शास्त्र—

श्री शङ्करसहाय सक्सैना ८००) 'भारतीय ग्राम्य अर्थ शास्त्र'

दर्शन—

श्री चन्द्रधर शर्मा १,०००) 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'
श्री आनन्द कुमार ८००) 'आत्मविकास'
श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ८००) 'नाथ सम्प्रदाय'

विज्ञान—

श्री सीताराम जयसवाल १,०००) 'शिक्षाशास्त्र'
श्री बालकृष्ण मिश्रा ८००) 'चिकित्सा विज्ञान'
श्री फुन्दनलाल ८००) 'यज्ञ चिकित्सा'
श्री रघुवीरशरण शर्मा ८००) 'भारतीय जीव विज्ञान'
श्री नजीरअहमद खाँ ५००) 'बागवानी का परिणाम'
श्री अमरनाथ विन्दल ५००) 'भारतवर्ष में उद्यानकारी'

स्फुट—

श्रीमती राजकुमारी विन्दल ५००) 'हमारी समस्यायें'

गत वर्ष के पुरस्कारों की सूची भी हम यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए प्रकट कर रहे हैं—

श्री सुमित्रानन्दन पन्त २१००) 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'
श्री माखनलाल चतुर्वेदी १५००) 'हिमतरंगिणी'
श्री अनूप शर्मा १२००) 'सर्वाणी'
श्री दिनकर १२००) 'कुरुक्षेत्र'
श्री जैनेन्द्र कुमार १०००) 'जय संधि', 'जड़की बात'
श्री पदुमलाल पन्नालाल बक्सी १०००) 'कुछ'
श्री लक्ष्मीनरायण मिश्र १०००) 'नारद की वीणा'
श्री नगेन्द्र १०००) 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता'
श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी १०००) 'धरातल और पथ चिह्न'
श्री गंगाप्रसाद पाण्डे १०००) 'महाप्राण निराला'
श्री बलदेव उपाध्याय १०००) 'भारतीय साहित्य शास्त्र'
श्री जगतसिंह सैंगर ८००) 'किसान सतसई'
श्री हरदयालसिंह ८००) 'रावण'
श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ८००) 'चरवाहे'
श्री प्रभूदयाल मीतल ८००) 'व्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद'
श्री केशरीनरायन शुक्ल ६००) 'आधुनिक काव्य-धारा का संस्कृतिक स्रोत'
श्री विजयशंकर मल्ल ५००) 'हिन्दी काव्य में प्रकृतिवाद'
श्री बचनसिंह ५००) 'क्रान्तिकारी कवि निराला'
श्री बासुदेव उपाध्याय १०००) 'भारतीय सिक्के'
श्री अनन्तसदाशिव अल्टेकर १०००) 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति'
श्री रामजी उपाध्याय १०००) 'भारत की प्राचीन संस्कृति'
श्री कन्हैयालाल वर्मा १०००) 'भारतीय राजनीति और शासन पद्धति'
श्री कृष्णदत्त भट्ट १०००) 'भारतवर्ष का आर्थिक इति०'
श्री भगवानदास केला ८००) 'मनुष्यजाति की प्रगति'
श्री देवराज १०००) 'यूरोपीय दर्शन'
श्री रामावतार ८००) 'सिद्धान्त सार'
श्रीमती सरोजनीदेवी वैद्य १२००) 'महिला जीवन'

श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार—

इस वर्ष का साहित्य-पुरस्कार श्री वृन्दावनलाल वर्मा (झाँसी) को उनकी पुस्तक 'मृगनयनी' पर एवं दर्शन-पुरस्कार श्री उदयवीर शास्त्र, (कनखल) को उनकी पुस्तक 'साँख्यदर्शन का इतिहास' पर दिया गया। इससे पूर्व गत वर्षों में निम्न पुस्तकों पर श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार वितरित किये गये—

अष्ट छाप : एक अध्ययन —डा० दीनदयाल गुप्त।
बौद्ध-दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय।
कृष्णायन—श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र।
स्वर्ण धूलि—श्री सुमित्रानन्दन पन्त।
वैदिक दर्शन—डा० फतहसिंह।
चारवाक दर्शन—डा० विद्यासागर शास्त्री।
रीति काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डा० नागेन्द्र।

आगामी वर्ष के साहित्य तथा दर्शन पुरस्कारों के लिये पुस्तकें १५ दिसम्बर १९५१ तक पुरस्कार समिति के नाम ६, मानसिंह रोड, नई दिल्ली के पते पर जानी चाहिए।

अलङ्कारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

श्री सत्येन्द्रकुमार तनेजा प्रभाकर, बी० ए० आनर्स

सम्भवतः जब से इस सृष्टि का निर्माण हुआ तभी से यह जीवधारी मनुष्य आत्मप्रदर्शन (Self-display) तथा आत्माभिव्यञ्जन (Self-expression) की ओर प्रवृत्त रहा है। प्राचीन काल से ही जब लोग वन आदि में जीवन व्यतीत करते थे तब भी वल्कल आदि से अपने को स्नेहाभिषिक्त से आत्मप्रदर्शन तथा संगीत आदि से आत्माभिव्यञ्जन करते आए हैं। इसका गहन अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि ये हमारी अलङ्कारिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

प्रत्येक मनुष्य में भाव एवं मनोवेग उठते हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष, ईर्षा, विस्मय आदि हमारे दुख अथवा सुख के कारण होते हैं। इनका हमारे लौकिक जीवन में ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक वृत्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी कारण जब कभी मन में भाव प्रस्फुटित होते हैं तो उनकी प्रतिक्रियाएँ हमारे भाव एवं मनोवेगों को उद्दीत करती हैं। परिणामस्वरूप हमारी वाणी भी जाग्रत हो जाती है और भावाभिव्यक्ति करते समय स्वभावतः हम अपने तथ्य को रोचक तथा आकर्षक बनाने के लिए अलंकारों* का आभूषण पहना देते हैं। अलङ्कार हमारे उद्वेगों को चमत्कृत रूप में व्यक्त करने का एक ढङ्ग है। इसी लिए हम किसी भावना को उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए उसके आकार या गुण दोष बढ़ा देते हैं, किसी की सुन्दरता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उसके समान धर्म एवं कर्म वाली (कमल चन्द्रमा, खञ्जन आदि) चीजों से तुलना कर देते हैं। कभी किसी चीज को बढ़ाचढ़ाकर, कभी घुमा-फिरा कर, आदि कह डालते हैं। सारांश यह कि भावावेश के कारण मनुष्य उक्ति को चमत्कृत करता है तभी तो एक विद्वान् लेखक ने कहा कि:—

"The More emotions grew upon a man the more his speech abounds a figure. Feelings swamp ideas and language is used to express not reality of things but the state of one's emotions."

जैसे कि तुलसी जी ने एक स्थान पर वर्णन करते हुए कहा है कि रावण की मूँछ डेढ़ कोस लम्बी थी। स्पष्ट ही है कि यह अत्युक्ति है परन्तु इससे उनके भावावेग प्रदर्शित होते हैं और प्रतीत होता है कि रावण डील-डौल शरीर वाला था! वास्तव में कला ही वही है जहाँ बढ़ाव-चढ़ाव हों। तभी तो गुप्त जी कहते हैं:—

> हो रहा जो जहाँ सो हो रहा,
> यदि वही कहा तो क्या कहा,
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
> व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

अलङ्कार तो कविता का अनिवार्य्य अङ्ग नहीं है। अलङ्कारों के द्वारा तो एक कथन को भावोत्कर्ष एवं प्रभावपूर्ण बनाया जाता है! इसीलिए "हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते हैं—बात को बढ़ा-चढ़ाकर उस के मन का विस्तार करते हैं। बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन...... कर उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं—बात को घुमा फिरा कर वक्रता के साथ कह कर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं—बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं।" प्रसादजी ने भी इस तथ्य पर आस्था प्रदर्शित की है, और कहा है

* "यहाँ पर अलङ्कार शब्द का प्रयोग साहित्यिक दृष्टि से किया है।"

"अनुभूति की तीव्रता, तन्मयता, और आनन्द की मात्रा के अनुसार ही कथन का सौष्ठव होता है। अतः भाव में सामञ्जस्य स्थापित करना ही अलंकारों का ध्येय होना चाहिए।"

स्वभावतः प्रश्न उठता है, कि अलंकार कृत्रिम क्यों प्रतीत होते हैं – क्यों हमारे मन में ये धारणा प्रथम-स्थान पाती है कि अलंकार नगीनों की भांति जड़े जाते हैं ? इसके सम्भवतः दो कारण बताये जा सकते हैं। (१) रीति ग्रन्थों में अलङ्कारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ, जिससे कवि लोग इस चीज से अपरिचित हैं। (२) कई एक कवियों द्वारा अलंकारों का दुरुपयोग किया गया है। केशव की भाँति जो इन्हें चमत्कारोत्पादन मात्र ही मानते हैं, और कहते हैं कि:—

"भूषण बिन न विराजहिं,
कविता बनिता मित"

अलंकारों के अस्वाभाविक प्रयोग का वर्णन करते हुए कविवर पंत विचार प्रकट करते हैं— "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक एवं हाव-भाव हैं। जहाँ पर ये साधन न रह कर साध्य बन जाते हैं—वहाँ पर, अराजकता फैल जाती है, और कविता अलंकारों से बोझिल हो भावहीन होकर स्वाभाविक सौन्दर्य खो देती है।"

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उनको तीन मानसिक प्रतिक्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(१) सादृश्य-मूलक:—ये अलङ्कार बड़े महत्वपूर्ण एवं भिन्नता ज्ञान (Differenciating Power) के उत्पादक हैं। मनुष्य समानान्तर भेद द्वारा अपने मनोवेगों का परिशीलन करता है। एक अधम कार्य करने वाले को एक सामान्य शब्द न कह कर 'महामूर्ख' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार सुन्दरता का वर्णन कर हम कह उठते हैं, "चाँद का टुकड़ा" अथवा 'चाँद सा मुखड़ा"। यही कारण है कि काव्य में भी जहाँ कहीं कवि बहुत उपमाएँ आदि प्रस्तुत करता है, तो तात्पर्य स्पष्ट है कि लेखक अपने भावों से प्रभावित होकर अपनी अतृप्त वासना को पूरा करना चाहता है। कामायनी में प्रसादजी कहते हैं—

'नील-परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अध खुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।"

इस विभाग में ये अलङ्कार हैं (१) संदेहालङ्कार— इसमें सादृश्य का वर्णन तो नहीं होता, परन्तु संदेह होता सादृश्य के कारण ही है। (२) उपमा में हम सादृश्य की स्थिति में आगे बढ़ते हैं और समान आदि शब्दों द्वारा सामान्य स्थापित करते हैं। (३) उत्प्रेक्षा में सादृश्य की भावना और भी विकसित होती है और उपमेय तथा उपमान की एक होने की संभावना होती है। (४) रूपक में उपमेय तथा उपमान सामान्य हो जाते हैं। (५) अपन्हुति में सादृश्य भावना इतनी होती है, कि उपमेय का निषेध प्रतीत सा होता है। (६) रूपकातिशयोक्ति में पूर्णतया उपमेय का निषेध करते हैं और केवल उपमान का वर्णन करते हैं। वास्तव में ये सब उत्तरोत्तर स्थिति में हमारे मानसिक विचारों की भाँति विकसित होते हैं।

(२) विरोध की पद्धति—यह प्रवृत्ति भी हमारे मन के विचारों की भांति है। यह विरोध मर्यादा आदि की अवहेलना न करता हुआ वास्तविक रूप में भ्रम वश रह जाता है। जैसे विरोधाभास "देखो दो दो मेघ बरसते मैं प्यासी की प्यासी" तथा विशेषोक्ति—

'काम पावक तूलमय तन, विरह स्वांस समीर।
भसम नाहिंन होन पावत, लोचनन के नीर।'

इसमें विषय आदि भी अलङ्कार हैं। काव्य मर्मज्ञ ऐसा सन्देह करते हैं कि इन अलंकारों द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की अधिक सम्भावना है परन्तु इनका भी मनोवैज्ञानिक आधार है—

(i) वैचित्र्य द्वारा ध्यानाकर्षण।

(ii) तुलना करने से साधारण एवं असाधारण के बोध से काव्य में उत्कृष्टता।

(iii) विरोध भी यहाँ वर्णन के अन्तर्गत रहता है। वास्तविकता का उल्लंघन करके अस्वाभाविक नहीं होता।

(३) भाव सहचर्य—यह भी एक मानसिक क्रिया है कि किसी वस्तु को देख कर अपनी वस्तु का स्मरण आ जाना—एक सहज प्रवृत्ति है। किसी के पैसे गिरने पर स्वभावतः हमारा हाथ अपनी जेब में चला जाता है। इस वर्ग में अप्रस्तुत प्रशंसा, स्मरण-समासोक्ति आदि अलंकार हैं।

इस प्रकार उपरिलिखित वर्गीकरण को विचाराधीन करते हुए यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि अलंकारों का विकास मनोविज्ञान से ही है। कविगण भी अपने तथ्य का इतना चित्रण नहीं करना चाहते जितने कि वे अपने मनोभावों का वर्णन करना चाहते हैं। इसी भावावेश के कारण व्याकरण भाषा आदि की भूलें कर जाते हैं। अलङ्कार कोई वर्ण्य एवं साध्य वस्तु नहीं—यह तो व्यक्त करने की एक प्रणाली है। इसका कुछ उत्तरदायित्व कवियों पर भी है। 'जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलङ्कारों से सुसज्जित होने पर भी सुन्दरता को नहीं प्राप्त करती उसी प्रकार काव्य में वस्तुतथ्य की रमणीयता के अभाव से अलङ्कारों के ढेर लगाने पर भी काव्य में सजीवता एवं मार्मिकता नहीं आ सकती।' सबको इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए कि अलङ्कार भावानुकूल एवं रसोत्पादक हों—काव्य के रूप को विकृत न करने वाले हों। हिन्दी साहित्य में अलङ्कारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव है और इसकी आवश्यकता आज के स्वभावोक्ति (यथार्थवादी) युग में परम है।

(पृष्ठ ३६२ का शेष

था। इस प्रकार उक्त कथन असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

'मीरां चित्तौड़ छोड़कर जब वृन्दावन गईं, उसके बाद उदयपुर की नींव पड़ी।'.....'चित्तौड़ छोड़ा १५४० ई० (सं० १५६७) के वनवीर-विद्रोह के पहले। ×. वे पहले भाई जयमल + के पास मेड़ते आईं। अधिक सम्भव है, वे सं० १५८८ में चित्तौड़ त्यागकर मेड़ते आईं जहाँ ३ वर्षों तक रहकर सं० १५६२ में वृन्दावन के लिए प्रस्थान किया; वहाँ सं० १५६४ के आस-पास तीर्थ-यात्रा में जीव गोस्वामी के दर्शन किये तथा १६०० सं० के लगभग द्वारिकापुरी गईं जहाँ श्री रणछोड़जी के प्रेम में मग्न हो गईं।

× पारिजात, अङ्क ५, पृ० ४५

+ जयमल का मीरां का भाई होना विवादास्पद है; किन्तु इतना अवश्य है कि मीरां का बचपन उसके साथ बीता। दयाराम नामक गुजराती कवि ने 'मीरा चरित्र' में 'जयमल राठोड़नी दीकरे रे' ऐसा कहा है। अबुल-फज्ल कृत 'आईन-इ-अकबरी' में केवल अकबर द्वारा जयमल मारे जाने का संकेत है।

वर्तमान हिन्दी साहित्य का स्तर

श्री चन्द्रमा प्रसाद खरे

अनुभूति का सामाजिक रूप—

साहित्य भावों की अभिव्यक्ति है। अनुभूति का प्रकटीकरण ही अभिव्यक्ति है। विचार वातावरण से प्रभावित होते हैं, उनका प्रयोजन होता है, उनका प्रभाव भी पड़ता है पर यह सच नहीं है कि अभिव्यक्ति के समय कलाकार के समक्ष प्रचार का उद्देश्य रहता है। किसी विचार को स्पष्ट करना जीवन के किसी मार्मिक-पक्ष का उद्घाटन या किसी प्रभावपूर्ण वस्तु का वर्णन करना ही उसके अन्तर में कार्य करता है। अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से अनुभूति का सामाजिक रूप है यह सर्वथा मान्य है पर प्रचार-भावना का आरोप करना एक प्रकार से आग्रहपूर्ण है। विचारों के साथ उनका प्रचार होना अत्यन्त आवश्यक है। पर राजनीति और साहित्य के इस प्रचार में भावना का अन्तर है, जिसको समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। अभिव्यक्ति के समय कलाकार का मस्तिष्क भावों के प्रवाह से प्रभावित रहता है। अनुभूति की गहनता एवं विषय की तन्मयता के कारण विचारों को प्रकट करते समय उसमें यह भावना नहीं रहती कि विचारों को प्रकट करने के बाद क्या परिणाम होगा, उनका कैसे प्रचार हो सकेगा, प्रचार का क्या परिणाम होगा, आदि। अभिव्यक्ति के इस सामाजिक रूप के लिए रहस्यवादी, छायावादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी आदि अनेकों रूपों में शैलियाँ व्यक्त हुई हैं। इनमें जो वैभिन्य है वह प्रायः हमारी चर्चा का विषय रहता है। पर इसके अन्तर में है सौन्दर्य दर्शन की भावना। साहित्य के अन्तरतम में यही भाव काम करता है। परन्तु यदि सौन्दर्य का अर्थ, अथवा उसका व्यापक सम्बन्ध प्रभाव से मान लिया जाय तो फिर किसी भी प्रकार का वर्गीकरण निरर्थक सिद्ध हो जाता है। प्रभाव से चेतना जाग्रत होती है, विवेक का उदय होता है और प्रभाव ही अभिव्यक्ति की प्रेरणा है। सौन्दर्य इसी दृष्टि से साहित्य का व्यापक विषय रहा है। पर एक बात ध्यान में रखने की है। सौन्दर्य के साथ हमारी भावुकता और दृष्टि का चुनाव हो सकता है, पर सौन्दर्य पदार्थ का गुण है। अतः यह विचार उपस्थित होता है कि पदार्थ का वर्णन होना चाहिए। यह विशुद्ध यथार्थवादी दलील है। पर पदार्थ के जिस गुण से हम आकर्षित होते हैं, वस्तु का जो पक्ष हमारे आकर्षण का विषय बनता है वही स्वयं वस्तु का रूप बनकर अभिव्यक्ति में आता है। साधारण वस्तु भी, यदि वह प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ है, यदि उसके द्वारा सम्यक् रूप से भावों की अभिव्यक्ति होती है, तो वह साहित्य का विषय बन सकती है। अन्त में हम कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति अनुभूति का सामाजिक रूप है। अन्त में विचारों का प्रचार ही होता है पर साहित्य में आकृष्ट करने की चेष्टा से प्रचार (राजनीतिक प्रचार ?) की भावना नहीं होती; उसमें मत विशेष के विज्ञापन को, मताग्रह को स्थान नहीं मिल सकता क्योंकि उसका प्रचार विवेक के स्थान पर उत्तेजना जाग्रत करेगा।

प्रचार का स्वरूप और साहित्यिक स्तर—

ऊपर हमने प्रभाव की बात चलाई है। प्रभाव का सम्बन्ध विचारों के प्रकटीकरण से है। विचारों का प्रकटीकरण मनुष्य का ज्ञान, उसकी परिस्थितियाँ एवं उसकी भावुकता पर निर्भर रहता है। विचारों

को समझने और उनको ग्रहण करने के लिए भी उपरोक्त क्षमताओं की आवश्यकता है । तटस्थ होकर वर्तमान साहित्य पर दृष्टि डालिए। देखिए, आज का साहित्य किस वर्ग का है ? हम कहते हैं, कि साहित्य वर्ग—श्रेणी की भावना से बहुत दूर है। पर क्या यह सत्य है ? हम देखते हैं कि सारा साहित्य स्कूलों-कालेजों विद्वानों लेखकों तक ही सीमित है। वह केवल बुद्धिजीवियों का ही विषय बना हुआ है। हमारा साहित्य का कितना प्रचार है। उसका क्षेत्र कितना विस्तृत एवं व्यापक है, इस पर विचार करते ही बात स्पष्ट हो जावेगी। पुस्तकें बहुत से बहुत छपतीं हैं तो एक हजार और उसका भी वर्षों तक प्रथम संस्करण समाप्त नहीं होता। विदेशों में हजारों क्या लाखों प्रतियाँ हाथों हाथ बिक जाती हैं। साहित्य के सामने, आलोचना के सामने समाज का विस्तृत क्षेत्र है पर साहित्यिक रुचि उत्पन्न करने तथा रुचि-परिष्करण की ओर कौन प्रयत्न करता है ? हमारे समाज का क्या साहित्यिक स्तर है ? उसकी कैसी साहित्यिक माँग है ? उसकी पूर्ति किस प्रकार हो रही है ? इसको हम कभी सोचते भी नहीं। हमारा मध्यवर्ग तथा किसान-मजदूर-समाज सदैव हमारी वार्ता का विषय रहा है, पर क्या हमने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि उनकी कौन-कौन सी मानसिक आवश्यकताएं हैं, उनके उन्नयन के लिए कैसे साहित्य की आवश्यकता है ? हमारे साहित्य तर्क-वितर्क का, सम्पूर्ण वाद-विवाद का, सारी आलोचनाओं का, हमारे लिखे गए साहित्य का क्षेत्र क्या है ?—क्या हमने कभी इस पर विचार किया है ? आज मैं माघ मेला में सैकड़ों हजारों नर-मुण्डों को दूर से देख रहा हूँ और देख रहा हूँ, अपने साहित्य को, अपने साहित्यिक दृष्टिकोण को, अपनी साहित्य-सेवा के उत्साह को ! ऐसा लग रहा है, कि इतने वर्षों की पराधीनता ने जनता की मानसिक चेतना को मृतप्राय ही कर दिया है। उनकी कल्पना परास्त मनोवृत्ति की कल्पना है। उनके कार्य, व्यवहार एवं विचार देखिए। जनता के साहित्य पर विचार करते समय मुझे एक बहुत बड़ी कमी का अनुभव हो रहा है। बौद्धिक जीवों की सहानुभूति के बारे में सोचना मैं अपनी ही हालत पर तरस खाना समझता हूँ। किसान-मजदूरों को छोड़ दीजिए, एक शिक्षित मध्यवर्गीय को ले लीजिए—'आएगा''' आएगा आने वाला' गाता हुआ मिलेगा, उसमें उसकी परास्त मनोवृत्ति तन्मयता का अनुभव करती है, उसमें वह आनन्द एवं स्फूर्ति का अनुभव करता है। आप अनुमान लगा सकते हैं कि आज के एक साधारण व्यक्ति में भाव-ग्रहण करने की कितनी शक्ति है। विचार ग्रहण करने के स्थान पर लय, गति, छन्द तथा प्रवाह की ओर जो आकर्षण है उसे साहित्यिक दृष्टि से बिल्कुल स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। अब भाव-पक्ष छोड़कर उनका सामाजिक-पक्ष देखिए। पार्टी या किसी दल विशेष का कितनी शीघ्र प्रभाव पड़ जाता है। कोई भी साम्यवादी, समाजवादी या गान्धीवादी, उसमें 'वाद' का आग्रह अवश्य होना चाहिए, चला आए और अपने पक्ष में मत ले ले। हम एक गम्भीर मानसिक परतन्त्रता में हैं। इसी कारण स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति का ह्रास ही हो गया है। आप अपनी ही बात सोचिए। कितनी पुस्तकें पढ़ते हैं, कितनी आलोचनाएँ पढ़ते हैं और करते हैं पर क्या आपका कोई स्थिर मत है ? हमारे पास अपना कुछ भी नहीं। वादों की हवा चली, मतों का आग्रह चला, जरा जोरदार बात हुई और भूल गए, अपनी स्थिति का, अपने व्यक्तित्व का अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का कुछ भी ध्यान नहीं। विशुद्ध साहित्यिक भाव से रस की, मानसिक आनन्द की सृष्टि में व्यस्त रहते हैं, प्रगति के नाम पर बहस करके साहित्य का रूप निश्चित करते हैं, आदर्श साहित्य-सृजन का स्वप्न देखते हैं पर किस रोगी को कौन सा रस और वह भी किस प्रकार दिया जा रहा है, इसका किसको ध्यान ? यह है हमारा स्तर।

साहित्य-सृजन की धारा—

ऊपर हमने हिन्दी भाषा-भाषी समाज की मानसिक स्थिति और उसकी आवश्यकताओं का उल्लेख किया है। हमने यह भी बतलाया है कि उसे या तो परिस्थितियों से परास्त मनोवृत्ति की कल्पना ग्राह्य हो सकती है या (राजनीतिक) प्रचार की दृष्टि से लिखा गया साहित्य। प्रचार और प्रभाव की दृष्टि से हम ये दोनों बातें देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण कभी सफल नहीं हो सकता। यथार्थ-चित्रण से हम रुचि-परिष्करण में योग नहीं दे सकते। साहित्य को 'शिवेतरक्षतये' से भी अधिक 'व्यवहार विदे' होना है तभी वह मानसिक जागरण के कार्य में सफल हो सकेगा। अरस्तू ने जीवनगत दो शक्तियों का उल्लेख किया है पहली वह जो जीवन को सम्भव बनाती है दूसरी वह जो जीवन को श्रेष्ठतर बनाती है। साहित्य का सम्बन्ध दूसरी शक्ति से है क्योंकि वह जीवन के उन्नयन में योग देता है। प्रथम प्रकार से मानसिक पारतन्त्र्य और शैथिल्य को दूर नहीं किया जा सकता। दूसरी शक्ति के ही आधार पर हम जीवन को सम्भव बना सकते हैं। इसी आधार पर साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, हाँ वह उसका उन्नायक तो है ही। यदि हम शुद्ध यथार्थवादी पक्ष को लेकर साहित्य का—विचारों का प्रचार करने लगें और जाग्रति फैलाने की चेष्टा करें, तो प्रभाव डालने में अवश्य सफल होंगे पर समाज की वर्तमान मानसिक स्थित संतुलित न हो सकेगी। वह तुष्टि के स्थान आग्रह का अधिक अनुभव करेगी। प्रचार का साहित्य में अर्थ शुद्ध भाव-ग्रहण से है। अतः वर्तमान स्थिति में प्रचार का प्रभाव होना चाहिए मानसिक जाग्रति और विचार ग्रहण की क्षमता। इस ओर हमारा ध्यान जाना अत्यन्त आवश्यक है।

दृष्टिकोण का अन्तर—

समाज हमारे चिन्तन-मनन का विषय है। हमने अब तक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र का अनेकों दृष्टिकोणों से अध्ययन किया है। पर हमें अपनी चिन्तनधारा की ओर भी थोड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रगतिवाद के प्रभाव से और वातावरण के प्रभाव से भी, हमारे विचार साम्यवादी हो गये हैं। साहित्यिक को साम्य की ओर ही बढ़ना है पर कार्य की शुभता और उसकी सफलता हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है। अब देखिये साम्यवादी विचार-धारा क्या है? जगत का मूलाधार भौतिक पदार्थ है, इसी प्रकार समाज का मूल आधार आर्थिक व्यवस्था है। यह सच है और मान्य हो सकता है। पर आर्थिक मूलाधार के आग्रह पर यह मानना कि राजनीति धर्मनीति और यहाँ तक कि साहित्य का परिचालन आर्थिक आधार पर होता है, श्रेयस्कर नहीं। यद्यपि यह आंशिक रूप से सत्य हो सकता है फिर भी ग्राह्य नहीं क्योंकि अर्थ अथवा भौतिक दृष्टिकोण के समक्ष भावनाओं का स्थान गौण हो जाता है, जिसको कोई भी विचारशील व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। समाज के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है उसके प्रति भी यही बात कहनी है। हमारी विचार-धारा का आधार यही है कि समाज के वर्तमान वैषम्य तथा दुःख क्लेश का कारण आर्थिक व्यवस्था की विषमता है। यह सत्य है और पूर्ण सत्य है। पर यदि हम समाज का निकट से अध्ययन करें तो यह सत्य नहीं रह जाता। आर्थिक वैषम्य को समाज के मानसिक पतन का कारण नहीं माना जा सकता और न इस आधार पर इस दौर्बल्य को दूर ही किया जा सकता है। यहाँ हम कविवर पंत के शब्दों में कह सकते हैं—'वाह्य नहीं आन्तरिक साम्य !' वाह्य विषमताओं को दूर करने की अपेक्षा मानसिक वैषम्य को दूर करना अधिक आवश्यक है।

क्या मीराँ वृन्दावन गई थीं ?

श्री जयन्त विद्यालङ्कार

मीरां ने वृन्दावन-यात्रा की थी जिसकी पुष्टि जन श्रुति और ऐतिहासिक प्रमाणों से होती है। कृष्ण-भक्ति की जो स्रोतस्विनी वंग प्रदेश में प्रवाहित हुई, वह यद्यपि काल-क्रम से लुप्त प्राय हो गई थी, पुनः समय पाकर वृन्दावन के करील-कुञ्जों और अमराइयों में उमड़ पड़ी। एक ओर जहाँ रूप और सनातन गोस्वामी ने अपनी विगलित, स्नेहार्द्र और उच्छ्वसित वाणी द्वारा भक्ति का प्रचार किया, तो दूसरी ओर मीरां ने राजस्थान के मरुस्थल में प्रेम की सरस्वती बहा दी।

सम्भवतः वैधव्य के उपरान्त ही मीरां ने तीर्थाटन किया होगा। इनका विवाह सं० १५७३ में कुँवर भोजराज के साथ हुआ। किंचित् प्रमाणों के आधार पर ओझाजी इनके पति का मृत्यु-काल सं० १५७५—८० के बीच मानते हैं।* अनेक विद्वान् उनका देहावसान विवाह के १० वर्षों के भीतर हुआ मानते हैं।× परन्तु ये विवाह के दो-तीन साल के बाद ही विधवा बनीं जिसका उल्लेख रामदान लालस ने 'भीम-प्रकाश' में किया है—

'भोजराज जेठी अभङ्ग, कुँवरपणे भ्रठ कीध।
मेड़तणी मीरां मह्क, प्रेमी भगत प्रसीध ॥'

मिश्रबन्धुओं के अनुसार एकबार भोजराज ने सन्यासियों की भाँति गेरुआ वस्त्र धारण कर मीरां बाई से भिक्षा मांगी। मीरां उस समय वृन्दावन के किसी मन्दिर में थीं। उनके आग्रह से पुनः चित्तौर वापस आ गईं।[१] यदि यह कथन सत्य हो तो अवश्य ही मीरां का संघर्ष पति की जीवितावस्था में ही आरम्भ हो गया था—

'थे तो राणाजी म्हांने इसड़ा लागो,
ज्यूँ वृच्छन में केर।
× × ×
थे जावो राणा घर आपणें,
तेरी मेरी नहीं सरी।'

और इन्होंने लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर साधु-सन्त की सेवा की थी, तथा वृन्दावन के तीर्थों को पवित्र किया था। इसका साक्ष्य ध्रुवदास की निम्नाङ्कित पंक्तियों से मिलता है—

'ललिता हू लइ बोलि कै,
तासों हो अति हेत।
आनँद सों निरखत फिरैं,
वृंदावन रस खेत ॥८६॥'

—भक्त नामावली

ध्रुवदास का रचना काल सं० १६६० से १७०० तक माना जा सकता है। अतः इस समय तक मीरां का कृष्ण-प्रेम विख्यात हो गया था और उनके वृन्दावन जाने का वृत्तान्त भी यथेष्ट प्रसिद्ध हो चुका होगा।

वास्तव में जब ये 'कुमारी' थीं तभी भोजराज का निधन हो चुका था और इनके पति के संबंधियों ने साधुओं की भीड़ जमते देख लोकापवाद के भय से इन्हें मरवाने की कोशिश की जिस पर ये वृन्दावन और अन्त में द्वारका चली गईं। इन्हें वापस लाने को ब्राह्मण भेजे गये; पर वहीं इनका अन्त होगया।[२]

यह कथन संदिग्ध जान पड़ता है, क्योंकि वैधव्य के बाद मीरां को वीरमदेव मेड़ते ले आये।

* राजपूताने का इतिहास, भाग २, पृ० ६७१

× रामनरेश त्रिपाठी: कविता-कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १२१।

१ मिश्रबन्धु-विनोद भाग १ पृ० २६८।

२ वही, पृ० ३००-१।

जब जोधपुर के राव मालदेव ने मेड़ता छीन लिया, मीराँ द्वारका चली गईं (सं० १५६२) [1] जहाँ उनकी मृत्यु हुई।

इनके ससुराल वाले शाक्त थे, जिन्होंने इनकी वैष्णवता का घोर विरोध किया। [2] यही उपयुक्त भी प्रतीत होता है। मीराँ के आचरण से क्षुब्ध होकर (राणा) विक्रमादित्य ने इन्हें मरवाना चाहा था।

'बंधुनि विष ताकों दियौ,
करि विचार चित आन।
सों बिष फिरि अमृत भयौ,
तब लागे पछितान ॥६१॥' भक्त०

स्वयं मीराँ ने भी इसे स्वीकार किया है :—

'राणा विष को प्याला भेज्यो, पीय मगन होई।'

वह रत्नसिंह के बाद सं० १५८८ में गद्दी पर बैठा। इसलिए इसके बाद ही यह घटना हुई होगी ? तथा मीराँ ने चित्तौड़ छोड़ा होगा।

प्रसिद्ध है कि मीराँ जीव गोस्वामी से वृन्दावन में मिली थीं। प्रेम-विलास में वर्णित वृत्त के अनुसार जिस समय रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी की मृत्यु हुई, जीव गोस्वामी वयस्क हो चुके थे। वे उस समय तक ८० वर्ष से कम अवस्था के नहीं हो सकते। अतएव उनका जन्म १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। गोस्वामी बन्धुओं की मृत्यु सं० १६४८ [3] (१५६१ ई०) में हुई।

इस प्रकार जीव गोस्वामी का जन्म सं० १५६८ (१५११ ई०) के लगभग हुआ प्रतीत होता है। चैतन्य महाप्रभु का तिरोभाव सं० १५९० (१५३३ ई०) [1] में ४५ वर्ष की आयु में हुआ; जीव इस काल तक निरे बालक थे। वे २० वर्ष से अधिक के नहीं हो सकते। अनुमानतः उनका जन्म सं० १५७० (१५१३ ई०) के पीछे नहीं हुआ होगा। २० वर्ष की युवावस्था में ही जीव ने विश्व का त्याग किया और सन्यासी हो गये। वे नदिया (नवद्वीप) और फिर बनारस गये जहाँ कुछ वर्षों तक उपनिषद् का अध्ययन कर उसमें पारंगत हो गये। काल क्रम से प्रकाण्ड पण्डित एवं मनीषी के रूप में उनकी ख्याति हुई। तब वे वृन्दावन चले आये जहाँ गोस्वामीजी से उन्हें भक्ति-शास्त्र की दीक्षा मिली। [2] यदि उनके नदिया और तब बनारस जाकर विद्याध्ययन करने के समय की अवधि ६ वर्ष ठहराई जाय—इससे कम संभव भी नहीं है—तो वे वृन्दावन सं० १५६४ (१५३७ ई०) के पहले आये नहीं होंगे। मीराँ उनसे वहीं संभवतः सं० १५६४ और १६०१ के बीच मिली होंगी। (आखिरी दिन द्वारकापुरी में बिताये थे जो सर्व-विदित है।)

कहा जाता है, कि बादशाह अकबर भी तानसेन के साथ इनसे मिला था। वह इन गोस्वामियों के—रूप, सनातन और जीव—दर्शनार्थ वृन्दावन सं० १६३० (१५७३ ई०) [3] में आया था, किन्तु निश्चित साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट है, कि मीराँबाई का निधन इसके बहुत पूर्व ही सं० १६०३* में हो चुका

(शेष पृष्ठ ३८७ पर)

१—हरविलास सारदा : अजमेर, पृ० १५७,

२—भक्त नामावली, पृ० ६५ (नोट) ना० प्र० सभा,

३—वैष्णव लिट्रेचर अव बङ्गाल (दिनेशचन्द्र सेन), पृ० ३६।

१—लिट्रेचर अव बङ्गाल बाई आर० सी० दत्त, पृ० ७५।

२—वैष्णव लिट्रेचर अव बंगाल, पृ० ४२,

३— „ „ „ „ पृ० ४८।

* राजपूताने का इतिहास, भाग २, पृ० ६७२ हरविलास सारदा : महाराणा साँगा, पृ० ६६। मुन्शी देवीप्रसाद : मीराबाई का जीवन-चरित्र, पृ० २८। चतुर्कुल-चरित्र, भाग १, पृष्ठ ८०

प्रेमचन्द : एक समीक्षा

श्री श्याम परमार

प्रेमचन्द का निधन हुए चौदह वर्ष होगए, इस बीच जो कथा-साहित्य हिन्दी में तैयार हुआ, यदि उस पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाये तो ज्ञात होगा कि प्रेमचन्द के अभाव की पूर्ति करने वाला दूसरा व्यक्ति नहीं हुआ। यह एक बहुत बड़ी बात है कि एक ओर १४ वर्ष का कथा-साहित्य और दूसरी ओर अकेले प्रेमचन्द। इसमें सन्देह नहीं कि विधान, अभिव्यक्ति और प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य में बहुत प्रगति हुई, पर इन सबसे ऊपर उठकर प्रेमचन्द की ऊँचाई को छूने वाला कलाकार दृष्टि में नहीं आता, जिसकी पैनी दृष्टि समाज के अन्तर में घुस कर उसमें निहित कुत्सित स्वार्थ, अन्ध विश्वास और उसको जर्जर बनाने वाले शोषण के कीटाणुओं के व्यूह को पहचान समग्रता-पूर्वक उनका चित्रण कर चोंट कर सके।

प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यिकों की वृत्तियों और युग की हलचलों का अध्ययन किया था। वे स्वयं उस युग के विचारों में व्यक्तिवाद और जीवन से दूर कल्पना की उड़ानों को थोथी वस्तु समझते थे। इस बात को लक्ष्य में रख कर हम प्रेमचन्द के शब्दों में पायेंगे कि 'जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रङ्ग चढ़ा हो और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता से भरा हो और शृङ्गारिक भावों का प्रतिबिंब बना हो, तो समझ लीजिए कि वह जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है।' यहाँ जाति शब्द संकुचित अर्थ में न लिया जाय।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक मेथ्यू आरनल्ड ने कविता की व्याख्या में सम्पूर्ण जीवन को समेट लेने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि कविता जीवन की आलोचना है। पर 'जीवन की आलोचना' कविता तक ही सीमित नहीं। प्रेमचन्द की दृष्टि में वह सम्पूर्ण साहित्य पर लागू होती है। इसलिए आज से करीब २० वर्ष पूर्व प्रेमचन्द ने जाना कि साहित्य में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। उस समय वे स्वयं जो लिख रहे थे वह तात्कालीन साहित्य-परम्परा से बिलकुल भिन्न था। उनकी मूल वृत्तियाँ साहित्य के जीवन सम्बन्धी उद्देश्यों के अनुकूल गतिशील थीं; उनके साहित्य में उनके समय का स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। अतः उस समय प्रेमचन्द का साहित्य में आना ही एक विशेष परिवर्तन का संकेत था। हम देखते हैं कि उनके साहित्य में सच और झूठ आपस में टकराते हैं, क्योंकि परिवर्तन के फूल पर उनका निर्माण हुआ है। किसी विशेष सत्य (जो कि होना चाहिए) की खोज उनमें बराबर मिलती है।

सब से बड़ी खूबी जो प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है—वह है ईमानदारी—अपने और समाज के प्रति। यह ईमानदारी प्रेमचन्द में थी। इसीलिए उनके विचारों में एक क्रमिक विकास नजर आता है। 'सेवासदन' का प्रेमचन्द 'गोदान' में कुछ और हो जाता है। उसका दृष्टिकोण समय के घात-प्रतिघातों से क्रान्तिमुखी होता जाता है। 'यथार्थोन्मुख-आदर्शवाद' का कुछ अजीब सम्मिश्रण अथवा सुधार और आमूल परिवर्तन की भावना का बेमेल समझौता, कुछ इसीलिए उनमें हम पाते हैं।

प्रेमचन्द पर उनकी कला हावी न हो सकी। इसलिए जहाँ सिद्धान्तों का प्रश्न आता है, वहाँ प्रेमचन्द का कलाकार उनकी रक्षा में अपना सर झुका लेता है। वह एक जागरूक लेखक थे। अनुभव उनके तीखे और गहरे थे। 'रंगभूमि' में उन्होंने अनेक गुत्थियाँ उपस्थित कीं। क्या वह एक कलाकार का

साहस नहीं ? और ऐसा साहस प्रायः एक ईमानदार कलाकार कभी अवश्य करता है। कला का उन पर हावी न होने का एक कारण उनका उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी है। कभी-कभी उनका दृष्टिकोण बौद्धिक धरातल पर आकर रचनाओं में वैचारिक बोझिलता उपस्थित करता प्रतीत होता है। निबन्ध-लेखन की ओर उन्मुख न होने का सम्भवतः यह भी एक कारण है, ताकि वे अधिक स्पष्ट रीति से अपने विचार रख सके।

प्रेमचन्द समाज के आर्थिक और धार्मिक पहलुओं के प्रति विद्रोही थे। इसलिए वे कला को जीवन से अलग मानने को तैयार न थे। वे मानते थे, कि कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति को पुष्ट करना है, किन्तु उस पुष्टि-कार्य में उपयोगिता की स्थिति अनिवार्य है।

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचनाओं में जीवन के कठोर अनुभवों के बावजूद एक आशामयी ताजगी और भावुकता है। 'सेवा-सदन' को ही लीजिए, उसमें प्रेमचन्द के आदर्शों की अच्छी अभिव्यक्ति है। हम उनके उपयोगितावादी दृष्टिकोण से प्रारम्भ ही में परिचित हो जाते हैं।

अपने आदर्शों का प्रतिपादन करने में प्रेमचन्द की कृतियों में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आगई है। 'निर्मला', 'वरदान', और 'प्रतिज्ञा' की अस्वाभाविकता तो स्पष्ट ही है। पर 'कर्म-भूमि' में सहसा यथार्थवादी रङ्ग गहरा हो जाता है। 'गोदान' में यह यथार्थवाद किसी गहरी निराशा की छाया से भर जाता है। यह लेखक की अपनी निराशा नहीं है। क्योंकि वह होरी के रूप में, लाख नैराश्य पूर्ण परिस्थितियों के होते हुए भी, जीवन की ज्योति जलाये रखने का प्रयत्न करता है। युगों के शोषण से पीड़ित होकर भी, अन्तर का मानव जैसे छटपटाकर भी अपनी जीवन की चेतना को बनाये रखते हुए दीखता है। और यही आशा का क्षीण आलोक भविष्य के लिए संकेत बन जाता है।

प्रेमचन्द के पात्र अकर्मण्य नहीं हैं। उनमें गति और जीवन है। शायद इसीलिए प्रेमचन्द के उच्च-वर्ग के पात्र जो प्रायः आलसी और निकम्मे हैं, के चित्रण में सफलता नहीं मिली। जहाँ उन्होंने जीवन में गति देखी अथवा गतिशीलता का आभास पाया, उसी के चित्रण में उनकी लेखनी ने चमत्कार उत्पन्न कर दिया।

प्रेमचन्द ने व्यक्तिवादी पात्रों की सृष्टि नहीं की। शरच्चन्द्र की तरह उनके पात्र समाज की इकाई बनकर अलग नहीं खड़े होते। उनकी मनोदशा का विश्लेषण समष्टि से सम्बन्धित होकर ही निर्धारित होता है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के शब्दों में, "जब मनुष्य अपना व्यक्तित्व खोकर समूह का, भीड़ का एक छोटा सा अङ्ग बन जाता है, तब प्रेमचन्द का क्षेत्र शुरू होता है।" इसीलिए प्रेमचन्द के पात्र मामूली आदमी हैं। उनमें होरी, बलराज, मनोहर, सलोनी, कादिर, सूरदास, जैसे पात्र हैं, जो सब कुछ खोकर भी हार नहीं मानते।

समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त शोषक शोषित के संघर्ष से प्रेमचन्द परिचित थे। यह बात निर्विवाद रूप से मान्य है कि वे 'गोदान' तक आकर निश्चय-पूर्वक समाज का कोई हल प्रस्तुत न कर सके। यद्यपि उनकी रचनाओं में भूखे, नंगे, गाँव के पीड़ित, जर्जर, श्रमिक, शोषण करने वाली जोकों और समाज की दुरवस्था का चित्रण है। पर इस प्रकार का चित्रण यह तो स्पष्ट कर देता है कि लेखक उन्हें रंगीन आवरण में छिपाना नहीं चाहता है। जर्जरता को स्पष्ट कर वह केवल संकेत ही देता है कि इसे बदल दो।

प्रेमचन्द के घरेलू जीवन से हम उनके साहित्य को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। 'प्रेमचन्द-घर में' पढ़ने पर अनेक ऐसी बातों का उद्घाटन होता है कि किन परिस्थितियों में प्रेमचन्द ने अपनी रचनाएं लिखी हैं। वे राजनीति में कितने डूबे हुए थे, देश के प्रति उनमें क्या भावनाएँ थीं, किन जिम्मेदारियों से वे दबे थे और इतना सब होते हुए भी इतना विशाल साहित्य लिखने में जुटे थे।

पिपासा-परिचय

श्री कुमारी सावित्री सिंह विशारद

श्री भगवतीप्रसाद कृत 'पिपासा' उपन्यास में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कोई भी ऐसी घटना नहीं घटित होती जिसके कारण उसके पात्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ हो। वे परिस्थितियों और घटनाओं के दास नहीं हैं वरन् उनके जनक हैं। दूसरे शब्दों में पात्रों को परिस्थितियाँ विवश नहीं करती हैं वरन् उनके चरित्र से परिस्थितियाँ स्वयं बदल जाती हैं। पात्रों का जो स्वरूप हमें प्रारम्भ में दिखलाई पड़ता है वह अन्त तक बराबर बना रहता है। यह दूसरी बात है कि चरित्र विकास के साथ उनके जीवन के अन्य पक्ष भी हमारे सामने आते जायँ। उनकी पुरानी विशेषताएँ हमारे सामने ज्यों की त्यों रही आती हैं साथ ही हम उनकी नई विशेषताओं से भी परिचित होते जाते हैं। अस्तु, तत्वों की प्रधानता की दृष्टि से उपन्यास के जो तीन भेद (घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और घटना-चरित्र-प्रधान) किये गये हैं उनमें यह दूसरे प्रकार में आता है।

'पिपासा' की कथा वस्तु बहुत छोटी है। अतः इसके भीतर जगत और जीवन के विभिन्न स्वरूपों के दिग्दर्शन की गुञ्जायश नहीं। फिर विभिन्न परिस्थितियों को लेकर चलने वाला घटना चक्र कहाँ मिले? फलतः कथा मन्द गति से चलती है। कमल नयन एक साहित्यिक व्यक्ति है। उसमें तीक्ष्ण बुद्धि है, प्रतिभा है। किन्तु आर्थिक सङ्कट के कारण वह अपनी विद्या-बुद्धि और प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती। वह जिधर ही दृष्टि डालता है उधर ही उसे रोटी का प्रश्न दिखाई पड़ता है। अतः उसमें अन्तर्द्वन्द का प्रादुर्भाव होता है और इसी हलचल की दशा में शकुन से उसकी भेंट होती है जो उसके सम्पन्न मित्र की पत्नी है। यह उपन्यास की पहिली घटना है। इसके उपरान्त ये सब बहुत दिनों तक योंहीं मिलते जुलते रहते हैं पर कथा जहाँ की तहाँ रही आती है। थोड़ा सा विकास उस स्थान पर होता है जहाँ कमलनयन में कुछ अतृप्त पिपासा लक्षित होने लगती है। इस पिपासा के फलस्वरूप उसके हृदय में शकुन के प्रति प्रेम का स्फुरण होने लगता है। शकुन भी कमलनयन के व्यक्तित्व से आकर्षित होती है और उनका आर्थिक सङ्कट दूर करने के लिये विविध प्रयत्न करती है। इन्हीं प्रयत्नों में से एक है मा० सा० को ट्यूशन पर अपने यहाँ नियुक्त करना। यहीं पर चरित्र के विकास के साथ कथा के विकास के लिये भी थोड़ा सा अवसर निकल आता है। अब कमलनयन शकुन के सम्पर्क में प्रायः आने लगता है और पिपासा तीव्र तर होने लगती है। पर यह तीव्रता ऐसी नहीं जिसमें मनुष्य अपनी सुध-बुध खोकर पिपासा शान्ति के लिए पागल हो जाता है। उसके लिये न कहीं हाय हाय है और न कहीं सङ्घर्ष। वह अपने को निरन्तर संयत रखता है। हाँ ताश खेलते समय शकुन के नेत्रों से नेत्र मिलते ही वह संज्ञाशून्य सा हो जाता है जिसे नरेन्द्र लक्षित कर जाता है और उसके हृदय में सन्देह का बीजारोपण हो जाता है। किन्तु कमलनयन शकुन का अपहरण नहीं करना चाहता। इसलिये वह सदा नरेन्द्र का मार्ग छोड़ कर कहीं अन्यत्र चला जाता है इस प्रकार कथा कुछ आगे बढ़ती है किन्तु औपन्यासिक उलझन (Element of suspense) दिये बिना ही।

अतः उक्त वस्तुओं के अभाव के कारण पाठक कथा की धारा प्रवाह में बह नहीं पाता। इस उपन्यास में आर्थिक समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला गया है और उसके साथ ही यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस अन्धेर नगरी में योग्य

पुरुषों का विशेष मूल्य नहीं। कमल बाबू ऐसा प्रतिभाशाली साहित्यिक व्यक्ति इधर-उधर भटकता फिरे और वहीं पर एक अयोग्य व्यक्ति एक महत्व पूर्ण संस्था का संचालक बना रहे।

'पिपासा' में परिस्थितियाँ प्रधान नहीं हैं और न उनके कारण कथा आगे को मुड़ती ही है और न पात्रों में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है। चरित्र प्रधान उपन्यास होने के कारण इसमें पात्र ही अपने अनुसार नई परिस्थितियों का सृजन करते रहते हैं। जैसे कमल नयन को मा० के पद पर नियुक्त करना और कवि सम्मेलन का विशाल आयोजन करवाना इसी बात को प्रमाणित करता है कि शकुन का मास्टर बाबू के प्रति प्रेम था और उन्हीं का आर्थिक सङ्कट दूर करने के लिये उक्त परिस्थितियाँ लाई गईं।

कथा-वस्तु को बढ़ाने के लिये लेखक ने कुछ अनावश्यक घटनाओं का भी संग्रह कर दिया है। जैसे नरेन्द्र और शकुन का एक मुकदमें के सिलसिले में बातचीत करना और उसी को लेकर प्रतिवादी की ओर से शकुन का बहस करना आदि बातों में पाठक का मन रमता नहीं है। फलतः कथा पीछे छूट जाती है और पाठक अदालती दुनियाँ की नीरस झंझटों में विचरण करने लगता है। कथा में विराम देने के स्थान में एक स्वरता (Monotony) का सृजन होता है, पर सौभाग्य से ऐसे स्थान कम हैं। पिपासा में ऐसी घटनाएँ भी घटित हुई हैं जिनसे हमारे हृदय का पूरा योग रहता है। अन्त को सबसे सुन्दर घटना वह कही जा सकती है। जब कमल नयन जेल जाने को प्रस्तुत होता है। और नरेन्द्र के विशेष अनुरोध करने पर भी शकुन से नहीं मिलता है। उक्त घटना मा० बाबू को जगत की सामान्य भाव भूमि से खींच कर प्रेम की उस अनन्त उच्च भूमि पर खड़ा कर देती है जहाँ से सारा विश्व प्रिय दिखलाई पड़ता है तथा प्रेमी प्रिय के लिये सर्वस्व त्याग कर देता है। वस्तुतः कमलनयन भी शकुन के लिये ऐसा त्याग करता है जो सर्वसाधारण नहीं कर सकते हैं। इस बात को नरेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है—"वह शकुन्तला को मेरे हाथ से छीनना नहीं चाहता। उसकी ओर पूर्ण रूप से आकृष्ट होने पर भी केवल मेरी मैत्री के कारण अपने जीवन की दिशा को बदल देना चाहता है।"

अब चरित्र चित्रण लीजिये। यदि सच पूछा जाय तो उपन्यास की सफलता या विफलता चरित्र चित्रण पर ही अवलम्बित है। यदि चरित्र चित्रण सफल हुआ तो मानो अनायास ही पुस्तक की सार्थकता सिद्ध हो गई। 'पिपासा' के प्रधान नायक कमल हैं, और अन्य प्रमुख पात्रों में से शकुन और नरेन्द्र हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि तीनों व्यक्ति पिपासाकुल हैं, और परस्पर प्रेम करते हैं। इस उपन्यास में एक विचित्र बात है। वह है सब पात्रों का समान चरित्र-चित्रण। सब एक दूसरे के आत्मीय तो बने हुए हैं किन्तु इस आशंका से कि भेद खुल जाने से कहीं किसी को चोट न पहुँचे, अपने मनोभावों को गुप्त रखते हैं। नरेन्द्र ही को लीजिये। वह शकुन के क्षुभित होने की आशंका से बहुत बातें दबा लेता है। यही नहीं वह आगे चलकर निश्चय करता है कि मैं अपने शकुन के लिये अब कमलनयन को इसी घर में रक्खूँगा। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आत्मगोपन की अतिशयता ही उपन्यास को दुःखान्त कर देती है।

यही हाल कमलनयन का भी है। उसके हृदय में पिपासा है—एक मीठी चाह है, किन्तु वह उस पर आवरण डालना चाहता है। खुल कर प्रेम नहीं कर सकता। उसका तो हाल उस नाविक की भाँति है जो दो नौकाओं में पैर रखना चाहता है और किसी में स्थिर होकर पैर नहीं रख पाता। अन्त में स्वयं नैया के साथ मँझधार में डूब जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पिपासा में आये हुए चरित्रों में कोई उतार चढ़ाव नहीं है। उसमें पात्रों का व्यक्तित्व बदलता नहीं वरन् उसके विविध पक्षों का उद्घाटन मात्र होता है और परिस्थितियाँ

उनके मूल बद्ध शील पर प्रभाव नहीं डालतीं।

लेखक बार-बार पाठक के ध्यान को इस ओर आकर्षित करना चाहता है कि कमलनयन साहित्यिक है, कवि है, देश-सेवक तथा समाजवादी पुरुष है। किन्तु उसका यह स्वरूप हम देख नहीं पाते। उसका जो स्वरूप हमारे सामने आता है वह है संयत पिपासु का। उसमें प्रेम का स्वरूप लाभकारी रूप में नहीं दिखलाया गया है। लेखक ने आवश्यकता से अधिक मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। कहना न होगा कि सफल चरित्र चित्रण वही कहलाता है जिसमें लेखक चुप हो और पात्रों के क्रिया-कलाप तथा कथोपकथन से उनके महत्व का उद्घाटन हो जाय। ऐसा इस उपन्यास में कम हुआ है। फलतः कमलनयन के आंशिक व्यक्तित्व से ही हमारे हृदय का योग हो पाता है। वह लेखक की दृष्टि से चाहे जो कुछ हो पर हम जिसे देख पाते हैं वह तो उच्चकोटि का संयत प्रेमी ही है। उसके अन्य पक्ष अविकसित हैं। उसके जेल जाने तक के मूल में शकुन का प्यार है, मजदूरों का पक्ष-समर्थन प्रकारान्तर से होता है वह कानपुर मजदूरों की रक्षा के लिए नहीं जाता वरन् शकुन को नरेन्द्र के लिए छोड़ कर उसके सामने से हट जाने के उद्देश्य से जाता है।

शकुन के चरित्र का तो और भी कुछ पता नहीं चलता कि उसकी पिपासा किस रूप में थी, उसे किसी बात की कमी न थी। उसे नरेन्द्र से प्रेम का पूरा साम्राज्य प्राप्त था। उसमें वह रानी भी थी और पुजारिन भी। शकुन विवाह द्वारा नरेन्द्र के गले में नहीं मढ़ी गई थी उनका विवाह प्रेम का प्रतिफल था, उसका जनक नहीं। इधर कमलनयन मित्र था। जैसा कि शकुन्तला ने अपने पत्र में स्वयं स्वीकार किया है कि "मैं कमलनयन को केवल मित्र के रूप में मानती थी उन्हें सर्वस्व अर्पण नहीं किया है।" नरेन्द्र अनुदार न था कि वह शकुन का कोई मित्र न बनने देता, यदि उक्त बातें वह नरेन्द्र से बता देती तो परिस्थिति सँभल जाती और सम्भवतः कहानी किसी दूसरी दिशा की ओर मुड़ गई होती। किन्तु वैसा न हुआ कर्तव्य शीला, पति सर्वस्वा, स्वतन्त्रात्मा शकुन ने तड़प-तड़प कर प्राण दिये। पर इससे क्या लेखक को तो अतृप्त प्रेम की भयंकरता और उसे दवाने का दुष्परिणाम दिखलाना अभीष्ट था जिसे उसने दिखा दिया। प्रगतिवाद के सिद्धान्त बल्कि मनुष्य स्वतन्त्र है। उसकी वृत्तियाँ स्वतन्त्र हैं। उसे दवाना व्यक्ति को कुचलना है। पर पग-पग पर समाज द्वारा उत्पन्न की गई विषमता व्यक्ति का विनाश करती है" का प्रतिपादन तो हो गया फिर उसे क्या पड़ी है कि वह प्रेम का स्वाभाविक विकास लेकर चले। लेखक को तो बस यही दिखलाना अभीष्ट था कि मनुष्य की वृत्तियों का कोई ठिकाना नहीं। उन पर उसका कोई वश नहीं। पता नहीं वे कब किसकी ओर मुड़ जाँय। पिपासा की कथा तो बहुत ही छोटी है। अस्तु विविध प्रकार के वर्णनों की गुञ्जायश ही नहीं। ऐसे वर्णनों का विधान तो कथा की धारा में विराम देने के लिये होता है। पर जब कथा की धारा ही नहीं तो विराम किस लिए? फलतः लेखक की दृष्टि बार-बार जाकर खाने-पीने चाय पार्टी आदि में ही जाकर ठहरती है। जिसमें अमिरती का तो इतना आधिक्य हो जाता है कि पाठक को अजीर्ण सा हो जाता है। अस्तु यह बात समझ में नहीं आती कि लेखक महोदय ने क्यों बार बार वही अमिरती टोस्ट आदि का दृश्य खींचा है। मालूम होता है कि वाजपेईजी को अमिरती से विशेष रुचि है। फिर भी स्वीकर करना पड़ता है कि अदालत, बाजार और बालकों की मुद्राओं तथा चेष्टाओं का बड़ा सजीव वर्णन किया है। पिपासा में मि० प्रोफेसर, खड़खड़ाती कार, टेनिस क्लब आदि ही का चित्र अङ्कित हुआ है जो सर्व साधारण की कल्पना की वस्तु नहीं है। इस दोष का निराकरण सम्भवतः गार्हस्थ्य जीवन में परेठा और आलू-गोभी की तरकारी की चर्चा करके किया गया है। पर बार-

(शेष पृष्ठ ४०२ पर)

गुप्तजी की 'यशोधरा' में राहुल और बालमनोविज्ञान

श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव बी० ए०

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।"

मुख पृष्ठ पर लिखी हुई ये पंक्तियाँ युग युग की नारी जीवन की कहानी स्पष्ट कर देती हैं। यशोधरा की भी वही गति है। इन दोनों भावधाराओं को हम यशोधरा में भी बहता पाते हैं। वात्सल्य की दुग्धधारा नारी के आंचल में सदा से बह रही है। यशोधरा के पति विरह के आँसुओं से उसकी वात्सल्य दुग्धधारा अधिक महत्त्वपूर्ण है। तभी तो वह राहुल से कहती है—

"तुझको क्षीर पिलाकर लूँगी,
नयन नीर ही उनको दूँगी।"

वह इसका परिणाम तक भोगने को प्रस्तुत है—

"मेरा शिशु संसार यह दूध पिये परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।"

काव्य का कथा-सूत्र ही राहुल से बंधा हुआ है। आदि-अन्त राहुल को ही लेकर होता है। प्रारम्भ राहुल के जन्म के कुछ ही समय पश्चात् महाभिनिष्क्रमण में होता है। सिद्धार्थ को प्रेरणा होती है, वह राहुल के लिए अमृत लाने की सोचता है—

"राहुल मेरे ऋण मोक्ष, माप।
लाऊँ मैं जब तक अमृत आप,
माँ ही तेरी माँ और बाप।
दुल, मातृ हृदय के मृदुल दाम।
ओ क्षण-भंगुर भव राम राम॥"

और उसका अंत भी राहुल के "बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि में ही होता है।

इस काव्य-ग्रन्थ की वात्सल्य धारा का मुख्य स्रोत राहुल-जननी है। वैसे शुद्धोदन और महाप्रजावती, गौतम व गौतमी, चित्रा और विचित्रा, सभी उसमें योग देते हैं। राहुल-जननी गोपा का तो वह नयनतारा, विरही जीवन का एक मात्र सहारा है ही, पति की थाती भी है। तभी वह कहती है—

"स्वामी मुझ को मरने का भी,
दे न गए अधिकार।
छोड़ गए मुझ पर अपने,
उस राहुल का सब भार॥"

किन्तु वह भार मात्र ही नहीं है शान्ति भी है। इसीलिए वह प्रार्थना करती है।

"देव बनाये रखे राहुल,
बेटा, विचित्र तेरी क्रीड़ा।
तनिक बहल जाती है उसमें,
मेरी अधीर पीड़ा व्रीड़ा॥"

यहाँ तक कि उसे राहुल की परिचारिका बनने में भी बड़ा तोष बड़ा गौरव है—

"बस मैं ऐसी ही निभ जाऊँ।
राहुल निज रानीपन देकर,
तेरी चिर् परिचर्या पाऊँ॥"

गृहस्थ जीवन की साधारण पर महत्त्वपूर्ण घटना से गुप्तजी प्रारम्भ करते हैं। राहुल रोकर मां को तङ्ग कर रहा है, और मां झिड़क रही है—

"चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।
रोता है अब किसके आगे ?
तुझे देख पाते वे रोता,
मुझे छोड़ जाते क्यों सोता ?
अब क्या होगा ? तब कुछ होता,
सोकर हम खोकर ही जागे !
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे!"

किन्तु वही रोता बालक—

यह छोटा सा छौना।
कितना उज्वल, कैसा कोमल,
क्या ही मधुर सलौना॥

क्यों न हँसू-रोऊँ-गाऊँ मैं,
लगा मुझे यह टौना ।
आर्य-पुत्र आओ, सचमुच मैं,
दूँगी चन्द खिलौना ।"

रोना हो चुका, रूप दर्शन हो चुका, अब किलकारी—

"किलक अरे मैं नेक निहारूँ ।
इन दाँतों पर मोती वारूँ ॥
पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सबेरे,
हां! गोपा का दूध जमा है राहुल! मुख में तेरे।
लटपट चरण, चाल अटपट सी मनभाई है मेरे,
तू मेरी उँगली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ ॥"

माता पुत्र को पाल रही है; 'लटपट चरण चाल अटपट सी' उसे भाई है; और उसकी आशा दौड़ती है; वह प्रतीक्षा करती है—

"अश्रु सिक्त आशा का अंकुर,
देखूँ कब फलता है ?"

राहुल शिशु से बालक हो चुका है। नटखटपन भी उसमें आ गया है। बाल सुलभ जिज्ञासा, प्रश्नोत्तर, तोतली वाणी, कल्पना, हठ, क्रीड़ाएँ, पिता के विषय में प्रश्न, कहानियाँ और लोरियां सब धीरे धीरे प्रगट होते हैं।

राहुल को अब सुन्दर खिलौनों की चाह होने लगी है ? अच्छे खिलौनों के लिये वह हठ भी करने लगा है। प्रसिद्ध ही है कृष्ण ने चन्दा माँगा था और यशोदा ने कटोरे में छाया दिखा पिण्ड छुडाया था। पर गुप्तजी की यशोधरा सूरदास की यशोदा से चतुर है—

यशोधराः—

"तब कहता था—'लोभ न दे' ।
अब चन्द खिलौने की रट क्यों ?"

राहुलः—

"तब कहती थी—'दूँगी बेटा ।'
मां अब इतनी खटपट क्यों ?"

यशोधराः—

"कह तो झूठ मूठ बहला दूँ,
पर वह होगी तेरी छाया ।
मुझको भी शैशव में शशि,
की थी ऐसी ही माया ॥
किन्तु प्रसू बनकर अब,
मैंने उसको तुझमें पाया ।
पिता बनेगा तभी पायगा,
तू वह धन मन भाया ।"

यशोदा की भाँति वह फुसलाती नहीं मिथ्या खिलौना भी नहीं देती; जीवित खिलौना देने का बचन देती है।

भोजन की अरुचि भी बाल जीवन में एक प्रमुख स्थान रखती है। राहुल भी अधिक खा नहीं सकता। कम से कम माँ को तो उससे संतोष नहीं होता! वह बालक को बार-बार खिलाती है तब भी कहती है कि अभी तूने खाया ही क्या है ? राहुल भी माँ को खिलाने का प्रयत्न करता है पर वह नहीं खाती।

अब बालक की जिज्ञासा भी बढ़ने लगी है। प्रत्येक वस्तु के विषय में जानने की इच्छा अब उसमें तीव्र हो चली है। छाया को देख वह पूछता है— "ओ मां आंगन में फिरता था, कोई मेरे संग लगा। आया ज्योंही मैं अलिन्द में छिपा न जाने कहाँ भगा ?" चातक को देख पूछता है—"अम्ब कौन पक्षी वह है मीठा बड़ा, जिसके प्रवाह में तू डूबती है बहती।" जिज्ञासा के साथ-साथ मां के विषय में वह कल्पनाएँ भी करने लगा है। वह मां को दुखिया मां ही नहीं समझता अपने भोलेपन व नटखटपन का परिचय देता हुआ कह उठता है—

"मैया है तू अथवा मेरी
दो थन वाली गैया।"

राहुल की जिज्ञासा और बढ़ी, कुछ ज्ञान आया, आत्म-विश्वास हुआ और हठीलापन आ गया है। हठ करता है—

"नहीं पियूँगा, नहीं पियूँगा,
पय हो चाहे पानी"
'नहीं पियेगा, बेटा यदि तू
तो सुन चुका कहानी।'

'तू न कहेगी तो कह लूँगा
मैं अपनी मनमानी।
सुन राजा वन में रहता था,
घर रहती थी रानी।'
'और हठी बेटा रटता था,
नानी नानी नानी।'
'बात काटती है तू? अच्छा,
जाता हूँ मैं मानी।'

इतना ही नहीं मां से वह तर्क भी करता है—

"कैसी डीठ कहाँ का टौना,
मान लिया आँखों में अञ्जन,
मां किसलिए डिठौना?
× × ×
डीट लगी तब स्वयं तुझे ही,
तू है सुध बुध हीना।
तू ही लगा डिठौना,
.......................।"

देखिए होनहार बिरवान के कैसे चीकने पात हैं। मां की स्थिति का कैसा सूक्ष्म विवेचन है और है बालक की सरलता।

बालक अपने भोलेपन में मां बाप से अनेक प्रश्न किया करते हैं। गुप्तजी ने भी ऐसे स्थल दर्शाए हैं—

"राहुल—मेरी बहू की तुझे बड़ी चिन्ता है। इससे मुझे ईर्ष्या होती है।

यशो०—क्यों बेटा?

रा०—वह आकर मेरे और तेरे बीच खड़ी हो जावेगी, इसे मैं सहन नहीं कर सकता।

यशो०—मेरी दो जांघें हैं, एक पर तू बैठेगा दूसरी पर वह बैठेगी।

रा०—परन्तु जिस जांघ पर मैं बैठना चाहूँगा उसी पर वह बैठना चाहेगी तो झगड़ा न होगा?

यशो०—मैं उसे समझा लूँगी।

रा०—काहे से समझा लेगी? मुँह तो तेरे एक ही है। वह मेरे भाग में है। उससे मैं तुझे बहू के साथ बात करने दूँ तब न......"

यह है वह वार्तालाप जिसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इसमें बाल सुलभता कूट-कूट कर भरी है। कभी कभी ऐसे प्रश्न मां के लिए समस्याएँ बन जाते हैं विशेषकर जब वे अज्ञात या दूरस्थ पिता के सम्बन्ध में होते हैं जैसे—

"अम्ब तात कब आयेंगे?"
"धीरज धर बेटा अवश्य हम,
उन्हें एक दिन पायेंगे।"
"मां तब पिता-पुत्र हम दोनों,
संग संग फिर जायेंगे।
देना तू पाथेय प्रेम से,
विचर विचर कर खायेंगे।"

इतना ही नहीं एक स्थल पर तो वह एक आह्लाद दायिनी काल्पनिक बहिन भी पाता है। मां से वह कहता है—

"बन में तो इन्द्र भी प्रलोभन दिखायगा।
विश्वामित्र तुल्य उन्हें क्या वह न भायगा?
मुझको तो उसमें भी लाभ दृष्टि आता है—
भगिनि शकुन्तला सी राहुल सा भ्राता है।"

इस स्थल पर उसका नटखटपन चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

कहानियाँ और लोरियाँ आदि काल से ही बालकों को लुभा रही हैं। बाल्यजीवन से वह अभिन्न है। राहुल भी हठ करके कहानियाँ सुन लेता है। एक दिन—

"मां, कह एक कहानी।"
"बेटा समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?"
"कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी।
कह मां कह लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
मां कह एक कहानी।"

राहुल का हठ तो है ही, 'नानी की बेटी' में माँ की योग्यता का प्रमाण, 'कह मां कह' में आग्रह और 'राजा था या रानी' में रूपरेखा भी मिल जाती

है। और जो कहानी माँ सुनाती है वह भूत प्रेत या परी व जादू आदि की नहीं किन्तु शिक्षाप्रद और सत्य—उसके ही पिता पर बीती एक दिन की घटना। इतना ही नहीं माँ राहुल का निर्णय भी चाहती है जिससे कि उसकी शिक्षा की परीक्षा हो जावे और मालूम हो जावे कि उसने 'गुनी कहानी।'

गुप्तजी की लोरी प्रचलित कुरुचिपूर्ण नहीं वह पूर्ण साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण है। उसकी प्रथम कुछ पंक्तियाँ हैं—

"सो अपने चंचल पन सो,
सो मेरे अञ्चल-धन सो।
पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में।
गुञ्जन सोया अभी भ्रमर में,
सो मेरे गृह गुञ्जन सो।
सो मेरे अञ्चल-धन सो।"

यशोधरा जगाने के लिए भी ऐसा ही एक सुरुचिपूर्ण गीत गाती है—

"घुसा तिमिर अलकों में भाग,
जाग दु:खिनी के सुख जाग।"

बालक अपने साथियों के साथ खेलते ही हैं किन्तु माँ के साथ खेलने का आनन्द अतुलनीय होता है। माँ कभी खुद हारती है, पुत्र का हर्षोन्माद देखने के लिए। छूने के खेल में और भी अधिक आनन्द आता है। राहुल-जननी भी खेलकर—

"निष्फल दो दो बार गई,
हार गई माँ हार गई।"

राहुल चेतावनी देकर माँ को जीतने का एक और मौका देता है—

"अब की तू छिप देख कहाँ,
पर लेना निश्वास नहीं,
पकड़ा दूँ जो तुझे वहीं।"

महापुरुष के लक्षण व पिता के गुण बीज रूप में राहुल में विद्यमान हैं। वह अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक तेजवान है, वीर है, विनयशील है, शाला में सबसे आगे है, वहाँ की प्रतियोगिताओं में प्रथम स्थान पाता है। उसकी कल्पना भी बड़ी तीव्र है। पिता-प्रेम से मिलकर वह चमक उठती है—

"विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं।
मण्डल बनाकर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस बन में।
× × ×
किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं।
हाय पक्षियों से भी मनुष्य गए बीते हैं।"

और इसीलिए हनुमान सदृश उड़ने की साधना राहुल करना चाहता है। पिता के सदृश उसमें भी योग करने की साध है, पिता बनने की झंझट से विरक्ति है, पति बनने से घृणा है, बन में जाने की आकांक्षा है, स्वर्ण खचित वस्त्र और रत्नखचित आभूषणों से अरुचि है।

राहुल जब पक्षी नहीं बन पाता, तो सोचता है, पक्षी को ही क्यों न वहाँ भेज दिया जावे। इसीलिए वह माँ से कहता है, कि दमयन्ती की कथा मुझे भाई है—तू भी उसके सदृश एक हंस भेज दे न। हंस भी अगर न मिल सके, योग साधन में यदि विलम्ब लगे तो वह स्वयं ही जाने को तैयार है। माँ थोड़ा सा ही कार्य कर दे—

"तू केवल कंथक कसवा दे,
अम्ब अभी चढ़ जाऊँ।
मुक्ति बड़ी या मेरी माता,
पूछ पिता से आऊँ।"

किन्तु उसके चले जाने पर माँ को दूने दुख देखने पड़ेंगे। इसलिए बहू से ईर्ष्या करने वाला बालक माँ से कहता है—

"मेरा ब्याह कर दे माँ मेरी बहू आयगी।
पाकर उसे तू कुछ तोष तो भी पा जायगी॥"

बालक राहुल के पास जाने के ही विषय में सोचता नहीं रहता किन्तु उनके स्वागत के लिए सौ-सौ रसालों से भी चुन-चुन कर फल रखता जाता

है। कभी-कभी तो वह अपने पिता के स्वप्न भी देखता है। जिसे कभी देखा भी नहीं ऐसा पिता से अपनी माँ के उलाहने देने की भी सोचता है। इन सब स्थलों में राहुल का पितृ-प्रेम व पितृ अनुकरण स्पष्ट हो जाता है।

राहुल एक साधारण बालक नहीं है। पिता की सी बुद्धि प्रखरता उसमें विद्यमान है। अपने पाठ वह एक बार में याद कर लेता है। गुप्तजी ने सफलता-पूर्वक बालसुलभता में भी गाम्भीर्य का समावेश करा दिया है। कर्मों की शृङ्खला का उसे ज्ञान है। वायु और ध्वनि का वैज्ञानिक सम्बन्ध वह शीघ्र समझ लेता है, किन्तु गम्भीर पाठों के द्वारा नहीं सहज प्रश्नोत्तरों द्वारा—

"अम्ब मेरी बात कैसे तुझ तक जाती है।
बेटा वायु पर वह बैठ उड़ जाती है ॥
होंगे जहाँ तात क्या न होगा वायु माँ, वहाँ।
बेटा जगत्प्राण वायु, व्यापक नहीं कहाँ ॥
क्यों अपनी बात वह ले जाता है वहाँ नहीं।
निज ध्वनि फैलकर लीन होती यहीं ॥
और उनकी भी वहीं, फिर क्या बड़ाई है।"

इतना ही नहीं वह दर्शन तक की बातें करने लगा है—'ब्रह्म भी मिलेगा कल, आज मिली माया है।' धर्म-कर्म की भी वह विवेचना करता है—

"अच्छी नहीं, अम्ब, यह इच्छा की अधीनता,
और परिणाम जिसका हो ही न दीनता।
तू ही बता धर्म क्या नहीं है यही जन का—
शासित न होकर मां, शासक हो मन का।"

नीति और दर्शन की बातें करने वाला राहुल सिर्फ कह कर ही नहीं रह जाता वरन् उन्हें उसने समझा भी है। पिता प्रेम के साथ मिलकर यह भावना चरम लक्ष्य प्राप्त करती है। पिता का मार्ग दर्शन, माँ का पुत्र अर्पण और बालक की रुचि के सम्मिलन से राहुल बुद्ध-धर्म-संघ शरण चला जाता है।

'यशोधरा' में बाल-लीला भी है, बाल-शिक्षा भी है किन्तु उसकी परिणति अध्यात्म में होती है जो भारतीय जीवन का व साहित्य का भी ध्येय रहा है। बाल-जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक की सारी क्रीड़ाएँ या क्रियाएँ कवि की दृष्टि से नहीं बँध पाई हैं। बाल लीला के प्रत्येक स्थल—रोना, गाना, हँसना खेलना, खाना पीना, कहानियाँ और लोरियाँ, सुलाने और जगाने के गीत माँ के साथ खेलना और हठ करना, पिता की कल्पना करना और उन तक जाने की इच्छा करना, प्रश्नोत्तर और जिज्ञासा, तर्क और नटखटपन, भोलापन और गम्भीरता—सभी चित्र एक से एक बढ़कर सुन्दर हैं। गुप्तजी की कुशल लेखनी से निकलकर ये पंक्तियाँ वात्सल्य रस की अजस्रधारा बहाती रहेंगी, और युग-युग तक हम इन धाराओं में स्नान कर अपने को परमधन्य मानते रहेंगे।

(पृष्ठ ३९७ का शेष)

बार कमल बाबू के परिवार में जाते जाते पाठक कुछ ऊब सा जाता है।

अब पिपासा का कथोपकथन लीजिये—कथोपकथन वही सरस माना जाता है जिसमें सम्वाद छोटे छोटे वाक्यों में हो। किन्तु इस उपन्यास में कथोपकथन बहुत लम्बे हो गए हैं। विशेषतया कमल की बातचीत तो बहुत ही लम्बी हो जाती है। वह साधारण सी भी बातचीत को बहुत गम्भीर विषय की तरह प्रतिपादित करता है। हाँ, इसमें एक बात और है—प्रमुख छात्रों के कथोपकथन में एक स्वरता सी है। फलतः उनकी बातचीत ही सुन कर हम पात्रों को नहीं पहचान पाते। किन्तु यह बात सर्वत्र नहीं है। जहाँ पर मुन्नू-चुन्नू परस्पर बातचीत करते हैं और कमलनयन की भाभी अपने देवर से विवाह के लिये आग्रह करती है वहाँ के कथोपकथन बहुत सरस, मनोरञ्जक तथा स्वाभाविक हैं।

'जीवन' का रस-दर्शन

प्रो० गोविन्दलाल म० शाह, एम० ए०, एल-एल० बी, रत्न

[श्री इन्दु शेखर का यह एकांकी राष्ट्रभाषा के अभ्यासियों में अति प्रिय हुआ है। केवल पठन की दृष्टि से नहीं, नाट्यप्रयोग की दृष्टि से भी। इस एकाङ्की को बार बार पढ़ाने का अवसर मुझे मिल चुका है। रङ्ग-मञ्च पर भी मैं इसका सफल प्रयोग कर चुका हूँ। पारीक्षिक एवं प्रायोगिक दृष्टि से इसमें रस लेते हुए विद्यार्थियों के लिए मैं अपने कतिपय अनुभव यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। —लेखक]

नाट्यसाहित्य में एकाङ्कीका स्थान अनोखा है और हिन्दी एकाङ्कियों में "जीवन" का स्थान अनोखा है। श्री इन्दु शेखर रचित इस एकाङ्की में अनेक विलक्षणताएँ हैं। "जीवन" का सौभाग्य है कि वस्तुविषय गम्भीर होने पर भी इसका अभ्यास व नाट्य प्रयोग पाठक व प्रेक्षक की रुचि को जरा भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं हुआ है। यह एक ऐसा एकाङ्की है, जिसका रेडियो पर प्रयोग भी आसानी से हो सकता है—सुना है कि अखिल भारतीय रेडियो के दिल्ली केन्द्र से वह प्रसारित किया गया भी था।

"जीवन" एक सारा, अखण्ड रूपक ही है। इसमें आनन्द, धनी, विद्या, कला, जीवन और विश्वास के पात्र आनन्द, धन, इ० के प्रतीक ही हैं।

"जीवन" की कथावस्तु अति संक्षेप में दी जा सकती है। प्रो० आनन्द परम संगीतोपासक होने के कारण सङ्गीत कला को जीवन के लिये अत्यावश्यक मानते हैं। अपने ही दो शिष्य धनीराम व विद्यापति जब सङ्गीत का मूल्याङ्कन कम करते प्रतीत होते हैं, तब उनके मानस को भारी चोट पहुँचती है और वह बेहोश हो जाते हैं—धनीराम के मन में सङ्गीत दिल बहलाव की चीज है और विद्यापति के विचार में कविता सङ्गीत से उच्चतर है। प्रो० आनन्द की चिन्ता अपनी प्यारी कला, जिसको उन्होंने स्वयं सङ्गीत व नृत्य की शिक्षा प्रदान की है इसके लिये है। कला किसे सौंपा जाय?

आखिर, 'जीवन' नामक एक भिखारी जो वास्तव में कला की कदर का ही भूखा है, जिसका मधुर गान सुनकर आनन्द में चेतन प्रस्फुटित होता है और वह जीवन व कलाका उचित मेल कराने का अभिलाष रखते हुए अन्त में कला के एक गीत-श्रवणजनित आनन्द में ही सदा के लिए विलीन हो जाते हैं। जीवन व कला पारस्परिक आश्रय के लिये उत्कण्ठित होते हैं।

इन भावनाओं को मूर्तिमन्त करने वाले प्रो० आनन्द द्वारा उच्चारित लेखक के कुछ कथन निम्न-प्रकार हैं:—

(१) "सङ्गीत की चिता जलाकर विद्या और कला नहीं मिलाये जा सकते। तो क्या······कला अकेली ही रह जाएगी? मेरे लिये, आनन्द के लिये या अपने लिये?"

(२) विद्या से उसका मेल नहीं, धन उसे भाता नहीं।"

(३) "वह भूख के लिये नहीं रोता, पेट के लिये आँसू नहीं बहाता, उसे इस बात का दुःख है कि कोई उसकी बात नहीं पूछता;"

(४) "जाओ, जीवन! कला के साथ जाओ, और सुनो कला! जीवन का सत्कार करो, दुनिया से ऊबकर जीवन यहाँ आया है—कला के पास।"

(५) "जीवन और कला, कला और जीवन! कितना सुन्दर है यह मेल!" [आत्मनाद]

(६) कला की सहायता से जीवन कितना चमक उठा है। लेखक का चरम उद्देश्य केवल यही

दिखाना है कि कला आनन्द के लिये (Art for joy) नहीं, कला कला के लिये (Art for Art's sake) नहीं, प्रस्तुत कला जीवन के लिये (Art for Lif's sake) है—कला व जीवन अन्योन्याश्रित ही हैं।

× × ×

अन्य एकाङ्कीकारों की भाँति लेखक ने पात्रों की आयु सूचित नहीं की है, जो कि पात्रों की अवस्था निश्चित करना कठिन भी नहीं है।

डा० विश्वास के पात्र के सम्बन्ध में, मेरे विनम्र अभिप्रायानुसार, एक खास बात यह ध्यान में रखने की है कि वह प्रो० आनन्द के एक अति-परिचित, पारिवारिक डा० (Family Doctor) ही हैं। एतत्सम्बन्धी सूचना हमें निम्नाङ्कित संवादों से प्राप्त होता है:—

(१) धनी—मैं किसी डाक्टर को बुला लाता हूँ।

कला—किसी-किसी डाक्टर से काम नहीं चलेगा, धनीराम बाबू! डा० विश्वास को आप जानते हैं न? शान्तकुटी के मालिक—उन्हीं को लाना होगा।

(२) आनन्द—डा० विश्वास! आप तो जानते हैं कि मैं आवश्यकता से अधिक भावुक हूँ।

× × ×

सारा ही रूपक अत्यन्त भाववाही है। ये ही मर्मस्पर्शी भाव जिसके गाम्भीर्य को प्रेक्षकों के लिये सुरुचि होने से रोकते हैं।

एतादृश एक प्रसङ्ग आनन्द के यहाँ विद्यापति व धनीराम के प्रवेश का है। यहाँ लेखक को वर्तमान शिष्टाचार प्रियता व्यंग्य बनानी है। देखें—

विद्यापति—क्या हम अन्दर आ सकते हैं, प्रो० साहेब?

आनन्द—कौन? विद्या और धनी। अरे भाई! आओ, क्या तुम्हें भी इजाजत लेकर अन्दर आना होगा?

[दोनों का प्रवेश]

आनन्द—देखता हूँ आजकल के बच्चों में शिष्टाचार जरूरत से ज्यादा बढ़ गया है।······अरे खड़े-खड़े क्या मुँह ताक रहे हो? कुर्सी खींच लो, और बैठ जाओ क्या बैठने के लिए भी आज्ञा लेनी आवश्यक है?

× × ×

"आनन्द के घर में संगीत का अपमान—कला का अपमान······" प्रो० आनन्द के इस कथन के साथ ही चाय की ट्रे लिये और "मेरा अपमान? मेरा अपमान तो किसी ने नहीं किया, बाबूजी!" कहती हुई कला का प्रवेश भी एक ऐसा प्रसङ्ग है।

× × ×

प्रो० आनन्द के अचेत होते ही चाय की ट्रे कला के हाथ से गिर जाती है और "बाबूजी!" यह शब्द कला के मुख से निकल जाता है। नाटक का यह एक अति सुन्दर टैम्पो है!

कविता और सङ्गीत विषयक वार्तालाप भी सुन्दर है। लेखक यहाँ कहीं कहीं अत्यन्त साहित्यिक हो गये हैं। यथा—

विद्यापति—कविता की बात रहने दीजिये, प्रो० साहेब। न जाने किस अशुभ घड़ी में शाप-ग्रस्त देव-कन्या की भाँति वह स्वर्ग-लोक से पृथ्वी पर टपक पड़ी? गङ्गा ने तो स्वर्ग-लोक से उतर कर शायद जड़-जगत को ही पवित्र किया था, किन्तु कविता ने जड़ और चेतन दोनों को ही पवित्र कर दिया। जो परब्रह्म की भाँति विश्व के अणु-अणु में व्याप्त हैं, उसकी सङ्गीत से क्या तुलना?·······

× × ×

धनी—मेघ की मन्द-मन्द मृदङ्ग-ध्वनि सुनकर समस्त मयूरों की गरदनें एक बार ही क्यों ऊपर उठ जाती हैं? और वे अलाप क्यों करने लगते हैं?······क्या सँपेरे की बीन के आगे मन्त्रमुग्ध सर्प को लहराते नहीं देखा? सितार की मींड पर हरिण को जान गँवाते नहीं सुना?···

× × ×

विद्यापति—मानता हूँ, सङ्गीत में सिर हिला देने की शक्ति है, पर वह हृदय को नहीं हिला पाता। वह कानों में अमृत घोल सकता है, पर हृदय के हलाहल

को नहीं खींच सकता। उससे हृदय का मरुस्थल नहीं सींचा जा सकता। वह पत्थर को नहीं पिघला सकता, मुर्दों में प्राण नहीं फूँक सकता। जानते हो, घनीराम, सङ्गीत तान और स्वर की जमीन पर रेंगने वाला जानवर है और कविता खुले आकाश में फुदकने वाली कोयल। दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना बन्दी और स्वतंत्र जीवन में।

आगे, विद्यापति द्वारा मालकोश के पद का आरम्भ अत्यन्त धीरे से होना चाहिये—स। इसिक नहीं, नहीं तो जमा हुआ वातावरण तुरन्त ही बिखर जायगा।

× × ×

नाटकांत में कला व जीवन पारस्परिक सहारा पाने के लिये "जीवन!" व "कला!" सम्बोधन करते हैं—'आनन्द-लीन' प्रो० आनन्द के सान्निध्य में ही। नाटक का यह अन्त ही रूपक को सार्थ बनाने वाला है।

× × ×

नाटक में गाँभीर्य को कुछ कम करते हुए एकाध दो स्मित प्रेरक प्रसङ्ग देने का कार्य भी लेखक ने किया है। ऐसे प्रसङ्ग नाटक में विरले ही हैं। घनीराम व विद्यापति का दिखावटी शिष्टाचार, आनन्द की इस पृच्छा का कि, "सुना तुमने, जीवन? कितना सुन्दर और मधुर है उसका स्वर! जानते हो यह कौन है?" जीवन का निर्दोष उत्तर कि, "लड़की!", और डा० विश्वास का आनन्द को स्वस्थ देखने के अनन्तर का विस्मय—ये सब ऐसे ही प्रसङ्ग है। डा० विश्वास का "विश्वास रखिये", इन शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग भी ऐसा ही है।

× × ×

एक बात में हमारा ध्यान लेखक की असावधानी की ओर खींचा जाता है। यह है दवा की बोतल के सम्बन्ध में। निम्नांकित संवाद के बाद दवा की बोतल के सम्बन्ध में कोई प्रबन्ध नहीं दीख पड़ता।

घनी—मैं दवा ले आता हूँ।

कला—नहीं, घनीराम बाबू! आप दोनों अब घर जाइये। मैं बाबूजी की तबियत पहचानती हूँ। आपके रहने से लाभ के बजाय हानि होने की अधिक सम्भावना है। क्यों ठीक है न, डाक्टर विश्वास?

डाक्टर—आप ठीक कह रही हैं।………

फिर भी, दवा के सम्बन्ध में डाक्टर के ये कथन कि—

"और दवाई—दवाई तो सामने बोतल में पड़ी अपने भाग्य को रो रही है। जिस प्रकार कॉर्क से बोतल का गला घोटकर मैंने उसे भेजा था यह वैसी ही घुटी पड़ी है। कॉर्क खोलकर, एक बार भी उसे साँस लेने का अवसर नहीं दिया गया…"

अनावश्यक एवं अस्वाभाविक लगते हैं।

× × ×

यह एकाङ्की नृत्य, गीत व अभिनय का उत्कृष्ट त्रिवेणी सङ्गम हो सकता है। सामान्यतः गीतों के लिए इसमें काफी गुञ्जायश थी जो पूरी होनी चाहिए, यथा—

(१) कला द्वारा—इसका सर्वप्रथम प्रवेश होते ही। (मीरां का एक गीत)

(२) विद्यापति द्वारा—आनन्द के बेहोश हो जाने के बाद। (मालकोश की धुन)

(३) कला द्वारा—घनी, विद्या व विश्वास के चले जाने पर। (सितार की एक गत)

(४) भिखारी द्वारा।

(५) कला द्वारा नेपथ्य में—भिखारी के लिए खाने को लेने के लिये जाती है, तदनन्तर।

(६) डा० विश्वास की उपस्थिति में जीवन द्वारा।

× × ×

आनन्द व विश्वास का वास्तविक सम्बन्ध क्या है—आनन्द को विश्वास की खास आवश्यता है या नहीं, कला—आशा—सन्तोष के सम्बन्ध क्या हैं, ऐसे अनेक दार्शनिक प्रश्न भी इस नाट्यरूपक में से उठते हैं, इन सब की मीमांसा करना इस लेख की परिधि के बाहर है।

'सुमन' जी के विचार

श्री जगदीशचन्द्र जोशी

[श्री शिवमंगलसिंहजी 'सुमन' से बिड़ला कालेज पिलानी के एम० ए० हिन्दी के छात्र श्री जोशी ने कुछ प्रश्न किये थे जो यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। —सम्पादक]

प्रश्न—काव्य और कवि में क्या सम्बन्ध होना चाहिये ?

उत्तर—नेहरूजी ने एक बार मेरी कापी में लिखा—"अपने जीवन को ही एक कविता बनाना चाहिए" इन महान् पंक्तियों में जो सम्बन्ध झलकता है वही काव्य के साधक और उसकी साधना में है और होना चाहिये।

प्रश्न—काव्य की साधना से आपका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—अपने उत्तरदायित्व को पहिचानते जाना ही साधना का क्रम है। आज का कवि यदि अपने उत्तरदायित्व को समझ ले तो यह उसकी साधना की सबसे बड़ी सफलता होगी। समाज की विशृङ्खल स्थिति एक अभिशाप है, इसके विरुद्ध विद्रोह करना आवश्यक है और इस क्रान्ति को लाना ही कवि का कर्म है, जहाँ भूख है, गरीबी है वहाँ सब ओर अँधेरा ही अँधेरा दीखता है, हमारी आजादी को तीन वर्ष हो गये पर भूख न मिट सकी, नग्नता न ढकी जा सकी। इसमें कवि की जिम्मेदारी भी है—उसकी भी कमजोरी है। गाँधीजी की हत्या पर बच्चन ने जो चेतावनी दी थी, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता, उन्होंने पुरजोर आवाज में कहा था, पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर, सुमन! गाँधीजी की हत्या का उत्तरदायित्व तुम पर है। कैसे तुम्हारे होते हुए यह सब काँड हो गया? अब भी चेतो, अब भी सँभलो!'....अपने उत्तरदायित्व की महत्ता समझने को ही मैं युग के कवि की साधना मानता हूँ।

प्रश्न—पर कवि भी क्या करे? इस अस्थिरता में लक्ष्य भी बनाये तो किसे?

उत्तर—लक्ष्य बिलकुल स्पष्ट है। समाज की विषमता का विरोध और मानवता का अधिक से अधिक कल्याण। आपने यदि मेरी कविताओं पर विचार किया हो तो यह स्पष्ट होगा कि मैं निराशा दुख और अशान्ति से चलता हूँ. पर सदा बढ़ता हूँ विश्वास और आशा लेकर। प्रथम युग की अनुभूति है और दूसरी आदर्श की। चण्डीदास की ये पँक्तियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं—

'सबार ऊपर मानुष, तहार ऊपर किछु नाहिं'

मानव से महान क्या है और मानवता के सत्य से बड़ा सत्य ही कोई नहीं। उस सत्य के लक्ष्य से अच्छा लक्ष्य और आदर्श हो ही क्या सकता है।

प्रश्न—आज प्रगतिवाद अधिकांशतः साहित्यिक कूड़ा दे रहा है, इसका कारण क्या है? आप प्रगति किसे कहते है?

उत्तर—यदि प्रगतिवादी काव्य कूड़ा भी दे रहा है तो इसका कारण यही है कि जनता और स्वयं कवि भी प्रगति का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझते। प्रगति का अर्थ फैशन के रूप में भूख, बेकारी और क्रान्ति लिख देना नहीं। तुलसी भी अपने युग के प्रगतिशील कवि थे। प्रगति तो हमारी सहानुभूति के विस्तार में है, प्राणों के हाहाकार को उतारने में है, घृणा और शोषण कवि में नहीं हैं। पीड़ितों और शोषितों से क्षुद्र से क्षुद्र वस्तु से भी यदि किसी का प्रेम है, किसी की सहानुभूति है तो वह कवि की होनी आवश्यक है। प्रगतिवाद सदोष हो सकता है, पर प्रगतिशीलता नहीं, दृष्टि-

कोण को स्वस्थ बनाना ही प्रगतिशीलता है।

दूसरी बात यह ध्यान में रखिये कि हमें रूढ़ियों को, सड़े गले स्तम्भों को ठोकर मारकर फेंक देना है। उनके मोह को तोड़ देना है। पर संस्कृति के सूत्रों को जोड़ना भी हमारा ही काम है। आज समस्त जनता प्राचीन प्रतीकों को ही सत्य मानकर धार्मिक अन्धविश्वासों में पड़ गई है, उनके पीछे छिपे सत्य जैसे रहे ही नहीं। यही रूढ़िवाद है और इसके विरुद्ध ही हमारा विद्रोह है। हमसे पूर्व विभिन्न—दर्शन और विचार धारायें रहीं, हमें उनसे भी बहुत कुछ लेना है।

प्रश्न—लेनिन ने एक स्थान पर कहा है—"मेरा विचार है कि कलाकार किसी भी दार्शनिक विचार-धारा से मूल्यवान तत्वों को ग्रहण कर सकता है। ××× अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों की मदद से, या यहाँ तक कि प्रत्ययवादी दर्शन की मदद से भी कलाकार कुछ ऐसे दृष्टिकोणों और निष्कर्षों की अभिव्यक्ति करता है जिनसे सर्वहारा की पार्टी को महान् लाभ पहुँच सकता है।" उपर्युक्त कथन से क्या आपका तात्पर्य ऐसा ही है?

उत्तर—यह ठीक है। देखिये न रूस में जन-प्रिय साहित्य गेटे, शेक्सपियर, गोर्की और टालस्टाय का है, उतना और शायद ही किसी का हो। कला का सच्चा रूप यही है, यही सच्चा आदर है। हम भावना में बहकर यह घोषित नहीं कर सकते कि जन-क्रान्ति से पूर्व जो कुछ भी लिखा गया वह सब का सब बूर्जुआ है, फलतः उसे नष्ट कर देना चाहिये। पर इसका यह भी मतलब नहीं कि समस्त 'रीतिकालों' को उठाकर नये काव्य का आधार बना दें।

प्रश्न—काव्य का सत्य क्या है?

उत्तर—मैं एक बार किसी कॉलेज के वार्षिक-समारोह में गया था। पास ही मेरे एक मित्र बैठे थे, कालेज की एक छात्रा ने (Violin) बजाया और इतना सुन्दर बजाया कि हठात् मेरे मुँह से निकल पड़ा—"क्या स्वर्गीय संगीत है।" मेरे मित्र बोले—"सुमन जी! यह स्वर्गीय अवश्य है, पर आप शायद यह भूल गये कि यह सङ्गीत किसी मृत पशु की नसों के तांत से निकल रहा है। जो कुछ भी स्वर्गीय आप देखते हैं वह सब दूसरों की हड्डियों पर खड़ा है।" उर्पयुक्त कथन से मेरा तात्पर्य केवल यही है कि यह कवि की दृष्टि है। केवल रूप-आवरण पर नहीं, चमक दमक पर नहीं, वरन भीतर, गहरे, खूब गहरे में मथकर जो निकलता है वह कवि का सत्य है।

प्रश्न—समिति के उद्घाटन के अवसर पर बचन जी की जिस सेतु बाँधने की बात का आपने समर्थन किया, वह सेतु आप किस-किस के बीच बाँधना चाहते हैं?

उत्तर—अभी मैंने आपसे कहा था कि प्रगति के लिये संस्कृति के सूत्र बाँधना भी आवश्यक है। मैंने आप से यह भी कहा था आज जिन रूढ़ियों की हम पूजा कर रहे हैं वे प्रतीक मात्र हैं। हमारी संस्कृति ने बहुत कुछ ठोस और महान चीजें दी हैं, हमें उसी का अर्थ करना है, Interpretation देना है। उसके अनन्तर वर्तमान से उसकी कड़ी को जोड़ना है। आपने कल मेरी 'दीप जलते ही रहे हैं' शीर्षक कविता सुनी थी, उसके राम और सीता, जनक और रावण सब मेरे भी प्रतीक हैं, मैंने बतलाया था कि कृषि का प्रारम्भ ही उस युग से हुआ था। सीता के विषय में यह पंक्ति देखिये—

कि जिसके जनक ने, धरती,
स्वयं जोती स्वयं बोई।

और जिसके हल की नोंक में उलझकर लक्ष्मी ऊपर आ गई—यह रूपक है। चरित्रों की हत्या नहीं हुई, संस्कृति का तार नहीं टूटा पर युग का चित्र स्पष्ट हो गया। यह प्रतीकों का स्पष्टीकरण है, लक्ष्मी उलझ कर क्या आई, धान्य के लहलहाते खेत उभर आये, इसी सेतु पर मैंने बल दिया था।

प्रश्न—आज की कविता शक्तिहीन क्यों है?

उत्तर—क्योंकि अधिकांश कवि ऐसी पंक्तियाँ लिखना चाहते हैं, जिससे वे अमर हो सकें। यही अमरता उन्हें मारती जा रही है। हम कविता अमर बनने के लिये लिखना चाहते हैं। फलतः उनमें अनुभूतियों की सचाई नहीं रहती, आज ईमानदारी की सबसे अधिक आवश्यकता है।

प्रश्न—मुझे तो लगता है कि पन्त जैसे कवि भी कवि का क्षेत्र छोड़ते चले जा रहे हैं। क्या उत्तरा का उनका 'स्वप्न' स्वप्न ही है?

उत्तर—यह ठीक है, न जाने क्यों हमारे कवियों में यौवन की सी अस्थिरता रहती है। बर्नर्ड शा को देखिये। उसने अन्त तक जो कुछ लिखा, उसमें नूतनता रही। इस चिरंतन ताजगी से हम वंचित हैं। हमारे कवियों का एक Phase सा आता है। शायद हम अपने में अभी तक पकड़ नहीं ला पाये हैं।

पन्तजी कल्पनावादी अधिक हैं। वे इधर अरविन्द से प्रभावित हैं और मैं उनका दर्शन समझने का पूरा दावा नहीं करता। रहा उनका उत्तरा का 'स्वप्न' अभी तो स्वप्न ही है। हो सकता है सौ-दो सौ वर्ष बाद उसकी कुछ परिणति हो सके

प्रश्न—आपकी जीवन की फिलासफी क्या है?

उत्तर—जीवन एक दौड़ है, एक ऐसी दौड़ जिसमें रुकना नहीं, मुड़ना नहीं, केवल दौड़ते चले जाना है, जैसा रवीन्द्र ने कहा है—'वेगेर धाओ उन्मद धाओ।' जीवन को वही समझता है जो दौड़ रहा है, वह गाता जाता है और दौड़ता है, गाने के लिये रुकता नहीं। राह में दो क्षणों के लिये दौड़ता हुआ कोई साथी मिल गया तो उसका आभार है अन्यथा फिर वही दौड़। मार्ग में दृश्य बदलते जाते हैं। यही जीवन है और यही उसकी विविधता।

प्रश्न—क्या आप रवीन्द्र से प्रभावित हैं?

उत्तर—यदि प्रभावित होने का अर्थ उनकी महानता स्वीकार करने से ही है तो मैं अवश्य प्रभावित हूँ। पर यदि उसका सम्बन्ध आप मेरे काव्य से जोड़ना चाहते हैं तो मैं रवीन्द्र से ही नहीं किसी से भी प्रभावित नहीं हूँ।

(शेष पृष्ठ ४१२ का)

है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं—

(१) देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊं।
विजया—हँसी न करो राजकुमारी।
जयमाला—बुरा क्या है?
विजया—युद्ध और गान!

(२) जयमाला—स्वर्ण रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठिकन्ये! हम क्षत्राणी हैं, चिर सङ्गिनी खड्ग लता से हम लोगों का चिर स्नेह है। (विजया से)

(३) विजया—आहा! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है। (स्कन्दगुप्त को देखकर)

(४) शर्वनाग—देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचण्ड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटर चादर से छिपाए हिमालय मौन है, पिघल कर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले!

(५) मुद्गल—सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य', परन्तु प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है। आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं।

(६) स्कन्दगुप्त—वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त! तुम्हारी यह दशा! जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जङ्गल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है।

इस प्रकार वातावरण सृष्टि की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें नाट्यकार ने दृश्य योजना और भाषा के जो प्रयोग किए हैं वे उपयुक्त, मार्मिक और प्रौढ़ हैं।

स्कन्दगुप्त की वातावरण-सृष्टि

प्रो० मोहनलाल एम० ए०, साहित्य रत्न

प्रसाद के पास एक नाट्यकार की सृजनात्मक प्रतिमा थी। अतीत के उन मङ्गलमय क्षणों को उन्होंने अपने नाटकों में संजोया है जहाँ भारतीय संस्कृति का पवित्र सत्व मिलता है। आधुनिक जीवन की तृष्णा और अशान्ति को नवीन गति और नवीन प्राण देने के लिए उनकी रोमेंटिक प्रवृत्ति सहज ही अतीत की ओर देखती है। यही कारण है कि उनके अधिकाँश नाटक इतिहास की आधार-शिला पर खड़े हैं। बौद्धों, मौर्यों और गुप्तों के युगों की पृष्ठभूमि पर इनके कथानक स्थित हैं। उनमें जहाँ करुणा और अहिंसा के आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है, प्रेम और शान्ति की महिमा गाई गई है, और राष्ट्रीय गौरव का उदबोधन किया गया है, वहाँ षडयन्त्र और कुचक्र भी रचे गए हैं तथा गृह-कलह और अन्तर्विद्रोह की उपक्रमणिका भी हुई है। इन नाटकों की भीषण व्यग्रता वातावरण को इतना विक्षुब्ध किए हुए है कि उनकी ओर दृष्टि का जाना स्वाभाविक है। 'अजातशत्रु' में छलना की महत्वाकांक्षा मगध को अशान्त कर देती है, महामाया की कोशल को और मागन्धी की कौशाम्बी को। मगध और कोशल में यह महत्वाकांक्षा राज्य-लिप्सा से फूटती है, कौशाम्बी में सौतिया डाह से। अजातशत्रु में इस प्रकार तीन केन्द्र हैं जिनके चारों ओर तीन आवर्त्त हो गए हैं यद्यपि वासवी और पद्मावती को साध कर नाट्यकार ने तीनों आवर्त्तों को मगध के केन्द्र पर धूमित कर दिया है। 'स्कन्दगुप्त' में केवल एक ही केन्द्र है—अनन्तदेवी की महत्वाकांक्षा, और उसमें इतना तीव्र आक्रोश है कि भटार्क की प्रतिहिंसा और प्रपञ्चबुद्धि का कुचक्र उसके केन्द्र पर प्रत्यावर्त्तन करने लगते हैं। अनन्तदेवी, भटार्क और प्रपञ्चबुद्धि के सङ्गठन से इस नाटक का वातावरण जघन्य षडयन्त्रों से तिलमिला उठा है। 'चन्द्रगुप्त' में भी कुटनीति के खेल हैं, पर वहाँ इतनी भयङ्करता नहीं। वहाँ पौरुष का रोष अधिक प्रबल है, स्त्री की महत्त्वाकांक्षा कम—एक कल्याणी है अवश्य, पर वह भी पुरुष में खोई-सी, हारी-सी।

'स्कन्दगुप्त' का वातावरण गुप्त-युग की पृष्ठभूमि पर आधारित है। बर्बर हूणों के आक्रमण और पारस्परिक मत-विरोध के कारण राष्ट्र की शक्ति जर्जर हो रही है। सौराष्ट्र म्लेच्छों से पदाक्रान्त हो चुका है। मालवा पर सङ्कट है। मगध विलासिता में डूबा हुआ है। विषय-विह्वल सम्राट् तरुणी की आकाँक्षाओं के साधन हो रहे हैं। ऐसी दशा में एक विकट अभिनय अवश्यंभावी है। इस सङ्कट की ओर धातुसेन पहले ही संकेत कर देता है—"काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा।...निमर्म शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रङ्ग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होने वाला है।"

'स्कन्दगुप्त' के वातावरण को इन काले मेघों ने आदि से अन्त तक आच्छन्न कर रखा है। रात्रि के अन्धकार में प्रसाद ने इन मेघों में जो वर्ण भरे हैं, वे इतने गहरे हैं कि पाठक सिहर उठता है। वहाँ रात्रि की शून्यता में षडयन्त्रों का अन्धकार घना हो जाता है, कहीं से प्रकाश की रेखा काँप कर तिमिर में विलीन हो जाती है, रक्त से सनी हुई तलवार बिजली की तरह तड़प उठती है, और किसी कोने से पशु-पक्षी का स्वर निर्जनता को विस्मित कर स्वयं स्तब्ध हो जाता है। वहाँ समीर की गति विक्षुब्ध हो जाती है, नदी की धारा ठिठक पड़ती है और क्रन्दन काँप उठता है। इन दृश्यों की रङ्गस्थली या तो राजसी

प्रासाद है या वीरान श्मशान। इनका नाटक की वातावरण-सृष्टि में अत्यन्त महत्व है।

प्रथम दृश्य। अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ है। अनन्तदेवी अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलना चाहती है। रात्रि का द्वितीय प्रहर बीत चुका है, वह विकल हो भटार्क का रास्ता देख रही है। उसकी दासी कहती है—

जया—स्वामिनी! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।

अनन्तदेवी—क्षुद्रहृदय-जो चूहे के शब्द से भी शङ्कित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महात्वाकाँक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

अनन्तदेवी की महत्वाकांक्षा उन्नति के कटङ्कित माग को स्वीकार करती है। इसमें उसे भटार्क का सहयोग मिलता है। वह प्रतिहिंसा से जल रहा है, सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यङ्गबाण उस पर बरसाये गये थे वे उसके अन्तस्तल में गड़े हुए हैं कुसुमपुर के सौध मन्दिरों में जब महापिशाची की विप्लव ज्वाला धधकेगी, तो उस चिरागन्ध की उत्कट गन्ध में वह अट्टहास करेगा। भटार्क के अतिरिक्त इस नारी को प्रपञ्चबुद्धि का बल भी प्राप्त है। प्रपञ्चबुद्धि संसार को सद्धर्म के अभिशाप की लीला दिखाना चाहता है—दिखाना चाहता है शव चिता में नृत्य करती हुई तारा का तांडव नृत्य, शून्य सर्वनाशकरिणी प्रकृति की मुण्डमालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा और महा नरमेध का उपसंहार।

दूसरा दृश्य। अन्तःपुर का द्वार। रात्रि का अंधकार घना होता जा रहा है। बाहर शर्वनाग सतर्क पहरा दे रहा है। अन्दर परम भट्टारक अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमन्त्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है। शत्रु अपने विषैले डङ्क और तीखे डाढ़ सँवार रहे हैं। रात्रि ऐसी है जो मानों अपनी शून्यता में सब कुछ निगल जायगी। एक सैनिक कहता है—

"नायक। न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है! पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द में चिल्ला कर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता। यह सब क्या है, नायक?"

इस मानसिक व्यग्रता का प्रकृति के साथ जो सामञ्जस्य प्रसाद ने उपस्थित किया है, वह इतना तीव्र है कि नाटक का वातावरण तिलमिला उठता है।

रात्रि की नीरवता में ऐसे दो दृश्य और हैं जिनमें हत्या और विनाश का आयोजन है। देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग है। मदिरोन्मत्त शर्वनाग वर्णमाला के पहले अक्षर कादम्ब, कामिनी और कञ्चन—के लिए जघन्य से जघन्य कार्य करने पर उतारू है। वह मद्यप—उसकी 'लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल लाल रक्त देखना चाहती है।' दूसरी ओर उसकी पत्नी 'रामा' प्रलय की काली आँधी बन कर कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर ताण्डव नृत्य करना चाहती है। अर्द्ध-रात्रि में निस्सहाय देवकी की हत्या के उद्देश्य से कुचक्र रचा जाता है।

इसी प्रकार का एक भयानक कुचक्र श्मशान में शिप्रा के तट पर 'एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिए' देखने में आता है। हिंसा के लोभ में मनुष्य प्राण लेने की कला कुशलता के साधनों छल, कपट, विश्वासघात और पैने अस्त्रों का प्रयोग करता है। विजया की प्रतिहिंसा और उग्रतारा की बलि के लिए देवसेना आहूत होने वाली है। श्मशान की भयावहता में सङ्गीत की लहरी, शिप्रा की छपछप और तलवार की धार एक साथ तड़प उठती हैं।

राजनीतिक षड्यन्त्रों के आक्रोशपूर्ण वातावरण में प्रसाद ने विषाद की प्रस्तावना भी की है। नाटकीय वातावरण की तीव्र विभीषिका जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही यह करुण धूमरेखा भी। विषाद का वातावरण या तो विराग के निवृत्ति-मूलक स्वरों से अवसन्न है अथवा प्रणय के करुण उच्छ्वासों से सजल। देवकी दयामय की कृपा दृष्टि में अनन्य विश्वास लिए बन्दीगृह के अन्दर भी यही गाती है—

पालना बनें प्रलय की लहरें।
शीतल हो ज्वाला की आँधी,
करुणा के घन छहरें।

स्कन्दगुप्त भी उस 'करुणा-सहचर' से 'बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति' एक साथ माँग लेता है। मातृगुप्त को भी असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय दिखाई नहीं पड़ता—भगवान से उसकी यही विनती है—"उतारोगे कब भू-भार।" श्मशान की निस्तब्धता में जीवन का स्वर गूँज उठता है—

सब जीवन बीता जाता है
धूप छाँह के खेल सदृश।

भाव-विभोर देवसेना दूर की रागिनी सुनती हुई सोचने लगती है—"संसार का मूक शिक्षक श्मशान क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्म के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?" जैसे स्कन्द बौद्धों के निर्वाण की कामना करता है, वैसे ही देवसेना भी अपनी कामनाओं को विस्मृति के नीचे दबा देना चाहती है। यह निवृत्ति इतनी अवसादपूर्ण है कि नाटक की करुणा भी उससे तिक्त होने लगती है।

'स्कन्दगुप्त' के विषादपूर्ण वातावरण का एक दूसरा पक्ष प्रणय का है। प्रसाद के नाटकों में प्रणय की व्यञ्जना कितने ही रूपों में मिलती है। एक रूप वह है जहाँ प्रेम की विरल स्निग्धता है—दो बालूकापूर्ण कगारों के बीच उसकी निर्मल धारा प्रवाहित है। वह 'चन्द्रगुप्त' में कार्नीलिया है, 'अजातशत्रु' में वाजिरा। दूसरा रूप वह है जहाँ प्रणय का मूक बलिदान है—सङ्गीत की करुण रागिनी की तरह नाटक के जीवन में उसका विश्वास व्याप्त है। 'चन्द्रगुप्त' में वह मालविका है, 'स्कंदगुप्त' में देवसेना। तीसरा रूप वह है जहाँ उन्माद की प्रबलता है—वह प्रलय की अनलशिखा से भी अधिक लहरदार है। 'अजातशत्रु' में वह मागंधी है, 'स्कन्दगुप्त' में विजया। 'स्कन्दगुप्त' के वातावरण में जहाँ प्रलय के मेघ छाए हुए हैं, वहाँ प्रलय का उल्कापात भी मिलता है। इस आक्रोश का कारण विजया की महत्त्वाकाँक्षा है। इसका एक परिणाम यह होता है कि देवसेना अपने हृदय की कोमल कल्पना को सदा के लिए भुला देती है। जब उसके हृदय में रुदन का स्वर उठता है, वह उसे सङ्गीत की वीणा में मिला लेती है। वह जब गाती है तो मानों उसके भीतर की रागिनी रोती हो और जब हँसती है तो मानों विषाद की प्रस्तावना हो रही हो। वह जैसे स्वयं करुणा की मूर्ति हो—"सङ्गीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रय हीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद...।" नाटक के अन्त में जब वह जीवन के भावी सुख, आशा और आकाँक्षा, सबसे विदा लेती है तो मानों उसके अन्दर का रुदन फूट पड़ा हो—

आह! वेदना मिली विदाई!
मैंने भ्रम-वश जीवन-सञ्चित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।

इस नारी के जीवन की 'एकान्त व्याकुलता' ने नाटक को अवसाद में गहरा डुबो दिया है। उसके नारीत्व की महानता इसमें है कि वह एक क्षण के रुदन में अनन्त स्वर्ग का सृजन करना चाहती है।

वातावरण के निर्माण में प्रसाद ने भाषा के नव-नव प्रयोग किए हैं। प्रसाद की भाषा साधारणतः एक ही स्तर पर चलती है, पर भावों के उद्वेलन को व्यक्त करने में वह अत्यन्त कुशल है। शब्दों के स्पर्श-मात्र से भाव टकरा उठते हैं, और केवल शब्द-चित्रों की नहीं, भाव-चित्रों की सृष्टि होने लगती है। मातृगुप्त के शब्दों में मनोहर स्वप्न, देवसेना के शब्दों में करुणा की सजल राशि, बंधुवर्मा, धातुसेन आदि के शब्दों में राष्ट्रीय गौरव का उद्बोधन, प्रपञ्च बुद्धि, भटार्क, विजया, अनन्तदेवी आदि के शब्दों में षडयन्त्रों की अवतारणा मिलती है। भाषा के इस प्रयोग में प्रसाद की एक विशेषता गीतों की रचना है। जब मातृगुप्त अपने अतीन्द्रिय जगत की कल्पना को पकड़ना चाहता है, उसका स्वप्न टूट जाता है, वह गा उठता है—"मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।" देवकी और स्कन्दगुप्त भी जब अपने चारों ओर कुत्सा का वातावरण देखते हैं, तो व्यापक हो गीतों में बोल उठते है। देवसेना तो स्वयं एक करुण गीत है। विजया भी उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद-मण्डल में दो बिजलियों के समान स्कन्दगुप्त के साथ क्रीड़ा करते-करते तिरोहित हो जाना चाहती है—

अरुण धूप की श्याम लहरियाँ,
उलझी हों इन अलकों से।
मादकता लाली के डोरे,
इधर फँसे हों पलकों से॥

नाटक के षड्यन्त्रपूर्ण वातावरण के निर्माण में तो प्रसाद ने दृश्यों की योजना के अतिरिक्त ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका अपने जीवन में, बोल-चाल व्यवहार में तो शायद ही उन्होंने कभी उच्चारण किया हो। इन शब्दों में इतनी आक्रोश है कि वातावरण स्वयं मूर्त्त हो जाता है। इस भाषा का पात्रों के जीवन-स्तर से सामञ्जस्य कर दिया है। निम्न पशुओं (Lower Animals) का और उनकी विभिन्न कोटियों का जितना उल्लेख इस नाटक में मिलता है, उतना प्रसाद के किसी भी नाटक में नहीं। यहाँ नारकीय कीड़े, भेड़िए, राजपुत्र, श्मशान के कुत्तों से पतित मनुष्य, विषैले डङ्क के बिच्छू, धन लोलुप शृगाल, काल-भुजङ्गी राष्ट्रनीति, राक्षस विभीषण, बन्दर सुग्रीव, और न जाने कितने ही प्रकार के निम्न कौवे, चूहे और अपदार्थ कीड़े मिलेंगे। प्रपञ्चबुद्धि "क्रूर कठोर नर-पिशाच" है, "उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है; मुस्कराहट में विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है, बातें करता है, और बिजलियों से आलिङ्गन।" फिर शर्वनाग है—"पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक", "रक्त पिपासु, क्रूरकर्मा मनुष्य, कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध।" और भटार्क—"नीच, कृतघ्न, देश-द्रोही, राजकुल की शान्ति का प्रलय मेघ।' अनन्तदेवी तो एक 'दुर्भेद्य नारी-हृदय' 'साहसशीला स्त्री', 'गुप्त साम्राज्य के भाग्य की कुञ्जी', जिसकी 'आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चञ्चल प्रवञ्चना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है।" और विजया—'कृत्या अभिशाप की ज्वाला', पहाड़ी नदी से भयानक ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से भी लहरदार।"

वातावरण के निर्माण में प्रसाद ने भाषा का एक और प्रयोग किया है जिससे उसे तीक्ष्णता मिल सकी है। वह प्रयोग प्रसाद की वे उक्तियाँ हैं जिनमें व्यङ्ग तो है ही किन्तु उसके अतिरिक्त एक प्रकार का विरोधाभास भी है जहाँ तुलना और विषमता के कारण भाषा में वक्रता आ गई है। विरोधी वस्तुएँ एक साथ उपस्थित कर दी गई हैं जिनके फल स्वरूप शब्द विन्यास मार्मिक हो सका

(शेष पृष्ठ ४०८ पर)

आलोचना

बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली (प्रथम भाग)—सम्पादक—श्री झाबरमल शर्मा और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। प्रकाशक—गुप्त स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति, कलकत्ता। पृष्ठ ७२४, सजिल्द मूल्य १०)

इस पुस्तक में स्वर्गीय बाल मुकुन्द गुप्त के मुख्य-मुख्य लेखों और कविताओं का संग्रह है। आधुनिक हिन्दी के निर्म्माण-काल में गुप्तजी उसके चोटी के लेखक गिने जाते थे और उनके द्वारा सम्पादित 'भारत-मित्र' समाचार-पत्र का स्थान अपने सहयोगियों में सर्वोच्च था। भारत-मित्र में ही इनमें से प्रायः सभी निबन्ध तथा कविताएँ प्रकाशित हुए थे। जो लोग उससमय भारत-मित्र को नियमित रूप से पढ़ते थे तथा जिनमें गुण-ग्राहकता भी थी, वे गुप्तजी के बहुत से लेखों के कटिङ्ग रखते थे। आज उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कर रसज्ञ पाठकों को उपकृत कर दिया है।

इतने वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी इन निबन्धों की वर्णन-शैली में पूरी-पूरी ताजगी प्रतीत होती है, उनके पढ़ने से जी नहीं ऊबता और तत्कालीन परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। इनमें कोई गम्भीर गवेषणा नहीं और न कोई शुष्क-सिद्धान्त तथा शास्त्र प्रतिपादन करने का आडम्बरपूर्ण प्रयास है। साधारण जन के मन पर दिन प्रति-दिन की बातों से होने वाली प्रतिक्रिया का बड़े सजीव ढङ्ग से वर्णन है, जो तत्काल पाठक के चित्त को तल्लीन कर उसे आनन्द में डुबो देता है। गुप्तजी के कहने का ढङ्ग उनकी सीधी-सरल भाषा और मन-गत भावना को चित्रित करने की शक्ति—एक से एक हृदय-ग्राही हैं। गुप्तजी फारसी-उर्दू पढ़ कर तथा लिख कर हिन्दी में आये थे और उर्दू उस समय राजाश्रित रह कर अपना अच्छा विकास कर चुकी थी। गुप्तजी उर्दू का प्रवाह, उसका रोज-मर्रा-पन और प्रगतिशीलता लेकर हिन्दी में आये और हिन्दी को भी उसी मर्यादा में ढालने लगे। उनके समय में भाषा की शुद्धता का अर्थ यही था कि वह शिष्ट-समाज द्वारा ग्राह्य हो, यह नहीं कि उसमें संस्कृतेतर शब्द एक न आवे या शब्द के प्रचलित रूप की भी शुद्धि कर उसे पाणिनि से पास करा लिया जाय। फिर भी यह कोई नहीं कह सकता कि गुप्तजी किसी से भी कम हिन्दी-हितैषी थे। वे उर्दू-फारसी के जानकार थे पर उर्दू शब्दों को हिन्दी में व्यवहार करने में कभी किसी अक्षर के नीचे बिन्दी न लगाते थे बल्कि भारत-मित्र का शायद ही कोई महीना खाली जाता होगा जिसमें वे हिन्दी के किसी न किसी विद्वत्ताप्रदर्शक लेखक की शीन, काफ तथा जीम-जे की भूल की हँसी न उड़ाते हों। उनके भाषा-विषयक विचार (सन् १९०५) आज भी कैसे समीचीन मालूम होते हैं:—"हमारे लिए इस समय

वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें, उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ-न-कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बङ्गाली मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे। किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती, जब तक उसमें उस देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।"

पुस्तक के गद्यांश को पांच उपयुक्त भागों में विभक्त किया गया है। पहले में चरित-चर्चा है। इसमें गुप्तजी द्वारा लिखित सत्रह जीवन-चरित हैं। दूसरे भाग में उनके राष्ट्र-भाषा और लिपि विषयक विचार हैं। तीसरे में शिवशम्भु के चिट्ठे और खत हैं। इस भाग में गुप्तजी के लेखन-कौशल की पूर्ण छटा देखने को मिलती है। चौथे में संवाद-पत्रों का इतिहास है। इसमें उर्दू अखबार तथा हिन्दी अखबारों का विकास तथा इतिहास बड़ी सजीव भाषा में वर्णित है। पाँचवें में आलोचना-प्रत्यालोचना है। इसमें गुप्तजी के हास्य, व्यंग्य और कटाक्षों की बौछार के साथ-साथ बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जिनसे भाषा तथा व्याकरण की बहुत-सी बारीकियों का बोध हो सकता है। इस बात का भी दिग्दर्शन मिल जाता है कि उस समय में वाद-विवाद किस ढङ्ग से हुआ करते थे और लोग किस सीमा तक व्यक्तिगत कटाक्ष भी किया करते थे। यथार्थ में गुप्तजी सच्चे थे और उनमें खरी कहने का साहस था। जिसे उन्होंने ढोंग अथवा अनधिकार चेष्टा समझा, उसकी काट अवश्य की। यह कार्य उन्होंने ईर्षा-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं किया बल्कि कर्त्तव्य-वश, और इसी कारण उनका स्थान विरोधी पक्षवालों से ऊपर समझा जाता है।

गुप्तजी की कविताएँ एक पत्रकार की समयानुकूल पद्य-रचनाएँ हैं जिनसे भारत-मित्र के पाठकों ने आनन्द उठाया। इनमें सबसे अधिक लोक-प्रियता उनकी हँसी-दिल्लगी वाली कविताओं को मिली। हिन्दी के समाचार-पत्र आज भी उनके चलाये हुए मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं और अपने पाठकों का मनोरञ्जन करते रहते हैं।

गुप्तजी के निबन्धों का सबसे अधिक मूल्यवान अंश उनकी वर्णन-पटुता तथा सजीव शैली है। और इसी कारण से जब तक संसार में हिन्दी-रसिक हैं तब तक उनके लेख पढ़े जायँगे। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त चाहे झूठे पड़ जायँ (जैसे हिन्दी भाषा विषयक कई बातें अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी हैं) पर उनके कहने का ढङ्ग सदा याद रखने की चीज बना रहेगा।

अच्छे सफेद कागज पर छपी हुई और जिल्द बँधी हुई सवा सात सौ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल दस रुपये रखकर प्रकाशकों ने बड़े उपकार का काम किया है और आशा है हिन्दी का कोई भी पुस्तकालय इसे मँगाकर इससे अपनी शोभा बढ़ाये बिना नहीं रहेगा।

बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ—हिन्दी के यशस्वी पत्रकार स्वर्गीय बा० बाल मुकुन्द गुप्त की पुण्य-स्मृति में उनके सुपुत्र बा० नवलकिशोर गुप्त ने विशिष्ट श्राद्धायोजन कर एक बड़ा उपयोगी और अनुकरणीय कार्य किया। राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन की अध्यक्षता में बालमुकुन्द गुप्त-महोत्सव सम्पन्न हुआ, और उसी अवसर पर यह स्मारक ग्रन्थ प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक श्री झाबरमल्ल शर्मा तथा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी हैं। शर्माजी को स्वर्गीय गुप्तजी को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला था, अतएव उनका लिखित जीवन-परिचय बहुत सजीव है और उनके श्रम तथा अध्यवसाय का पूर्ण परिचायक है। शर्माजी के लिखित पुस्तक के आरम्भ के २१८ पृष्ठ

बहुत ही मनोरञ्जक और सुपाठ्य हैं, और गुप्तजी के सम्बन्ध की सभी ज्ञातव्य बातों पर पूर्ण प्रकाश डालते

अपने समय के गुप्तजी महान् पत्रकार थे और सदा न्याय के पक्ष का समर्थन करते थे। उनके समान प्रवाह-मयी भाषा लिखनेवाला भी कोई और न था, और उनका भारत-मित्र आज तक के अनेक पत्रकारों का पथ-प्रदर्शक रहा है। गुप्तजी हास्य, व्यंग्य तथा कटाक्ष भी प्रायः लिखते थे, और इन अस्त्रों द्वारा कई कुरीतियों तथा धाँधलबाजियों को मिटाने में कृतकार्य्य हुए थे। पर उनके दिल में मैल न था। उनकी कई हिन्दी-महारथियों से नवी, लगातार महीनों वाद-विवाद चला किया, दोनों ओर से जी खोलकर प्रहार हुए, पर पाठकों को इसी निर्णय पर आना पड़ा कि अपने प्रतिद्वन्दियों की अपेक्षा गुप्तजी का मन अधिक निर्मल था।

विद्या-व्यसन, मातृ-भाषा-प्रेम तथा आत्म-सम्मान गुप्तजी के विशेष गुण थे। नीरस से नीरस विषय को भी सरस बना देना उनकी लेखनी का चमत्कार था। जिस ढङ्ग से वे बात कहते थे, वह उन्हीं के साथ गया। उनके बाद कई लोगों ने उनकी शैली का अनुकरण करने का प्रयास किया, और कई अंशों में सफल भी हुए पर वहाँ तक कोई पहुँच न पाया।

पुस्तक के द्वितीयार्ध में अनेक सज्जनों के संस्मरण तथा श्रद्धांजलियाँ भी सन्निविष्ट हैं, जिनसे गुप्तजी की प्रतिभा तथा सज्जनता पर काफी प्रकाश पड़ता है। इनमें विशेषतया वे बहुत ही पठनीय हैं जो गुप्तजी के समकालीन मित्रों की लिखी हुई हैं। जिन साहित्यकारों का गुप्तजी से व्यक्तिगत परिचय न था, अथवा जो उस काल के हिन्दी-संसार से परिचित नहीं, अथवा जिन्होंने गुप्तजी की लेखनी का स्वाद केवल सुनकर मान लिया है, उनकी श्रद्धाञ्जलियाँ भी देकर सम्पादकों ने बड़ी उदारता का काम किया है—शायद लिख डालने वालों के साहस की दाद दी है।

हिन्दी की मर्मज्ञता प्राप्त करने के अभिलाषियों के लिए गुप्तजी को जानना परमावश्यक है, और बिना उनका व्यक्तित्व पहचाने (जो इस पुस्तक द्वारा हो सकता है) उनकी शैली तथा साहित्य-सेवा का ज्ञान होना दुस्साध्य है।

पुस्तक की छपाई—जिल्द इत्यादि बहुत अच्छी हैं, और वह सभी हिन्दी-पुस्तकालयों में संग्रह किये जाने योग्य है। मूल्य ५) है।

श्री रामचरित मानस—(प्राचीनतम प्रतियों की सहायता से निर्धारित पाठ और पाठांतर युक्त) सम्पादक—श्री माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट्०, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। प्रकाशक—साहित्य कुटीर, प्रयाग। मूल्य तीन रुपये।

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने जितना परिश्रम तुलसीदास-सम्बन्धी खोज तथा अध्ययन में किया है उतना आधुनिक काल में किसी दूसरे में नहीं किया। अतएव उन्हें तुलसीदास का विशेषज्ञ समझना उचित है। जिस वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष दृष्टि से उन्होंने तुलसी-सम्बन्धी अनेक विवाद-ग्रस्त प्रश्नों पर प्रकाश डाला है उसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं और उनकी निरन्तर संलग्नता तुलसी-प्रेमियों के लिए बड़ी आशा और सन्तोष का विषय है।

हिन्दी-संसार में पिछले चालीस वर्षों से रामचरित मानस (रामायण) के शुद्ध पाठ पर बड़ी ऊहापोह होती रही है। सबसे पहले पटना के खड्ग-विलास प्रेस ने एक संस्करण प्रकाशित किया था, जिसकी शुद्धता का दावा उसके सम्पादकों ने बड़े जोर-शोर के साथ किया था। उसके बाद एक संस्करण इण्डियन प्रेस, प्रयाग से निकला जिसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कई विद्वान तथा यशस्वी सदस्यों ने प्रकाशित कराया था। दोनों संस्करणों के संपादकों का एक ही दा[illegible] और वह यह कि उनका पाठ-शुद्ध है। परन्तु इन दोनों के पाठों में अनेक स्थलों पर बड़ा अन्तर था और

जिज्ञासुओं को बड़े असमञ्जस में पड़ना पड़ता था। उसके बाद काशी की सभा द्वारा तुलसी-ग्रन्थावली का प्रकाशन हुआ। इसमें कुछ और ही पाठ था। हिन्दी पाठकों में शुद्ध-पाठ की माँग बढ़ती देख कर कई अवसरवादी प्रकाशकों ने अपने अपने संस्करण निकाल कर लाभ उठाया परन्तु उनमें शायद किसी को भी तुलसी के मूल पाठ के उद्गार करने की आकांक्षा न थी, केवल तात्कालिक वातावरण से लाभ उठाना ही उनका ध्येय था। उन लोगों ने उतना अनुशीलन, उतनी तपस्या भी न की थी जो इस कार्य के लिये अपेक्षित थी और न उनमें वैज्ञानिक अनुसन्धान करने की क्षमता ही थी।

कुछ वर्ष पहले काशी में पं० शम्भुनाथ चौबे ने बहुत अध्यवसाय-पूर्वक बहुत से पाठान्तर जमा किये थे परन्तु उनके अकाल निधन से वह काम भी अधूरा रह गया था। जैसी आशा थी, इस ओर किसी न किसी दिन डा० माताप्रसाद का ध्यान आकृष्ट होना था और वह हुआ भी और उसी के फल-स्वरूप यह पुस्तक हमारे सामने है! इसमें बड़े सन्तुलित विवेक के साथ पाठ-पाठान्तर पर विचार किया गया है और स्वीकृत पाठ के साथ साथ फुट-नोट में पाठ-भेद भी दिखला दिये गये हैं। जिनको तुलसी की कविता के अनुशीलन से प्रेम है, उनके लिए यह पुस्तक अवश्य संग्रहणीय है।

—केदारनाथ भट्ट

नाटक

करुणा—(हिन्दी सामाजिक नाटक)—लेखक—श्री भैरूलाल व्यास, प्रस्तावनाकार—श्री सीताराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य समिति, महादेव गली, बेलगाम। पृष्ठ ६७, मूल्य १॥)

यह नाटक दो अङ्कों में समाप्त हुआ है। स्थान दोनों अङ्कों में एक ही है—नलिनी का कमरा। हिन्दी के नाटकों से इसमें यह विशेषता है कि 'स्थान' का मूल नाटकीय-सूत्र में कोई विशेष उपयोग नहीं होता। वस्तु भी बहुत सरल और सूक्ष्म है, नाटककार ने बहुत ही कलात्मक ढंग से विविध पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लेखक ने बताया है कि सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आर्थिक अथवा आधिभौतिक त्याग की तो बड़ी आवश्यकता होती ही है, उसकी महत्ता गांधी युग में बताने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। फिर भी आध्यात्मिक त्याग का सामाजिक स्वास्थ्य से और भी गहरा सम्बन्ध है। आधिभौतिक त्याग से समाज का व्यावहारिक जीवन शान्तिप्रद हो सकता है परन्तु आध्यात्मिक त्याग से समाज का आन्तरिक जीवन शान्ति की ओर प्रवाहित होता है। लेखक ने इसी सिद्धान्त को इस नाटक द्वारा प्रस्तुत किया है। प्रेम का अपना बलिदान महान् है, और दाम्पत्य प्रेम की भ्रातृ-भगिनि प्रेम में परिणति भव्य है। 'करुणा' की करुणा ही अन्त में इस परिणति का मार्ग सुझाती है। नलिनी और अरुण के प्रेम में एक पवित्र उन्माद और सहज उचता है। प्रताप जैसे स्वार्थी तिर्यक पात्र को उचित आघात ही पहुँचाया गया है। इस प्रेम के रूपक में प्रसंगावसात् मजदूरों की हड़ताल की भर्त्सना भी खूब प्रस्तुत की गई है—पहले प्रभूत उपार्जन तब सम बँटवारा—यह सिद्धान्त यहाँ प्रतिपादित किया गया है। भारतीय आर्य आदर्श की अच्छी प्रतिष्ठा हुई है।

देवता—लेखक-श्री रामनारायण शास्त्री, प्रकाशक—जीवन-कला प्रकाशन, १४३, मल्हारगंज, इन्दौर। पृष्ठ १३६, मूल्य २॥)

यह नाटक है। नाटककार का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना है कि मनुष्य की महानता धन-राशि की प्रचुरता से नहीं आँकी जानी चाहिए। उसके जीवन के आदर्श से आँकी जानी चाहिये। गोविन्द दास के समक्ष अपनी पुत्री सुधा के लिए दो व्यक्ति हैं :—जीवन चन्द्र तथा हरिश्चन्द्र। जीवन चन्द्र

किसानों तथा दरिद्रों की सेवा में अपने धन को लुटा-कर दरिद्र हो जाता है, इसी कारण गोविन्ददास जीवन चन्द्र से विरक्त हो जाता है, और यह जानते हुए भी कि सुधा-जीवन को ही प्रेम करती है, उसे धनी हरिश्चन्द्र के हाथों सौंप देता है। और उसे अपनी भूल तब विदित होती है, जब एक ओर तो हरिश्चन्द्र द्वारा प्रताड़िता साध्वी पतिव्रता सुधा क्षयग्रस्त हो प्राण त्यागने को प्रस्तुत हो रही होती है, और दूसरी ओर जीवनचन्द्र का सम्मान बढ़ता जाता है। हरिश्चन्द्र में वे समस्त दोष हैं, जो अमीरों में हो सकते हैं, किन्तु जीवनचन्द्र को धनहीन-वित्तहीन-जमींदारीहीन हो जाने पर भी जब वह अपने धन-बल, षडयन्त्र-चक्र से नीचा नहीं दिखा सकता और सुधा को भी खोने लगता है तो, और विशेषतः जीवन को अपमानित और लाञ्छित करने के लिए जब वह सन्नद्ध है, तब भी जीवन उस पर छोड़ी गयी लाठी के प्रहार से स्वयं आहत होकर उसकी रक्षा करता है, इस साधुता से अन्ततः प्रभावित और परास्त होकर अनुताप और पश्चाताप में शुद्ध होता है।

नाटक रङ्गमञ्च की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। रोचक कथा वस्तु, उच्च-विचार, सफल चरित्र-चित्रण और सहज भाषा सभी दृष्टियों से श्लाघनीय है। आज हमें ऐसे ही चरित्र उन्नायक आदर्शवादी नाटकों की आवश्यकता है। लेखक का यह प्रथम प्रयास है, आगे इनसे और भी अच्छे नाटकों की आशा हो सकती है।

—सत्येन्द्र

कहानी

पूर्व और पश्चिम तथा अन्य नाट्य कहानियाँ लेखक—श्री रावी; प्रकाशक—आधुनिक पुस्तकागार, आगरा। मूल्य १)

इस पुस्तक में लेखक की दस रचनाओं का संग्रह है जिसे उन्होंने एकांकी नाटक न कह कर नाट्य कहानियाँ कहा है। लेखक की इन नाट्य कहानियों में सेक्स तथा सूक्ष्म जगत सम्बन्धी विचारों का बड़े ही मौलिक ढङ्ग से प्रतिपादन हुआ है। कहानियों की समस्याएँ सीधे जीवन से नहीं उठतीं, विचारों की रगड़ से पैदा होती हैं। गम्भीर विचारों को उपस्थित करते समय भी लेखक की मुद्रा कहीं भी गम्भीर नहीं होने पाई है, इसीलिए नाटक और कहानी का सर्वप्रधान गुण मनोरञ्जन का तत्व प्रायः सर्वत्र व्याप्त है।

'पुरुष सुन लें' में विचारों की प्रधानता है। 'रेखा मनुष्य भी है' इस संग्रह का सर्वोत्कृष्ट एकांकी है, जिसमें नाटकीयता का तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। 'पूर्व और पश्चिम' में यद्यपि विचार-प्रतिपादन की ही प्रधानता है; लेकिन उसका अन्त बड़ा ही कलात्मक तथा आकर्षक हुआ है। 'कब्र के आगे' पढ़ने से ऐसा लगता है कि लेखक का थियोसोफी में विश्वास है। यह एक कहानी ही है जिसमें सिनेमा के टे[illegible]क को अपनाया गया है। अन्य नाट्य-कहानियाँ भी लेखक के नूतन प्रयोग की सफलता सूचित करती हैं। सब मिला कर कहा जा सकता है कि पुस्तक पठनीय ही नहीं विचारोत्तेजक भी है। लेखक ने भूमिका में लिखा है कि वह एकांकी के टेकनीक से अनभिज्ञ है लेकिन उसकी प्रतिभा की तूलिका ने विचारों को कलात्मक रूप में सँवारकर उपस्थित किया है। आशा है एकाँकी के क्षेत्र में श्री रावी हिन्दी को नवीन कला-विन्यास से सजा देंगे।

मृत्यु में जीवन—लेखक—अरुण एम० ए०, प्रकाशक—निष्काम प्रेस, मेरठ। मूल्य १)

इस पुस्तक में एक उपन्यास तथा १८ कहानियाँ सङ्कलित की गई हैं। 'मृत्यु में जीवन' एक छोटा सा उपन्यास है जिसके नाम पर ही पुस्तक का नाम-करण हुआ है। यह उपन्यास बड़ा ही गति शील है। पात्रों का चरित्रचित्रण भी सुन्दर हुआ है। लयङ्ग इसकी प्रमुख पात्री है, जिसके हृदय का द्वन्द्व

बड़ी ही सफलता के साथ चित्रित हुआ है। तीन कहानियाँ विदेशी कहानियों के छायानुवाद हैं। अन्य छोटी कहानियों के लिखने में भी लेखक सफल हुआ है। छोटी कहानियों की भाषा चुस्त होनी चाहिए, लेकिन कहीं-कहीं भाषा का दोष रह गया है। इन कहानियों के आधार पर कहा जा सकता है कि लेखक का भविष्य उज्ज्वल है।

—प्रो० रामरघुवीर

राजनीति

सर्वोदय—लेखक-आचार्य श्री विनोवा भावे प्रकाशक-सस्ता साहित्य-मण्डल दिल्ली। पृष्ठ १२३, मूल्य १॥)

सर्वोदय गान्धीजी का शब्द है। विनोवा जी के शब्दों में इसका अर्थ है—'ऊँच और नीच सबके मानवी अधिकार समान है।' यह भी सत्याग्रह का ही रूप है। विनोवाजी के मत से सत्य स्वयं अपनी प्रतिष्ठा रखता है। यही बात सर्वोदय की है। इस पुस्तक में भी गान्धीजी के मूल सिद्धान्त सत्य और अहिंसा पर विनोवाजी द्वारा समय-समय पर दिये प्रवचनों का संग्रह है—गान्धीजी की मृत्यु हमारे लिए सत्य की परीक्षा है। दूसरों का व्यवहार सत्य का रूप बदल नहीं सकता, जो लोग 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त मानते हैं वे स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते, वे अपने को दूसरे पर आश्रित कर देते हैं। सत्य तो वह है कि जो दूसरे से निरपेक्ष होकर सत्य बना रहे। गान्धीजी के साथ विनोवाजी भी साध्य की शुद्धता के साथ साधनों की शुद्धता चाहते हैं। इसीलिए वे सभी अहिंसात्मक कार्यों के खिलाफ हैं, अगर किसी संस्था में रहकर अहिंसा का त्याग करना हो तो वह संस्था चाहे जितनी हितकर हो त्याग देंगे। शस्त्रों की हिंसा को तो वे नैतिक रूप से ही नहीं, वरन् इस विज्ञान के युग में व्यावहारिक रूप से भी अनुपयोगी मानते हैं। यह सब चीजें सिद्धान्त रूप से तो ठीक हैं ही, और अहिंसा और शान्ति हमें अपना लक्ष्य ही रखना चाहिए, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि संसार इन सिद्धान्तों के लिए अभी परिपक्व नहीं है। इस बात को वे भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका कहना है कि ऐसी स्थिति में ही सच्चे साहस की परीक्षा होती है। 'हिंसा के बदले में हिंसा' से तो तारतम्य कभी खतम ही नहीं होगा। अहिंसा के सिद्धान्त में दृढ़ बनाये रखने में यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी।

दर्शन

वैदिक-साहित्य—लेखक-पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रकाशक-भारतीय ज्ञान पीठ बनारस। पृष्ठ ५१२, मूल्य ६)

वेद हिन्दुओं के लिए ही नहीं संसार के साहित्य में अपना विशेष महत्व रखते हैं। हिन्दू लोग चाहे वेदों के बारे में कुछ जानते हों या न जानते हों, उनको मुक्त कंठ से अपना धर्म-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। लो० तिलक ने तो वेदों में प्रामाण्य बुद्धि 'प्रामाण्य-बुद्धिर्वेदेषु' हिन्दुत्व का प्रमुख लक्षण माना है। वेदों के बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों ने इनकी जानकारी बढ़ाने का स्तुत्य प्रयत्न किया था, फिर भी वह किसी अंश में एकाङ्गी ही रहा। आधुनिक काल में सांस्कृतिक चेतना जाग्रत होने से वैदिक-साहित्य की जानकारी विशेष रूप से वाञ्छनीय हो गई थी। ऐसी अवस्था में श्री रामगोविन्द त्रिवेदी लिखित वैदिक-साहित्य नाम की पुस्तक विशेष रूप से स्वागत योग्य है। त्रिवेदीजी ऋग्वेद का टिप्पणी सहित हिन्दी अनुवाद कर चुके हैं। इसलिए वे वैदिक साहित्य पर लिखने के अधिकारी हैं। यद्यपि उनमें प्रचारक का-सा उत्साह है, तथापि उनका दृष्टिकोण संतुलित अध्ययन का है। पंडितजी ने वेदों के निर्माण काल, यज्ञों में पशुवलि, वेदों में इतिहास आदि विवादास्पद विषयों पर अपना

निर्णय न देकर भी उनके सम्बन्ध में इतनी ज्ञातव्य समग्री उपस्थित करदी है कि पाठक स्वयं अपना निर्णय कर सकते हैं। पण्डितजी का दृष्टिकोण पाडित्य-पूर्ण और गवेषणा पूर्ण होते हुए भी सनातन धर्मी दृष्टिकोण के अधिक निकट है। पौराणिक साहित्य में आप वैदिक साहित्य की छाया देखते हैं। आप वैदिक कथाओं को कथा-रूप में भी सत्य मानते हैं, और सायण आदि के लगाये हुए आध्यात्मिक अर्थों को भी मानते हैं। पशुवलि के सम्बन्ध में भी आपने हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों ही मतों का उल्लेख किया है किन्तु गीता के अहिन्सात्मक और कर्त्तव्य रूप यज्ञ पर कुछ अधिक बल दिया है।

पण्डितजी ने केवल संहिताभाग को ही अपनी विवेचना का विषय नहीं बनाया है, वरन् ब्राह्मण और उपनिषद ग्रन्थों को भी वेद ही मान कर उनका विवेचन किया है। साथ ही आप में वेदों से सम्बन्ध रखने वाले निरुक्त, निघन्टु, कल्प सूत्र और मीमान्सा आदि शास्त्रों पर विशद प्रकाश डाला है। वेदों के आध्यात्मिक और भौतिक पक्ष दोनों का ही उद्घाटन किया है। त्रिवेदीजी ने बताया है कि वेदों में सूर्य को सौर्य मण्डल का केन्द्र माना गया है, और पृथ्वी आदि ग्रहों को उसके चारों ओर घूमता हुआ बताया है। कुछ उद्धरणों द्वारा पण्डितजी ने वेदों में विमानों का भी वर्णन बताया है और राजा का परिषद् व समिति द्वारा चुना जाना भी दिखाया गया है। वैदिक संस्कृति का सुमात्रा, जावा, बाली, इन्डोनेशिया, मलाया आदि देशों में प्रसार का वर्णन पढ़कर गर्व से मस्तक उन्नत हो जाता है। पुस्तक सभी दृष्टियों से उपादेय और ज्ञान प्रद है। इसमें पण्डितजी के विस्तृत अध्ययन और गवेषणा बुद्धि का परिचय मिलता है।

वैदिक-दर्शन—लेखक-डा० फतहसिंह, प्रकाशक—संस्कृति सदन कोटा। पृ० २४७, मूल्य ५)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का उद्देश्य वैदिक-तत्व-ज्ञान, साधारण ज्ञान करना इतना नहीं है जितना कि उसका विवेचन करना है। इसमें लेखक यह मान कर चले हैं कि जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में है। इसी दृष्टि से उन्होंने मनस तत्वों के साथ सृष्टि के तत्वों का साम्य बैठाया है। पञ्च प्राणों (अपान, प्राण, समान, व्यान, उदान) का शरीर के अङ्गों और ब्रह्माण्ड के तत्वों से तुलना की है। इसमें वैदिक देवताओं की भी आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। अग्नि, सोम, इन्द्र तथा क्रिया, इच्छा और ज्ञान एवं नाम रूप और कर्म का तादात्म्य किया गया है। और इसके द्वारा इस तादात्म्य में देवताओं के आधिदैविक रूप की उपेक्षा नहीं की गई और बहुत से वैदिक विश्व में एकत्व की स्थापना की गई है। सूक्तों की भी व्याख्या की गई है। उनके कवित्त के भीतर किये हुए आध्यात्मिकतत्वों का उद्घाटन किया गया है। उसमें मनस तत्वों को समझाने के लिए रँगीन साँकेतिक चित्र भी दिये गए हैं। लेखक पर हठयोग और तन्त्र शास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी कारण वह साधारण पाठक के लिए कहीं-कहीं दुरूह हो गई है।

—गुलाबराय

स्फुट

हमारी आदिम जातियाँ—लेखक—श्री भगवानदास केला तथा श्री अखिल विनय, प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थ माला दारागंज, इलाहाबाद। पृष्ठ ३५६, सचित्र, मूल्य ३॥)

राष्ट्रपिता गांधीजी ने राष्ट्र-निर्माण के लिए जो रचनात्मक कार्य क्रम देश के सम्मुख रखा उसमें आदिवासियों की सेवा भी शामिल है। हरिजनों और आदिवासियों में प्रायः भेद नहीं किया जाता, वास्तव में हरिजन समाज के साथ रहते हुए भी अस्पृश्य और हीन हैं परन्तु आदिवासी शिक्षा के अभाव और यातायात की असुविधा के कारण सुदूर जंगलों और पहाड़ों में समाज से दूर आदिम

अवस्था में ही पड़े हैं। हमारे देश में ऐसे भाई-बहिनों की संख्या अढ़ाई करोड़ से अधिक है। आदि वासी अस्पृश्य न होने पर भी सामाजिक उपेक्षा के कारण हरिजनों से भी पिछड़े हुए हैं। यह अभागे देशवासी स्वयं अपने आप को भूल चुके हैं देशवासियों ने तो भुला ही दिया है।

आलोच्य पुस्तक पाँच भागों में पूर्ण हुई है इसके अतिरिक्त तीन परिशिष्ट भी हैं। प्रथम भाग में आदिम जातियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक और सङ्गठनात्मक जानकारी ऐसे ढङ्ग से दी है जो पाठक के लिए रोचक है। दूसरे भाग में संथाल, गोंड, भील, नागा, कोमा और टोड़ा जातियों का पृथक्-पृथक् विशद वर्णन करने के बाद भारत के प्रत्येक प्रान्त में रहने वाले आदिवासियों का प्रान्तवार वर्णन है। तीसरे भाग में आदिम जातियों के बारे में नृतत्व शास्त्रियों और सुधारकों के विभिन्न दृष्टिकोणों का परिचय देने के बाद आदिम जातियों की गरीबी, अशिक्षा और अस्वास्थ्य आदि समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्ण तरीके से विवेचन किया गया है। चौथे भाग में भारतीय संविधान में आदिवासियों को जो सुविधा और संरक्षण प्राप्त हुए हैं उसकी संक्षिप्त जानकारी दी गई है, विभिन्न प्रान्तीय सरकारें आदिवासियों की उन्नति के लिए जो उपयोगी कार्य कर रही हैं उस सब का परिचय कराया गया है। पांचवें भाग में गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा होने वाले रचनात्मक कार्य का विस्तृत वर्णन है। इससे यह जान कर प्रत्येक भारतीय को गर्व होगा कि यूरोप और अमेरिका से आने वाले मिश्नरी ही नहीं अब पूज्य बापू और पूज्य बापा की प्रेरणा पाकर अनेक भारतीय भी शहरी जीवन का मोह छोड़ कर जङ्गलों और पहाड़ों में अपने भुलाये हुए देशवासियों की सेवा में लग गये हैं, फिर भी कार्यकर्त्ताओं की कमी है। परिशिष्ट में लोक-गीतों का संग्रह और कुछ नृतत्व शास्त्रियों के मत संग्रहीत किये गये हैं।

देश के गरीबों और दुःखियों में तन्मय होकर अखण्ड सेवा करने वाले पूज्य ठक्कर बापा को उनकी ८२ वीं वर्ष गाँठ पर २९ नवम्बर १९५० को हाल ही यह उत्तम पुस्तक समर्पित की गई है। अब तो भग॰ ने बापा को भी अपने पास बुला लिया है।

बम्बई प्रान्त के प्रधान मन्त्री श्री बालासाहेब खेर ने और आचार्य वियोगी हरिजी ने दो शब्द भूमिका के रूप में लिख कर लेखकों के परिश्रम की सच्ची प्रतिष्ठा की है। पुस्तक सचित्र है।

—धर्मदेव शास्त्री

श्री रामकोष (एकार्थ दोहावली)—लेखक-श्रीराम सिनहा, प्रकाशक दिनेशप्रसाद राव, गया। पृष्ठ ६०, मूल्य १)

पुस्तक का परिचय उसके नाम से ही स्पष्ट है। यह अमरकोष के ढङ्गपर लिखी गई है। एक ही अर्थ के अनेक शब्दों को पद्यबद्ध किया गया है। पुस्तक के अन्त में द्वन्द शब्दावली भी अच्छे ढङ्ग से लिखी गई है। इसके द्वारा पाठक शब्दों के तनिक हेर फेर में अर्थानर्थ का सहज ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

रामायण—लेखक तथा प्रकाशक-आत्माराम एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृष्ठ ३२ मूल्य १।।)

इन थोड़े से पृष्ठों में रामायण की सम्पूर्ण कथाओं का चित्रमय प्रकाश डाला गया है। बच्चों के लिये बड़ी आकर्षक और लाभप्रद है।

पौन मूल्य में पुस्तकें लीजिए

आलोचना

रासपञ्चाध्यायी—उदयनारायण तिवारी २)
काव्य का आत्मा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव ।)
कहानी— „ „ ।)
आ० हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ „ „ ।)
काव्य रश्मि—धर्मेन्द्र १।।।)
हिन्दी कवि परिचय—श्रुतिकान्त एम-ए० १।।।)
हिन्दी गद्य निर्माता— „ „ १।।।)
हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा—
मोहनलाल उपाध्याय १)
भाषा विज्ञान की रूपरेखा—
जगदम्बाप्रसाद त्यागी १।।)
अध्ययन—भागीरथप्रसाद मिश्र ३)
भ्रमरगीत विवेचना— ≈)
काव्यादर्श—विद्याभूषण मिश्र २)
इतिवृत—हरिऔध १।।)
उद्धव शतक परिशीलन—अशोककुमारसिंह २)

राजनीति

भारत तथा अन्य देशों के विधानों का अनुशीलन
—कैलाशनारायण चौधरी ।।।)
हमारे राष्ट्रपिता—गोपालप्रसाद व्यास— २)
बलिया में क्रान्ति और दमन—
देवनाथ उपाध्याय ३।।)
हिन्दी राज तरंगिणी—गोपीकृष्ण शास्त्री ४।।)
राजर्षि टण्डनजी—देवराज मिश्र २)

कहानी

अंजुलीना—स. न. कुलश्रेष्ठ १)
बुकोशियो की कहानियाँ—मधुकर २)
पत्नियों का द्वीप—रावी २)
उपजाऊ पत्थर—रावी १।।≈)
रेखाएँ लहरें और परछाइयाँ—राजेन्द्र यादव ३)
दुष्यन्त और शकुन्तला—शान्तिस्वरूप गौढ़ २)

ब्रजघोश—राजबहादुरसिंह २।)
जब आकाश भी रो पड़ा „ „ २।।)
हँसना-रोना—गङ्गाप्रसाद पाण्डेय २)
शुभ्रा—रामप्रसाद विद्यार्थी ।।)

कविता

बापू के गीत—कृपाशंकर शर्मा १।)
गांडीव—राकेश ६)
वन्या—इन्द्रा गुप्ता १।।)
तू युवक है—कमलेश २)
जन नायक—रघुवीरशरण मित्र १५)
नवद्य—चातक १।।)
तार सप्तक—अज्ञेय २।।)

उपन्यास

सुमित्रानन्दन—शान्तिस्वरूप गौढ़ ४।।)
आरोहण—महावीरप्रसन्द केयूर २)
कारमेन—अनु० मधुकर ।।।≈)
दिल्लीश्वरी—विकल ३)
हृदय की ज्वाला—कुमारी प्रभा ३)
त्रिवेणी—कञ्चनलता शम्बरलाल ५)
कोलतार—चगताई २।।)

बाल-साहित्य

महात्मा गांधी— ।≈)
पं० जवाहरलाल— ।≈)
सरदार पटेल— ।≈)
डा० राजेन्द्रप्रसाद— ।≈)
सुभाषचन्द्र बोस ।≈)
श्रीमती सरोजिनी नायडू— ।≈)
श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित— ।≈)
श्री राजगोपालाचार्य— ।≈)
श्री जयप्रकाश नारायण— ।≈)
श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन— ।≈)
स्व० महादेव देसाई— ।≈)

जादू की फुटवाल— ।=)
टेकू टारो— ।=)
शेख चिल्ली की कहानियाँ— ।=)
बन्दर का व्याह— ।=)
सन्तोष का फल— ।=)
चटपटी चटनी— ।=)
चुटकुले— ।=)
सोने की गुड़ियाँ— ।=)
क्या आप जानते हैं— ।=)
बच्चों की पहेलियाँ भाग १ ।=)
,, भाग २ ।=)
नीलम परी— ।।)
उड़न खटोला— ।=)
नई-नई कहानियाँ— ।=)
चिड़िया की टोपी— ।=)
बच्चों के बापू— ।।)
चिलबिली बिटियाँ— ।=)
मिर्चोनी मया— ।=)
समझ के खेल भाग १— ।=)
,, भाग २— ।=)
जादू की साईकिल— ।=)
अजायबघर— ।=)
चिड़ियों का दरबार— ।=)
बुद्धि परीक्षा भाग १— ।=)
,, भाग २— ।=)
हुक्कू भाई— ।=)
पिस्सू पिस्सू— ।=)
चुन्नू मुन्नू— ।=)

विविध

इतिहास-अमृतराय— २।।)
प्रतीक भाग ४— १।।)
,, भाग ५— १।।)
सफलता का रहस्य—ठा० शिवनाथसिंह १।।)
जीवन रक्षा—हनुमानप्रसाद शर्मा ।।।)
निर्मला एक अध्ययन—प्रेमनरायण टंडन ।।।)
प्राचीन पद्य प्रभाकर की टीका—
—मोहनलाल उपाध्याय १।)
चन्द्रा एक विश्लेषण—परमेश्वरदत्त शर्मा ।।)
विद्या विनोदिनी इङ्गलिश प्रोज की टीका— ३)
प्रवेशिका इङ्गलिश रीडर की टीका— २।)
हिन्दी शौर्ट हैन्ड—निष्काम प्रणाली ६।)
संस्कृत सुषमा की टीका—सुगणचन्द्र शास्त्री १।।।)
नवीन पद्य संग्रह की टीका— १।।)
आधुनिक काव्य संग्रह की ठीका— १।।)
अहार विज्ञान—हनुमानप्रसाद २।।)
हिन्दी के पाँच नाटक—रामप्रताप त्रिपाठी २)
सूर-पदावली की टीका—सदानन्द मिश्र १)
कवितावली— ,, ३)
सं० रामचरित मानस— १।)

१—इस सूची में मूल्य वही लिखा है जो पुस्तक पर छपा है। इस पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। पुस्तकें मंगाने का खर्च खरीदार का होगा।

२—पूरे आर्डर का चौथाई रुपया अथवा कम से कम ५) पेशगी आर्डर के साथ आना आवश्यक है।

३—पुस्तकें वी० पी० पोस्ट से भेजी जायंगी, लेकिन बजन अधिक होने पर कृपया पासल भेजने के लिये अपने निकट के स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

पुस्तक प्रकाशकों से निवेदन

हम इस सूची की कुछ पुस्तकों से उनकी पुस्तकों का परिवर्तन भी करना चाहते हैं। कृपया अपने यहाँ का सूची पत्र हमारे पास भेजें।

पुस्तकें मिलने का पता:—**भारत पब्लिशिङ्ग हाउस, ५ गांधी मार्ग, आगरा।**

हिन्दी के परीक्षार्थियों के लिये

परीक्षार्थी प्रबोध खण्ड १ की विषय-सूची

डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० की एक और नई रचना

कला, कल्पना और साहित्य

इस पुस्तक में लेखक ने २६ आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह किया है जिनमें साहित्य के विविध युगों के निर्माताओं के विविध विषयों पर सैद्धान्तिक मीमांसा की गई है। पुस्तक में विद्यार्थियों की उपयोगिता के विषयों पर अधिक महत्त्व डाला गया है। इस नवीन रचना में लेखक की मौलिकता और विद्वत्ता, विस्तृत अध्ययन, ऐतिहासिक प्रज्ञा और सभी आलोचनात्मक अङ्गों का गम्भीर अध्ययन मिलता है। निबन्ध एम.ए., बी.ए., मध्यमा, उत्तमा, विदुषी, प्रभाकर तथा भूषण, साहित्यालङ्कार के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी और महत्त्व पूर्ण है। मूल्य ४), सजिल्द ४I)

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन

लेखक—डा० सत्येन्द्र एम० ए० पी-एच० डी०

इसमें क्या है ?

* **लोकवार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन और इतिहास**—हिन्दी में इतना सांगोपांग अध्ययन अभी तक नहीं हुआ। लोकवार्ता का विषय हिन्दी में सर्वथा नवीन है।
* **लोकवार्ता और लोक-साहित्य**—के सम्बन्ध का विवेचन।
* **लोक साहित्य और लोक जीवन का सम्बन्ध—संग्रह और झाँकी।**

  ब्रज क्षेत्र के समस्त प्रकार के लोक साहित्य के निर्देश के साथ जीवन-संस्कारों से उनका वैज्ञानिक सम्बन्ध।
* **लोकवार्ता और साहित्यिक संग्रह**—और [illegible]लन की प्रणाली विस्तार के साथ दी गई है।
* **ब्रज के लोक साहित्य**—की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विकास—वेद-पूर्व से आज तक।

  ब्रज के बहाने समस्त भारतीय लोकवार्त्ता साहित्य का विश्व लोकवार्त्ता परंपरा में स्थान।

"इस प्रकार लेखक ने लोक साहित्य का शास्त्र रचने का प्रयत्न किया।...."

पृष्ठ संख्या ६२२, बड़ा आकार, मूल्य सजिल्द ६)

हिन्दी गीत-काव्य नवीन-संस्करण

लेखक—प्रो० ओमप्रकाश अग्रवाल एम० ए०।

यह पुस्तक विशेषकर हिन्दी गीति का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के लिए लिखी गई है। इसमें हिन्दी के गीति काव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष रूप से किया गया है। विषय प्रवेश से गीति काव्य की विशेषताएँ तथा संगीत और विकास और तुलनात्मक सारांश रूप रेखा प्रस्तुत करते हुए आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक २३ प्रमुख गीति काव्य के कवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ आवश्यक उदाहरण भी दिये गये हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह गीति काव्य अमूल्य निधि है।—मूल्य ३)

मिलने का पता—साहित्य रत्न भण्डार, ४ गांधी मार्ग, आगरा।

Sahitya Sandesh, Agra.
APRIL 1951.

REGD. NO. A. 283
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

साहित्य संदेश

र्ष १२] आगरा—मई १९५१ [अङ्क ११

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

*

प्रकाशक
हित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

*

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा

*

षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई औ जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दवारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

गुप्तजी की कृतियाँ—श्री विशम्भर मानव २।।)
साहित्य—श्री शिवनरायण शर्मा ३)
साहित्यायन—श्री हंसकुमार तिवारी २।।)
प्रसाद की कहानियाँ—श्री केदारनाथ शुक्ला २।।)

कविता

अशोक—श्री रामदयाल पाण्डे १।।)
कविता सरनी—श्री ओंकारनाथ मिश्र १)

नाटक

सती सर सुन्दरी नाटक—श्री फकीरचन्द जैन ६)
खिलौने की खोज—श्री वृन्दावनलाल वर्मा १।)
बीरबल— ,, ,, १।)

उपन्यास

पकौड़ी साह जिन्दाबाद—
श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त १)
सुबह होती है—श्री कृष्णचन्द्र ३)

कहानी

बापू की कहानियाँ—श्री रामसकलसिंह ।।।)
पाषाण नगरी—श्री शिवसहाय चतुर्वेदी ३।।)
नये धान से पहिले—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ४)
सड़क नहीं बन्दूक— ,, ,, ४)
न्याय ?—श्री दीपसिंह बड़गूजर दीपक १।)

जीवनी

हमारे गुरुदेव—श्री डा० इन्द्रनाथ मदान ।।।=)
हमारे बापू—श्री डा० इन्द्रनाथ मदान ।।।=)
हमारे नेहरू— ,, ,, ,, ।।।=)

राजनीति

नए भारत के नए नेता—श्री राहुल ४)

मनोविज्ञान

रचनात्मक शिक्षा—श्री बनीमाधव शर्मा ३।।)
सामान्य ज्ञान तथा विज्ञान— ३)
सामाजिक शिक्षा—श्री बैनीमाधव शर्मा ४।)
बच्चों की शिक्षा— ,, ,, २)
इतिहास शिक्षण—श्री त्रिम्बक पंटरीनाथ तेलंग २)
प्रौढ़ शिक्षा-प्रचार—श्री सीताराम जयसवाल १)

निबन्ध

क्या गोरी क्या सांवरी—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ७)
राजनीति से दूर—जवाहरलाल नेहरू २।।)

धार्मिक व सामाजिक

रामायण— १।।)
लोक-जीवन—काका कालेलकर ३।।)
वैदिक साहित्य—पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ६)

विविध

साग सब्जी की खेती—श्री पं० वासुदेव पांडेय २)
बिखरे लेख—एन० आई० पी० १।।।)
समाज सेवा—वी. डी. एक. आनन्दराव ।।)
आधुनिक बहीखाता का सिद्धान्त—
—श्री हृषीकेश नारायण ७)
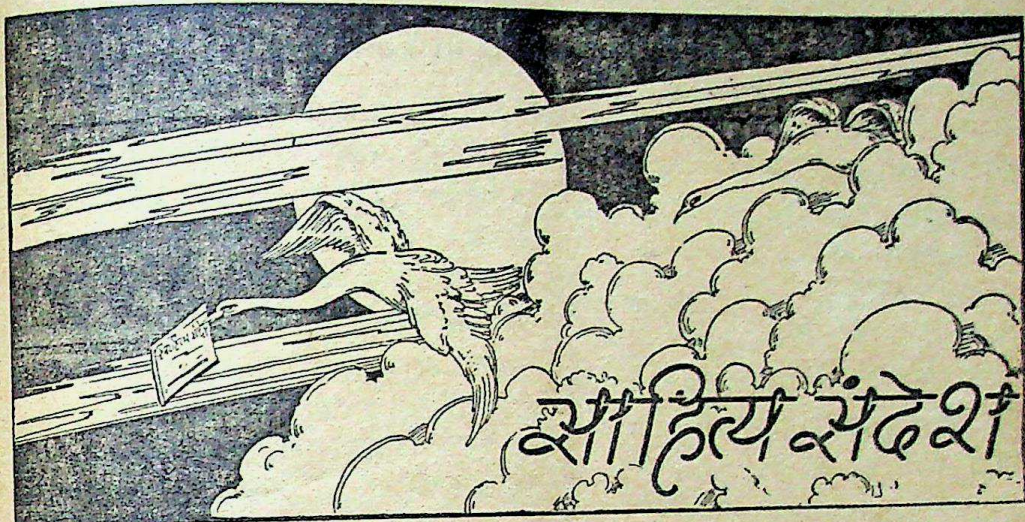
वर्ष १२] आगरा—मई १९५१ [अङ्क ११

हमारी विचार-धारा

ब्रज साहित्य-मण्डल का अधिवेशन—

आठ अप्रैल को मथुरा में ब्रज-साहित्य मण्डल का वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन हिन्दी के कमठ और यशस्वी विद्वान् साहित्यकार बाबू गुलाबराय के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन के उद्घाटन का पुनीत कार्य केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल के सदस्य गुजराती के तथा हिन्दी के स्वनामधन्य लेखक गाडगिल महोदय ने किया। बाबू गुलाबरायजी के कर्मठ व्यक्तित्व के प्रभाव से मण्डल की उन्नति की गति अवश्य ही बढ़ेगी। बाबूजी ने अपने सारगर्भित लघु भाषण में ब्रजभाषा और संस्कृति का स्वरूप-ज्ञान ही नहीं कराया, सामाजिक आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया। बाबूजी के भाषण के ये अंश महत्वपूर्ण हैं :—

"ब्रजभाषा का क्षेत्र व्यापक है। इसकी सीमायें मथुरा से बाहर अलीगढ़, एटा, धौलपुर, भरतपुर, ग्वालियर और पूर्व में इटावा और कन्नौज तक है। ब्रजभाषा की साहित्यिक और सांस्कृतिक सीमाएँ तो देशव्यापिनी हैं। गुजरात, राजस्थान और बङ्गाल तो इससे विशेष रूप से प्रभावित हैं। जहाँ जहाँ भगवान कृष्ण की उपासना है, वहाँ वहाँ ब्रजभाषा का अधिकार है। भगवान कृष्ण जन-जीवन में जितने घुल-मिल गये हैं उतने और अवतार नहीं। साहित्य, सङ्गीत और चित्रकला कृष्ण के जीवन-माधुर्य से ही मधुरिमा प्राप्त करते हैं।"

"यदि केवल रीतिकाल के कुछ कवियों की उद्दाम शृङ्गारिकता के आधार पर इसको कोई हेय कहे तो वह हमारे कवियों की अमर साधना के साथ अन्याय करता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इस साहित्य का विषय-विस्तार सीमि[त] नहीं है। यह लोगों की भ्रमित धारणा है कि

कृष्ण काव्य में वह जीवन की अनेक रूपता नहीं जो राम काव्य में है। ब्रजभाषा का प्रकृति प्रेम चाहे उद्दीपन रूप से क्यों न हो, अनुपम है। धार्मिक भावना ने उसमें प्राणों का स्पन्दन कर दिया है—'ब्रज की लता-पता मोहिं कीजै।''

लोक साहित्य सृजन की जितनी उसमें क्षमता है उतनी खड़ीबोली में नहीं है। इसका लोक-साहित्य बड़ा समृद्ध है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन डा० सत्येन्द्रजी ने 'ब्रज लोक साहित्य के अध्ययन' में किया है। उसका अतीत अत्यन्त मूल्यवान् और और फलतः संरक्षणीय है। उसका भविष्य भी उज्ज्वल है और वह ब्रजभाषा के उपासकों से सत्प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।''

"समन्वयवाद हमारी संस्कृति का एक प्रमुख अङ्ग है! किन्तु हमको सदा ध्यान रखना चाहिये कि इस समन्वयवाद में हम अपने कवित्व और अपनी मूल प्रकृति को न भूल जाँय। इसलिए हमको ब्रज की संस्कृति के अङ्ग गीत, वाद्य, खेल-कूद, कहावतें, कहानी, तीज-त्यौहार, खान-पान सबकी रक्षा करना है। यदि इनकी रक्षा न की जायगी तो सूर सागर की बहुत सी बातें समझ में न आवेंगी। हम अपनी संस्कृति को अजायबघर की चीज नहीं बनाना चाहते हैं बस उसको जीवित रखना चाहते हैं। संकुचित रूप से नहीं बरन् उदार रूप से, लेकिन हम उदारता चाहते हैं कि अपना अस्तित्व न खो बैठें। इसलिये ब्रज साहित्य मण्डल का पहला कार्य है ब्रज संस्कृति की रक्षा।''

हमारा दूसरा कर्त्तव्य है साहित्य की रक्षा—

"ऐसे अप्राप्य ग्रन्थों की पुनरावृत्तियाँ आवश्यक हैं। ब्रजभाषा के अध्ययन के लिए केन्द्र खोले जायँ। ब्रज क्षेत्र में तो उनका खोला जाना परम आवश्यक है। इन अध्ययन केन्द्रों के साथ सुन्दर संग्रहालयों की भी आवश्यकता है। विश्वविद्यालयों से ब्रजभाषा साहित्य और उसके भाषा विज्ञान के अध्ययन का अनुरोध किया जाय जिससे कि ब्रजसाहित्य का प्रामाणिक रूप से अध्ययन हो सके।''

"स्वतन्त्रता प्राप्ति में ब्रजभाषा ने भी योग दिया है। अब राष्ट्र उत्थान और निर्माण में भी उसको योग देने की आवश्यकता है। ब्रजभाषा के लोक-साहित्य में वर्तमान समस्याओं का समावेश हो चला है। हमारे शिक्षित कवियों ने भी वर्त्तमान समस्याओं पर हास्य प्रधान कवितायें लिखी हैं, किन्तु यद्यपि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात ऐसी परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हुई है जिन से हृदय में उल्लास उत्पन्न हो फिर भी राष्ट्र-निर्माण के लिये हमारे कवियों को ऐसी कविताएँ लिखने की आवश्यकता है जो राष्ट्र के प्रति गर्व की भावना उत्पन्न करें। इस बात की कमी खड़ी बोली में भी है और ब्रजभाषा में भी। हमको इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्र के प्रति हम में गर्व की भावना उत्पन्न हो।''

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का भाषण—

पश्चिम-वंग हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन डा० चटर्जी के सभापतित्व में ३, ४, ५ मार्च को हुआ। यह सम्मेलन कलकत्ता नगर के अनुकूल धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। किन्तु सबसे महत्व की वस्तु श्री चटर्जी का भाषण है। चटर्जी भाषा-विज्ञान और उसके इतिहास के पण्डित हैं। उन्हें हिन्दी से प्रेम रहा है और जैसा उनके भाषण से विदित होता है वे हिन्दी-प्रेमी बङ्गाली दीर्घ परम्परा की ही एक प्रमुख कड़ी हैं। उनका समस्त भाषण ही महत्वपूर्ण है किन्तु वह स्थल तो विशेष मननीय है जिसमें उन्होंने बङ्गाल में हिन्दी के प्रतिष्ठित होने के कारणों की गवेषणा की है। हम अपने पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे चटर्जी का यह भाषण अवश्य पढ़ें। यद्यपि चटर्जी ने रोमनलिपि की उपयोगिता पर पुनः बल दिया है, फिर भी देवनागरी की मान्यता पर उन्हें हार्दिक

प्रसन्नता हुई है। डा० चटर्जी के ये शब्द हमें विशेष आकृष्ट करते हैं :—

'आधुनिक भारत में हिन्दी के प्रमुख स्थान के विषय पर पहले-पहल सचेत हुए थे—अहिन्दी प्रान्त के लोग। इधर अँग्रेजी १८७५ सन में बँगाल के ब्राह्म नेता ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ने अपने बँगला समाचार-पत्र 'सुलभ समाचार' में साफ-साफ कह दिया था कि केवल हिन्दी ही के सहारे हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन समग्र भारत में फैल सकता है, और उन्होंने इस शङ्का को भी प्रकट किया था कि अँग्रेज सरकार हिन्दी को अखिल-भारत की ऐक्य-विधायिनी भाषा बनाने की चेष्टा का विरोध करेगी, पर इस काम में काफी मदद भारत के सामन्त-नरेशों से मिल सकती। इसके कुछ बाद, बङ्गाल के साहित्य-सम्राट् विख्यात उपन्यासकार तथा दार्शनिक बंकिमचन्द्र चाटुर्ज्या के सम्पादन में प्रकाशित उस समय की सबसे प्रधान बँगला मासिक पत्रिका 'वंगदर्शन' में हिन्दी के पक्ष में एक सुयुक्ति-पूर्ण लेख निकला था, जिसमें इतना तक कहा गया है कि, "हिन्दी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेरे मध्ये जाँहारा ऐक्य-बन्धन संस्थापन करिते पारिवेन, ताँहाराइ प्रकृत 'भारत-बन्धु' नामे अभिहित हइवार योग्य।" लगभग १८८५ सन में बँगाल के प्रसिद्ध निबन्ध-रचक तथा शिक्षाव्रती भूदेव मुखुर्ज्या ने—हिन्दी ही के द्वारा अखिल-भारत का राष्ट्रनैतिक ऐक्य सुदृढ़ हो सकता है—अपने एक ग्रन्थ में ऐसा अभिमत प्रकाशित किया था।"

यही यथार्थ है कि हिन्दी वालों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा करने की माँग अपने बूते नहीं की, आज भी अहिन्दी भाषा-भाषियों को इस रहस्य को समझना आवश्यक है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का दिग्दर्शन—

बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद के उद्घाटन समारोह स्मारक में दिये विवरण से विदित होता है कि इस परिषद के निर्माण में इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी का आदर्श सामने था। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की चर्चा हमें यहाँ नहीं करनी, पर इस बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद के कुछ दिग्दर्शक पत्र हमारे समक्ष हैं। इनमें से कुछ हैं:—तेलुगु भाषा और साहित्य, गुजराती साहित्य, मराठी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, उत्कल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, ये विभिन्न अहिन्दी भाषाओं के साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखायें उन्हीं भाषा के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत करायी गयी हैं। इसी स्तम्भ में 'साहित्य-सन्देश' ने सर्वदा इस बात का प्रतिपादन किया है कि आज की सामयिक आवश्यकता यह है कि हिन्दी भाषी अन्य भाषाओं से परिचय प्राप्त करें, और अन्य भाषा-भाषियों को अपने कृतित्व के कारण हिन्दी में प्रेम हो। 'साहित्य-सन्देश' ने अपने आरम्भ के अङ्कों में ऐसे ही परिचयात्मक निबन्ध मराठी, गुजराती, बंगाली आदि के साहित्य पर प्रकाशित कराये थे। ऐसे उद्योग की आज और भी अधिक आवश्यकता है, इसी कारण इस बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद के इस उद्योग को अभिनन्दनीय समझते हैं। पर इतने से ही काम नहीं चलेगा। यह तो आगे बढ़ने का द्वार सिद्ध होना चाहिए। समस्त भारतीय भाषाओं के ऐसे संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने की आवश्यकता है। हिन्दी प्रेमियों को भी ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन देना चाहिये।

वाद-विश्वासी साहित्यकार—

साहित्यकार को विश्व के प्रत्येक वाद को समझने की क्षमता होनी चाहिये और उसे प्रत्येक वाद को समझ भी लेना चाहिये, पर बिकना किसी के भी हाथ नहीं चाहिये। जीवन के व्यवहार में हमें स्पष्ट ही तीन व्यक्ति मिलते हैं—वादी, प्रतिवादी और तटस्थ। वादी-प्रतिवादी होंगे ही, नहीं तो व्यवहार नहीं चल सकता, और ये होंगे तो तटस्थ का होना भी आवश्यक है। स्वार्थवादी को और हितवादी को अन्धा और संकुचित बुद्धि रखता

है—किन्तु तटस्थ निस्वार्थ और निर्लिप्त होकर सत्य को प्रकट करके विवाद को शान्त कर, वादी-प्रतिवादी का समाधान कर उन्हें प्रगति के लिये प्रेरित कर सकता है। संघर्ष रत वादी-प्रतिवादी को कभी प्रगति करते नहीं देखा गया। उनकी प्रगति एक पर दूसरे की हार-जीत के रूप में ही हो सकती है और यथार्थ प्रगति इस स्थिति के उपरांत ही संभव है। जो साहित्यकार को वाद का विश्वासी बना डालना चाहता है, वह उसे निश्चय ही अप्रगतिवादी बनाना चाहता है—और यदि वह वाद मार्क्सवाद हो तो यह भय और भी अधिक है। मानव-कल्याण के लिए मानव आत्मा के शिल्पियों को निर्विवाद 'मानव' को लेकर ही साहित्य-सृष्टि करनी होगी; वाद-विश्वासी साहित्यकार मानव के अतिरिक्त सबका सम्मान कर सकता है।

नैतिकता प्रधान साहित्य क्या—(?)

सम्मेलन पत्रिका का साहित्य-निर्माण अङ्क स्वागत योग्य है। उसके सम्पादकीय में वर्तमान अधोगति की ओर संकेत किया गया है और सुझाव है चल चित्र तथा साहित्य नैतिकता प्रधान हों। बात सीधी-सच्ची लगती है पर है नहीं, क्योंकि नैतिकता-प्रधान साहित्य का नैतिकता के बिना क्या अर्थ है? क्या है हमारी नैतिकता जिससे हमारा साहित्य युक्त हो। आज इस गन्दगी का मूल कारण यह है कि हमारी नैतिकता का कोई स्वरूप नहीं रह गया। बीसवीं सदी के बौद्धिकता, वैज्ञानिकता, समाज और व्यक्ति के बदले हुए मूल्यों को दृष्टि में रख कर आज हमें पहले अपने नैतिक स्तर का निर्माण कर लेना चाहिये—और इसे साहित्यकार ही अच्छी तरह कर सकता है। इस स्तर के अभाव में ही यह दुर्वस्था है।

डाक संबंधी जरूरी सूचना

हाल में डाक के संबंध में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनसे हमारे ग्राहकों को कुछ असुविधा हो सकती है और हुई है। उनकी जानकारी के लिए हम इन परिवर्तनों का जिक्र यहाँ पर देना आवश्यक समझते हैं।

१—साहित्य सन्देश का प्रचार अत्याधिक बढ़ जाने से डाक विभाग ने हमें यह सुविधा देदी है कि साहित्य सन्देश के भेजने में उस पर टिकिट लगाने की अब जरूरत नहीं है अनेक छोटे डाकखानों में वहाँ के कार्य कर्त्ताओं के अनजान पने से कुछ अङ्क हमारे यहाँ बैरंग करके लौटा दिये गये हैं जिससे कुछ ग्राहकों को व्यर्थ परेशानी हुई है ऐसे सज्जनों को अपने डाकखाने वालों को सूचित कर देना चाहिये कि साहित्य-सन्देश को बिना टिकट लगाये पत्र भेजने का लाइसन्स मिल गया है। इस लाइसन्स का नम्बर १६ है जो अङ्क के आखिरी पृष्ठ पर ऊपर छपा रहता है।

२—मई से सरकार ने पोस्टेज की दर में कुछ वृद्धि करदी है अब वी० पी० चार्ज बढ़ा दिया है ऐसी दशा में जो वी० पी० अब तक ४।) की होती थी वह अब ४।=) की होती है। ग्राहकों को इसी में सुविधा है कि अपने।≈) बचाने के लिये मनीआर्डर भेजने की कृपा करेंगे आशा है हमारे सभी ग्राहक इस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

काव्य में 'औचित्य का महत्व'

साहित्याचार्य पं० एम० एल० 'राजयोगी' साहित्य-रत्न

मनुष्य अपने जीवन में जितने भी कार्य करता है वे केवल दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रथम वे कार्य जो समाज के लिए कल्याणकारी और सुख प्रद होते हैं तथा दूसरे वे जो समाज के लिए अनिष्टकारी और दुख प्रद होते हैं। इन्हीं के आधार पर समाज का हर प्राणी सज्जन और दुर्जन तथा सदाचारी और दुराचारी की श्रेणियों में स्थान पाता है। इस प्रकार कल्याणकारी व सुखप्रद कार्यों को उचित और दुखद तथा अनिष्टकारी कार्यों को अनुचित नाम के विशेषणों से प्रकाशित किया जाता है। इन्हीं के भावों का औचित्य तथा अनौचित्य की संज्ञा दी गई है। यह औचित्य केवल मानव के दैनिक व्यवहार तक ही सीमित नहीं अपितु दृश्य जगत, कला जगत, भाव जगत और साहित्य जगत में भी सर्वत्र व्यापक रहता है। जिसमें इसका अभाव होता है वह संसार के सम्मान से रहित होता है। संसार में कोई भी कला बिना इस गुण के महत्वपूर्ण स्थान नहीं पासकती। मैं इस औचित्य को चार भागों में विभाजित करता हूँ। (१) व्यवहारगत औचित्य, (२) वस्तुगत औचित्य, (३) भावगत औचित्य तथा (४) कलागत औचित्य। साहित्यकला संसार की ललित कलाओं में सर्व श्रेष्ठ कला मानी गई है और काव्य कला इसका ही अङ्ग है। मेरा उद्देश्य काव्य कला में ही औचित्य का महत्व पाठकों के सामने रखने का है।

औचित्य गुण काव्य का प्रधान गुण है और वह आदि काल से भारतीय काव्य को महत्व प्रदान करता आया है। औचित्य का अभाव ही अनौचित्य कहलाता है। जिस प्रकार प्रकाश का अभाव अन्धकार, ऊष्णता का अभाव शीतलता के नाम से पुकारा जाता है उसी प्रकार अनौचित्य औचित्य के ही अभाव का दूसरा नाम है। इस औचित्य गुण से हीन काव्य विद्वान् समाज में कभी सम्मान नहीं पाता। इसके अनेकों पुष्ट प्रमाण भरत मुनि के समय से ही प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। सर्व प्रथम भरतमुनि ने ही अपने नाट्य शास्त्र में औचित्य के आधार पर रस की स्थापना की है। यदि देखा जाय तो नाटक के प्रधान तत्व इसी गुण पर आश्रित हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले काश्मीर के प्रसिद्ध आचार्य 'क्षेमेन्द्र' ने इस पर एक ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम 'औचित्यविचार चर्चा' है, जिसमें औचित्य के महत्वपूर्ण सिद्धान्त की विस्तार पूर्वक समीक्षा की गई है। उन्होंने यह बताते हुये कि औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलङ्कार, रस, रीति, क्रिया, कारण, लिङ्ग, आदि समस्त साहित्य-अङ्गों के साथ है इसे रस का प्राण भूत माना है। क्षेमेन्द्र का कहना है कि "औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" वास्तव में औचित्य के बिना काव्य न रस मय होता है और न अधिक समय तक जीवित ही रह सकता है।

संसार में सौन्दर्य की भावना इसी औचित्य तत्पर आश्रित है और काव्य की रचना में संसार अथवा समाज का प्रतिबिम्ब अङ्कित रहता है अतः दोनों में सौन्दर्य की स्थापना का मुख्य साधन औचित्यगुण ही कहा जायगा। प्रत्येक वस्तु का अपना एक विशिष्ट तथा निर्दिष्ट स्थान है जहाँ से भ्रष्ट होजाने पर उसका महत्व नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ आभूषण सौन्दर्य को बढ़ाने का एक साधन माना गया है परन्तु इस साधन का महत्व तभी तक है जब तक उसमें औचित्य है। अनुचित स्थान पर धारण किया गया आभूषण अथवा अलङ्कार केवल असुन्दरता ही प्रगट नहीं करता प्रत्युत

धारण करने वाला भी मूर्ख कहलाता है और समान में उपहास का पात्र बन जाता है। रीति-काल में बिहारी ने भी इसे इस प्रकार स्वीकार किया है—

"जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहरि-त पाव॥

यही नहीं राजस्थान की डिङ्गल भाषा में भी अनौचित्य की कवियों द्वारा हँसी उड़ाई गई है और उसे कवि की मूर्खता प्रगट करने वाला माना गया है। मेरवाड़े का एक ग्रामीण डिङ्गल कवि फतेलाल धमामी इस अवगुण की हँसी उड़ाते हुए लिखता है कि मूर्खकवि इस प्रकार की कविता करते हुए भी नहीं शर्माते—

माथे सोहे मोचड़ी, पगाँ जो सोहे पाग।
आँख्याँ जो सोहे बाँकड़ी, प्याला होसी मूँछ॥

क्षेमेन्द्र ने अपनी "औचित्य विचार चर्चा" में औचित्य गुण के महत्व को स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर सर्वोपरि उद्घोषित किया है। वे लिखते हैं—

"कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तोरण हारेण वा,
पाणौ नूपुर बन्धनेन, चरणे केयूर पाशेनवा
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते, नालं कृतिर्नागुणाः

अर्थात् यदि कोई सुन्दरी अपने गले में करधनी नितम्ब पर हार, हाथों में नूपुर, पैरों में केयूर (भुजबन्ध) पहन ले तो उसकी इस प्रकार प्रचण्ड मूर्खता देख कर कौन नहीं हँसी करेगा? इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य शरण में आए हुए पर वीरता दिखाये, शत्रु के सम्मुख दया का भाव प्रदर्शित करे, तो उसकी कौन हँसी नहीं करेगा? इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने प्रमाणित किया है कि औचित्य के बिना न तो अलङ्कार ही सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं और न किसी के गुणों का ही इसके बिना महत्व प्रगट होता है। हम देखते हैं कि सौन्दर्य का प्रमुख आधार ही औचित्य गुण है। संसार में इसकी कितनी व्याप-कता है यह किसी भी विद्वान् से छुपी नहीं है। मैं ऊपर लिख आया हूँ कि किसी वस्तु का सौन्दर्य अथवा महत्व अनौचित्य के ही कारण घटता है। स्थान भ्रष्ट वस्तु इसी लिए निरर्थक और महत्वहीन समझी जाती है कि वह स्थान से च्युत होगई है। मानव समाज में तो किसी प्राणी को अपने अनुचित कर्त्तव्यों का दण्ड उसे इसीलिए पदच्युत करके दिया जाता है कि उससे पदच्युत प्राणी अपने अनौचित्य का अनुभव कर सामाजिक घृणा का अनुभव करता है जो उसके प्रति उसे पदच्युत करके प्रगट की गई है। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है कि—

"स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः"

यही क्या? संसार में किसी भी वस्तु का उचित स्थान पर प्रयोग न किया जाय तो वह कभी भी लोक-कल्याण कारी होते हुए भी संसार का कल्याण नहीं कर सकती। कहने का आशय यही है कि औचित्य का अतिक्रमण संसार के समस्त सौन्दर्य को विकृत कर हास्यास्पद अथवा हानिप्रद बना देता है। इससे महत्व पूर्ण वस्तुएँ बेकार और निकम्मी सिद्ध हो जाती हैं। इसे बज्र मूर्खता ही कहना चाहिये।

कला का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, इसे हर एक भारतीय विद्वान मानता है। विदेशी विद्वान मुख्यतः पाश्चात्य विद्वान इसे इस प्रकार न कह कर यह कहते हैं कि "कला के लिये है" अर्थात् कला किसी अन्य स्वार्थ साधन के लिये नहीं है। परन्तु कई विद्वानों ने इस वाक्य की प्रतिक्रिया के आवेश में आकर उसके आगे इतना और जोड़कर कि "कला कला के लिये है, न कि जीवन के लिये" विद्वत समाज में एक बड़ा भारी मत भेद उपस्थित कर दिया है। और इस प्रकार कला को जीवन से अलग मानने का सारा दोष विपक्षियों के सिर मढ़ दिया है। वास्तव में पाश्चात्य विद्वानों का मतलब कला को औचित्य प्रदान करने से ही है। कला को

अपने उदर पोषण अथवा अन्य किसी स्वार्थ पूर्ति का साधन बना लेना उसे अपने स्थान से च्युत करना ही जाता है। एडीसन ने ग्रामोफोन का आविष्कार कर जिस आनन्द का अनुभव किया होगा, उसका अनुभव आज की वे कंपनियाँ नहीं कर सकतीं, जिन्होंने इसके रूप को विकास देकर उपस्थित किया है। क्योंकि यह उनकी उदर पूर्ति का साधन है। ग्रामोफोन एडीसन के लिये कला थी जो उसकी दृष्टि में समस्त संसार के लिए कल्याणकारी थी परन्तु वह आज की ग्रामोफोन कम्पनियों द्वारा स्थान भ्रष्ट होकर पैसा कमाने का साधन बन गई, यह अनुचित है। इसीलिये पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि कला कला के लिये है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान भी औचित्य गुण का महत्व स्वीकार करते हैं। यदि देखा जाय तो वास्तव में कला के अन्तःस्थल से लौकिक अनुभूति अपना आभास देती रहती है, अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा, कि कला कभी लोक की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकती। इसीलिये संसार के समान कला में भी औचित्य का साम्राज्य स्थापित है। कला में वस्तुगत और भावगत दोनों प्रकार के औचित्य का सामञ्जस्य रहता है। एक मूर्तिकार जहाँ मूर्ति निर्माण की दार्शनिक वस्तुओं में औचित्य का सदुपयोग करता है उसी प्रकार मूर्ति के प्रभावोत्पादक भावों के निर्माण को भी उसे औचित्य का आधार लेना पड़ता है। उसे प्रार्थना करती हुई प्रतिमा गम्भीर मुद्रा में और नाचती हुई प्रतिमा अवश्य ही प्रसन्न मुद्रा में निर्मित करनी पड़ती है। इसी को भाव-औचित्य कहते हैं। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि औचित्य के आधार पर निर्मित कला ही कला के नाम से सुशोभित की जा सकती है। अनौचित्य को सहारा देने वाली कला 'कला' जैसे महत्वपूर्ण अभिधान की कथमपि पात्री नहीं बन सकती। क्योंकि कला का उद्देश्य सहृदयों का अनुरञ्जन करना है जो उसका प्रधान गुण है और यह औचित्य के बिना स्थिर नहीं रह सकता।

आचार्य क्षेमेन्द्र के विचार में जब भगवान ने असुर हिरण्यकश्यप का वध करने के लिए अद्भुत नृसिंह रूप धारण करना उचित समझा, और समुद्र मन्थन के समय असुरों के हेतु जब मोहिनी रूप उचित समझा तब वही औचित्य काव्य जगत का सर्वतो महनीय सिद्धान्त हो तो इसमें कौनसी विचित्रता है? इसीलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ का आरम्भ भी भगवन को इस गुण के अधिष्ठाता मानकर प्रार्थना करते हुये किया है।

काव्य में औचित्य का अर्थ केवल कला पक्ष में उचित शब्द चुन-चुनकर सजाने से ही पूरा नहीं हो जाता। उसमें अन्य बातों का औचित्य संतुलन रखते हुवे, काव्य रचना करनी पड़ती है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि काव्य में अलङ्कार और गुण उपस्थित रहने पर भी बिना रस के वह निर्जीव ही है, और रसकी प्राप्ति औचित्य के द्वारा ही होती है। गुण और अलंकार तो केवल बाह्य सौन्दर्य के उपकरण मात्र हैं जो बिना रस के ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मृतक शरीर पर आभूषण सजाये गये हों। गले में ही मोतियों का हार पहना जाता है, और नूपुर पैरों के लिये ही उचित है। इसी प्रकार काव्य में शृङ्गार रस के साथ माधुर्य गुण का योग तथा रौद्र और वीर रस में ओज गुण का योग उचित है। इस प्रकार औचित्य के साथ अलंकार रस मय होकर इतना अनुकूल पड़ता है कि उसकी सत्ता काव्य को सजीव तथा चमत्कार प्रधान बना देती है। ऐसी दशा में वर्ण्य विषय के साथ उपमा का औचित्य सर्वथा मान्य होता है। कोई विशिष्ट औचित्य पूर्ण पद ही किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन में नितान्त समर्थ होता है, तो वहाँ उस शब्द का औचित्य विज्ञों को अवश्य ही चमत्कृत करता है, जो इस उदाहरण से स्पष्ट है—जनक नन्दिनी सीता के सौन्दर्य से मुग्ध होकर लंकेश्वर रावण

व्याकुल हो अचेत पड़ा हुआ है। उसी अवसर पर ब्रह्मा, बृहस्पति तथा नारद जैसे देवता तथा देवर्षि-गण रावण के प्रताप से आक्रान्त होकर उसकी प्रशस्त स्तुति करने आ जुटे हैं। इस पर द्वारपाल उन्हें फटकारता हुआ व्यंग में कहता है।

"ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः
तूष्णिं वहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते
जड़मते, नैषासभा बज्रिणः।
वीणां संहर नारद
स्तुति कथा लापैरलं तुम्बुरो,
सीता रल्लकभल्लभग्न हृदयः
स्वस्थो न लंकेश्वरः।

अर्थात् हे ब्रह्मन्! वेद मन्त्रों के उच्चारण का यह समय नहीं है। आप हटकर चुपचाप बाहर खड़े रहिये। मूर्ख बृहस्पति! अपनी बकवाद बन्द कर, जानता नहीं यह सभा बज्र धारण करने वाले (इन्द्र) की नहीं है। नारदजी, आप अपनी वीणा के तार उतार लीजिये। तुम्बुरु महाशय! आप स्तुति करना बन्द कर दीजिये। आज लंका के महाराज रावण सीता के मांग रूपी भाले से बिद्ध हृदय होकर अचेतावस्था में पड़े हैं, वे स्वस्थ नहीं हैं।

यह श्लोक औचित्य के कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता है। इस पद्य में विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिये शब्दों का चुनाव बड़ा समीचन तथा उचित रूप में हुआ है, बृहस्पति के लिए जड़मति का प्रयोग महत्वपूर्ण है इसीलिये बृहस्पति के कथन को जल्पना (बकवाद) मात्र कहकर एक तीखा व्यंग उपस्थित किया गया है। इन्द्र के लिए वज्री कहकर उसका उद्धतपन प्रगट किया गया है जिससे स्पष्ट विदित होता है, कि उसमें ललित कलाओं को समझने की शक्ति अथवा बुद्धि नहीं है। वह ललित कलाओं का आस्वादन करना नहीं जानता। सीता के सिन्दूर से चर्चित माँग की उपमा रक्त रञ्जित भाले से देना कितना औचित्य पूर्ण वर्णन है, इसे सहृदय पाठक ही समझ सकते हैं। इस प्रकार औचित्य द्वारा काव्य कितना ललित और सजीव हो उठता है।

हिन्दी काव्य में भी प्रसाद, पन्त और निराला तथा महादेवी वर्मा की रचानाओं में औचित्य का कहीं कहीं बड़ा ही उत्तम उपयोग बन पड़ा है। प्रसाद कामायनी में प्रलय का वर्णन करते हुए उस समय के उद्वेलित सागर का वर्णन करते समय लिखते है—

"उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी।
चली आरहीं फेन उगलतीं,
फन फैलाये व्यालों सी॥"

और साथ ही धरती की अवस्था का वर्णन करते हुये लिखते हैं।

"धँसती धरा धधकती ज्वाला,
ज्वाला मुखियों के निश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके,
अवयव का होता था ह्रास॥"

उपर्युक्त वर्णन में सिन्धु की उन लहरों को जो शान्ति के समय अपने सौन्दर्य से मन को आकर्षित कर लेती हैं प्रलय के समय कुटिल काल के जालों सी और फन फैलाये व्यालों सी कहकर प्रलय का चित्र आंखों के सन्मुख उपस्थित सा कर दिया है और फेन उगलती हुई कह कर समुद्र का रोष पूर्ण रूप स्पष्टतया प्रगट कर दिया है। इसी प्रकार धरती का धँसना, ज्वाला मुखियों का निश्वास और क्रम-क्रम से धरती के अवयवों का ह्रास होना एक ही साथ उपस्थित कर वर्णन में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। एक जगह प्रलय के वर्णन में ही प्रसाद ने यह कह कर कि "पञ्चभूत का भैरव मिश्रण" प्रलय में उपस्थित होने वाले समस्त भयङ्कर व्यापारों को एक ही पंक्ति में प्रगट कर दिया है। इस भैरव मिश्रण के बाहर कोई व्यापार उस समय

का शेष रह ही नहीं जाता। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण हिन्दी काव्य में केवल प्रकृति तथा प्राचीन घटनाओं के वर्णन ही में नहीं वर्तमान राजनैतिक वर्णनों में भी पाये जाते हैं—जैसे भारतीय स्वतन्त्रता के अहिंसात्मक युद्ध का वर्णन करते हुए कवि नैपाली लिखते हैं—

'है अपूर्व यह युद्ध हमारा,
हिंसा की न लड़ाई है।
नङ्गी छाती की तोपों के-
ऊपर विकट चढ़ाई है॥
तलवारों की धार मोड़ने,
गर्दन आगे आई है।
सिर की मारों से डण्डों की,
होती जहाँ सफाई है॥

इसमें हिंसात्मक भावों का वर्णन होते हुये भी अहिंसा का शतप्रतिशत पालन करने की दृढ़ता पूर्णतया स्पष्ट है। इसी प्रकार श्री० भरत व्यास भारतवर्ष के टुकड़े हो जाने पर लिखते हैं—

आसमान तूने देखा,
दो टुकड़े होते पर न फटा तू।
अरे हिमालय नाक कटी पर,
पाव इञ्च भी नहीं कटा तू॥
गगे तेरी इन लहरों में,
आज निगोड़ी आग न लागी।
काशी तेरे शिवशङ्कर की,
आज तीसरी आँख न जागी॥

उपर्युक्त वर्णन में मर्यादा हीन हो कर जीने से विनाश हो जाना ही उत्तम है यह भाव स्पष्ट और उचित शब्दों में वर्णित है। भारतीय मानवता के निर्बल दीख पड़ने पर इन शब्दों में प्रकृति को क्रुद्ध करने की प्रार्थना व्यङ्ग रूप में की गई है। इस प्रकार शिवशङ्कर की तीसरी आँख को जागने की प्रार्थना कर कवि स्वाभिमान तथा ग्लानि पूर्ण शब्दों में प्रलय की माँग करता है। वर्णन बहुत ही चमत्कार पूर्ण और समयोचित है। इसमें भावौचित्य के अतिरिक्त समयौचित्य का भी प्रयोग है। ऐसे और भी अनेक उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दी के काव्य जगत में अभी औचित्य गुण की नितान्त आवश्यता ही प्रतीत होती है। संस्कृत साहित्य गुणों का भण्डार है उसमें जो उदाहरण प्राप्त हैं हिन्दी काव्य में मिलने वाले उदाहरणों से अभी तक कहीं उत्तम और श्रेष्ठ है। जैसे—कवि एक ग्रामीण गुर्जर देश की महारानी के भोलेपन का वर्णन इस प्रकार करता है जो अत्यन्त ही आकर्षक और मधुर तथा चमत्कार पूर्ण बन पड़ा है। वह कहता है कि जङ्गल में भटकते हुए प्यास लगने पर रानी राजा से कहती है कि—

"मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे
त्वत्खड्ग धारा कुले,
नाथास्मिन्निति, बन्दिवाचि
बहुशो देव श्रुतियाँ पुरा।
मुग्धा गुर्जर-भूमिपाल महिषी
प्रत्याशया पाथसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः
पत्युः कृपाणे दृशौ॥"

अर्थात् जङ्गल में सरल चित्त गुर्जर देश की महारानी चकित होकर जल की आशा से अपने पति की तलवार को अपनी दोनों आँखें गड़ाकर देख रही है, और अपने पति से कह रही है—हे महाराज! बन्दीजनों के मुख से मैंने पहले अनेक बार सुन रक्खा है कि युद्ध में शत्रुओं के झुण्ड के झुण्ड आपकी तलवार की धार के जल में डूब गए हैं। अतः इस समय उसी तलवार की धार से मेरी प्यास को बुझाने के लिये जल दीजिये। इस पद्य में मुग्धा पद का प्रयोग नितान्त समीचीन तथा बहुत ही उचित हुआ है। इस शब्द ने रानी का नितान्त भोलापन पूर्ण रूप से प्रगट कर दिया है। वह बेचारी इतना भी नहीं जानती कि तलवार की

धार और जल की धार में क्या! अन्तर है। यह एक भारतीय स्त्री का सहज स्वाभाविक गुण है जो भोले पन द्वारा उसके शुद्ध हृदय के प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति करता है। मुग्धा शब्द कवि की विदग्धता का परिचायक है। इसी प्रकार का एक उदाहरण गुप्तजी की यशोधरा में भी पाया जाता है जहाँ उन्होंने भारतीय नारी का वर्णन करते हुए लिखा है—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

इसमें आँचल में दूध और आँखों में पानी होना स्वाभाविक ही है परन्तु "हाय!" शब्द इसके अर्थ में एक विशेष अवस्था उपस्थित कर स्त्री जाति की दुखद अवस्था का दृश्य उपस्थित कर देता है। इस हाय शब्द के द्वारा गुप्तजी के हृदय की विदग्धता पूर्णतया प्रगट है।

आचार्य आनन्द वर्द्धन ने भी रस को काव्य की आत्मा मानते हुये उसका आधार औचित्य ही को माना है। उनका भी कहना है कि वस्तु अर्थात् कल्पना और अलङ्कार रस के केवल बाह्य परिधान मात्र हैं और रस के परिपाक के लिए ही उनका प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि वे साहित्य शास्त्र में अपनी सत्ता बनाये हुये हैं। आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक में औचित्य ६ प्रकार का वर्णन किया है। (१) अलङ्कारौचित्य (२) गुणौचित्य, (३) सङ्घटनौचित्य, (४) प्रबन्धौचित्य, (५) रीत्यौचित्य, (६) रसौचित्य। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस ६ प्रकार के औचित्य के २७ प्रभेद माने हैं। इस प्रकार औचित्य की व्यापकता काव्य में पूर्णतया मान्य सिद्ध हो जाती है। औचित्य गुणों का भारतीय काव्य में जो महत्व है उसके आधार पर भारतीय काव्य संसार के काव्य क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का महत्व रखता है। और यह हमारे साहित्य का सम्मान प्रगट करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य और भी अनेकानेक महत्वपूर्ण गुणों का भण्डार है। यह सौभाग्य केवल हमारे ही साहित्य को प्राप्त है।

(पृष्ठ ४३६ का शेष)

वस्तुतः संस्कार एवं वातावरण के प्रभाववश खुसरो बार-बार शृङ्गार की ओर बहक जाते हैं, और कभी-कभी उसी की मस्ती में इतने विभोर हो जाते हैं, कि उन्हें समाज, साहित्य और सौन्दर्य या शील का ध्यान नहीं रह जाता। फिर भी खुशरो की शृङ्गार के अतिरिक्त उक्तियाँ अत्यन्त रमणीय, चमत्कार-पूर्ण, कौतूहल प्रवर्द्धक एवं विनोदमय हैं। हास्य स्थल २ पर फूटा पड़ता है। प्रेम का सहज स्वाभाविक एवं कई स्थलों पर उक्तियों को अत्यन्त आकर्षक सरस एवं मधुर बनाकर मार्मिकता प्रदान करने में सफल हुआ है। खुसरो की मुकरियाँ उनके जीवन के गहन अध्ययन की ही परिचायक नहीं हैं, बल्कि उनमें हँसता एक कवि का सजीव हृदय पाया जाता है। जो बरबस पाठक को अपनी ओर खींचता है। खुशरो में कवि की मौलिकता, कल्पना की उदात्तता एवं उक्ति का चमत्कार सभी कुछ एक साथ घुल मिल गया है। उन्होंने भारतीय जन-जीवन को अपनी पहेलियों एवं मुकरियों से ऐसा प्रभावित किया है, कि आज भी गाँव का कोई भी नर-नारी आपको खुसरो की पंक्तियाँ सुनाकर आपका मनोरञ्जन कर सकता है साथ ही जीवन के कुछ कटु क्षणों में भी विनोद का प्रवाह प्रवाहित कर सरसता का संचार कर सकता है। वस्तुतः खुसरो स्मरणीय है, उनका कवि-रूप अमर है

आठ कमल दल

श्री जनकराय 'साहित्य-रत्न'

श्रद्धेय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में छपरा जिला के जिस कबीर पंथियों के धनौती मठ का जिक्र किया है वहीं से बीजक प्रचारित किया गया—ऐसा इतिहास बतलाता है। उसी विशाल मठ के प्रांगण में मैं सत्सङ्ग में सम्मिलित हुआ था और वहाँ के अनुभवी महन्थजी से कबीर के इस प्रसिद्ध पद पर वार्तालाप कर रहा था।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी,
कौने तार से बीनी चदरिया।
इँगला-पिंगला ताना भरनी,
सुख-मन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल-दल चरखा डोलै,
पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै,
ठोक-ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन,
ओढ़िके मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़िन,
ज्यों कै त्यों धर दीनी चदरिया॥
—शब्दावली पृ० ७४,

विनोद में अन्तिम पंक्तियों से मैं कबीर को उच्छृंखल, उज्जड एवं अहङ्कारी बता रहा था—सुर, नर, मुनि के समक्ष अपने को सिद्ध सिद्ध करना विशुद्ध अहंकार है, महन्थजी! 'दास' कबीर कहने से क्या हुआ? पूज्यों की ओर उँगली उठाकर और तुलना में अपने आप को बैठा देने से कबीर की महत्ता में प्रश्नवाचक चिह्न लग ही जाता है—"इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितै गुणैः।" और महन्थजी इसे मानने को तैयार नहीं थे। कबीर के फक्कड़पन की दुहाई देकर वे कह रहे थे, कि सुर, नर एवं मुनियों की प्रचलित कहानियों में उनके दिव्य चरित्र का वर्णन ही कहाँ है? "काम न अन्ध किन्ह केहि केही" गोसाईं जी की यह पंक्ति उनके चरित्र से अपनी पुष्टि पा रही है। तब तक किसी कारण से वार्तालाप की धारा पलटी और "आठ कमल दल चरखा डोलै" का स्पष्टीकरण करना महन्थ जी ने प्रारम्भ किया। उनके नये अर्थ को सुनकर मस्तिष्क में विचारों के घन घुमड़ने लगे। मेरा अध्ययन उनकी व्याख्या स्वीकार करने को तैयार नहीं था। महन्थजी को अन्य आवश्यक कार्यों में संलग्न होते देख मैं भी वहाँ से विरत होकर घर चला आया।

महन्थजी ने "अष्ट कमलदल चरखा डोलै" का यह अर्थ किया था—दस दलयुक्त मणि पूर चक्र से थोड़ा हटकर अष्टदल चक्र है, जिस पर मन भरमा करता है। महात्मा कबीर का संकेत उसी कमल की ओर है।" अभी तक हृदय ने जिस अर्थ को धारण किया था। उसके विपरीत यह एक धक्का था, अतः विचार की तुला पर इस अर्थ को तौलने लगा। कबीर ने "अष्ट कमल दल" कहा है, अगर यही संकेत उनका अभिप्रेत था तो उन्होंने कविता में 'अष्ट दल कमल' क्यों नहीं लिखा। यहाँ तो अष्ट के खींचकर दल को लाना पड़ता है।

बहन आया ने प्रो० शिवपूजन सहायजी के अर्थ को मेरे सम्मुख रक्खा। जन्म के समय शिशु की नाभी से एक नाल निकला रहता है, यह सर्व विदित बात है, इसी नाल पर अष्ट दल कमल है और प्रस्तुत कविता में अष्ट दल कमल का यही अर्थ सन्त कबीर ने विचार कर लिखा। विष्णु की नाभी से निःसृत कमलनाल से ब्रह्म की उत्पत्ति का

चित्र अक्सर देखने में आता है। ब्रह्मोत्पत्ति का वह कमल अष्टदल ही है। अन्य जीवधारियों में भी प्रजनन क्रम वही है। स्वयं विष्णु भी वैकुण्ठ में अष्ट-दल पद्म से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा पुराणों का कथन है। लेकिन इस अर्थ के बाद भी समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है, कि अष्ट दल कमल नहीं बल्कि कबीर ने अष्ट कमल दल कहा है।

"जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै" में कबीर ने चरखा रूपक द्वारा काल चक्र का तथा ब्रह्म को बढ़ई के रूप में माना है, और अगर काल-चक्र नष्ट भी हो जाय तो उसका सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्म रहेगा ऐसा अर्थ एक जानकार सज्जन ने किया था, और इस पंक्ति का यह अर्थ युक्ति संगत भी है। रामकुमार वर्माजी ने अपने 'कबीर का रहस्यवाद' में इस पक्ति का यही अर्थ किया है। उक्त सज्जन ने इसी पंक्ति के आधार पर "अष्ट-कमल दल" की यह व्याख्या की कि रात्रि के चार प्रहर और दिन के चार प्रहर यही आठ दलों का काल चक्र चलता है, जीव धारियों की आयु का मापक यन्त्र। जगत को चबेना बनाने वाले काल के संरक्षण में सृष्टि चक्रानुसार इसी प्रकार चल रही है।

इस ऊहात्मक अर्थ में चरखा को कालचक्र माना गया है, लेकिन कबीर ने अष्ट-कमल दल के साथ पाँच तत्त्व गुन तीन मिलाकर झीनी २ चंदरिया बनाने की बातें कही हैं, अतः यह अर्थ उत्तम नहीं होगा। क्योंकि "साईं को सियत मास दस" लग जाता है, और तब जो चादर निर्मित होती है उस पर काल का आधान करना युक्ति संगत होगा। कालचक्र इस "चदरिया" का उपकरण हो ऐसा अनुपयुक्त सा लगता है।

शिव संहिता के अनुसार मेरुदण्ड में प्राणवायु को वहन करने वाली कई नाड़ियाँ हैं। जो नाड़ी बाईं ओर है वह इड़ा और जो दाहिनी ओर है वह पिंगला कहलाती है। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। वास्तव में सुषुम्ना के भीतर बज्रा उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है। यही कुण्डलिनी का असल मार्ग है। इस प्रकार ये पाँचों नाड़ियाँ (इड़ा, पिङ्गला, बज्रा, चित्रिणी, ब्रह्म) पञ्च-स्रोत या पंचधारायें कहलाती हैं। इड़ा और पिङ्गला दोनों नाड़ियाँ मूलाधार चक्र (गुह्य स्थान के समीप) से आरम्भ होती हैं और नासिका में जाकर समाप्त हो जाती हैं तथा सुषुम्ना नामा प्रदेश से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड से होती हुई ब्रह्मचक्र में प्रवेश करती है। नागेशभट्ट ने 'स्फोट विचार' करते हुए वाणी के उत्पत्ति स्थान मूलाधार चक्र को नाभि-स्थल के ही निकट स्थित माना है।

"परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्तीनाभिसंस्थिता"

सुषुम्ना नाड़ी द्वारा इसी मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी करके योगी सिद्धि प्राप्त करता है। इस नाड़ी में जैसा कि शिवसंहिता में कहा है—

"इडापिंगलोर्मध्ये सुषुम्नाया भवेत्खलु।
षटस्थानेषु च षटशक्ति षटपद्मं योगिनो विदुः।"

छः कमल हैं जो चक्र कहलाते हैं। सुषुम्ना के निम्न मुख में स्थित कुण्डलिनी शक्ति योगी के प्राणायाम द्वारा जाग्रत हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी के रास्ते ऊर्ध्वमुखी होती है तथा उसमें स्थित क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को पार करती हुई ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचती है जहाँ सहस्रदल कमल है। यह कमल तालुमूल में है जहाँ ब्रह्मनाड़ी का छिद्र है यही छिद्र ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। यहीं प्राणशक्ति संचित की जाती है। इन्हीं षट्चक्रों का भेदन योगियों का परम लक्ष्य होता है इस प्रकार सहस्र-दल कमल के साथ शरीर में सात कमलों की स्थिति है। डा० रामकुमारजी ने 'कबीर का

रहस्यवाद' नामक अपनी पुस्तक में इनका बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है।

मुझे ऐसा लगता है कि इन्हीं सतकमलों की चर्चा को देखकर कबीर के 'अष्ट कमल दल' पर अर्थ कर्त्ताओं का ध्यान नहीं गया और उन्होंने नया नया अर्थ करना प्रारम्भ किया। अगर सन्त-मतानुसार शरीर के आठों कमलों का वर्णन मिलता तो भ्रम की गुञ्जाइश नहीं होती और अष्ट-कमल का अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता।

वस्तुतः सन्तमतानुसार शरीर में आठ कमलों की स्थिति मानी गयी है जिसमें से षट चक्रों का तो कुण्डलिनी द्वारा भेदन होता है और शेष दो चक्रों सहस्रार तथा सुरति में योगी विलास करता है। कबीर ने यत्र-तत्र अपनी कविताओं में इन्हीं अष्ट-कमलों का जिक्र किया है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिन्दी-शब्दसागर' में भी यही अर्थ है। अष्टकमल—सं० पु० [सं०] हठयोग के अनुसार मूलाधार से ललाट तक के आठ कमल।

"यः ब्रह्माण्डे सः पिंडे" गुरु नानक देव के इस कथन की बड़ी सुन्दर विवेचना सन्त पूर्णसिंहजी ने की है। उन्होंने एड़ी से लेकर कमर तक सात लोकों की कल्पना की है जो अधलोक कहलाते हैं तथा उनमें ही सातों नरकों की कल्पना की गई है। मध्य में भी सात लोक हैं जो प्रतीक रूप से सातों चक्रों में अवस्थित हैं। तैत्तिरीय उपनिषद में ये चक्र ही क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् लोक के नाम से प्रयुक्त हुए हैं। इन चक्रों में दस दल वाले मणिपूर चक्र से थोड़ा हट कर एक अष्ट दल चक्र है जिस पर मन भरमा करता है। यह चक्र उन सप्त चक्रों के अतिरिक्त है अतः इस चक्र को मिलाकर शरीर में अष्ट चक्र हुए। हृदय के निकट का यह चक्र ही "भावचक्र" के नाम से प्रसिद्ध है। जो काव्य में स्थायीभाव का मूल माना जाता है। इसका विस्तृत विवरण फिर कभी उपस्थित किया जायेगा कि किस प्रकार इस चक्र का प्रत्येक दल हृदयस्थ स्थायी भावों की वासस्थली है।

महात्मा विचारदासजी ने भी बीजक की टीका करते हुए लिखा है कि सन्त मत में इस सहस्राधार चक्र के भी ऊपर एक अष्टम चक्र—सुरति कमल—की कल्पना की गयी है। कहते हैं कि सहस्राधार चक्र तक पहुँचे हुए योगी का चित्त समाधि टूटने के बाद फिर वासना का शिकार हो जाता है। पर सुरति कमल में विलास करने वाले योगी का चित्त इस प्रकार के खतरे से निर्भय रहता है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथजी कविराज ने 'भक्ति का रहस्य' नामक अपने लेख में लिखा है कि जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तब तक अष्टदल में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्य-युग के बहुतेरे सन्त अष्टदल को एक प्रकार से सहस्रदल के साथ अभिन्न समझते थे तथा कोई कोई इसको सहस्रदल के अन्तर्गत मानते थे।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि "अष्ट कमल दल चरखा डोलै, पांच तत्त्व गुन तीनी चदरिया" में अष्टकमलदल से तात्पर्य शरीरस्थ इन्हीं अष्टचक्रों से है। संतमत में या नाथपंथी योगियों में इन चक्रों का बड़ा महत्त्व था। वे प्राणायाम द्वारा इन चक्रों के भेदन को ही परम सिद्धि मानते थे। आज हममें इन चक्रों को पूर्ण रूप से समझने की क्षमता भी नहीं!

खुसरो की कह मुकरियाँ

प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए०, साहित्यरत्न

"चारण कालीन रक्त रञ्जित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूँज रही थी, और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्मशासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में भी अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि थी। मनोरञ्जन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के लिए सदैव स्मरणीय रहेगा।"

डा० वर्मा के उक्त कथन की पुष्टि खुसरो की पहेलियों, मुकरियों अथवा सखुनों किसी के भी अध्ययन से हो सकती है। समय एवं रूढ़ि के समस्त बन्धनों का विरोध कर खुसरो का विनोद प्रिय, बेधड़क व्यक्तित्व उनकी कविता में स्थल स्थल पर मुखर हो उठा है। वे ऐसी बेबाक तबीयत के आदमी थे कि मुँह आयी बात रोकते न थे और कविता के लिए भाषा और छन्द के फेर में भी न पड़ते थे। खुसरो चलते हास्य करने में कुशल और आशु कविता करने वाले प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे।

खुसरो ने जीवन को निकट से पढ़ा था और पैठ कर पहचानने का प्रयत्न भी किया था, किन्तु हँसते-हँसते, विनोद करते करते। जीवन के निकट सम्पर्क में आने वाली प्राकृतिक निर्जीव सजीव वस्तुओं से इतना घनिष्ट परिचय उन्होंने प्राप्त किया था, कि वे उनके प्रत्येक गुण और रूप को सहज ही तुलना के लिए सामने रखकर कविता में चमत्कार ला देते थे।

अमीर खुसरो की मुकरियाँ मानो चमत्कार, विनोद, व्यंग, हास्य का एक साथ भण्डार है। मुकरी एक प्रकार का अलंकार ही है, जिसे हिन्दी के अनुसार 'अपन्हुति' नाम दिया जा सकता है। यह मुकरियाँ मानों दो सखियों का वार्तालाप है। एक चतुरा सखी वस्तु का ऐसा वर्णन करती है कि अन्य को 'साजन' होने की प्रतीत होने लगती है किन्तु तभी उत्तर मिलता है कि साजन नहीं साजन के गुण साम्यवाली अन्य वस्तु है। इस प्रकार कौतूहल को भी तृप्ति मिलती है, और मनोरञ्जन का उद्देश्य भी सिद्ध होता रहता है। बुद्धि का जितना कौशल, साम्य का जितना अध्ययन और उक्ति की जितनी चमत्कारकारिता खुसरो में है वह अन्यत्र बहुत कम मिलेगी। सीधी सादी बात, ठेठ शब्दों में ऐसी घुमा फिराकर कही गई है कि सहज ही समझ नहीं पड़ती किन्तु खुसरो का उत्तर पाते ही जैसे समस्त गूढ़ता एवं दुरूहता की कुञ्जी मानों हाथ लग जाती है। खुसरो, बात आपके अत्यन्त निकट सम्पर्क की कहते हैं और प्रायः तुक मिलाकर संकेत भी कर देते हैं, किन्तु आप उन्हें पा नहीं सकते, रहस्य की गाँठ नहीं खोल सकते।

खुसरो की अधिकाँश मुकरियाँ ऐसी हैं जिनमें निर्जीव पदार्थों से तुलना की गई है। अँगिया, लोटा, लँहगा, मोती, नथ आदि को साजन के समीप एवं समकक्ष सिद्ध किया गया है। ऐसे स्थलों पर 'साजन' की रति क्रीड़ा तथा विलास वर्णन का आधार लिया गया है; यथा :—

'कसके छाती पकड़े रहे।
मुँह से बोले न बात कहे।।
ऐसा है कामिनि का रँगिया।
ऐ सखि साजन, ना सखि अँगिया।।'

और कहीं-कहीं मुसलमानी इश्क माशूक की बस्ती का रहने वाला कवि बेल, लहँगा, घोड़ा, हाथी

आदि को साजन के समकक्ष रखता हुआ अश्लीलता के भद्दे चित्रों तक भी पहुँच जाता है। कामशास्त्र के सकल क्रियाकलाप का वर्णन करने में लग जाता है। साजन के प्रति रचना का उद्देश्य होने से सहज ही उसकी इस वृत्ति को आश्रय मिल जाता है, किन्तु दरबार की मुसलमानी गन्ध का सम्पर्क भी उसके इस आवेश में विशेष सहायक हुआ जान पड़ता है। ऐसे कतिपय स्थलों का त्याग कर देने पर भी खुसरो की कविता में अनेक उल्लेखनीय चमत्कारपूर्ण पद विद्यमान रह जाते हैं। उन्होंने निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते हुए विवाहित जीवन के ऐसे सुखमय एवं विनोदपूर्ण चित्र भी उपस्थित किए हैं कि मुकुरियों का सौन्दर्य और चमत्कार बढ़ जाता है। विवाह के समय बधू बनने वाली कन्या को साजन और ढोल के प्रति कितना आकर्षण बढ़ जाता है, यह अनुभवगम्य ही है। साजन के विषय की अनेकानेक मधुर कल्पनाएँ तथा ढोल का मीठा शब्द बधू के प्राणों में कितना उत्साह और प्यार घोल देता है इसे खुसरो ने कितने मीठे, सहज एवं चमत्कार पूर्ण रूप में सामने रखा है :—

'वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय ॥
मीठे लागें बाके बोल।
ऐ सखी साजन, ना सखि ढोल ॥'

घर के बाहर खड़े रहने वाले नीम के प्रति गाँव के निवासी का कितना स्नेह बिखरा रहता है। प्राणों से प्यारे नीम और साजन में क्या अन्तरः—

"द्वारे मोरे खड़ा रहे।
धूप छाँव सब सर पर सहे॥
जब देखो मोरी जाए भूख।
ऐ सखि साजन ना सखी रूख ॥'

स्नेहमय दम्पत्ति का सुन्दर एवं स्वाभाविक साथ ही मोहक चित्र देखिए, खुसरो ने रूमाल के बहाने कितने आकर्षक रूप में सामने रखा है। निर्जीव रूमाल में भी जैसे खुसरो ने प्राण डाल दिये हैं :—

'मेरा मुँह पोंछे मोको प्यार करे।
गरमी लागे तो बयार करे॥
ऐसा चाहत सुन यह हाल।
ऐ सखी साजन ना सखि रूमाल ॥'

और देखिए, दो प्रेमियों की दशा का कितना सुखद चित्रण काँटे को लेकर कवि ने किया है। बरबस ग्रहण, खींचा-तानी और स्नेह तथा विवशता का कितना सहज वर्णन है :—

"बाट चलत मोरा अचरा गहे।
मेरी सुनै न अपनी कहै॥
ना कुछ मोसों झगड़ा झाँटा।
ऐ सखी साजन ना सखी काँटा ॥"

ठेठ शब्दों में एक ही साथ प्रेम का रमणीय रूप उपस्थित कर दिया गया। और रति इच्छा से व्याकुल पति का चित्र भी देखिये और खुसरो की सूझ देखिए कि किस प्रकार उसे हठी और निर्लज्ज सिद्ध करने के लिए मक्खी का साम्य उपस्थित किया है :—

"बेर बेर सोवतहि जगावै।
ना जागूँ तो काटे खावै॥
व्याकुल हुई मैं हकी बकी।
ऐ सखी साजन ना सखी मक्खी ॥"

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि ने निर्जीव सजीव पदार्थों एवं प्रगतियों के गुणों का कितना सुन्दर अध्ययन एवं ग्रहण किया था। उनके इस अर्जित ज्ञान की थाती पाकर मुकरियाँ खिल उठीं हैं, साहित्य मनोरञ्जक, मार्मिक एवं सहजग्राही हो गया है। खुसरो ने जहाँ भी रिताब के स्तर को नीचा करके गुण साम्य को प्रतिष्ठा दी है, वहाँ पदार्थ का गुण, साम्य का सौन्दर्य एवं भाव की रमणीयता एकत्र हो गई हैं। नोन, जूता और पानी पर खुसरो की मुकरियाँ हृदय के भावों को

कितनी सुन्दर व्यञ्जना करती हैं, प्रेम का कैसा सुन्दर रूप प्रस्तुत करती हैं :—

"सरब सलोना सब गुन नीका।
वा बिन सब जग लागै फीका॥
वाके सर पर होवे कोन।
ऐ सखी साजन ना सखी नोन॥१॥"
"नंगे पाँव फिरन नहिं देत।
पाँव से मिट्टी लगन नहिं देत॥
पाँव का चूमा लेत निपूता।
ऐ सखी साजन ना सखी जूता॥२॥"

और:—

बा बिन मोको चैन न आवे।
वह मेरी तिस आन बुझावे॥
है वह सब गुन बारह बानी।
ऐ सखी साजन ना सखी पानी॥३॥"

खुसरो ने प्राणी वर्ग के अनेक बन्दर, मच्छर, मोर, मैना आदि प्राणियों को साजन के समकक्ष रखा है और प्रत्येक की प्रकृति के अनुसार साजन का सफल चित्रण भी किया है। बन्दर का वर्णन करते हुए खुसरो की मुकरियों में बड़ा ही चमत्कार आ गया है और कहीं-कहीं उक्ति के सौन्दर्य के कारण हास्य रोके नहीं रुकता। मक्खी का चित्र ऊपर उपस्थित किया जा चुका है कौतुक प्रिय बन्दर का चित्र देखिए :—

"आँख चलावै भौं मटकावै।
नाच कूद के खेल खिलावै॥
मन में आवे ले जाऊँ अन्दर।
ऐ सखी साजन ना सखी बन्दर॥

अथवा:—

छोटा मोटा अधिक सोहाना।
जो देखे सो होय दिवाना॥
कभी वह बाहर कभी वह अंदर।
ऐ सखी साजन ना सखी बन्दर॥"

कुत्ते का वर्णन करते हुए खुसरो का पति पत्नी का मान मनौवल और हठ का चित्र देखिए :—

"दुर-दुर करूँ तो दौड़ा आए।
छन आँगन छन बाहर जाए।
दीहल छोड़ कहीं नहीं सुतता।
ऐ सखी साजन ना सखी कुत्ता॥"

सारांश यह कि खुसरो ने निर्जीव पदा[र्थ] चित्रण में जिस गुण साम्य की चमत्कार-पूर्ण [...] की है वैसे ही चेतन प्राणियों की प्रकृति से [...] की समय २ की मानसिक स्थिति का साम्य भी [...] रखने में उत्कट सफलता प्राप्त की है। कुत्ता, [...] और बन्दर कहकर पति की विलास-प्रियता [...] उसकी यौन-वृत्ति से जागृत चेष्टाओं के साम्य [...] चित्र अत्यधिक व्यंजक, व्यंगपूर्ण रूप में खुश[रो ने] रखा है। मानव ही नहीं समस्त प्राणि [...] स्वभाव को पहचानने की सिद्धि खुशरो को पू[र्ण] मिली थी।

श्लेष का आधार लेकर सेनापति ने अनेक [...] मय कवित्त प्रस्तुत किए और प्रतिष्ठा भी प्रा[प्त] किन्तु जो भाव-सारल्य खुसरो में है, वह श्ले[ष] उस समझ पूछकर लिखी गई पंक्तियों में कहाँ। [...] केवल उक्ति का वैचित्र्य है, यहाँ कहते २ [...] करा लेने वाला स्वभाव-सिद्ध काव्य का चमत[्कार] किन्तु कुछ स्थलों पर खुसरो ने भी श्लेष का आ[धार] लेकर मुकरियों की रचना की है, तथापि श्ले[ष के] लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग खुशरो की मुकरि[यों में] हुआ है कि उक्ति का गुण बढ़ा ही है, कुछ [...] चिन्तन का क्षेत्र नहीं खुला। पाठक नोन पर क[ही] उक्ति में सलोना आदि शब्दों का विचार कर सक[ते] [...]

निर्जीव-सजीव पदार्थ अथवा प्राणि व[र्ग के] आधार को छोड़कर खुसरो ने जहाँ तहाँ भा[व] [...]चक संज्ञाओं तथा शारीरिक गुणों को भी [...] रखा है। तप, जरा एवं सपना आदि पर [...] गई मुकरियाँ इसका उदाहरण हैं। इस प्रका[र की] उक्तियों में विशेष चमत्कार एवं सौन्दर्य नहीं [...] केवल शृङ्गार वर्णन की इच्छा प्रतीत होती [...]

(शेष पृष्ठ ४३० पर)

अमीर खुसरो का साहित्यिक महत्व

श्री अर्जुन बी० ए०

साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है। समाज से हमारा संकेत उस सम्पूर्ण मानवीय वातावरण से है जहाँ के किसी कोने में बैठ साहित्यिक साहित्य सृजन करता है। उसकी लेखनी पर युग उतर आता है। समस्त मानव समुदाय की गति विधि लेखनी की नोक पर थिरकने लगती है! जनता की सारी इच्छा अनिच्छा, आशा आकांक्षा, हर्ष-शोक कलाकार की कलम से प्रकट होते हैं। थोड़े में मैं कह सकता हूँ कि हमारा साहित्य हमारी चित्तवृत्तियों का सञ्चित कोष है। साहित्य युग और जनसाधारण की उपेक्षा कर सार्वजनीन और शाश्वत नहीं हो सकता। काल की सीमा का वही कला अतिक्रमण कर सकती है जिसमें सौन्दर्य हो। साहित्य का लक्ष्य जनसाधारण है। साहित्य सेवा कोई पूजा-पाठ नहीं। उसमें शंख बजाने, मंत्र गुनगुनाने और दण्डवत करने का ढोंग नहीं। यह तो सच्ची जन-सेवा है। साहित्य की सेवा मानव सेवा है। साहित्य से कोटि-कोटि मानव का रूप हम स्थिर कर पाते हैं। उसकी वृत्तियों उसकी त्रुटियों को हम स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर पाते हैं। जनसाधारण के हृदयों को टटोल उसकी सारी कुत्सित मनोवृत्तियों को दमन करना और सुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना ही साहित्य-सेवा है।

हमारे हिन्दी साहित्य का इतिहास संघर्षों एवं विभिन्न धर्मों का इतिहास है। साहित्य का प्रारम्भ घोर घोर कलह-और अभियान के वातावरण में होता है। आज से दस सौ वर्ष पूर्व का इतिहास कितना अनिश्चित और अनियमित युग का इतिहास है, यह तो अनुशीलन करने वाले ही समझ सकते हैं। वीर गाथा काल की समाप्ति हो चुकी थी। तमाम कटुता और कलह का साम्राज्य था। देश का भीतरी वातावरण बड़ा ही अभव्य और विकृत हो रहा था। ऐसी स्थिति में अमीर खुसरो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने साहित्य को विविध रंगों में रञ्जित किया। उस युग की सारी रचनाएँ धर्म या राजनीति के इशारों पर चलती थीं। ऐसी जटिल स्थिति में अमीर खुसरो ने जन साधारण को विनोद और मनोरञ्जन का साधन दिया। यही नहीं, संतप्त प्राणों में अपनी सञ्जीवनी से रस का सञ्चार करने में खुसरो का सराहनीय स्थान है। मनोरञ्जन की प्रवृत्तियों को जगाना आपका ही काम था।

साहित्य का पथ भिन्न था। गोरख-पंथ का प्रभुत्व कायम तो था ही। धार्मिक वातावरण पर गोरखनाथ के अनुयायियों का आधिपत्य था। राजनीतिक अवस्था छुटपुट कलहों में साँस ले रही थी। केन्द्रीय शासन का अभाव था। आपस में सभी राजे लड़ रहे थे। यही है राजनीतिक स्थिति जिसमें अमीर खुसरो का प्रादुर्भाव हुआ।

पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४९ में हुई। इसके ९० वर्ष पश्चात् खुसरो ने रचना प्रारम्भ की। बलबन से लेकर दिल्ली के तख्त पर ग्यारह बादशाहों का आरोहण आपने देखा था। अब यह कहना अनुचित न होगा कि अमीर खुसरो दरबारी थे। हिन्दुओं का युग तो वह था नहीं। तख्त पर मुसलमानी शासकों का अधिपत्य था। अतएव, आपकी रचनाओं पर मुसलमानी आदर्शों की छाप पड़ना अस्वाभाविक नहीं। सुतरां, आपकी रचनायें बड़ी रसीली और गुदगुदाने वाली हैं। बरबस हमारा ध्यान आपकी रचनाओं की ओर खिंच जाता है और सुनकर तबियत फड़क उठती है। इस वक्त काव्य की दो भाषायें थीं। एक राजस्थानी, जिसमें डिंगल काव्य की रचना हो रही थी और दूसरी अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी जिसमें सिद्ध और जैन अपनी रचनायें कर रहे थे।

खुसरो ने जन साधारण की खड़ी बोली में रचना की जिसमें आप अधिक सफल रहे।

प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य के क्रान्तिकारी थे हमारे अमीर खुसरो। बलबन के दरबार में आप उसके पुत्र के मनोरंजन को नियुक्त किये गये थे। फारसी में रचनायें बड़ी ही प्रिय लगती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना शायद ठीक होगा कि फ़ारसी के बेजोड़ विद्वान होने के बावजूद भी अमीर खुसरो ने हिन्दी की उपेक्षा नहीं की। आपने खड़ी बोली को रचना में स्थान दिया। इसी हेतु आप खड़ी बोली के आदि कवि माने जाते हैं। आपकी प्रसिद्धि बड़ी व्यापक थी। सर्वत्र आपका मान होता था। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ अमीर खुसरो ने अपने विनोदशील स्वभाव से दूसरों पर अपना प्रभाव न डाला हो। अपनी तुक बन्दियों से जनता के मनोरंजन का काम बड़ी सफलता के साथ आपने किया। संग्राम और शासन की कठोर शृङ्खला से मुक्त कर खुसरो ने आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमंडल में जनसाधारण को ला उसका बड़ा कल्याण किया। आपका 'खालिकबारी' कोष बहुत मशहूर है। जिसमें फारसी अरबी और हिन्दी के शब्दों का प्राचुर्य है। अनेक दिशाओं में आपकी महत्ता स्पष्ट होती है। खुसरो की कविता में गंभीरता का तो अभाव था ही। उसमें जीवन की परिस्थितियों का भी वर्णन नहीं मिलता। एक ही गजल में फारसी और खड़ी बोली दोनों के शब्द हीरे मोती की तरह जड़े मिलते हैं। देखिये:—

जेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल
दुराये नयनां बनायें बतियां'
कि तावे हिजरां न दारम एजां
न लेहु काहे लगाय छतियां।
शयाने हिजरां दराज चू जुल्फ
व रोजे वसलत चु उम्र कोताइ।
सखी पिया को जो मैं न देखूं
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियां।

गजल का कुछ ही अंश यहाँ उद्धृत किया गया है। पढ़ते ही तबियत फड़क उठती है। ऐसी कितनी गजलें हैं जिनमें लालित्य और घोर आकर्षण भरे हैं।

आपकी पहेलियों में कौतूहल और विनोद की मात्रा कितनी घनी है। एक उदाहरण से यहाँ स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ। सुनियेः—

श्याम बरन और दांत अनेक लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री॥

इनकी मुकरियां बड़ी मनोरंजक और विनोद कारी हैं। इनमें उत्तर भी निहित रहता है।

मेरा मोसे शृङ्गार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा,
ऐ सखी साजन ? ना सखि ! सीसा।

बहुत विद्वानों ने खुसरो की प्रशंसा अतिशयोक्ति-पूर्ण शब्दों में की है। कुछेक ने तो उसे The prince among the poets कह कर प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान दिया है किन्तु जितनी रचनायें हमें प्राप्त हैं उनमें जीवन की गंभीर विवेचना नहीं के बराबर है। हमारी घोर समस्यायें जो हमारे जीवन को ठोक पीट कर दुरुस्त बनाती हैं उनका सर्वथा अभाव खुसरो की कविता में है। हो सकता है कि फारसी की रचनाओं में जीवन की गंभीर विवेचना हो पायी हो। लेकिन हमारी आंखों के सामने जितनी चीजें आ सकी हैं उनमें न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न जीवन के किसी गंभीर तत्व का ही निरूपण हो पाया है। जीवन की जटिलताओं से ऊबकर मनुष्य उसमें आनन्द और मनोरंजन की सामग्री अवश्य ही पा सकता है। काव्य की भाषा में अलङ्कार ला दुरूह बनाने के बजाय आपने जन साधारण की बोल

• (शेष पृष्ठ ३४२ पर)

'रासो' की व्युत्पत्ति

श्री बैजनाथ प्रसाद खेतान, एम० ए०

प्रकाशित 'रासो' की पुष्पिका में 'पृथ्वीराज रासके' शब्द आया है जो 'पृथ्वीराज रासो' का द्योतक है। इसके आधार पर आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय का कहना है कि 'रासो' का संस्कृत रूप 'रासक' है, जिसकी गणना उपरूपक के अठारह भेदों में की जाती है। अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने यह प्रमाण उपस्थित किया है कि जिस तरह नाटक का आरम्भ नट-नटी के वार्त्तालाप से होता है, उसी तरह 'पृथ्वीराज रासो' का श्री गणेश कवि चन्द और उसकी भार्य्या गौरी के प्रश्नोत्तर से सम्बद्ध है। यह तर्क तभी समीचीन कहा जा सकता है जब अन्यान्य 'रासो' ग्रन्थों में भी हम इसी प्रकार के नाटकीय प्रारम्भ और विकास का रहस्योद्घाटन करें। 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह धारणा निराधार जान पड़ती है, अतएव पाण्डेजी का मत समीक्षा की कसौटी पर अप्रमाणित सिद्ध होता है।

प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रासो' की व्युत्पत्ति, तो 'रासक' से मानी है, पर इसका अर्थ वे 'काव्य' बतलाते हैं, न कि उपरूपक के अठारह भेदों में से एक। उनके मत से 'रासक' शब्द ब्रज में 'रासो', खड़ी बोली में 'रासा' और अवधी में 'रास' में रूपान्तरित हो गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे संस्कृत का 'घोटक' शब्द ब्रज में 'घोड़ो' खड़ी बोली में 'घोड़ा' और अवधी में 'घोड़' हो जाता है। भाषा-विज्ञान की तुलनात्मक प्रक्रिया से प्रस्तुत मत की सत्यता का भ्रम उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वस्तु स्थिति के सम्यक् अध्ययन से यह निष्कर्ष तर्क-शून्य दीख पड़ेगा, ऐसा हम विश्वास के साथ कह सकते हैं।

'रासो' की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में काफी ऊहापोह हुआ है, और सबों ने अपने अपने ढंग से अटकल बाजियाँ की हैं। गार्साँ-द-ताँसी इसका सम्बन्ध 'राजसूय' से बतलाते हैं, शुक्ल जी ने इसकी निष्पत्ति 'रसायण' से मानी है। डा० उदयनारायण तिवारी का कहना है कि यह शब्द 'रास' का वंशज है। उन्होंने अपने समर्थन में यह दलील दी है कि 'बीसलदेव रासो' म कई स्थलों पर 'रास' शब्द आया है, तदनुसार ऐसा मानना अदूरदर्शिता या प्रमाद का परिचायक नहीं। अगर किसी दूसरे 'रासो' ग्रन्थ में आपको 'रासो' से मिलता-जुलता कोई अन्य शब्द मिल जाता, तो शायद आप इसकी उत्पत्ति उसी से मान लेते। अनुसधायकों को इस तरह की निराधार कल्पना से काम नहीं लेना चाहिए।

एक दूसरे महाशय ने इसी मत का समर्थन भिन्न ढग स किया है। उनका कहना है कि जैन-साहित्य में 'रास-छन्द' का प्रयोग हुआ है, और चरित-ग्रंथों को 'रासा' कहा गया है, इसलिये 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रास' से मानी जा सकती है। किसी किसी विद्वान् ने 'रासो' का संबध 'रहस्य' से बतलाया है, पर इसके पीछे कोई युक्ति संगत तर्क नहीं। इसी तरह ऐसे लोग हैं जो 'रासो' को 'राजस्य' या 'राजयश' का उत्तराधिकारी समझते हैं।

पर हमारे विचार से 'रासो' की व्युत्पत्ति के लिये दूर जाने की कोई भी आवश्यकता नहीं— 'रासो' की व्युत्पत्ति 'रासो' से ही हुई है। प्रत्येक राजस्थानी इसके अर्थ से परिचित है, फिर भी आश्चर्य होता है कि गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, दशरथ शर्मा, अगरचन्द नाहटा और मोतीलाल मेनारिया जैसे राजस्थानी साहित्य के चूड़ान्त विद्वानों

(शेष पृष्ठ ४५० पर)

एकाङ्की की कला

श्री प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए०

एकांकी या लघुरूपकों की रचनायें संस्कृत में भी हुई हैं, पर हिन्दी में एकांकी का आरम्भ बहुत हाल में हुआ है। इसे अँगरेजी का प्रभाव माना जा सकता है। जिस प्रकार उपन्यास-रचना से कहानी कला में पर्याप्त अन्तर है, उसी तरह एकाँकी की कला भी भिन्न है। बड़े नाटकों के खेले जाने में कठिनाई समय की रहती है, जब तक दर्शक पाँच घन्टों तक निश्चिन्त बैठने को तैयार न हो तब तक कोई नाटक प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। पर इतना समय आजकल कितने लोग दे सकते हैं? अतः स्कूल और कालेजों के उत्सवों के अवसर पर या किसी सभा सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित जनता के मनोरञ्जन या शिक्षार्थ कुछ अभिनयात्मक संवाद रखना बड़ा सुकर और प्रभावशाली हुआ है और ऐसे अभाव की पूर्ति एकांकी रूपकों द्वारा होती है। जब नाटकों का ही प्रचार था, तब प्रायः विद्यालयों के वार्षिकोत्सव में कोई रोचक या उपदेश-प्रद नाटकीय अंश संवाद के रूप में उपस्थित किया जाता था। किसी नाटक से कोई मनोरञ्जक दृश्य केवल संवाद के रूप में रख दिया जाता था, किन्तु अब इस प्रयोजन की सिद्धि बड़ी सुन्दरता से एकांकी द्वारा होती है।

एकांकी नाटकों का मूल सन्तों की जीवनी या वीरों के चरित प्रदर्शित करने की प्रथा में मिलता है, जिसका बहुत प्रचार मध्ययुग में यूरोप में था। दर्शकों पर प्रभाव डालने तथा धैर्य, क्षमा, बलिदान, निस्वार्थ सेवा आदि की भावना को दृढ़ रूप देने में छोटे संवादात्मक अभिनयों को बड़ी सफलता मिली। अतः एकांकी रचना में समय की कमी को ध्यान में रखना पड़ा। कुछ दो-चार पात्रों को लेकर ही इसकी रचना जीवन के प्रभावशाली अंश विशेष को लेकर करनी पड़ती है।

एकांकी की रचना में लेखक जीवन के एक अंश को या जीवन की किसी महत्वपूर्ण घटना को जिससे किसी पात्र विशेष के किसी गुण विशेष, बलिदान, स्वार्थ-त्याग, धैर्य, क्षमा, वीरता आदि का परिचय मिलता हो, उपस्थित करता है। रचना में वस्तु-ग्रन्थन की निपुणता आवश्यक है, संवाद रोचक और सजीव तथा प्रभाव अमिश्रित होना चाहिए। विषय की दृष्टि से पुराण के आख्यान, इतिहास के सैकड़ों प्रसंग, महापुरुषों के जीवनचरित्र, समाज की विविध समस्यायें उपयोगी हैं। लोक-गाथाओं से भी अनेक प्रसंग लिए जा सकते हैं। भक्तों की गाथायें, ऋषियों-मुनियों के घोर तप और उनके तपोभ्रष्ट होने की कथायें जो पुराणों में आख्यानों या उपाख्यानों के रूप में प्रस्तुत हैं उनको एकांकी में रूपान्तरित कर अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। प्राचीन संस्कृति को हम इनकी सहायता से आज के लोगों के आगे आकर्षक रूप में उपस्थित कर सकते है तथा उसे वर्तमान के लिए उस परम्परा को जीवित कर सकते हैं।

मानवी भावों का द्वन्द्व उपस्थित करना तथा पात्रों के हृदय में प्रेम, घृणा, बैर, महत्वाकांक्षा, गर्व, अहङ्कार की विकृति आदि के उठने, बढ़ने और बाधित होने के परिणामों के चित्र मानव को बहुत प्रिय लगते हैं; अतः एकांकी में इन्हें स्थान मिलना चाहिए। पात्रों के अन्तर्द्वंद्व का चित्र बड़ा ही प्रभावशाली होता है और श्रेष्ठ कलाकार वाह्य-द्वन्दों से अधिक महत्व अन्तर्द्वन्द को ही देता है। समाज के रीति-रिवाज आचार-विचार नियमों के दोष, रूढ़ियों और परम्पराओं के कारण उन्नति में बाधयें इन समस्यायों को भी एकांकी का विषय बनाया जा

सकता है। कुशल एकांकीकार ऐसे अनेक विषयों को ले सकता है, जिन पर आजकल कहानियाँ लिखी जाती हैं। प्रभावशाली वस्तु पर आधारित लघु-कथाओं को एकांकी में कुशलता से रूपान्तरित किया जा सकता है। नये लेखकों को ऐसे रूपान्तर प्रस्तुत करने से अभ्यास होता है और एकांकी रचने की रुचि जगती है। आज की समस्याओं में गरीबी और अमीरी की समस्या या मजदूर और पूँजीपति, जमींदार-किसान का स्वार्थ-संघर्ष, उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणी का संघर्ष या कौलीन्य का गर्व, विवाह और तलाक आदि की समस्यायें एकांकी के अच्छे विषय हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रचारात्मक उद्देश्य से भी आजकल ऐसे रूपक लिखे जाते हैं, 'अधिक अन्न उपजाओ' ग्राम सुधार विभाग और स्वास्थ्य विभाग के प्रचार के लिए कई रूपकों की रचना हुई है। रेडियो ने हिन्दी में एकांकी रचना में रूपकों को प्रश्रय देकर बड़ी सहायता पहुँचाई है। रेडियों में एकांकी वही अधिक पसन्द किये जा सकते हैं जो अभिनयात्मक से अधिक संवादात्मक हों।

कथानक—

कुशल कलाकार अपनी कला के स्पर्श से मिट्टी को भी सोना बना सकता है, धूल में भी फूल खिला सकता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि अच्छे कथानक को चुनने में सावधानी रखने की जरूरत नहीं। नाटक हो या उपन्यास एकांकी हो या कहानी शायद पचास प्रतिशत सफलता वस्तु-योजना पर अवलम्बित है। शैली और कला वस्तु को ही सवाँर-शृङ्गार का उपस्थित करना है। रेडियो ने एकांकी के लिये रूपक शब्द बहुत प्रचलित कर दिया है। शास्त्रीय दृष्टि से रूपक के अन्तर्गत दश भेदों में नाटक एक भेद है। पर अब नाटक का जैसे अशास्त्रीय अर्थ में प्रयोग चल गया है, वैसे ही रूपक भी इधर की कृपा से चल रहा है।

पद-पद पर कथानक में कुतूहल और जिज्ञासा जगी रहे, और अन्त-विस्मय उत्पन्न करने वाला हो तो सबसे अच्छा। श्री रामकुमार वर्मा के रेशमी टाई के एकांकियों में वस्तु की कुशलता में विस्मय का तत्व अधिक सहायक हुआ है। परिणाम में संशय और विस्मय एकांकी को सजीव बना देते हैं। यहाँ येट्स (आइरिश कवि और नाटककार) का उत्तर विचारणीय है। नाटककार लार्ड डनसनी ने आप से पूछा—आप एकांकी के कथानक का प्रधान गुण क्या समझते हैं ? येट्स ने उत्तर दिया—विस्मय, डनसेनी ने फिर पूछा—और दूसरा गुण ? उत्तर मिला विस्मय और तीसरा गुण ? प्रश्नकर्ता ने दुहराया, जवाब मिला विस्मय।' (देखिये नाटक की परख पृ० १९६) इससे विस्मय के तत्व का महत्व समझा जा सकता है। महापुरुषों के जीवन में नाटककारों को सदैव आकर्षण रहता है, पर श्रेष्ठ कलाकार सामान्य पुरुष के जीवन के मार्मिक स्थलों को भी खोज सकता है। अतीत और वर्तमान दोनों से कथानक प्राप्त हो सकते हैं। पर जीवन के उत्तेजना और विस्मय पूर्ण स्थल ही एकांकी के लिये अच्छे होते हैं, नहीं तो केवल संवाद बन जाने का खतरा है। कथानक और वस्तु में वही अन्तर है जो कच्चे लोहे और साँचे में ढले इस्पात की वस्तु में होता है। कथानक मिल जाने पर भी उसे काँट-छाँट कर नाटकीय साँचे में ढालकर उसे 'वस्तु' का रूप देना होता है। वस्तु को रखने में लेखक की एक कोणी दृष्टि से कथानक को देखना होगा। यहाँ डा० खत्री के विचार माननीय हैं—"यदि किसी एकांकी में अनेक स्थलों अनेक भावों, अनेक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है, तो वह एकांकी के प्रमुख तत्व की रक्षा नहीं करता, और उसमें एकांकी-लेखन-कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित न हो पायेगी। एकांकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्तवृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मय-पूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे, यदि वह इस आदर्श से गिरता है तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता। (नाटक की परख) इसी केल

एकांकी को 'नाट्यरूपी गीत' भी कहा गया है। एकांकी में एक प्रभाव ही उत्पन्न करने की चेष्टा उचित है। एकांकी में यदि तीन चार स्थल भी रहे तो सबका समंजस और संतुलित होना आवश्यक है। भिन्न स्थलों को एकप्राणता के सूत्र में ग्रन्थित होना चाहिए, पर सबसे अधिक आकर्षण या चरम-बिन्दु अन्त में रहे तो सबसे अच्छा।

स्थान संकोच के कारण एकांकी का विकास संक्षेपत्व के बीच ही संभव है। न विस्तृत पृष्ठ भूमि रखी जा सकती है, न पार्श्व स्थिति पर ही अधिक प्रकाश डाला जा सकता। आदि और मध्य तथा अन्त कहीं भी शब्दों के अपव्यय की गुञ्जाइश नहीं। आरम्भिक और पूर्व परिस्थितियों का थोड़ा आभास देकर ही वस्तु का उद्घाटन आरम्भ में हो जाना चाहिए। यह आभास भी संक्षिप्त संकेतात्मक रूप में ही हो तो सबसे अच्छा। इस प्रकार 'निरूपण' करने के पश्चात् वस्तु में 'अवरुन्धन' का आरम्भ होना चाहिए। पात्रों या परिस्थितियों का द्वन्द या संघर्ष ही अवरुन्धन है। कुछ मात्रा में इसका रहना एकांकी को सजीव बनाता है। अवरुन्धन को पार करते ही वस्तु उत्कर्ष को पहुँच जाय और उसके बाद तत्क्षण वस्तु का अन्त हो जाय तो बड़ा ही अच्छा। उत्कर्ष का स्थान ही हमारा सबसे अधिक ध्यानाकर्षण करता है। अन्त या उपकर्ष स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हो, अन्यथा दर्शक लेखक से सहमत नहीं हो सकता। कहाँ अन्त करना चाहिए और कब लेखनी रुक जाय—यह जानना बहुत जरूरी चीज है। जो लेखक यह नहीं जानता वह कदापि एकाङ्की नहीं रच सकता। डा० खत्री के अनुसार कलाकार को यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि कहाँ पर किस स्थल पर, किस संवाद पर, किस घटना पर तथा किस प्रभाव पर एकाङ्की का अन्त कर देना चाहिए। लेखनी रोकने की कला, लेखनी चलाने की कला से कहीं महत्वपूर्ण है। कला का व्यक्तित्व भावनाओं तथा उनके स्पष्टीकरण के निग्रह में प्रस्फुटित होता है। ज्योंही वांछित भावना तीव्र हो जाय, ज्योंही स्वाभाविक रूप से वह अपने उच्च-शिखर पर पहुँचे त्योंही पटाक्षेप होना चाहिए, और एकाङ्की समाप्त होनी चाहिए। कोइ और बात कहने अथवा कुछ और भावदर्शन के लोभ को अवश्य संवरण कर लेना चाहिए।

चरित्र चित्रण की कुशलता मानो नाट्य-पुरुष का मन या प्राण हो और संवाद उसकी वाणी। अतः चित्रण की स्वाभाविकता और सुन्दरता पर नाटकीय प्रभाव बहुत निर्भर रहता है और कथोपकथन रोचक और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। प्रधान पात्र के चरित्र और कथोपकथन के लिए वे ही सिद्धान्त उपयोगी हैं जो सामान्यतः नाटक रचना के लिए आवश्यक हैं। चरित्र कार्य और वाणी में प्रकट होता है अतः संवाद के गुण का भी विशेष महत्व है। एकाङ्की लेखक को अपनी कला के सभी उपकरणों पर सदा सतर्क दृष्टि रखना चाहिए, नहीं तो यह सम्भव है कि उसकी रचना शिथिल और प्रभावहीन हो जाये। किसी रचना का क्या प्रभाव पाठक या दर्शक पर पड़ता है यह सभी तत्वों की कुशल समंजसता पर निर्भर है; क्योंकि सभी तत्वों का प्रभाव एक साथ समन्वित रूप में पड़ता है।

(पृष्ठ ४३८ का शेष)

चाल की भाषा में रचना कर अपने को जनसाधारण तक पहुँचा दिया है। चारण कालीन रक्ति रंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धृत स्वरों में गूंज रही थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म-शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के लिये सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

कविरत्न पं० सत्यनारायण

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 'रसपीन' बी० ए०, सा० र०

कविता जीवन की आलोचना ही सही पर जीवन भी कविता की आलोचना होता है। यह उक्ति कविरत्न के जीवन व उनके काव्य से चरितार्थ होती है। जीवन का पारदर्शी कवि अपने रस से जीवन को और जीवन के रस से अपने को जैसे सिक्त करता चलता है, वह भौतिक धरातल पर अन्य प्राणियों के बीच वैसे ही अपना जीवन यापन करता है जैसे अन्य सब, किन्तु उसकी दिव्य दृष्टि नियति के रहस्य को समझने की चेष्टा करती हुई जीवन के किन्हीं वाञ्छनीय तत्वों का उचित भूमि, जल एवम् खाद द्वारा पोषण और किन्हीं अवाञ्छनीय तत्वों का 'कांता सम्मति' या 'कुठार सम्मति' से नाश करता चलता है। उसकी समरसता, उसका अभिनिवेश, उसका चारु-चिन्तन एवम् उसका सुन्दर 'शिवत्व' से मिलकर 'सत्य' हो जाता है और उस 'सत्य' का सुन्दर प्रतिबिम्ब हम कविरत्न सत्यनारायणजी के कवित्व में ठीक ठीक देख सकते हैं।

'कविरत्न' आलोचना के विषय रहे हैं परन्तु कुछ एक आलोचकों को छोड़ कर प्रायः सभी आलोचकों ने 'कविरत्न' के जीवन पर टिप्पणियाँ लिख कर या कृपापूर्ण आलोचना लिखकर कर्तव्य की इतिश्री कर दी है। 'कविरत्न जी के काव्य जीवन की समष्टि गत रूप उनमें कम निखर सका है। डाक्टर सत्येन्द्र ने 'हृदय तरङ्ग' की भूमिका में इस ओर संकेत किया है वह लिखते हैं—

'आज कुछ लोग कहते हैं 'सत्यनारायण में 'कुछ' था नहीं और 'कुछ' है नहीं उन्हें उनके मित्रों ने इतना बढ़ा दिया है।'

यह 'कुछ' जो सत्यनारायणजी में है और उतना ही जितना कि होना चाहिए, क्या है? इसका विश्लेषण करने का प्रयत्न हम यहाँ करेंगे।

'कविरत्न' जी का वाह्य रूप आधुनिक वेश-भूषा की दृष्टि से हास्यास्पद था। उनकी दुपल्ली टोपी, देहाती बगलबन्दी, पुकार पुकार कर कहा करती थी—

कोरो 'सत्य' ग्राम को वासी
कहा तकुल्लुफ जाने।

If he had not been a fool, he would never have been a great writer. —Macaulay

किन्तु धांधूपुरा ग्राम के वासी इस कवि के इन शब्दों में हीनता की भावना या विवशता न थी इनमें आधुनिक कृत्रिम सभ्यता के विरुद्ध वही तटस्थ एवम् मधुर विद्रोह था जो मर्मभेदी किन्तु कटुता-रहित होता है। कविरत्न में यह 'कुछ' का न होना मैकाले का यह वाक्य स्मरण दिलाता है—

"बौसवैल यदि मूर्ख न होता तो वह डा० जॉनसन की इतनी उत्तम जीवन-कथा लिखने में समर्थ न हो पाता।" इधर यह 'आदर्श सादगी' जो कि 'कविरत्न' में थी यदि 'कुछ' के प्रेमी या उस 'कुछ' को हृदय तरंग की भूमिका लेखक के शब्दों में—चर्म-चक्षुओं से न देख पा सकने वालों को न जँचे तो हिन्दी साहित्य को John Bailey की अवश्य आवश्यकता होगी जो यह बता सके कि—There is nothing more incomprehensible than genius. If it was not incomprehensible, if it was not unique among many, unique among all, it would not be genius— —Saint Beuve

कविरत्न की प्रतिमा का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह इतने सरल रूप में हमारे सामने आती

है कि हम सहसा उसे महान मानने में आगा पीछा करने लग जाते हैं। यही विशेषता हम अँगरेजी कवि टैनीसन में पाते हैं। टैनीसन का समकालीन कवि ब्राउनिंग एक साधारण भाव को भी इस प्रकार कहता है कि पाठक उसे महानतम समझ लेता है। यद्यपि वह महान है भी किन्तु टैनीसन उसी भाव को इस प्रकार कहता है कि वाचक को यह विश्वास ही नहीं होता कि इसमें कोई महान कवि बोल रहा है। आधुनिक युग जिसमें कि यह क्रान्तिकारी (Not in the accepted Sense) कवि उत्पन्न हुआ, अपनी सबसे बड़ा विशेषता यह समझता है कि अपनी तुच्छता को छिपा कर हीनता पर पर्दा डाल कर, अज्ञान का, अस्पष्टता में ओझल कर अपने व्यक्ति को इस प्रकार रक्खा जाये कि महानता का आभास हो। इस 'आभास की झलक' से दृष्टि चकित हो सकती है, मिथ्या भ्रम हो सकता है किन्तु यह आभास मधुर होता है, रहस्यमय होता है और होता है रागारुण आकर्षण का केन्द्र बिन्दु और यह 'रहस्य' कविरत्न में न था और इसी लिये उनकी प्रतिभा को न उनकी पत्नी समझ सकी न हममें से बहुत कुछ समझ सके, न समझने का प्रयत्न करते हैं।

'कविरत्न' जी की कविताओं का संग्रह 'हृदय तरङ्ग' में किया गया है जिसमें उतनी ही शीतलता, उतनी ही पवित्रता है जितनी 'रामचरित मानस' में। वर्डसवर्थ ने कहा था—Poetry takes its best orig n from emotions recollecteed in tranquillity.

'सत्य' के कवि में यह शान्ति उनकी मुख्य विशेषता है। कठिन से कठिन आलोचनाओं में चाहे वह धर्म के विषय में की गई हों चाहे जाति के विषय में किन्तु यह 'भावात्मक ज्योति' सर्वत्र विद्यमान मिलती है।

कहा जाता है कि 'सत्यनारायण' जी की कविता में ब्रजभाषा ने अपनी अन्तिम करुण पुकार सुनाई है, यह कुछ अंश तक सत्य है किन्तु एक अन्य दृष्टि से इसको भी देख सकते हैं। खड़ी बोली के उन्नत काल में ब्रजभाषा की 'सहज मधुरता' भुलाई जा रही थी। कवियों की 'काकली' उसमें अवश्य सुनाई पड़ती थी किन्तु द्विवेदी युग के 'कैम्प' में खड़ीबोली का 'दरबार' था। नवीन प्रयोग सफलता के साथ हो रहे थे। 'भारत भारती', 'ऊजड़ गाँव', 'प्रियप्रवास' आदि आदि जैसे ग्रंथ हमारे सम्मुख थे किन्तु 'कविरत्न' का कलापी ब्रजभाषा में 'धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई' देखकर नाच उठा। ब्रजभाषा में पिष्ट पेषित शब्दों व विषयों को एक ओर रख उन्होंने उसमें सामयिकता लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया और वह इसलिये ताकि यह भाषा दूर न पड़ जाये। यह दूरदर्शिता 'कविरत्न' जी की सूक्ष्म प्रतिभा का दिग्दर्शिका है। उनकी कविता ब्रजभाषा की अन्तिम करुण पुकार थी सही किन्तु एक प्रकार से वह उन नवीनतम प्रवृतियों का आगार भी थी जिसके बलपर आज तक और भविष्य में भी ब्रजभाषा कविता साम्राज्ञी रहती यदि उसके रसिक उसे प्रगति की ओर लाने का प्रयत्न करते। 'रत्नाकर' जी पर विहारी का प्रभाव था। उन्हें—

'सुनकिरवा की आड़ ताड़ तरकी तरपीली'

और—

'झूम झूम झुकि कलकपोल तबला गुटकावत'

में जो आनन्द आया वह:—

पावन परम जहाँ की मंजुल महात्म्य धारा।
पहले ही पहल देखा, जिसने प्रभात प्यारा॥

में न आया किन्तु 'कविरत्न' जी ने ब्रज भाषा को सामयिक बनाया, उसमें नवीन भावनाओं, नई टैकनीक, नवीन विचार धारा, नवीन शब्द योजना, नवीन पद-विन्यास का प्रवेश किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'कविरत्न' जी की कविता ने ब्रजभाषा का पथ प्रांजल ही नहीं किया अपितु उसको परिवर्तित कर उसे एक नई दिशा में डाला किन्तु कितने उस पर चले यह हम सबको अवगत है।

कवि के विनय के पदों में प्रथम आश्चर्य की भावना मिलती है।

तिहारो को पावे प्रभु पार ?
विपुल सृष्टि, नित नव विचित्र के,
चित्रकार आधार।

किन्तु यह आश्चर्य की भावना जैसे उनकी 'महिमा' के अनुभव का परिणाम है न कि 'अनजान' की प्रथम दृष्टि—

'न जाने नक्षत्रों से कौन,
सन्देशा मुझे भेजता मौन।'

इस भावना व 'सत्य' जी की भावना में अन्तर है। मानव विवशता, श्रद्धा, का सङ्गीत मय सस्वर पदों के साथ स्वर्ण संयोग हुआ है। कविरत्न अपने उपालम्भों के लिये प्रसिद्ध हैं। इनमें फड़क उत्पन्न करने की भावना कम है, चमत्कार की चाह न होकर बिनत-विनोद, भक्ति मय-बतरस, तथा श्रद्धालु हृदय की मंजु वाणी है जो शांत रस से प्लावित होकर महिमा मण्डित हो गई है। उदाहरण प्राचीन परन्तु उनका संक्रमण नवीन और ऊर्ध्वस्वित, प्रबुद्ध और प्रपूर्ण।

माधव आप सदा के कोरे!
दीन दुखी जो तुमको जाँचत,
सो दानिन के भोरे।
× × ×
ऐसी तूमा पलटी के गुन
नेति नेति श्रुति गाये।
× × ×
या कारन जग में प्रसिद्ध अति.
'निबटी रकम' कहाओ।
बड़े बड़े तुम मठा धुँआरे,
क्यों साँची खुलवाओ॥

कमी दैन्य—

माधव अब न अधिक तरसैये!
जैसी करत सदा सों आये,
वुही दया दरसैये॥

कमी व्यथित वेदना की पीड़क-प्रतिध्वनि—

बस अब नहिं जात सही।
विपुल वेदना विविध भाँति,
जो तन मन व्यापि रही।
कबलों सहैं, अवधि सहिबे की
कछु तो निश्चित कीजै॥
दीनबन्धु यह दीन दशा लखि,
क्यों नहीं हृदय पसीजै।

स्पष्टता, खरापन, व्यंग और सरलता इनके विनय-सम्बन्धी पदों के विशेष गुण हैं।

कविरत्नजी देश और समाज की ओर से चक्षु बन्द कर कविता करने वाले न थे। उनकी सबसे बड़ी दैन यही है कि उन्होंने ब्रजभाषा की विलास-काव्य-धारा के पंक से निकाल कर उसको युग प्रतिनिधि प्रवृत्तियों के पथ पर डाला उसमें युग-चेतना का महामन्त्र फूँका। कविता अपने संकुचित घेरे से निकल कर जीवन के विस्तृत प्राङ्गण में आकर अपनी गरिमा से हमारा ध्यान हठात् अपनी ओर खींच ले चली। कवि कह उठा—

साठि कोटि भुज गहि असि तीखी,
तरलित दुति दस दिसि दमकावनि।
को कहि सकत तोहि अबला माँ,
तू सबला रिपु-जय धर कावनि।

—तथा—

ऊँचा ललाट जिस पर,
हिम गिरि चमक रहा है।
सुवरन किरीट जिस पर,
आदित्य रख रहा है।

देश की दुर्दशा व दैन्य को देख कर कवि हृदय पुकार उठा—

बन्दौं भारत भुवि महतारी।
शेष अस्थि पिञ्जर बस केवल,
भययुत चकित विचारी।
जात लाज ब्रजराज राखिये,
याकी कृष्ण मुरारी।

सत्यदेव अब अधिक न यापैं,
विपदा जाति सहारी।

जैसे कवि ने बंगाल से उठती हुई जन वाणी—

'सुजलाँ सुफलाँ, मलयज शीतलाम् शस्य-
श्यामलाम्।'

की ध्वनि में पश्चिम से ध्वनि मिलादी। माता का जयघोष द्विगुणित हो उठा।

'कविरत्न' की 'प्रेमकली' की विशेषता है—

गोपनीय रस रहै पुरातन प्रथा भली है।
याही सों अधखिली रही यह प्रेम कली है॥

कवि 'प्रेम' के विषय में कहता है—

उलटा पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा।
मिलहिं न पर कहुं, एक प्रेम पूरी परिभाषा॥

यह प्रेम कितनी विशाल चित्रपटी पर चित्रित किया गया है यह देखते ही बनता है। प्रेम के साथ-साथ पुरुषार्थ का भी पाठ है।

यहै कसौटी विश्व माँहि जन मनहिं कसन की।
यह ही साँची वस्तु आत्मबल दैन असन की॥

'कविरत्नजी' का 'भ्रमर दूत' मानों उनके काव्य का दूत है। यशोदा माता कृष्ण के लिए इसमें संदेशा भेजती हैं। नन्ददास व सूरदासजी जैसे सम्मुख आ जाते हैं बिना 'कविरत्न' के व्यक्तित्व को आच्छादित किये हुये।

जननी जन्म-भूमि सुनियत स्वर्गहुं सौं प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी।

× × ×

यहै को नव नवनीत मिल्यो, भिसरी अति उत्तम,
भला सके मिलि, कहौ शहर में सद याके सम।
गोरी को गोरे लागत, जग अति ही प्यारे।
मो कारी को कारे तुम, नयनन के तारे॥
पहली सी नहिं, या यमुना हू में गहराई।
जल को थल, अरु थल को जल अब परत लखाई॥
कालीदह को ठौर जहँ, चमकत उज्ज्वल रेत।
काछी माली करत तहँ, अपने अपने खेत॥
घिरे भाऊन सों।

और अन्त में जैसे कवि की चेतावनी उसी कवि की जिसमें 'कुछ' है ही नहीं—केवल उसके मित्रों का प्रचार मात्र है—

टिमटिमाति जातीय ज्योति जो दीपशिखा सी।
लगत बाहिरी ब्यारि, बुझन चाहत अबला सी॥
शेष न रह्यो सनेह को, काहू हिय में लेख।
कासों कहिये गेह को, देसहि में परदेस॥
भयो अब जानिये।

यह है कवि के भ्रमर दूत का रूप जो विशुद्ध प्रगति की संदेश-वाहिनी है। उसमें प्राचीनता के प्रति अनुराग है सही परन्तु कवि का उद्देश्य 'प्रेम' 'हितमय सनेह' रहा है न कि परम्पराओं में अन्ध-विश्वास। देश-प्रेम को कगार पर से खड़े होकर 'सत्य' जी ने नहीं देखा, उन्होंने वेदना, कष्ट, करुणा, सहानुभूति की ज्वाला से तपा कर अपने 'नेह नवनीत' को द्रवित कर यह काव्य रचना की है।

कवि का प्रकृति वर्णन भ्रमरगीत व उपालम्भ काव्य की तरह ही आकर्षक और नवीनता लिए हुए है। उनमें उपमाओं व रूपकों द्वारा या उपदेश द्वारा कवित्व प्रदर्शन की रुचि नहीं है, न हरिऔधजी की तरह 'प्रिय प्रवास' के नवम सर्ग द्वारा वृक्षों के नाम गिनाने की प्रवृत्ति है। उन्होंने प्रकृति को उसी प्रकार चित्रित किया है जिस प्रकार अँगरेजी कवि वर्डसवर्थ ने। वर्डसवर्थ की तरह ही उनमें प्रकृति की सजीव-सत्ता की अनुभूति मिलती है। यद्यपि उनका प्रकृति वर्णन कम है और उसके पीछे उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि भी नहीं जैसी वर्डसवर्थ की थी। उसका रागात्मक सम्बन्ध प्रकृति से पहले अत्यन्त रङ्गीन, उत्तेजक एवम् रागारुण रहा तत्पश्चात दार्शनिक हो उठा। भारतीय अद्वैतवाद की सी झलक उसमें मिलने लगी और अन्त में प्रकृति उसके लिये गुरु हो गई। यह परिवर्तन 'सत्य' जी में नहीं हुये परन्तु उनका ऋतु वर्णन प्रकृति की सजीव सत्ता के अनुभव के साथ अभि-

व्यक्त हुआ है। अधिकतर काव्य चित्रात्मक है और स्वाभाविक है। कहीं कहीं उपदेश—

कोयल-करि-कपोत कलित कल कण्ठ उड़ावत।
हे भारत अब उठौ तजौ आलस समझावत॥

सुन्दर सजीव चित्रण—

बदरवा दल पुनि पुनि घिरि आवें।
भये वायु के जोर सोर में कैसो रोर मचावें।
सत्य सहानुभूति जग जन सों जाकि परै दरसावैं॥

यह पंक्तियाँ निम्नलिखित सिद्धान्त का समर्थन करती हैं।

One impulse from a vernal wood
May teach you more of a man
× × ×
Than all the sages can
—Wordsworth

'सत्य' जी का प्रकृति वर्णन इस उपदेश के साथ साथ 'तुलसी' की पद्धति का नहीं है।

प्रकृति के दृश्य वैसे के वैसे ही उतरने की भरपूर चेष्टा की गई है और उसमें सफलता भी मिली है।

लपलपाय जुग जीभ फनी फूँ फूँ फुफकारत॥
कारी कारी अँधियारी भारी झपकावन॥
टप टप टपका, टपका घर बागन टपकावन॥

अन्य कविताओं में हास्य-रस की कवितायें साधारण हैं उनमें व्यंग अच्छे हैं सुधारात्मक प्रवृति के परिणाम हैं। स्तुतियाँ विनय पत्रिका जैसी उच्चकोटि की नहीं हैं परन्तु उनमें सरसता व सारल्य आकर्षक हैं।

कुछ कथायें पद्य-बद्ध हैं यथा—दिलीप कथा, मुद्रा-राक्षस आदि। इस प्रकार के काव्य में 'कविरत्न' जी का रूप प्रयोग कालीन जैसा लगता है।

कविरत्नजी की कुछ रचनाएँ आर्य समाज के कार्यक्रम, सभा सोसाइटियों के अवसर पर पढ़ने के लिए लिखी गयी थीं अतः उनमें कुछ हलकी चीजें मिल जाना असम्भव नहीं।

कविरत्नजी की सरसता, सरलता व माधुर्य हिन्दी साहित्य के साथ अमर है। उनके स्वभाव के साथ-साथ उनकी कविता का स्वभाव भी अति मृदुल है। ब्रजभाषा के विषय में आपने एक बार कहा था—

बरननि को करि सकनि,भला तेहि भाषा कोटी।
मचलि मचलि जामें माँगी हरि माखन रोटी॥

कितना सरस और हृदयग्राही कथन था यह। आज के नीरस जगत के इस कृत्रिम वातावरण में 'कविरत्न' जी का काव्य वस्तुतः एक अद्भुत देन है।

कलाकार अपने भावों से जीवन को जीवन देता है। 'कविरत्न' ने जीवन व युग की पुकार को ग्राम के उसी वातावरण से सुन लिया था। क्षितिज पर छाये हुये धूमिल बादलों को चीर कर उनकी दिव्य-दृष्टि अन्तरिक्ष के गर्भ को पार करती हुई अनंत सत्ता को एक बार पुनः ब्रज के वातावरण में जाकर 'माखनरोटी' मँगवाने में समर्थ हो सकी। 'कविरत्न' ने अपने निश्छल हृदय में प्रेमदेव के साकार स्वरूप की पवित्र झाँकी देखी। जर्जर जीवन प्रपीड़ित हो होकर उसी जगदीश्वर की कृपा कटाक्ष की चाह में ही अपने दुख की परिसमाप्ति समझता हुआ आत्मसमर्पण कर चुका था। जीवन की विडम्बनाओं में बन्धित कवि हृदय दुःख वाद का सहगामी न होकर शान्ति का अग्रदूत बना। कविरत्न में वही वेदना आँखों में अश्रु, हृदय में दाह एवंम् कवित्व में मोती बन कर 'आखरों' में परिवर्तित होगई। वह 'अश्रुमय-जीवन' जिसमें हास था ही नहीं, कितना करुण होगा इसे उनका काव्य ही बता सकता है जबकि हम पढ़ते हैं—

बस अब नहिं जाति सही!
विपुल वेदना विविध भाँति,
जो तन मन व्यापि रही।

इन पंक्तियों से वह भोला कवि हृदय जो कि चिन्तन के सूने और निर्मम क्षणों में पुकार उठता था—

'भयो क्यों अनचाहत को सङ्ग'

कितना आनन्द लेता होगा इसे कौन कह सकता है।

कविवर सत्यनारायण की दुःखान्त जीवन का मूल्य उनका काव्य भरपूर चुका सका यह तथ्य अब यह युग अच्छी तरह समझ चुका है। ग्राम की प्रकृति जिसमें कवि को इतनी स्वाभाविकता दी थी उसकी स्मृति में 'लोनी लोनी लताओं से'—'श्वेत द्रवित बज्र' न डोलती होगी?

कौन जानता है कि श्वेत ताज इस महान कलाकार का असमय अन्त देख कर करुणा से काँपा होगा या नहीं! आगरे के सम्मुख ताज की मीनार और धाँधूपुरा का धवल यश दोनों, हृदय को प्रेम से एवम् नेत्रों को प्रकाशमय जीवन से परिप्लावित करते रहेंगे। इसे यमुना की वह बीचियाँ कहा करती हैं जो तट पर पश्चाताप किये हुए स्वप्नों की तरह आतीं और शाहजहाँ और 'कविरत्न' की अस्थियों को मिलाकर नाच उठतीं और काँप कर विलीन हो जाती हैं। उसी अतल जलराशि में जो विकल होकर 'कलकल' कह उठता है तब किसी मानव-नीड़ से शब्द सुनाई पड़ता है—

माधव अब नहिं जात सही
विपुल वेदना विविध भाँति जो,
तन मन व्यापि रही।

(पृष्ठ ४५२ का शेषांश)

छन्द के नियमों से यह पद्य है। पर कविता नहीं है। हाँ, इसी तरह मैं विज्ञापन बाजीपर व्यङ्ग करने के लिए और पंक्तियाँ लिखकर हास्यरस की एक कविता में इसे परिणत कर सकता हूँ, परन्तु वह क्षणिक मनोरञ्जन का मसाला हुआ, काव्य नहीं।

पन्तजी की ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रति भी 'युगवाणी' में बौद्धिक सहानुभूति मात्र है जैसी 'ग्राम्या' में किसानों के प्रति, 'खादी के फूल' में गाँधी के प्रति, 'स्वर्ण धूलि' आदि में अरविन्द दर्शन के प्रति। मूलतः पन्तजी रोमैंटिक जो पल्लव गुञ्जन में थे, वही रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' से आदर्शवाद की ओर झुके, फिर युगवाणी में मार्क्सवाद की ओर, परन्तु वह केवल बाल-सदृश जिज्ञासा ही रही। समाज और जगत बदले यह वे भी चाहते हैं परन्तु वर्ग-सङ्घर्ष और हिंसा में वे विश्वास नहीं करते। इधर वे पूर्णतः सर्व ग्रहणवादी, साकल्यवादी (एकलेक्टिक) हो गये हैं। अतः उनकी बहुतसी ऐसी निबन्धप्राय पद्य-रचना काव्य की कोटि में नहीं आती। उनमें कुछ उत्तम पद्य हैं यह बात सही है।

साहित्य सन्देश की १९५०-५१ की फाइल की विषय सूची

हमारा वर्ष आगामी मास में समाप्त हो रहा है अतः जुलाई १९५० से जून १९५१ तक की विषय सूची हम अपने जून के अङ्क में प्रकाशित कर रहे हैं। जो ग्राहक अपनी फाइल में विषय सूची रखना चाहें वे उसमें से निकाल लें। जो अब ग्राहक नहीं हैं वे हमें पत्र भेज कर फाइल की विषय सूची निःशुल्क मंगा सकते हैं।

१९५०-५१ की फाइल जो सज्जन खरीदना चाहें वे अपना आर्डर हमें भेजदें। इन्हें जून मास में हम फाइल भेज देंगे। सजिल्द मूल्य ५) पोस्टेज पृथक।

—मैनेजर

क्या 'सिद्धराज' प्रबन्ध-काव्य है ?

प्रो० सुदामा प्रसाद चतुर्वेदी एम० ए०

कुछ आलोचकों ने 'सिद्धराज' को प्रबन्ध काव्य बतलाया है। हमें यह देखना है कि 'सिद्धराज' प्रबन्ध काव्य है अथवा नहीं। प्रबन्ध काव्य का निर्णय कथा वस्तु का अवलोकन करने से हो सकता है। हमारे आचार्यों के अनुसार कथा वस्तु दो प्रकार की होती है:—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। कथा के ये दोनों सूत्र एक दूसरे से गुथे रहते हैं। प्रासङ्गिक वस्तु का लक्ष्य रहता है आधिकारिक सामिग्री को आगे बढ़ाना। थोड़ी सी भी त्रुटि के कारण समस्त गति-प्रवाह में दोष आ जाता है। यह वस्तु-भेद कार्य की गति में सहायक होता है। 'सिद्धराज' की प्रासङ्गिक कथावस्तु आधिकारिक वस्तु की गति न तो आगे बढ़ाती है और न किसी ओर मोड़ती है। महोवे का वृत्तान्त सिद्धराज की पराजय का द्योतक है। एक प्रस्तरमूर्ति की भाँति वह क्रिया-हीन है। उसका एकच्छत्र स्वप्न मदनवर्मा के तर्क के सामने लुप्त हो जाता है। कथानक की गति में विराम आजाता है और काव्य का नायक अपनी प्रतिष्ठा खो बैठता है। बाबू मैथिलीशरणगुप्तजी इस वस्तु-भेद की ओर जागरूक नहीं दिखाई देते क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबन्धकाय की रचना उनका लक्ष्य नहीं। कथानक घटनाओं की लड़ी है। घटनाएँ प्रबन्धकाव्य के वातायन हैं। उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कवि की रचना का मूल उद्देश्य क्या है। 'सिद्धराज' की घटनायें सुसम्बद्ध और संग्रथित नहीं। कई घटनायें एक दूसरी से जोड़ दी गई हैं जिनका केन्द्रिक घटना से कोई सम्बन्ध नहीं। अर्णोराज-काँचनदे की प्रणयलीला का सम्बन्ध सिद्धराज से क्या है? यह तो एक स्वतन्त्र घटना है। इसी प्रकार महोवे के राज्य का वर्णन भी प्रधान कथा से सम्बद्ध नहीं। घटनाओं का यह ढीलापन और तारतम्य का अभाव इस बात का साक्षी है कि सिद्धराज एक प्रबन्ध काव्य नहीं। घटनाओं के सम्बन्ध में कवि का निवेदन पठनीय है। "पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं। परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है इसलिए लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है" कवि उद्देश्य का यदि प्रबन्ध रचना होता तो वह अपनी सुविधा का प्रयोग उस दिशा में करता। घटनाओं को इस प्रकार रखता कि प्रबन्ध काव्य का सृजन हो।

"प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृङ्खला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसङ्गों का समावेश होना चाहिए।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) इस वाक्य द्वारा स्पष्ट है कि संग्रथित और स्वाभाविक क्रमपूर्ण घटनाओं का सृजन ही प्रबन्ध काव्य का मापदण्ड नहीं। रसात्मकता भी उसका लक्ष्य होना चाहिये। इसी को आचार्य लोग रस-निष्पत्ति कहते हैं। मनुष्य के मर्मस्पर्शी स्थलों की अवतारणा सारी कथा में रसात्मकता ला देती है। घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत चित्रण होना चाहिये जो श्रोता के हृदय में रस-वृष्टि करने में समर्थ हो। हमें यह कहने में किञ्चित् मात्र भी सङ्कोच नहीं कि 'सिद्धराज' का लेखक मानव जीवन के इन व्यापारों और स्थलों को छाँटने में बिलकुल असमर्थ रहा है। यदि वह चाहता तो अपनी कल्पना द्वारा ऐसे स्थलों की सर्जना कर सकता था, किन्तु उसकी इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति ने जीवन के इन रसमय क्षणों

को परखने और मापने में उसका साथ नहीं दिया वह वस्तु के बाह्य चित्रण में ही उलझा रहा, घटनाओं के सामान्य कथन या उल्लेख को ही देता रहा।

प्रबन्ध काव्य की रचना में जहाँ कवि कथानक के सम्बन्ध में बहुत सजग रहता है वहाँ नायक का एक सुनिश्चित और आदर्श रूप भी प्रस्तुत करता है। उसका नायक दूसरों के लिये आदर्श होता है। अपने उत्कृष्ट कार्यों द्वारा वह दूसरों का पथ-प्रदर्शन करता है—"यद् यदाचरति देवः तद् तदितरो जनः" 'सिद्धराज' का नायक दूसरों का पथ-प्रदर्शन तो क्या करेगा, स्वयं ही पथ भ्रष्ट है। रानकदे से 'कामी' और 'पापी' 'पशु' की फटकारें खाकर भी उसको आत्मज्ञान नहीं होता। जगद्देव आकर पतिव्रता स्त्री की रक्षा करता है और उत्तेजित होकर जयसिंह की भर्त्सना करता है :—

"तुम कोई व्यभिचारी हो"
"कामी क्रूर कापुरुष"
यह है सेवक की फटकार।

नायक का इतना पतन और उसकी कामुकता का यह नग्न प्रदर्शन प्रबन्ध-काव्य लेखक की परिधि के बाहर है। उसका नायक होता है सात्विक भावों का सञ्चय, उदात्त-वृत्तियों का कोष और दूसरों का पथ प्रदर्शक। अतः सिद्धराज में गुप्तजी का उद्देश्य प्रबन्धकाव्य की रचना नहीं।

(पृष्ठ ४३९ का शेष)

ने इसकी ओर क्यों नहीं संकेत किया ! हम अपने घरों में प्रायः सुना करते हैं—

'तू मेरो लोई पी के रहसी। कूँ 'रासो' मचावऽऽ हऽतरो कई बार कह दियो, कि तू उसऽ मत बोला कर पर माणइ कोणी।'

यहाँ 'रासो' का अर्थ 'ऊधम' है जिस शब्द का प्रयोग वैसे ही प्रसंग में बहुधा किया जाता है, जहाँ हम किसी ऐसे व्यक्ति को डाँट बता रहे हैं जिससे प्रेम, स्नेह या ममता का संबंध है। प्रेमी जनों के आपसी झगड़ों के लिये ही 'रासो' शब्द का व्यवहार होता है।

इस दृष्टि से अगर हम चारण-काल के साहित्य का मूल्याङ्कन करें, तो 'रासो' की अपेक्षा कोई दूसरा उपयुक्त शब्द उसकी चेतना की अभिव्यक्ति के लिये मिलना सहज संभव नहीं। उसमें जहाँ-जहाँ युद्ध है, वहाँ वहाँ किसी राजकुमारी का प्रेम ही इसका प्रमुख कारण है। उसका आदि शृंगार में है, अन्त शृङ्गार में है और बीच में वीर रस सागर की उत्ताल तरंगों की तरह हिलोरें ले रहा है। 'रासो' शब्द इस चेतना के प्रत्येक स्पन्दन को सजीव रखने में पूर्ण-रूपेण समर्थ है, लेकिन दुःख तो इस बात का है कि हम उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानते नहीं—अपने देश में ही वह परदेशी हो गया है।

साहित्यिक प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्त्ता श्री महेश्वरनाथ (भारतीय विद्यापीठ, बम्बई) और उत्तरदाता प्रो० प्रभाकर माचवे, एम० ए०

प्रश्न १—काव्य के निम्न दोषों की विवेचना कीजिए—श्रुतिकटुत्त्व, च्युत संस्कृति, अप्रतीतत्व, अप्रयुक्ति।

उत्तर—मम्मट ने काव्य के मुख्य अर्थ में—जो बाधा डाले उसे काव्य-दोष कहा है। विश्वनाथ ने रसापकर्षकता को दोष माना है। वामन ने गुणों के विपर्यय को दोष माना है। परन्तु प्राचीन काव्य-शास्त्र के गुणों की व्याख्या में जैसे जैसे परिवर्तन युगानुकूल होते गये, काव्य दोषों की व्याख्या में भी अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। आपके पूँछे चार दोषों का स्पष्टीकरण स्वयं कुछ उदाहरण बनाकर और कुछ आधुनिक कविता से उदाहरण देकर करता हूँ:—

१—श्रुतिकटुत्त्व—कर्णकटु शब्द-योजना को श्रुतिकटुत्त्व कहते हैं। इसी को संस्कृत में दुःश्रवत्त्व, कष्टत्व कहा गया है। कठोर वर्णों का विशेष प्रयोग और संयुक्ताक्षरों का पास-पास आना यह दोष उत्पन्न करता है। संस्कृत में जिन शब्दों के उदाहरण दिये हैं, वे हैं—वारीशि, निस्तेनाक, कार्तार्थ्य, हर्यक्ष, ध्वांक्ष आदि। हिन्दी कवियों में 'हरिऔध' आदि की हठाकृष्ट रचना में यह दोष मिल जायगा। जैसे कोई कवि कहे:—

कार्पण्य की क्लिष्ट क्रृति...

२—च्युत संस्कृति—सुसंस्कृत व्यक्ति के पढ़ने से उसमें जुगुप्सा पैदा हो। जो कमर के नीचे उतरी हुई बात हो। अश्लीलता का ही यह दूसरा नाम है। मान लीजिये हमारी संस्कृति में भाई-बहिन के सम्बन्ध एक विशेष प्रकार के हैं; उनसे भिन्न यदि उनमें अन्य सम्बन्ध दिखाये जायँ तो यह च्युत-संस्कृति प्रसंगवर्णन होगा। इसका उदाहरण देना व्यर्थ है। संस्कृत कवियों ने (आसक्तादि) और कवियित्रियों ने (विकट नितम्बादि) ऐसे कई पद लिखे हैं!

३ और ४—अप्रतीतत्त्व—जहाँ कवि द्वारा प्रयोजित अर्थ पाठक तक न पहुँचे। पाठक यदि अर्थ न समझ सकेगा तो रस परिपोष कैसे होगा? प्राचीन साहित्यकारों ने इसी काव्य-दोष के चार प्रकार दिये हैं—अप्रयुक्त, अवाचक, निहतार्थ, अप्रतीत।

अप्रयुक्त का अर्थ है शब्दों का 'ओब्सोलीट यूसेज' (अप्रचलित रूप चलाना)। जैसे 'सुवास' से हम सब सुगन्ध समझते हैं, पर उसके बदले यदि संस्कृत का अर्थ अच्छा मार्ग लिया जाय तो यह अप्रयुक्ति हुई। अवाचकत्त्व का कारण मात्र है। निहतार्थ में जहाँ एक शब्द के दो अर्थों में से अप्रचलित अर्थ ही काम में लाया जावे।

अप्रतीतत्त्व में शब्दों के उन अर्थों से मतलब है जो वैज्ञानिक परिभाषा में प्रयुक्त होते हैं। काव्य विज्ञान नहीं है। अतः पारिभाषिक अर्थों का अनावश्यक प्रयोग अप्रतीतत्त्व है। जैसे कोई कवितायें लिखे—

यह है वर्धित मूल्य, नहीं है स्वप्न-अर्थमय।

इसमें कार्ल मार्क्स के 'सरप्लस वैल्यू' के सिद्धान्त और फ्रायड के 'ड्रीम इन्टरप्रेटेशन' का उल्लेख है।

प्रश्न २ तथा ३—"प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है" इस कथन की आलोचना करें। 'पलायनवाद' किसे कहते हैं? महादेवी वर्मा और ज० प्रसाद को आप 'पलायनवादी' कहेंगे या 'प्रगतिशील' या दोनों में से एक भी नहीं? सकारण उत्तर दें।

काव्य तथा गद्य में विरोध नहीं है; विरोध है काव्य तथा पद्य में—इस कथन की समीक्षा कीजिये और इसे दृष्टि में रख कर पंतजी के ऐतिहासिक भौतिकवाद प्रभावित काव्य की समालोचना कीजिये

उत्तर—प्रश्न आपका वेढब है; क्योंकि इसके उत्तर में पूरा ग्रन्थ लिखना होगा। फिर भी समयाभाव से संक्षेप में सूत्र रूप चर्चा करता हूँ। हिन्दी में, विशेषतः आधुनिक कविता में प्रगतिवाद शब्द बहुत ही ढीले-ढाले ढङ्ग से प्रयुक्त हो रहा है। राजनीति में वामपंथ के जैसे समाजवादी, साम्यवादी, अग्रगामी दल, रायवादी आदि पक्षोपपक्ष हैं; वैसे हिन्दी कविता में भी वामपंथी रचना को प्रगतिशील रचनाएँ कहें तो उनके कई रूप मिलेंगे : शिवचन्द्र शर्मा ने अपनी 'प्रगतिवाद' पुस्तक में दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अञ्चल को प्रगतिवादी सिद्ध करने का यत्न किया है, तो शिवदानसिंह चौहान ने अपने उसी नाम के ग्रन्थ में पन्त और निराला को ही प्रगतिशील माना है, यशपाल और अश्क को भी। परन्तु डाक्टर रामबिलास शर्मा शायद इस मत से सहमत न होंगे। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास के मत से सर्वांशतः सहमत नहीं हैं। धर्मवीर भारती नेप्रगतिवाद-विरोधी अपने ग्रन्थ में और ही नये तर्क दिये हैं। तात्पर्य, प्रगतिवाद शब्द को लेकर काफी 'बाबुल का बोलघर' साहित्य में मचा है। वस्तुतः मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का जहाँ तक सम्बन्ध है, वे तो मार्क्स और लेनिन के व्यावहारिक स्पष्टीकरण तक हमारे पास शुद्ध रूप में हैं (देखिए मेरा 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य शास्त्र' लेख) परन्तु उनके बाद साहित्यशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने अपनी टीकाओं में बहुत से स्वतन्त्र तर्कों से काम लिया है। और अब मुझे भी लगता है कि 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की तरह 'मार्क्सवाक्यं प्रमाणम्' से काम नहीं चलेगा। एक तरह का साहित्यिक विजयीकरण और कठमुल्लापन ही उससे बढ़ेगा। अतः साहित्य तो प्रगति करता ही जायगा; जीवन और जगत की नवीन समस्याओं और संघर्षों से प्रेरणा लेता हुआ। विरोध-विकास का तर्क एक दृष्टिकोण मात्र है, जो साहित्य-कला के मूल्याङ्कन में भी हमारी मदद करता है; हमें एकाङ्गी नहीं बनने देता। आत्म-चेतना और लोक-चेतना के परस्पर-संघात का उससे सम्पूर्ण चित्र, मिलता है। परन्तु प्रेमचन्द जिस अर्थ में अपने युग के चित्रकार और उन्नायक लेखक थे; या 'निराला' जिस अर्थ में अपने देश-काल-परिस्थियों से प्रभावित ईमानदार कलाकार हैं—हिन्दी में अन्य लेखकों में चाहे प्रसाद हों पन्त हो या महादेवी या नवीन या अज्ञेय या बच्चन—सबने 'पलायनवाद' की शरण अपने-अपने ढङ्ग से अवश्य ली है। यथार्थ से मुँह मोड़कर वे किसी छाया बहुल, विराम-दायक, सुख-संकुल, आध्यात्मिक—अदर्शवादी, असीम-प्रेमी, बौद्धिक शोध-चिरन्तनता में लगे हुए हैं। हमारे पाठकों के मनमें सुप्त गुप्त रोमाँटिक भाववाद के प्रेम को ये कवि लहकाते हैं, और उतने ही अंश में वे प्रिय भी हैं। साहित्य से रोमांस को हटाया नहीं जा सकता; पंक्ति वही इतिश्री नहीं है। यथार्थवाद भी नग्नवादी और रोमांटिक श्रेणी से समाजवादी और अति-यथार्थ श्रेणी तक गत डेढ़ सदी में पश्चिम में पहुँच गया है, यह भूलना नहीं चाहिये। किसी भी प्रकार की जीवन-विमुखता चाहे वह छायावादी, रहस्यवादी या निरी नारावादी हो पलायनवाद ही है।

हाँ, गद्य में भी काव्य हो सकते हैं। जैसे रवीन्द्रनाथ, खलील जिब्रान, तुर्गनेव आदि के बहुत सुन्दर गद्यांश काव्यमय हैं। इससे उलटे बहुतसी नीरस पद्य बद्ध तुकबन्दियाँ भी हो सकती हैं जैसे—

'दो आने में टिकिया चार।
साबुन लेलो करो विचार॥'

(शेष पृष्ठ ४४८ पर)

छायावाद की पृष्ठभूमि में (प्रत्यालोचना)

श्री 'बेचन'

'साहित्य सन्देश' गत् माह (जनवरी) में श्री यशदेवजी का लिखा लेख 'छायावाद की पृष्ठभूमि में' प्रकाशित हुआ था। विद्वान लेखक ने अपने इस लेख में गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया था। फिर भी अपने शीर्षक के निर्वाह में लेखक अधिक तत्पर दिखाई न पड़े। लेख के पूर्वार्ध में तो उन्होंने केवल अँग्रेजी साहित्य की ही व्याख्या की, लेख के उत्तरार्ध में थोड़ा बहुत उन्होंने अपने विषय वस्तु पर प्रकाश डाला। फिर भी वह युक्ति सङ्गत न हो पाया। लेख के उत्तरार्ध में लेखक की लेखनी कुछ लड़खड़ाती जान पड़ी।

विद्वान लेखक ने छायावाद के जन्म लेने का कारण केवल भारतवर्ष की तात्कालिक 'आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति ही बतलाया तथा 'द्विवेदी युग के स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' के प्रति विद्रोह भी किया। उपर्युक्त वाक्य को उन्होंने उपहासास्पद की भी संज्ञा दी। और फिर आगे की पँक्तियों में विद्वान लेखक ने प्रश्न वाचक चिह्न लगा दिये—'द्विवेदी युग को किसकी प्रतिक्रिया कहेंगे? रीतिकालीन काव्य किस स्थूल से तङ्ग आ गया था? रीति काव्य किस भक्ति काव्य की प्रतिक्रिया थी? स्वयं भक्ति काव्य किस स्थूल की प्रतिक्रिया थी? इत्यादि।

साहित्य के जगत में तथा धर्म के जगत में जब कोई वस्तु पराकाष्ठा पर चली जाती है तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। जब स्थूल परकाष्ठा पर चला जाता है तब सूक्ष्म उसके विरुद्ध में खड़ा होता है। धर्म के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि वेद काल में स्थूल प्रकाष्ठा पर पहुँच गया था, बलिप्रदान होने लगा था; बहुत सी बातें रूढ़ रूप लिए हुए थीं। तब उपनिषद काल में उसका विद्रोह हम पाते हैं। उन्होंने बताया कि सारे संसार में ब्रह्म है। उपनिषदों की भावना जब आगे बढ़ गई तब फिर उसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और सगुणोपासना का प्रचार हुआ। राम-कृष्ण की मूर्ति का पूजन होने लगा।

भक्तिकाल का जन्म शङ्कराचार्य के दर्शन के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। शङ्कर का 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या' ने संसार को माया बतलाया। जो 'स अहम्' पर विश्वास करते थे वे भक्ति पर क्यों जोर देते। लेकिन यह (शून्यवाद) अद्वैतवाद सर्वसाधारण के लिए लाभदायक नहीं हो सका क्योंकि सबों की बुद्धि और अनुभूति एक सी नहीं होती। इसलिए शङ्कराचार्य के सूक्ष्म के प्रति विद्रोह होने लगा। रामानुजाचार्य ही उसके प्रथम विद्रोही हुए। उनका कहना है कि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। उसके बाद तो तुलसी सूर इत्यादि ने भगवान् को सर्व शक्तिमान मानकर एक स्थूल रूप देकर काव्य रचना की।

मेरे उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि केवल सूक्ष्म के प्रति स्थूल और स्थूल के प्रति सूक्ष्म के प्रतिक्रिया स्वरूप ही किसी साहित्य का जन्म होता है, बल्कि उपर्युक्त कारण भी साहित्य की नवीन धारा को बहाने में सहायक होता है।

उदाहरण स्वरूप हम रीतिकाल की कविता को ले सकते हैं? मुगलसाम्राज्य भारतवर्ष में जम चुका था, लड़ाई भिड़ाई कम होती थी। मुगल सम्राट विलासिता के प्रेमी हो गये थे। शासन से पद-दलित कवियों ने अपनी रोजी रोटी के लिए उनके दरबारों में गागाकर शृङ्गार रस की कविता करने

लगे थे। इसके अपवाद स्वरूप हम वीररस के महाकवि 'भूषण' का उदाहरण ले सकते हैं; लेकिन इन्होंने अपनी वीर रस की कविता के लिए हिन्दू-रक्षक शिवाजी को ही नायक चुना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देशकाल का प्रभाव कवि की रचना पर बिना पड़े नहीं रह सकता जैसा कि विद्वानों ने माना है। जब रीतिकाल की श्रृङ्गार भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई तब द्विवेदी काल में उसका विरोध हुआ। द्विवेदी युग में कविता इतिवृत्तात्मक हो गई। श्रृङ्गाररस को साहित्य से निकाल दिया गया। साहित्य जीवन की व्याख्या है। इस कारण जीवन की एक प्रमुख धारा को हटा देने से साहित्य एकाङ्गी हो गया। द्विवेदी काल की कविता हमारे हृदय को छू नहीं सकती थी, वह उपदेशात्मक हो गई। उस काल की कविता में हम कल्पना का एकान्त अभाव पाते हैं। लेकिन कविता तो–"Poetry is the language of emotion & imagination" परन्तु उस युग में कहानी को ही कविता में लिपिबद्ध किया जाने लगा। उस काल की कविता को लोग इसलिए ही इतिवृत्तात्मक कहते हैं। 'द्विवेदी युग' में स्थूल पराकाष्ठा पर पहुँच गया था इसलिए उसके विरुद्ध विद्रोह होना शुरू हुआ। उसे ही छायावाद कहते हैं।

देश की परिस्थिति ने भी कवियों को छायावाद की ओर जाने को प्रेरित किया। सर्व प्रथम भारतेन्दु ने ही राष्ट्रीयता का शङ्ख बजाया था। फिर भी वह कुछ ऐसी परिस्थिति थी जब देश भक्ति और राजभक्ति दोनों वर्तमान थी। जनता अपने दुख दर्द को दबे कण्ठ से कह पाती थी तथा जनता को भरोसा था कि अँग्रेज उसकी सुख शान्ति के लिए कुछ करेंगे। उसी समय काँग्रेस की स्थापना हुई। काँग्रेस से भी जनता को विशेष लाभ न होसका। इस कारण लोगों को फिर निराशा होने लगी। इसका प्रभाव कवियों पर भी पड़ा। वह भी कल्पना लोक में रहने लगे; कुछ प्राचीनता की ओर भी झुके, जैसे—'प्रसाद'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद का जन्म राजनैतिक, आर्थिक परिस्थिति तथा द्विवेदी युग की स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह होने से भी हुआ। उपर्युक्त कथन की पुष्टि हम छायावाद की प्रधान कवियित्री महादेवीजी के शब्दों में भी कर सकते हैं—

"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"

(पृष्ठ ४५७ का शेष)

मध्य-युग की धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि में कबीर के विचारों का मूल्याङ्कन—इस प्रश्न के उत्तर प्रायः बहुत ही सुन्दर लिखे गए, जिनमें छात्रों ने विवेचनात्मक क्षमता प्रदर्शित की। नाथपन्थी हठयोग और शैवधारा, वेदान्त और भक्ति की धारा एवं तीसरी एकेश्वरवाद और सूफी प्रेम की धारा–इन तीनों के समन्वय से कबीर के विचारों का अध्ययन किया गया था, यह देखकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञात होता है कि मातृभाषा होने के कारण हिन्दी भाषा में निबन्ध लिखने का काम छात्र प्रायः नहीं करते। निश्चित सुस्पष्ट संक्षिप्त उत्तर लिखने की प्रवृत्ति का अभाव एम० ए० के छात्रों में कभी-कभी बहुत खटकता है। ध्यानपूर्वक प्रश्न पढ़ना चाहिये और जितनी बात पूछी गई है, उसी को उत्तर में लिखना चाहिए—यह साधारण नियम भी एम० ए० कक्षा तक परीक्षाओं के मार्ग के चलते हुए छात्रों ने नहीं सीख पाया, इसे देख कर खेद होता है।

एक कष्ट-कल्पना

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम० ए०

'साहित्य सन्देश' के मार्च १९५१ के अङ्क में श्री गणपतिचन्द्र गुप्त का 'डिङ्गल' शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें राजस्थान के प्रसिद्ध भक्त श्री अलूजी कविया द्वारा रचित एक छप्पय की निम्नलिखित दो पंक्तियों को दोहा बतलाया गया है। और उनका बड़ा भ्रामक अर्थ किया गया है—

"दीसै जङ्गल-डगल जेथ जल बगलाँ चाढ़ै।
अणहूँतां गल दियै, गला हूँतां गल काढ़ै॥"

ये दोनों चरण लेखक द्वारा इस प्रकार अशुद्ध रूप में उद्धृत किये गये हैं—

"दीसे जङ्गल डगल जेथ जल बगल चाटे।
अनहुँता गल दिये गलहुँता गल काटे॥"

विषय-विवेचन की सुविधा के लिए यहाँ पूरा छप्पय अर्थ-सहित उद्धृत किया जा रहा है:—

"दीसै जङ्गल-डगल, जेथ जल बगलां चाढ़ै।
अणहूँतां गल दियै, गला हूँतां गल काढ़ै॥
माळ गलागल मांहि, ग्वाल ह्वै गली बतालै।
गल डाली फल गजै, गहर डाली फल गालै॥
नांगलै असुर सुर नाग नर,
अन्त अघोगत ऊधरै।
अलख र हाथ अमँगल मङ्गल,
(अलू) केहि भगलविद्या करै॥

अर्थात् जहाँ जङ्गल और ढेले दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ (उस अलक्ष्य की शक्ति से) बगलों तक जल चढ़ आता है। जिनके पास भोजन नहीं है उन्हें वह भोजन देता है और वह चाहे तो गले तक पहुँचा हुआ ग्रास भी वापिस निकाल सकता है। जहाँ अन्याय हो रहा हो (मत्स्य-न्याय की ओर संकेत है) वहाँ वह रक्षक बन कर पथ-प्रदर्शन करता है। कुम्हलायी हुई डालियों को भी वह फलों से भरपूर कर सकता है और चाहे तो फलों से लड़ालूम शाखाओं को गला सकता है। असुर, सुर, नाग और नर सबको वह अपने बन्धन में रखता है तथा अत्यन्त अधोगति पर पहूँचे हुये प्राणियों का भी वह उद्धार कर देता है। अलूजी कहते हैं कि मङ्गल और अमङ्गल सब उस अलक्ष्य के हाथ में है, वह अनेक ऐन्द्रजालिक खेल रचता रहता है।

लेखक महोदय के सामने अलूजी का यह पूरा छप्पय होता तो शायद 'डगल' देश की कष्ट-कल्पना वे न करते।

'डिङ्गल' शब्द वस्तुतः पिङ्गल के साम्य पर प्रचलित हुआ जान पड़ता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान द्वारा इस प्रकार के शब्दों का आसानी से समर्थन किया जा सकता है। वीर-रस प्रधान डिंगल जैसी डकार बहुला भाषा को यदि पिङ्गल के शब्द-साम्य पर किसी ने डिङ्गल का नाम दे दिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

नोट—ऊपर उद्धृत अलूजी के छप्पय की ओर डिङ्गल भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् तथा भूतपूर्व चारण-संपादक ठा० सा० श्री ईश्वरदानजी आशिया ने मेरा ध्यान आकर्षित किया है। एतदर्थ लेखक उनका आभार स्वीकार करता है।

एक परीक्षक की ओर से

[ऐम० ए० की परीक्षाओं के एक परीक्षक ने परीक्षार्थियों के लाभार्थ अपना विवरण प्रकाशनार्थ भेजा है। इसमें साहित्योपयोगी कई महत्वपूर्ण बातों का समावेश है। परीक्षार्थियों के साथ साधारण साहित्य-प्रेमी पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे, इस दृष्टि से यह विवरण यहाँ प्रकाशित किया जाता है।]

इस परीक्षा में प्रविष्ट अधिकांश छात्रों के उत्तर सन्तोषप्रद थे। कुछ उत्तर-पत्र तो अत्यन्त समझदारी और अध्ययन का परिचय देते थे।

प्रथम प्रश्न जिसमें प्राचीन पदों की व्याख्या करनी थी प्रायः अच्छा किया गया। 'पंचसुर' का अर्थ पाँच प्रकार के वाद्य यन्त्र (= सं० पंच महावाद्य शब्द) कई छात्रों ने ठीक लिखा। 'मुहर सेना' पारिभाषिक शब्द था, जिसके कई पर्याय छात्रों ने प्रयुक्त किये, जैसे नासीर सेना, हरावल सेना, अग्रिम सेना जो उपयुक्त होते हुये पारिभाषिक शब्दावली की समृद्धि का परिचय देते हैं। रुहंगी का अर्थ प्रायः सभी छात्रों ने (एक को छोड़ कर) नहीं समझा। वस्तुतः रोह अफगानिस्तान के उस हिस्से का जिसमें अफगानों की आबादी है पेशावर, हजारा, बन्नू, कोहाट जिलों का पुराना नाम था जो मध्य काल में इसी नाम से प्रसिद्ध था। यहीं के लोग जब रुहेलखण्ड में आकर बसे तो पिछले मुसलमानी काल में रामपुर बरेली का इलाका रुहेलों का प्रदेश या रुहेलखण्ड कहलाने लगा। कुनड़ काबुल-स्वात नदियों के बीच का पहाड़ी इलाका पाणिनि के समय में भी 'रोहितगिरि' कहलाता था।

कबीर के रसायन वाले पद की व्याख्या में केवल एक कालिज के छात्रों ने 'बावन तोले पाव रत्ती' (अर्थात् ५२ तोले तांबे में पाव रत्ती पारे की भस्म मिलाना) की मध्यकालीन लोकोक्ति के अनुसार उसका साहित्यिक और मार्मिक अर्थ किया। कबीर के 'तिल एक घट में संचरै' की यथार्थ व्याख्या उसी से होती है। सैंवार का अर्थ शैवल या सिरवाल घास है। प्रायः अधिकांश छात्रों ने इसे अशुद्ध या अटकल से ही लिखा। 'यह एहि जनन लागि ओहि सीझा' इत्यादि पद पार्वती ने शिव से कहा था। दो ही छात्रों ने ठीक उत्तर दिया, अधिकांश ने मनमाने ढङ्ग से कहीं पद्मावती, कहीं शिव, कहीं स्वयं रत्नसेन की उक्ति मान कर अर्थ किया जो गड़बड़ था।

जायसी के पद में पार्वतीजी शिवजी से कहती हैं—

> राहू कहे अस गया करेहू,
> पुर बहु आस कि हत्या लेहू।
> हत्या दुइ के चढ़यि काँधे बहु अपराध।
> तीसर यह माथे लेउ जो लेवैं कै साधं॥

इस पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि कवि ने शिव के दोनों कन्धों पर एक एक हत्या की कल्पना क्यों की है, यह स्पष्ट नहीं होता। श्री शिरफ ने पद्मावती के अपने अँग्रेजी अनुवाद में भी इसे अस्पष्ट माना है। श्री सुधाकर द्विवेदी ने गंगा और चन्द्रमा को शिवजी के कंधों की दो हत्यायें समझा था जिन्हें पार्वती अपने एकान्त प्रेम-व्यवहार में बाधक या आठ पहर की हत्या ही समझती हैं। शिरफ महोदय ने ठीक ही इस कल्पना को खींचातानी की होने के कारण स्वीकार नहीं किया। श्री मुंशीराम शर्मा सोम ने पद्मावती के हिन्दी भाष्य में गणेशजी का मारना और गणेश जी को जीवित रखने के लिये हाथी का मराना इन्हें दो हत्यायें माना है। किसी भी छात्र ने इन दो हत्याओं का ठीक अर्थ नहीं किया, प्रायः टालमटूल अर्थ किया गया था। वस्तुतः प्राचीन विश्वास के अनुसार ब्राह्मण, गाय या देवता को मारने से

हत्या लगी मानी जाती थी, सो शिवजी के दो कन्धों पर दो हत्याओं का भारी अपराध पहले से ही है, एक त्वष्टा के पुत्र त्रिपुरासुर को मारना जो त्रिशीर्षा और विश्वरूप भी कहलाता है। त्वष्टा देवता और ब्राह्मण थे, उनका पुत्र त्रिपुर भी ब्राह्मण था। शिव ने उसका वध किया और त्रिपुरारि कहलाये। दूसरी हत्या कामदेव को भस्म करने से लगी, वह भी देवता था। इस प्रकार देवता और और ब्राह्मण का वध करने से दो भारी हत्यायें शिव के दो कन्धों पर पहले से ही हैं। तीसरी हत्या योगी रत्नसेन की रक्षा न करके उसकी मृत्यु का कारण बन जाने से शिव को लग जायेगी, ऐसा पार्वतीजी के कहने का तात्पर्य था।

शब्द व्युत्पत्ति वाला दूसरा प्रश्न किसी भी छात्र ने ठीक नहीं किया। मनमाने ढङ्ग से लाल-बुझक्कड़ी व्युत्पत्तियाँ लिखी गईं। मैगल संस्कृति मदकल से है। एक छात्र ने लिखा—'मै = मैं या अहं, मैगल जिसमें अहंभाव गलित हो जाय।' रुहंगी शब्द की व्युत्पत्ति सबने अशुद्ध लिखी। यह 'रोह' देश के निवासी का सूचक पद फिरंगी के वजन पर बना है। देवल को सभी ने प्रायः देवालय से सिद्ध किया, वस्तुतः यह देवकुल = देवउल = देउल = देवल इस क्रम से बना है। देवालय का दीर्घ 'वा' देवल बनने में बाधक है। बिहाई को प्रायः सभी ने विहाय(= छोड़कर) से सम्बन्धित माना। वस्तुतः यह वि पूर्वक भा धातु से है जिससे विभात = विभान = विहाना (प्रातःकाल होना) बनेगा। 'रैन बिहाना' ठीक प्रयोग है अर्थात् रात की अँधेरी का सूर्योद्गम से धौला जाना। 'ससि वाहन तहँ रहे ओनाई' में ओनाई का अर्थ ७२ छात्रों में से एक ने भी नहीं समझा। इसका शुद्ध अर्थ है झुक रहना बिलम जाना, ठहर जाना। इसकी व्युत्पत्ति अव-पूर्वक नम् धातु से है। गणवइ की सीधी व्युत्पत्ति गणपति से है, लेकिन वीर सतसई के सम्पादक ने गणइ है पाठान्तर देकर छात्रों को संशय में डाल दिया। जैसे गृहपति से गहवइ बनता है वैसे ह गणपति से गणवइ और उसी का गणवै शुद्ध रूप है। सीझा, साकुर, चिजारा, घनि ये चार शब्द भी किसी छात्र ने ठीक नहीं लिखे। सिध्यति = सिज्झइ से सीझा बनेगा। अन्न सिद्ध होना या पकना अभी तक बोला जाता है। साकुर प्राचीन शाक्कर से है। शाक्कर वैदिक शब्द था जिसका मूल-अर्थ था तगड़ा, शक्तिशाली। पीछे बैल शाक्कर कहलाया। बाणभट्ट ने बैल के लिए शाक्कर पद का प्रयोग किया है। आश्चर्य है कि राजस्थानी में घोड़े के लिए इसका प्रयोग अभी तक चालू है। चिजारा राजस्थानी में बोल-चाल का शब्द होने से सभी ने अर्थ तो ठीक लिखा पर व्युत्पत्ति किसी ने नहीं समझी। संस्कृत चेय से हिन्दी चेजा (= ईंटों की की चिनाई का रद्दा) बनेगा और रद्दा लगानेवाले को चेजा + कारक = चेजारा कहेंगे। अपनी भाषा का यह सुन्दर पारिभाषिक शब्द है। घनि पुरानी हिन्दी में बहुप्रयुक्त शब्द है। इसकी शुद्ध व्युत्पत्ति सं० धन्या से है। मुद्राराक्षस के मंगल श्लोक में 'धन्या केयं स्थिता ते शिरसि' में धन्या का अर्थ स्त्री है। इस अर्थ में यह शब्द गुप्तकाल में प्रयुक्त होने लगा था। कुछ छात्रों ने लिखा कि लोहा लंगर की तरह स्त्री को भी लोग अपना धन समझते थे, इसलिए धन शब्द स्त्रीवाची होगया। बाल्हा राजस्थानी भाषा का घरेलू शब्द है ऐसा तो छात्रों के उत्तरों से प्रकट होता था किन्तु उसकी शुद्ध व्युत्पत्ति बल्लभ से है, जिसे थोड़े ही छात्रों ने ठीक लिखा। शब्द व्युत्पत्ति का प्राचीन हिन्दी के अध्य-यन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुरानी हिन्दी पढ़ाने का अर्थ केवल अर्थज्ञान तक सीमित नहीं रक्खा जा सकता। शब्दों की ठीक व्युत्पत्ति पर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा छात्रों के मन में पुरानी हिन्दी के लिये उतना ही अधिक वैज्ञानिक प्रकाश भरता जायगा।

(शेष पृष्ठ ४५४ पर)

हिन्दी का नया प्रकाशन

(टाइटिल के द्वितीय पृष्ठ से आगे)

आलोचना

हिन्दी की प्रादेशिक भाषाएँ— ।॥)
आ० हिन्दी सा० का विचारात्मक अध्ययन—
प्रिन्सिपल शकुन्तला अग्रवाल १।)
पूर्वोदय—श्री जैनेन्द्रकुमार ४)
साहित्य चयन— ,, २)
साहित्य दर्शन—श्री शचिरानी गुर्टू ८)
जैसा हमने देखा—श्री क्षेमचन्द्र सुमन १॥)
हिन्दी साहित्य का विकास—
श्री कृष्णानन्दन पन्त २॥)
छायावाद और प्रगतिवाद—श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ३)
हरिऔध और वैदेही बनवास—
श्री श्यामजोशी १।)
हिन्दी सा० का संक्षिप्त इतिहास—
श्री हरिमोहनलाल श्री वास्तव १)
काव्य की आत्मा—प्रो० रामचन्द्र श्रीवास्तव ।)
आ० हिंन्दी काव्य की प्रवृतियाँ— ,, ,, ।)
कहानी— ,, ,, ।)
प्रसादजी का अजातशत्रु—
श्री कृष्णकुमार सिन्हा ३)
परीक्षार्थी प्रवोध द्वतीय भाग—संकलित ३)
हिन्दी के प्रमुख कवि—श्री लक्ष्मीनरायण अग्रवाल
कृष्णनारायन खन्ना १।)
काव्या लोक—पं० गोपीनाथ शर्मा १)
रसायनशास्त्र परिचय—श्री रामशरण एम० ए० ३)
हिन्दी गीत काव्य—ओमप्रकाश अग्रवाल ३)
निवंधकार वालकृष्ण भट्ट—श्री गोपाल
पुरोहित २॥)
द्रष्टिकोण—श्री विनयमोहन शर्मा ४)
सियाराम शरण गुप्त—डा० नगेन्द्र ५)
त्रिवेणी—श्री सुदामाप्रसाद चतुर्वेदी १॥)
हिन्दी साहित्य की प्रवृतियाँ—
श्री जयकिशन प्रसाद ४॥)
रस अलंकार पिंगल—श्री शम्भूनाथ पाण्डे २॥)
प्राचीन भारत वर्ष की जनसता और संस्कृति—
श्री बैनीप्रसाद वाजपेई ३॥)
तीन बाद—श्री सिद्धिनाथ पाठक १।)
बिहार की काव्य साधना—श्री मुरलीधर
श्री वास्तव ३॥)
आधुनिक कवि हृदय—प्रो० प्रभूनरायण शर्मा १।)
संस्कृति संगम—आचार्य क्षिति मोहन सैन २॥)
आधुनिक कवि—प्रो० सुधीन्द्र एम० ए० २)
नहुष का स्वाध्याय—श्री मोहन वल्लभ भट्ट २॥)

कविता

रविबाबू के कुछ गीत—श्री रघुवंशलाल गुप्ता २॥)
अङ्गराज—श्री आनन्दकुमार ७)
वलि पथ के गीत—श्री जगन्नाथप्रसाद मिलन्द ३)
विजय पथ—श्री उदयशंकर भट्ट १।)
राष्ट्रभाषा गीतांजली—पं० रुपकुमार जेठाई ।)
हिडम्बा—श्री मैथिली शरण गुप्त ।॥)
प्रदक्षिणा— ,, ,, १)
पृथवी पुत्र— ,, ,, ।॥)
अञ्जलि और अर्घ्य— ,, ,, ।॥)
भावों की भीख—श्री रामनिवास जाजू १॥)
मेरे बापू—श्री तन्मय वुखारिया २॥)
पंच प्रदीप—शान्ति एम० ए० २)
ब्रजवीर—श्री अनुरुपसिंह 'अमर' ३)
सुवेला—श्री शम्भुनाथ 'शेष' २)
पूर्णिमा—श्री प्रदीप ॥)
प्राणों के स्वर—श्री दामोदर २॥)
पलायन—श्री वैरागी १॥)
अर्चना—श्री शलभ ।॥)

नाटक

छाया—श्री हरिकृष्ण प्रेमी १)
हंसमयूर—श्री बृन्दावनलाल वर्मा २।)
खिलौने की खोज— ,, ,, १।)
बीरबल— ,, ,, १।)
राखी की लाज— ,, ,, १।)
पीले हाथ— ,, ,, ।।।)
सगुन— ,, ,, ।।।)
जहाँदार शाह— ,, ,, ।।।)
देवता—श्री नारायण शास्त्री २।।)
सीता की माँ—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी १)

उपन्यास

भूमिका—श्री बलभद्र ४।।।≡)
दिल्ली में दस वर्ष—श्री राजेन्द्रलाल हाण्डा ३।।)
काश्मीर की लूट—श्री अमरनाथ गुप्त एम० ए० १।।)
अनन्त के पथ पर—श्री बासुदेव आठले २।)
झाँसी की रानी—बृन्दावनलाल वर्मा ६)
मृगनयनी— " " ५)
तैमूर—श्री धर्मेन्द्र एम० ए० २।।)
अंधेर नगरी—मन्मथनाथ गुप्त ३)
आँसू—पन्नादास अख्तर ३।)
कभी हंसकर कभी रोकर—श्री कैलास ३)
नारी का प्रतिशोध—श्री हरशरणदास १)
अनबुझी प्यास—श्री दुर्गाशङ्कर ७।।)
धरती माता—श्री ताराशङ्कर ५)
राय कमल— " " २)
आधे रास्ते—श्री के. एम. मुन्शी ४।।)

कहानी

बचन—श्री अनल ।।)
उतार-चढ़ाव—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेई २।।)
चाँद सितारे—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर २।।)
कौन किसका— " " २।)
अपना घर—श्री होमवती— २)
बिखरी आशा—श्री सत्यवती मैया १)
आदर्श कहानियाँ—श्री सुन्दरराम शर्मा— १)
श्रीराम की कथा—श्री श्रीनिवास शास्त्री—।।।=)
शरणागत—श्री बृन्दावनलाल वर्मा— १।)
राजपूती कथाएँ—श्री प्रभूदयाल मीतल ।।।)
मेवाड़ की अमर कथाएँ—" " ।।।)
न्याय—श्री दीपसिंह बड़गूजर १।)
पूर्व और पश्चिम—श्री रानी १।)
मामूली बातें—श्री चन्द्रशेखर दुबे ।।=)
समाजवादी विचार-धारा—श्री बालकृष्ण १।।)
दुष्यन्त और शकुन्तला—
श्री शान्ती स्वरूप गौढ २)
जयदोल—श्रीअज्ञेय ३)
रूपकला संस्मरण—श्री रघुनाथप्रसादसिंह २।)
पाषाण नगरी—श्री शिवसहाय चतुर्वेदी ४)
जब सारा आलम सोता है—
पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र १।।)
जब राम राज आजाएगा—श्री कृपाशंकर शर्मा १)
धरती का राजा—डा॰ महादेव साहा २)
अंगारे न बुझे—श्री रांगेय राघव २।।)
नीराजन—श्री यदुनन्दन १।।)

जीवनी

जीवन जौहरी जमनालाल बजाज—
श्री रिषभदास राँका १)
श्री जमनालालजी—श्री हरिभाऊ उपाध्याय ६।।)

राजनीति

जन-तन्त्रवाद—डा० श्यामलाल पाण्डे ८)
बात-बात में बात—श्री यशपाल २।।-)
भारतीय शासन परिचय—
श्री परमेश्वरीलाल गुप्त २।।।)

इतिहास

विश्व इतिहास की रूप रेखा—श्री प्यारेलाल शर्मा ६)
हमारी आदिम जातियाँ—
श्री भगवानदास केला ३।।)
भारत का राष्ट्रीय इतिहास—
श्री श्यामकिशोर भारतीय एम० ए० ३)
भारतीय वीरता—श्री रजनीकान्त गुप्त २।।।)

निबन्ध

जवानो—महात्मा भगवानदीन ३)
खट्टा-मिट्ठा—श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ।।।)
समाज और जीवन—श्री जमुनालाल जैन ३)
प्रबन्ध सागर—पं० कृष्णानन्दन पन्त ४।।)
प्रबन्ध पारिजात—सम्पादित २)

धार्मिक व दर्शन

धर्म और संस्कृति—सं० जमनालाल जैन १।)
सर्वोदय तत्व दर्शन—श्री गोपीनाथ धावन ६।।)
भागवत धर्म—श्री हरिभाऊ उपाध्याय ५।।)

स्त्री पयोगी

जीवन साथी—श्री सत्य-काम विद्यालंकार ३।।)
विश्व की महान महिलाएँ—श्री शचिरानी गुर्टू ५)
पुरुष स्त्री—श्री रघुवीरशरण दिवाकर २।।)
प्राचीन-भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान—
श्री रघुवीशरण दिवाकर— ।।।)

स्फुट

श्रीराम कोश—श्री श्रीराम सिन्हा १)
राज भाषा भाग १—श्री सुन्दरराम शर्मा ।।।)
राज-भाषा भाग २— " " ।।।=)

साधकों के जीवन पथ पर—
श्री विजयकुमार मुन्शी बी० ए० १)
भारत में गाय—श्री शतीशचन्द्रदास गुप्त
दो भाग १६)
सप्तर्षिलोक—श्री शोभाचन्द्र जोशी २)
वेदान्त—श्री राजगोपालाचार्य १)
उपनिषद— " " १।)
उपदेश-मञ्जरी—महर्षि दयानन्द २)
मुर्गीपालन—सैयद कासिम अली,
साहित्या-लंकार १।)
कौन क्या है—सं० श्री रामनाथ गुप्ता ३)
व्यापारिक जगत १६५०— " २)
विष विज्ञान—वैद्य सोहनलाल अग्रवाल ४)
आयुर्वेदीय यंत्र-शस्त्र परिचय—
आचार्य सुरेन्द्रमोहन बी० ए० १।।)
विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास—
अनु० प्रो० कृष्णानन्द द्विवेदी ६।)
शिक्षण प्रविधि—श्री विश्वनाथ सहाय माथुर ३।।)
राज कमलवर्ष-बोध—श्री ओंप्रकाश ५)
रोगी परीक्षा—श्री शिवनाथ खन्ना ६)
मानव कहानी भाग १—प्रो० रामेश्वर गुप्त ८)
मानव कहानी भाग २— " " ८)

सभी प्रकार की हिन्दी की पुस्तकें मगाने का पता—**साहित्य-रत्न भंडार-आगरा।**

नई से नई पुस्तकें जो हर महीने प्रकाशित होती हैं। तथा जिनकी सूची साहित्य-सन्देश में प्रत्येक मास निकलती है, वे प्रायः सभी हमारे यहाँ विक्रियार्थ रहती हैं।

जब भी आपको हिन्दी की नवीन व प्राचीन पुस्तकों की आवश्यकता हो, हमारे पास आर्डर भेजें।

साहित्य-रत्न भण्डार, आगरा।

[१३] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क २

सम्पादक

ुलाबराय एम० ए०

द एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र

*

प्रकाशक

त्य-रत्न-भण्डार, आगरा,

*

मुद्रक

ाहित्य-प्रेस, आगरा

*

मूल्य ५), एक अङ्क का ।≈)

इस अङ्क के लेख

निबन्ध

धार्मिक व दर्शन

स्त्री-पयोगी

स्फुट

[१३] आगरा—अगस्त १६५१ [अङ्क २

सम्पादक

गुलाबराय एम० ए०

... एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र

*

प्रकाशक

...त्य-रत्न-भण्डार, आगरा,

*

मुद्रक

साहित्य-प्रेस, आगरा

*

... मूल्य ५), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

ऋतम्भरा—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या २।।)
हिन्दी की योग्यता कैसे बढ़ाएँ—
मोहनलाल श्रीवास्तव १।।)
लोक व्यवहार—सन्तराम, बी० ए० ६)
अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—
डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ६)
साहित्य और साधना—डा० भागीरथ मिश्र ४।।)
मकरन्द—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ३।।)
हिन्दी-गद्य मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी ६)
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—
प्रो० ओमप्रकाश, एम० ए०
उद्धव शतक समीक्षा—
रामनारायण मिश्र एम० ए० १।।)

विविध

जाति विच्छेद—बी० आर० अम्बेडकर ३)

नाटक

कल और आज—स्नेह, एम० ए० ।।।)
मृच्छ कार्टिक नाटक—
व्यौहार राजेन्द्रसिंह एम० ए० २)
जौहर—नारायण चक्रवर्ती ।=)
स्वर्ग का पतन—डा० अरुण १)
अन्ध कवि—नारायण चक्रवर्ती १)

वैदिक-साहित्य

गायत्री—विद्यानन्द विदेह १।।)
वैदिक-योग पद्धति—आचार्य विदेह ।=)
वैदिक बाल शिक्षा— ,, ,, ।=)
आर्य-समाज का साप्ताहिक अधिवेशक—
आचार्य विदेह ।=)
सर्व-भौम आर्य साम्राज्य— ,, ,, ।।)
विदेह आलाप— ,, ,, ,, ।)

कहानी

नील अंगार—ब्रह्मदेव ।।)
ग्रहण के बाद—नरेन्द्र २)
मौन के स्वर—व्यौहार राजेन्द्रसिंह ।।।)
नई कहानियाँ—अशान्त त्रिपाठ १।।)
मुक्ता-हार—श्री बैजनाथ राय २)

टीकाएँ

मध्यमा हिन्दी पथ-प्रदर्शक गायड—
कुमुद विद्यालङ्कार ६)
सूर संग्रह की टीका—केदारनाथ द्विवेदी २)

भ्रमण

सर्वोदय यात्रा—विनोबा— १)

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मंगाने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।
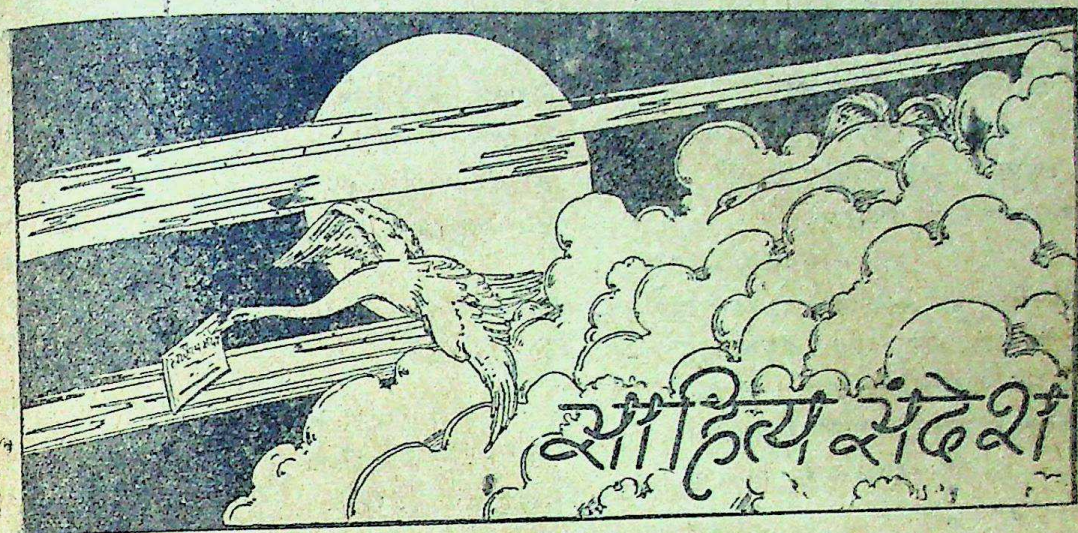
वर्ष १३] आगरा—अगस्त १९५१ [अङ्क २

तुलसी जयन्ती—

तुलसी जयन्ती का पुण्य पर्व नौ अगस्त को पड़ रहा है। हिन्दी के इस रस सिद्ध कवि की जयन्ती को धूम-धाम से मनाकर हमारे पाठक-गण अपनी कृतज्ञता को प्रकाश देने के साथ-साथ जनता को तुलसी के ग्रन्थों के रसास्वादन की ओर भी प्रवृत्त करेंगे। रामचरित मानस के अतिरिक्त तुलसी साहित्य का बहुत कम अध्ययन होता है किन्तु तुलसी का प्रत्येक ग्रन्थ एक अमूल्य देन है। सभी स्कूलों और कालिजों को इस पुण्य पर्व के मनाने की आवश्यकता है जिससे कि हमारे विद्यार्थियों में अपने साहित्य के अमूल्य रत्नों के अध्ययन की ओर रुचि जाग्रत हो। इस अवसर पर तुलसी की छोटी-छोटी प्रदर्शनियों की भी आवश्यकता है।

तुलसी के सम्बन्ध में निर्णय—

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में हम एक उपेक्षित बात की ओर संकेत करना चाहते हैं। वह यह है कि तुलसी जन्म स्थान के सम्बन्ध में सोरों और राजापुर का विवाद अब बहुत परिपक्व हो गया है। इस सम्बन्ध में अब इतनी सामग्री उपलब्ध है कि विधिवत् किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। हमारा सुझाव यह है कि उत्तर प्रदेश की सरकार भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन एक साहित्यिक (कमीशन) न्याय मण्डल बनाये जो विधिवत् समस्त सामग्री का अध्ययन करे, प्रमाण तथा साक्षियों को देखें और निष्पक्ष निर्णय दे। अभी तक इस विषय में जो अध्ययन हुए हैं अथवा निष्कर्ष निकाले गये हैं वे वैयक्तिक हैं। इस साहित्य न्याय-मण्डल का हमारा सुझाव है कि कुछ इस प्रकार का सङ्गठन हो—

१—एक हाईकोर्ट का जज
२—डा० यदुनाथ सरकार
३—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
४—डा० अमरनाथ झा
५—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। अथवा ऐसे ही कुछ शोध और निर्णय सम्बन्धी मान्यता रखने वाले व्यक्ति इसमें हों।

लल्लूजीलाल स्मारक—

लल्लूजीलाल का एक अनोखा व्यक्तित्व था। आधुनिक युग की नींव रखने वालों में ये प्रमुख थे। आधुनिक हिन्दी खड़ीबोली गद्य की प्रथम रूप रेखा इन्होंने प्रस्तुत की, और उसमें साहित्य भी रचा। इनकी साहित्य सेवा महान है। 'प्रेमसागर' भक्तों के गले का हार ही नहीं था, हिन्दी गद्य के अध्ययन की सीढ़ी भी था। ऐसे युग निर्माताओं के प्रति हम आज भी अकृतज्ञ हैं। न इनका कोई दिवस ही मनाया जाता है, न इनका कोई स्मारक ही खड़ा किया गया है। ये आगरा के निवासी थे, वहाँ इनके स्थान तक की सुरक्षा नहीं। आगरा निवासियों को इस दिशा में प्रयत्न शील होना चाहिए। आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा तथा मथुरा के ब्रज साहित्य मण्डल को ब्रज के ऐसे युग निर्माताओं के स्मारक के लिए कोई योजना प्रस्तुत करना चाहिए। श्रीधर पाठक भी ऐसे ही निर्माता थे। कितने खेद की बात है कि इन युग पुरुषों पर हिन्दी में एक महत्व पूर्ण पुस्तक तक भी नहीं।

ऐतिहासिक अनुसंधान—

बङ्गाल के रोयल एशियाटिक सोसायटी ने दस दिसम्बर १९५० को ५१ वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर इतिहास विज्ञान के महान आचार्य सर यदुनाथ सरकार का अभिनन्दन किया। उसमें माननीय सरकार ने स्वतंत्र भारत के इतिहासकारों को कुछ महत्वपूर्ण बातें बतलाई थीं। आपने कहा कि अब तक हमारे विद्वानों को इतिहास की गवेषणा में अनुवादों पर निभर रहना पड़ता है। अब हमें यह प्रणाल छोड़ देनी पड़ेगी। मूल ग्रन्थों का अध्ययन ह अनुसंधान काय में सच्ची सफलता दिला सकता है। इस भाषण में उन्होंने यह बतलाया कि सुदूर अतीत में हमारे सहस्रों धर्म ग्रन्थ चीन और तिब्बत ले जाये गये थे। उन देशों में हमारे इन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। आज यह भारतीय ग्रन्थ मूल रूप में न भारत में मिलते हैं न अन्यत्र। अतः हमें उन देशों की भाषाओं का अध्ययन करके उनमें मिलने वाले अपने ग्रन्थों के अनुवाद से ही अपनी मूल सम्पत्ति का सङ्कलन करना चाहिये। सर यदुनाथ सरकार का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास अनुसन्धित सुविद्वानों को भी इस संकेत से लाभ उठाना चाहिए। जितना शीघ्र ही वे इस दिशा में प्रयत्न शील होंगे उतना शीघ्र ही हिन्दी को उसके गौरव योग्य सामग्री मिल सकेगी।

मराठी का सन्देश—

'साहित्य-सन्देश' इस बात की आवश्यकता सुझाता आया है कि हिन्दी लेखक को आज देश की समस्त भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए—कुछ का सामान्य ज्ञान कुछ का विशेष। भारत भर की आत्मा आज राष्ट्रभाषा हिन्दी में व्याप्त हो जानी चाहिए। आज के हिन्दी उपन्यासकार, नाटककार, कवि अपने प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं में घिरा रह जाता है। अतः महाराष्ट्र के सबसे बड़े नाट्यकार श्री भामा वरोकर का यह उपालम्भ हमें ध्यान से सुनना चाहिए। वे कहते हैं—

> "हिन्दी लेखकों को चाहिये कि वे पारसी रोमांस को छोड़ कर भारतीय यथार्थता को देखें और उस पर लिखने के लिये अपनी कलम उठायें।
>
> हिन्दी की नयी पुस्तकों में एक रसता है, विविधता नहीं—जो एक भारतीय भाषा के लिये बहुत जरूरी है। इसके लिये मराठी पुस्तकों का अनुवाद उनकी आँखें खोलने में सहायक होगा।" ('आज कल' से)

'मराठी' हमारे देश की समृद्ध भाषा है। इस सन्देश का स्वागत हिन्दी लेखकों को करना ही चाहिए—पर हमतो इस सन्देश को और भी व्यापक बनाना चाहते हैं। मराठी तो वैसे भी हिन्दी के

कितने ही लेखक पढ़ते-लिखते हैं—पर उन भाषाओं की ओर दृष्टि जाना आवश्यक है जिनकी ओर अभी तक ध्यान नहीं गया।

तामिल और हिन्दी—

पी० ई० एन० में तामिल पर लेख लिखते हुवे एम० आर० जम्मनाथन ने सब से आरम्भ में ही इस आशय की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं।

'तामिल लोग यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी के द्वारा उसके वे पचे पारिभाषिक शब्द तथा मुहावरे तामिल में बलात सन्निविष्ट कराये जा रहे हैं। दक्षिण भारतीय पत्रों ने अब भी कितने ही अँग्रेजी शब्दों को आत्मसात् कर रक्खा है। और साधारण धारणा यह है कि यह अच्छा होगा कि यदि कार्यक्रम नये शब्द गढ़ने की अपेक्षा तामिल में अख्यात-लोक प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को ही अपनायें।"

इस मनोवृत्ति पर किसी को प्रसन्नता नहीं हो सकती। तामिल वासियों को हिन्दी में राष्ट्रीय स्वरूप के दर्शन करने की भावना जाग्रत करनी चाहिये। हिन्दी आज उतनी ही उनकी है जितनी कि तामिल—तामिल मातृ भाषा के नाते, हिन्दी राष्ट्र भाषा के नाते। शब्द चयन में अधिकारियों को आज प्रान्तीय दृष्टि और प्रान्तीय सुविधा को प्रमुखता देकर समस्त देश की आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए। बहुत सम्भव है जो अँग्रेजी शब्द तामिल में प्रचलित हैं वे भारत के अन्य क्षेत्रों में न हों। बेपचे अर्थात् अनगढ़ शब्द समय पाकर पच जायँगे और लोकप्रियता प्राप्त कर लेंगे।

उर्दू और संस्कृत शब्द—

भावलपुर में एक कालेज की उर्दू सभा बज़्मे उर्दू के वार्षिक उत्सव पर माननीय डा० सैयद महमूद ने अधिवेशन के अन्तिम दिन सभापति पद से भाषण देते हुए उर्दू के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहीं—

१—उर्दू की मदद से भारत सुदूरपूर्व मध्यपूर्व, चीन, हिन्देशिया, पाकिस्तान, अरेबिया, मिश्र तथा मोरक्को के बहुत निकट आ सकता है।

२—उर्दू भाषा का जन्म साधारण लोगों में हुआ है। इसके ८५ प्रतिशत शब्द संस्कृत तथा तद्भूत शब्दों से आये हैं।

३—उन्होंने उर्दू लेखकों से आग्रह किया कि वे सर्व साधारण की भाषा में बोले जाने वाले संस्कृत शब्दों को आत्मसात् कर भाषा को जीवन के निकट लावें।

यह सभी बातें बहुत ही चतुराई के साथ कही गई हैं। पहिली बात में प्रलोभन है और पाकिस्तान के अतिरिक्त और किसी देश के लिए उर्दू की अपेक्षा हिन्दी का ही अधिक महत्त्व सिद्ध होगा। दूसरी बात उर्दू के जन्म के समय तो सत्य थी किन्तु स्थिति आज भिन्न है। तीसरी बात यदि उर्दू के लेखक स्वीकार कर लें तो हिन्दी तथा उर्दू में कोई भी भेद नहीं रह जायगा। भारत के उर्दू प्रेमियों को आज इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

अपेक्षित सत्य—

'दी इण्डियन पी० ई० एन० ने श्री के० आर० श्री निवास आयङ्गर के एक लेख की कुछ पंक्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उनका यह लेख 'आर्यसमाज' के जून के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। हम उसके एक वाक्य का हिन्दी रूपान्तर साहित्य सन्देश के पाठकों के लिए प्रेषित करते हैं। आयङ्गर लिखते हैं :—

"निश्चय ही यह अपेक्षित है कि आत्मिक क्षेत्र में साम्य को मान्यता दी जाय, क्योंकि ऐसी मान्यता के बिना मानव कुटुम्ब विवेक रहित छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होते जाने की आत्मघातक दौड़ में अनिवार्यतः प्रवृत्त रहेगा। अतः यह परम आवश्यक है कि ऐसे मार्ग निर्मित हों जिनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की परिधि में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहे।

और विभक्त होकर नष्ट होने के भय को दूर करने के लिए यह उचित है कि परम्परागत मान्यताओं को, सजीव अतीत के यथार्थ को, सजीव विचारों की धारा के अमृतोपम गुणों को, सर्वयुगीन दार्शनिकता की शक्ति तथा पूर्ण सत्यता को पुनर्स्थापित किया जाय।"

इसमें जिस तथ्य का प्रतिपादन है, वह एक अपेक्षित ही नहीं आज तो उपेक्षित सत्य है।

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य—

हिन्दी में 'विज्ञान नामक' पत्र बहुत समय से हिन्दी में विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की पूर्ति की चेष्टा कर रहा है। इसके अप्रैल के अङ्क में हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य शीर्षक एक विचारणीय अग्रलेख प्रकाशित हुआ है। इसकी यह पंक्तियाँ हमारा ध्यान विशेषतः आकर्षित करती हैं—

"सारांश यह है कि हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बहुत ही कम है, स्थिति बड़ी ही असन्तोष-जनक है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि संसार की ऐसी कोई सम्पन्न भाषा नहीं जिसने वैज्ञानिक साहित्य के सृजन का प्रयास न किया हो या जिसका विज्ञान के विकास में एकाधिकार हो। अनेक देशों के सहयोग ने विज्ञान को इस सीमा तक पहुँचाया है। हिन्दी प्रेमी जनता, विद्वान, सरकार सभी को अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बढ़ाने में, अभी तक भगीरथ प्रयत्न करना बाकी है, और आशा ही नहीं विश्वास है कि सभी अपने इस दायित्व की ओर ध्यान देंगे।"

पाठकों में पुस्तक प्रेम—

१६ जुलाई के 'आर्यमित्र' में श्री गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० ने अपने पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी कुछ अनुभव लिखे हैं, जिनसे विदित होता है कि पुस्तक प्रकाशन में जितना रुपया उन्होंने व्यय किया उतना रुपया भी बिक्री से प्राप्त नहीं हो सका, लाभ की तो बात ही क्या। यह बात उन पुस्तकों के प्रकाशन की है जो एक गम्भीर विद्वान की भारत प्रसिद्ध पुस्तकों की हुई और उस समाज में जो पुस्तकें पढ़ने और खरीदने में बहुत आगे है। जब आर्यसमाज की पुस्तकों की यह दशा है तब दूसरे प्रकाशनों की क्या चर्चा की जाय। हिन्दी के पाठकों को यह स्थिति बदलनी चाहिए और पुस्तक खरीद कर पढ़ने और घर में एक छोटा मोटा पुस्तकालय रखने की आदत डालनी चाहिए। बिना इसके अच्छी हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन नहीं बढ़ सकता। आज तो दुःख है कि व्यक्तिगत रूप से हिन्दी पुस्तकें खरीदने वालों की बहुत ही कमी हो गई है।

'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी'—

कुछ दिन पहले हमने 'साहित्य सन्देश' में यह लिखा था कि 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' का नाम अब 'हिन्दी प्रचार सभा' होना चाहिए। हमें प्रसन्नता है कि सभा ने इस ओर ध्यान दिया और अभी हाल ही में उसने यह निश्चय कर लिया है कि भविष्य में सभा का नाम 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ही होगा। हम इसके लिए सभा के सञ्चालकों को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि इस निश्चय के बाद भाषा के रूप को भी वे हिन्दी बनाने की कृपा करेंगे।

श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान—

हिन्दी के एक और प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रकार की मृत्यु का समाचार मिला है। हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के सुयोग्य सम्पादक श्री उमेशचन्द्र मिश्र का देहावसान ६ जून को हो गया। उमेशचन्द्र जी हिन्दी के सिद्ध हस्त लेखक, विचारक और सम्पादक थे। हिन्दी को, विशेषतः उसके पत्रकार क्षेत्र को, मिश्र जी से बहुत आशा थी, अभी उनकी आयु ही क्या थी, ४६ वर्ष की छोटी आयु में हिन्दी के इस यशस्वी पत्रकार के उठ जाने से जो क्षति हुई है, उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

पाश्चात्य विद्वान एवं शब्द शक्ति व्यञ्जना

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास, एम० ए०, शास्त्री

पाश्चात्य विद्वान् व्यञ्जना जैसी शब्द-शक्ति नहीं मानते फिर भी व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' तथा 'डबल सेन्स' को हम व्यंग्यार्थ का एक रूप मान सकते हैं। 'एल्यूज़न' लाक्षणिक प्रयोग से विशेष संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होता है, तथा इसी में विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग की मनोवृत्ति निहित रहती है। फिर भी अरस्तू में अथवा एलेजेंड्रियन साहित्य-शास्त्रियों में इस प्रकार का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। क्विंतीलियन ने 'एल्यूजन' के विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। क्विंतीलियन के मतानुसार यह प्रयोग उस प्रकार का विपरीतार्थक नहीं है, जैसा 'आइरनी' में होता है, किन्तु यह तो उसी वास्तविक अर्थ में निहित होता है, जिसकी प्रतीति कवि कराना चाहता है। दुमार्से में दो अलङ्कार ऐसे मिलते हैं, जो सामान्य रूप से 'एल्यूजन' से सम्बन्धित हैं। इनमें एक तो 'एलेगरी' है, दूसरा 'विशिष्ट प्रकार का एल्यूजन' (प्रॉपर एल्यूजन) है। इनके विषय में दुमार्से ने कहा है:—'एलेगरी का मेटेफर से अत्यधिक सम्बन्ध होता है। यह वही नहीं है, जो कि मेटेफर से प्रतीत होता है। यह वह अर्थाभिव्यक्ति है जिसमें सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है तथा जिससे वे समस्त अन्य वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, जिनका प्रयोग कोई व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये करता है, साथ ही जो दूसरे अनभिवाञ्छित अर्थ की बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता।"

एल्यूजन तथा शाब्दी-क्रीड़ा (ल जू द मो) का एलेगरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एलेगरी में स्पष्ट रूप में तो एक अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु साथ ही किसी दूसरे अर्थ की मनोवृत्ति की भी व्यञ्जना होती है। यह व्यञ्जना अधिकतर एल्यूजन या शाब्दी क्रीड़ा के द्वारा ही होती है। यह व्यंग्यार्थ प्रतीति जो मुख्यतः किसी न किसी भाव (अर्थ) से सम्बन्धित है, मेटेफर पर आश्रित रहती है। यही 'एल्यूजन' है। इस प्रकार पाश्चात्यों के 'एल्यूजन' में हम लक्षणामूलक तथा अर्थमूलक व्यंग्यार्थ का समावेश कर सकते हैं। शाब्दी क्रीड़ा से जहाँ भिन्नार्थ प्रतीति भी होती है, उसे हम शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना के समकक्ष मान सकते हैं। फिर भी गौर से देखने पर प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ पर तथा द्वयर्थक शब्दों के प्रयोगों पर आश्रित व्यञ्जना ठीक उसी ढंग पर पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण भाषाओं की अभिव्यञ्जना-प्रणाली तथा शब्द समूह का भेद है। संस्कृत भाषा इतनी अधिक सुगठित शब्दावली वाली है, तथा पर्यायवाची एवं विपरीतार्थक शब्दों में इतनी समृद्ध है कि इस प्रकार का काव्य कौशल दिखाने का वहाँ पर्याप्त साधन है, जो पाश्चात्य भाषाओं में नहीं। ठीक यही बात संस्कृत तथा हिन्दी के विषय में भी कही जा सकती है। व्यञ्जना तथा ध्वनि के भेदोपभेदों के उचित उदाहरण जैसे संस्कृत में मिल सकते हैं, वैसे कई भेदों के लिए हिन्दी में मिलना कठिन है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में फिर भी एक स्थान पर एक ऐसी शक्ति का संकेत मिलता है, जिसे हम व्यञ्जना के समान मान सकते हैं। वैसे शुद्ध रूप से यह वस्तु-शक्ति तो नहीं, किन्तु जिस प्रकार व्यञ्जना में वक्ता के अभिप्राय का विशेष स्थान है, उसी प्रकार इसमें भी वक्ता के अभिप्राय का विश्लेषण हुआ है। यह शक्ति—यदि इसे शक्ति कहना अनुचित न हो तो—स्टाइक दार्शनिकों का 'तो लेक्तोन' है। इसका अनुवाद अधिकतर लोग

अर्थ या अभिव्यक्ति (मीनिंग ऑर एक्सप्रेशन) से करते हैं। जेलर के मतानुसार "तो लेक्टोन विचारों का सार है -विचार का ग्रहण हम (यहाँ पर) अपने सीमित रूप में करते हैं, जब वह वाह्य पदार्थ से जिससे उसका सम्बन्ध है, भिन्न होता है, साथ ही उसकी व्यञ्जक ध्वनि (शब्द) से तथा उसको प्रकट करने वाली मनःशक्ति से भी भिन्न होता है।" जेलर वस्तुतः तो लेक्टोन का वास्तविक रूप देने में समर्थ नहीं हो सका है। स्टाइक दार्शनिकों के इस शब्द का स्वरूप हमें कुछ बाद के लेखकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। अरस्तू के टीकाकार रामोनियस ने बताया है कि "जिस वस्तु को स्टाइक दार्शनिकों ने 'लेक्टोन नाम दिया है, वह मन तथा पदार्थ के मध्य में स्थित है।" एक दूसरे ग्रीक विद्वान् के मतानुसार "स्टाइक दार्शनिक तीन वस्तुओं को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं:— 'प्रतिपाद्य' 'प्रतिपादक' तथा पदार्थ। इनमें प्रतिपादक तो शब्द (दिश्रो) है, प्रतिपाद्य वह वास्तविक वस्तु है जो शब्द से अभिव्यक्त होती है, वह वस्तु जो हमारी मानसिक स्थिति में विद्यमान रहती है। यह वह वस्तु है जो अनभिप्रेत व्यक्ति (दूसरे लोग) शब्द सुनते समय नहीं समझ पाते। तथा पदार्थ वाह्य उपकरण है। इनमें से दो वस्तुएँ (शब्द तथा पदार्थ) तो मूर्त्त (कॉरपॉरियल) हैं, किन्तु एक (लेक्टोन) अमूर्त्त है।"

वस्तुतः तो लेक्टोन मन तथा पदार्थ के बीच रहती है तथा यह मनः स्थिति पर आधारित है। तो लेक्टोन से हम भर्तृहरि के 'ज्ञान' की अभेद प्रतिपत्ति कर सकते हैं। इसे हम वे संबंधित भाव मान सकते हैं, जिन्हें चेतन या अर्धचेतन रूप में, व्यक्ति अभिव्यञ्जित करना चाहता है। यही साहित्यशास्त्रियों की व्यञ्जना मानी जा सकती है। अरस्तू यद्यपि मानव मन की सम्बन्धित स्वाभाविक क्रियाओं को तथा आकस्मिक परिस्थितियों से जनित उनके परिवर्त्तनों को स्वीकार करता है, फिर भी वह विचार तथा पदार्थ के बीच की स्थिति को नहीं मानता। एपीक्यूरियन दार्शनिक भी वह विचार लेक्टोन जैसी वस्तु मानने के पक्ष में नहीं है। इसी बात को प्लूटार्च ने बताया है कि उन लोगों ने शब्द तथा पदार्थ को ही मानते हुए तथा प्रतीयमान वस्तु होती ही नहीं इसकी घोषणा करते हुए अभिव्यञ्जना के प्रकार से छुटकारा पाया है। उन लोगों ने दिक्, काल तथा स्थान जैसी वस्तुओं को जो व्यञ्जना के प्रकार हैं, 'सत्' की कोटि में नहीं माना है, जिनमें वस्तुतः समस्त सत्य निहित है, क्योंकि उनके मतानुसार ये (प्रकरण) कुछ होते हुए भी 'असत्' हैं। कहना न होगा कि भारतीय साहित्यशास्त्र की व्यञ्जना का आधार दिक्, काल जैसी वस्तुएँ ही हैं।

स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु को खूब समझते हैं, चाहे वे इसकी अनुभूति के लिए अलग से शक्ति न मानते हों। काव्य में इस व्यंग्यार्थ की महत्ता को वे खूब समझते हैं। इसी सम्बन्ध में निबन्ध को समाप्त करते हुए अरस्तू के टीकाकार एमोनियस के शब्द उद्धृत कर सकते हैं:—"शब्द की दो स्थितियाँ होती हैं। एक उसके श्रोता की दृष्टि से, दूसरी उस वस्तु की दृष्टि से जिसका बोध वक्ता श्रोता को कराना चाहता है। श्रोता के सम्बन्ध की दृष्टि से, जिसके लिए शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है, यह शब्द अलङ्कारशास्त्र या काव्य के क्षेत्र से सम्बन्धित है, क्योंकि वे अधिक प्रभावशाली शब्दों को ढूँढा करते हैं, साधारण प्रयोग में आने वाले शब्दों को नहीं। किन्तु जहाँ तक शब्द का वस्तुओं से स्वयं से सम्बन्ध है, यह प्रमुखतः दार्शनिक के अध्ययन का क्षेत्र है, जिसके द्वारा वह मिथ्याज्ञान का खण्डन करता है तथा सत्य को प्रकट करता है।"

काव्य-समीक्षा में रहस्यवाद का युगोन्मेष

श्री लाल रमायदुपालसिंह एम० ए०, शास्त्री

घनसार-भरी घाटी का रहस्यवादी आलङ्कारिक आनन्दवर्द्धन, आज से कोई एक सहस्र वर्ष पूर्व, अपनी रजत तूलिका से शास्त्रीय नवचेतना का अमिताभ रूप अलङ्कार के पटल पर अङ्कित करने उठा था। काश्मीर की सौन्दर्य-सुधा का आनन्दवर्द्धन ने आकण्ठपान किया था और उसने देखा था कि सौन्दर्य अक्षय है, सुन्दर भले ही क्षण-भङ्गुर हो। पात्र की नीरसता से पेय की सरसता क्षार नहीं हो जाती।

सत्य यदि सत्य है तो वह शाश्वत होकर रहेगा, सौन्दर्य को सौन्दर्य कहलाने के लिए शाश्वत होना पड़ेगा। सच बात तो यह है कि एक पत्ता चाहे सूखकर गिर जाय—यही नहीं अरबों-पदमों गिर सकते हैं—पर क्या विश्व रसरहित हो जायगा। राम-कृष्ण के भी मरने से मानवता नहीं नष्ट हो गयी।

कामनीयक के इसी शाश्वतत्व ने दसवीं शताब्दी विक्रमीय को साहित्य समीक्षा के राजकुमार के हृदय में एक नवीन चेतना, एक नूतन स्वप्न और एक अभिनव जागृति उँड़ेल दी। दर्शन में जो काम आत्मैक-सत्तावादी (अध्यात्मवादी) करता है वही आनन्दवर्द्धन ने साहित्य-समीक्षा में उन्मिषित किया। एक चिरन्तन रमणीयता की काव्यगत अनुभूति उस सरस सहृदय के हृदय में साकार हो उठी। 'इण्डियन आइडियलिज्म' में डा० दासगुप्त ने लिखा है:—

Ideali-m Consists in maintaining that all reality is spiritual.

(अध्यात्मवाद इसी की उपपादना में निहित है कि समग्र सत्ता चैतन्यात्मिका है।) यदि काव्य-मीमांसा में इसी अध्यात्मवाद की अवतारणा होगी तो ग्रन्थकार यही कहेगा कि रसध्वनि अर्थात् काव्य की आत्मा सचेतोगत है; दूसरे शब्दों में काव्यतत्व की सत्ता प्रमातृगत है प्रमेयगत नहीं। इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवाद आलङ्कारिक अध्यात्मवाद था।

रहस्यवाद में त्रिकत्व जिस रूप में भी पाया जाता है ध्वनिवाद में वह यथातथ विद्यमान है। रहस्यवाद में साधक, साध्य और साधन का त्रिक होता है। साक्षात्कर्ता, साक्षात्कर्तव्य और प्रतीक की त्रयी सामने आती है। ध्वनिवाद में भी प्रमाता, प्रमेय और प्रमापक का त्रिक होता है; सहृदय व्यंग्य और व्यञ्जक की त्रयी होती है। इन्हें ध्वनिकार की निम्न प्रसिद्ध कारिकायें स्वतः स्पष्ट करती हैं—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

रहस्यवादी उस सत्य साक्षात्कार की अवस्था को तुरीय बताता है; ध्वनिवादी भी ध्वनि को तुरीयकक्षाविनिविष्ट। रहस्यवादी जागृति, स्वप्न व निद्रा के बाद की ब्राह्मी अवस्था प्रस्तुत करता है। ध्वनिवादी अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्य की कक्षाओं के पार व्यञ्जना की आस्थापना करता है।

रहस्यवादी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि वह उस साक्षात्कार की किसी साधक-विशेष को ही पात्रता प्रदान करता है। ध्वनिवादी भी इसे केवल सहृदय संवेद्य मानता है और सहृदय हैं—

'येषां विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।

ध्वनिकार के शब्दों में:—

शब्दार्थशासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

रहस्यवादी उस परम प्रमेय परमसत् को तथा उसके प्रमापक प्रतीक को यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय मानता है। ठीक उसी तरह आचार्य आनन्दवर्द्धन भी कहते हैं:—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे॥

वह परमप्रमेय ध्वन्यर्थ और उसका प्रमापक व्यञ्जक ध्वनिवादी की दृष्टि में भी यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय हैं। ये दोनों ही किसी कालिदास-जैसे महाकवि की कृतियों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। रहस्यवादी भी 'अनलहक' की आवाज लगाने वाले किसी एक-दो बड़े साधक की ही दाद देता है। आज का लोकवादी युग कितना भी क्यों न चिल्ल-पों मचाये परन्तु यह शाश्वत और चिरन्तन सत्य है कि परम-सत् का साक्षात्कार किसी बिरले व्यक्ति ही को हो सका है, हो सकता है और हो सकेगा। ऐसा कृती एक समूचे युग का गौरव होता है। रूस का जन-मनः सम्मीलन में प्राप्त प्रतिष्ठ लेनिन व्याख्यावलित मार्क्सवाद कोटि-कोटि की तो बात ही क्या दो-चार भी कार्लमार्क्स और लेनिन या स्तालिन नहीं पैदा कर सका और न उम्मीद है। अस्तु, चेतना का समुन्मेष कोई दैनन्दिन घटना न होकर युगों की चिन्तामणि है।

ऐसी ही प्रतिभा के उद्भेद की ओर इशारा करते हुए राजानक आनन्दवर्द्धन ने ऊपर की कारिका पर वृत्ति लिखते हुए ये शब्द उपनिबद्ध किये:—

"अस्मिन् अति विचित्र कवि परम्परा-वाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राःपञ्चषो वा महाकवय इति गण्यन्ते।"

उपनिषद् का उपनिषत्त्व, आरण्यक की आरण्य-कता और वेदान्तरहस्य की गोपनीयता का रहस्य भी यही है। पात्रता पर भारतीय दर्शन जो इतना अधिक जोर देता है, उसका कारण भी अधिकाँश यही है। व्यक्ति की प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य को आज के मैकडूगल के चेले मनोवैज्ञानिक भी मानने को विवश हैं। इस मनोगत प्रवृत्ति-वैशिष्ट्य के अध्ययन-चिन्तन ने ही दार्शनिक हृदय की परख की ओर हमारे शास्त्रकारों को उन्मुख किया। मनोयोग न देनेवाली सभा को ब्रह्मविद्या का पाठ देना अरण्य-रोदन के अतिरिक्त और क्या हो सकता।

काव्य-शास्त्र का रहस्यवादी भी यही कहेगा कि काव्यतत्त्व या ध्वनि केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य है। किसी कवि के शब्दों में :—

इतरतापशतानि यदृच्छया
विलिखितानि सहे चतुरानन!
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

भारत अपने नाम से ही दार्शनिक है; मैं कहूँ परमार्थप्रिय अध्यात्मवादी है। भा अर्थात् प्रकाश या ज्ञान में रत रहने—लगे रहने—वाला राष्ट्र यह है। इसीसे यहाँ का साहित्यचिन्तक भी एक अप्रतिम अध्यात्मवादी प्रवृत्ति लेकर उसकी रमणी-यता के यौवनमय प्रान्त काश्मीर के अञ्चल में दृष्टि-परिपाक प्राप्त करने में समर्थ हो सका।

आनन्दवर्द्धन की ऐसी आलोकसृष्टि का विस्तार-प्रसार आचार्य अभिनव गुप्तपाद की रस-विवेचना में पाया जा सकता है। एक शैवाद्वैती रहस्यवादी की लेखनी ने पूरी आध्यात्मिकता उस ध्वनिवाद की नस-नस में अनुस्यूत कर दी। फलतः अपनी समीक्षा के क्षितिज पर उस रसब्रह्मवाद का मिहिरमार्ग उद्भासित हो उठा जिसकी प्रकाशकिरण पाने के लिए आज का देशदेशान्तरवासी समीक्षक समानधर्मा लालायित है। उस मिहिर-मार्ग का उषआलोक आचार्य आनन्द वर्द्धन के साहित्य-चिन्तन से प्रसूत हुआ। उस समीक्षाजगत् के सम्राट के ज्योतिष्पथ पर ये शब्दसुमन विकीर्ण कर अपने को भाग्यशाली समझता हूँ; क्योंकि—

महतां संस्तव एव गौरवाय।

पद्मावत का रूपक

प्रि० हृदयनारायणसिंहजी एम० ए०

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित एक लेख में स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने यह प्रतिपादित किया था कि पद्मावत का रूपक कथा को विकृत करता है, और पद्मावत की कथा रूपक को विकृत करती है। कथा और रूपक एक दूसरे के नितान्त अनुपयुक्त हैं। यह मत डा० बड़थ्वाल का ही नहीं था, कुछ अन्य पाठकों और समालोचकों का भी है। प्रस्तुत लेख में इस मत के निराकरण की चेष्टा की जायगी।

पद्मावत की कथा समाप्त करते हुए उपसंहार में जायसी ने रूपक का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है।

'मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घर माहीं॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धन्धा।
बाँचा सोइ न यह चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥'

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को कवि ने रूपक सदृश बतलाया है। कथा में उल्लिखित विभिन्न पात्रों की उसने मनुष्य की विभिन्न मानसिक शक्तियों का प्रतीक अथवा प्रतिरूप माना है, और इस दार्शनिक मत की ओर संकेत किया है कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। उपर्युक्त वर्णन के अनुसार तन चित्तौर है, जहाँ के राजा रतनसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया था। संकल्प विकल्पात्मक मन राजा रतनसेन है। रागात्मक हृदय सिंघल है, जहाँ की राजकुमारी पद्मावती थी। शुद्ध बुद्धि पद्मावती है। मार्ग-प्रदर्शक गुरु हीरामन तोता और रतनसेन की प्रथम राजमहिषी नागमती सांसारिक मोह है। राघव चेतन जिसने रतनसेन से विश्वासघात कर अलाउद्दीन को चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए उकसाया जीवात्मा को पथभ्रष्ट करनेवाला शैतान है और अलाउद्दीन जीव को परमात्मा से विमुख करने वाली शक्ति माया का प्रतीक है।

जायसी ने कथा के लिए जो रूपक की कल्पना की है, उसमें समालोचकों को दो-तीन बातें खटकती हैं।

पहली तो यह कि कवि ने कथा के प्रकरणों में इस रूपक का एक समान निर्वाह नहीं किया है। अधिकतर पद्मावती को परमात्मा और राजा रतनसेन को साधक जीवात्मा का रूपक दिया गया है।

करवत तपा लेंहि होइ चुरु।
मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदुरु॥

और,

देवता हाथ-हाथ पगु लेहीं।
जहँ पगु धरैं शीश तहँ देहीं॥
माथे भाग कोउ अस पावा।
चरन कमल लेइ शीश चढ़ावा॥

इत्यादि पद्मावती के लिए और रतनसेन के लिए लिखा है।

तजा राज राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ वियोगी॥

संसार अनित्य है, और परमात्मा की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है।

किन्तु सदैव राजा ही साधक के रूप में और पद्मावती साध्य रूप में प्रदर्शित हों, ऐसा नहीं। एकाध स्थल पर पद्मावती स्वयं साधक हो जाती है, और जब अलाउद्दीन पद्मावती को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह भी जीवात्मा के रूप में दिखलाया गया है। जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील है।

उपसंहार में सिंहल को हृदय का प्रतिरूप माना है, किन्तु पार्वती महेश-खण्ड में सिंहलगढ़ को पिंड का रूपक दिया गया है।

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोट वारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका।
अगम चढ़ाव वार सुठि बाँका॥

इत्यादि, यह बात पद्मावत के रूपक की समीक्षा के लिए अत्यन्त महत्त्व की है—कि अन्त में बतलाए गए रूपक का कथा के बीच में एक समान निर्वाह नहीं हुआ है।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि कुछ प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों में रूप गुण और प्रभाव का साम्य नहीं है। नागमती रतनसेन की प्रथम विवाहिता रानी थी। उसे दुनिया धन्धा और पद्मावती को बुद्धि बतलाना भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं विदित होता। नागमती पतिव्रता स्त्री थी और राजा की मृत्यु के बाद सती हो गयी। उसे दुनिया धन्धा कहना ठीक नहीं मालूम होता।

अलाउद्दीन और माया में भी विश्वसनीय साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। जब नागमती को दुनिया धन्धा कह दिया तो पुनः अलाउद्दीन को माया कहना उसी रूपक को दुहराना है।

समालोचकों की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि अप्रस्तुतों के समवाय का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और कार्य-व्यापार है वह प्रस्तुतों के पारस्परिक सम्बन्ध और कृत्यों को पूर्णत नहीं प्रगट करता और न उनके अनुकूल है। जब रूपक बाँधा जाता है, तो यह विचार रखा जाता है कि प्रस्तुतों का जो पारस्परिक सम्बन्ध है, और उनका जो कार्य व्यापार है उसी के समान अप्रस्तुतों का भी पारस्परिक सम्बन्ध और कार्य व्यापार हो।

राजा रतनसेन कथा के नायक है, पद्मावती नायिका है। नागमती उनकी प्रथम विवाहिता है, चित्तौर उनकी राजधानी है और सिंहल उनकी प्रेमिका पद्मावती का जन्मस्थान है। हीरामन तोता ने रतनसेन को पद्मावती का और पद्मावती को रतनसेन का समाचार दिया था। रतनसेन के एक दरबारी राघवचेतन ने अलाउद्दीन को चित्तौर पर पद्मावती को हस्तगत करने के उद्देश्य से, चढ़ाई करने को उकसाया। देवपाल राजा का शत्रु था जिसने दूती द्वारा पद्मावती को राजा के बन्दी होने पर अपनी अंकशायिनी बनाना चाहा। इसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध अप्रस्तुतों में भी शरीर, मन, हृदय, बुद्धि, गुरु, दुनिया—धन्धा, शैतान, माया इत्यादि में होना चाहिए पर बात ऐसी नहीं है। कवि ने जब शरीर को चित्तौर कहा और पूर्व में जब यह संकेत किया कि चौदहों लोक मानव के शरीर में ही हैं तब सभी अप्रस्तुतों को शरीर के भीतर से ही चुनना चाहिए था। पर गुरु और शैतान, यदि माया को हम छोड़ देते हैं तो, मनुष्य के बाहर के तत्व हैं। फिर मन हृदय, बुद्धि इत्यादि में वही सम्बन्ध नहीं है जो रतनसेन, सिंहल और पद्मावती में था। सांसारिक जञ्जाल और माया में भी भेद स्पष्ट नहीं है और यदि दोनों में अन्तर स्थापित किया जा सकता है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही नहीं होगा जैसा नागमती और अलाउद्दीन का है।

पद्मावत के रूपक के ये स्पष्ट दिखलाई पड़ने वाले दोष हैं। इसीलिए डा० पीताम्बरदत्त ने कहा कि पद्मावत का रूपक कथा को विकृत करता है।

यदि हम उपसंहार में लिखे गये वाक्यों को पद्मावत का आधार और प्रेरक-भाव और कथा ...

समझने की कुञ्जी समझ लें तो उपर्युक्त मत का प्रतिपादन नितांत स्वाभाविक हो जाता है। किन्तु अन्त के कथन का यह अर्थ लगाना समालोचना की एक बड़ी भूल है। वास्तव में जिस प्रकार अँग्रेज कवि स्पेंसर की 'फेअरी क्वीन' में सर वाल्टर रैले के नाम पत्र में दिया गया रूपक समस्त कथा का आधार और उसको समझने की कुञ्जी है उस प्रकार पद्मावत का उपर्युक्त संकेत नहीं। पद्मावत उस कोटि का रूपक काव्य नहीं है जिस कोटि के प्रबोध-चन्द्रोदय, फेअरी क्वीन या पिलग्रिम्स-प्रोग्रेस (गद्य में) हैं। इन ग्रन्थों में रूपक का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक (फेअरी क्वीन अपूर्ण रचना है) किया गया है और रूपक के कारण उनका साहित्यिक सौन्दर्य बढ़ जाता है किन्तु पद्मावत में रूपक का ऐसा निर्वाह नहीं किया गया है।

रूपक काव्य में सभी प्रस्तुतों के लिए अप्रस्तुत नियोजित होते हैं किन्तु पद्मावत में ऐसा कहाँ किया गया है। देवपाल, कुमोदिनी कुटनी, गोरा-बादल गन्धर्वसेन इत्यादि के लिए उपमानों का कोई आयोजन नहीं है। यही नहीं, जैसा मैंने पहले लिखा है, एक ही अप्रस्तुत के लिए कभी एक प्रस्तुत और कभी दूसरे का प्रयोग हुआ है।

मेरे विचार से जायसी का उद्देश्य रूपक-काव्य लिखना नहीं था। यदि होता तो रूपक का निर्वाह करने में उन्होंने सावधानी और श्रम किया होता। वह तो मसनवी के ढङ्ग का एक प्रबन्ध काव्य लिखना चाहते थे और कथा कहने में ही वे रसमग्न दिखायी पड़ते हैं। पद्मावत की विशेषता रूपक का निर्वाह करने में नहीं है पर यत्र-तत्र अत्यन्त मनोहर रहस्यात्मक संकेत का विधान करने में है। ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही उन्होंने सुन्दर आध्यात्मिक संकेत करना प्रारम्भ किया है :—

'सिंहल दीप कथा अब गावौं।
औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भाँति बिसेखा।
जो जेहि रूप सो तैसइ देखा॥

और बीच-बीच में जीवन की असारता, जैसे—

'मुहमद जीवन-जल भरन, रहँट घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति॥'

सारे विश्व का परमात्मा के लिए प्रयत्नशील होना,

'सरवर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहि लेइ॥

परमात्मा सारे जगत में व्याप्त है किन्तु पकड़ में नहीं आता, यथा—

'सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि, पै पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा।
रहा धरनि, पै धरत न आवा॥'

इत्यादि भावों की ओर संकेत करते चलते हैं। यह प्रवृत्ति पद्मावत की विशेषता है और इसी की परिणति उपसंहार में होती है। ग्रंथ के अन्त में कवि सारी कथा को एक दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रूप देना चाहता है और कहता है—मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा। इत्यादि। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि कवि यह नहीं कहता कि कथा रूपक है और इसको समझने की यह विधि है पर वह कहता है कि पण्डित लोगों ने—मेरा अपना यह कथा-विधान नहीं—सारी सृष्टि को—केवल इसी कथा के प्रकरणों और घटनाओं को नहीं—मनुष्य के घट में अन्तर्निहित बतलाया है।

उपसंहार को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह नहीं विदित होता कि रूपक कवि की प्रबन्ध-रचना का आधार या आवश्यक अङ्ग है। जो कुछ जायसी ने अन्त में कहा है वह अपनी दार्शनिक आध्यात्मिक मनोवृत्ति के कारण।

यदि पद्मावत के रूपक पर प्रकाश डालने वाले कथन को एक विदग्धता पूर्ण आध्यात्मिक संकेत के

मृगनयनी

प्रो० देवीशरण रस्तोगी एम० ए०

'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'झाँसी की रानी' के उपरान्त वर्माजी का यह चौथा ऐतिहासिक उपन्यास है। अब तक के अपने उपन्यासों में उन्होंने बुन्देलखण्ड के अतुल शौर्य और त्याग का चित्रण किया, पर इससे उन्होंने ग्वालियर के मूक-पाषाणों को सवाक् कर दिया है।

राजा मानसिंह तोमर सन् १४८६ से १५१६ तक ग्वालियर का राजा रहा। नवयुवक होने पर भी इस बीच में उसे एक साथ सिकन्दर, गुजरात के महमूद बर्धरा और मालवा के गयासुद्दीन खिल्जी की कुमन्त्रणाओं तथा आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इतना सब कुछ होते हुए भी किस प्रकार वह अपने दाम्पत्य-जीवन का आनन्द पूर्वक उपभोग करता हुआ जन-सेवा और कला-सृजन करता रहा, यही सब कुछ दिखाना लेखक का उद्देश्य रहा है। पर जैसा कि उपन्यास के नाम से स्पष्ट है लेखक का ध्यान मानसिंह की प्रेरक शक्ति और प्रेयसी-पत्नी मृगनयनी के चरित्रचित्रण की ओर विशेष रूप से रहा है।

भूमिका में लेखक ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है—'कुछ पाठक चाहेंगे कि मैं तत्कालीन आर्थिक स्थिति के समझाने के लिए आँकड़े दूँ, परन्तु अनेक पाठक कहानी चाहेंगे, इसलिए अब कहानी—बाकी फिर कभी।' अतएव उपन्यास का घटना-प्रधान होना स्वाभाविक है। वास्तव में उपन्यास है भी कथा साहित्य का अङ्ग ही। यह ठीक है कि आज 'भूतनाथ' और फसाने आजाद' वाली किस्सेबाजी का युग नहीं रहा, पर उपन्यास में धर्मोपदेशक या नेता की भाँति बड़े-बड़े भाषण देना अथवा मनोविश्लेषक बन कर कतिपय सिद्धान्तों के समर्थनार्थ अतिरञ्जित, एकाङ्गी तथा विकृतिपूर्ण कथानक गढ़ना बिलकुल भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा कौन पाठक है जो इन शुष्क वर्णनों से ऊब कर पृष्ठ पर पृष्ठ न छोड़ता चला जाता हो? 'मृगनयनी' में कहानी कहने के साथ-साथ लेखक को जो अवसर तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के लिए मिले हैं, उसने उन्हीं से पर्याप्त लाभ उठा लिया है। इस प्रकार 'मृगनयनी' हर प्रकार की अतिरञ्जना से मुक्त है। इससे अधिक आँकड़े बाजी अथवा कला बाजी करने से उपन्यास का मूल्य तो क्या बढ़ता, कथानक अवश्य ही कई गुना शिथिल हो जाता। केवल अन्तिम अध्यायों में जहाँ ग्वालियर के किले तथा बैजू बावरे के गूजरी-टोड़ी और मङ्गलगूजरी राग निकालने का वर्णन आता है, वहाँ पर अवश्य ही सर्वसाधारण ऊबने लगता है।

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से कथानक को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) लाखी-अटल तथा मानसिंह—मृगनयनी की प्रणय कथाएँ।

(२) विचित्र जीव बर्धरा और नसीरुद्दीन।

रूप में हम ग्रहण करें तो उपर्युक्त तीनों दोष स्वतः विलीयमान हो जाते हैं और ग्रन्थ का वास्तविक रूप और सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। पद्मावत का रूपक काव्य न सिद्ध होना कोई क्षति नहीं है। रूपक काव्य कोई उत्तम काव्य नहीं होता। उसमें कवि का कौशल अवश्य दर्शनीय होता है किन्तु उसी के साथ उसमें बहुत बौद्धिक व्यायाम भी होता है और काव्यगत प्रतीति को ठेस लगती है। पद्मावत एक अत्यन्त विदग्धता पूर्ण प्रबन्धकाव्य है। किन्तु वह रूपक भी है यह सिद्ध नहीं होता।

(३) जासूसी ताना-बाना बुनने वाले नट-नटनी।

कथानक का अत्यधिक रोचक भाग है—बर्रा। यह वर्णन 'मीराते-सिकन्दरी' पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक है पर इसके प्रस्तुत करने में जिस तत्परता का परिचय वर्मा जी ने दिया है, वह बे जोड़ है। आज के युग में जब खाने को हवा और पीने को पानी ही बचा है, तो इस बर्रा का डील-डौल, खान-पान, बोल-चाल और भी अधिक आश्चर्य की बात बन जाती है। वर्माजी लिखते हैं—

'मूँछें इतनी लम्बी कि सिर पर उनकी गाँठ बाँधता था और दाढ़ी नाभि के नीचे तक फटकार मारती थी।'

'नौकर कलेवा ले आए—डेढ़ सौ पके केले, सेर भर शहद और सेर भर मक्खन।...... कलेवे के अलावा बर्रा दिन भर में एक मन गुजराती वजन का भोजन करता था जो इस गए गुजरे जमाने में बीस सेर के बराबर होता है।'

इससे भी अधिक मनोरञ्जक है वर्माजी का उसकी आवाज का बताना। खाते २ विभिन्न लोगों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से बात करते समय भावावेश के अनुसार उसकी आवाज के उतार-चढ़ाव को जैसे-जैसे विचित्र उपमानों से वर्माजी ने बताया है, वह एक ओर तो उनकी भाषा-शक्ति का परिचय देते हैं, और दूसरी ओर उनकी तीव्र श्रवण-शक्तिका।

'पेट पर हाथ फेरकर बर्रा ने एक लम्बी डकार ली। जैसे बरसात में कोई कच्चा मकान गिरा हो।'

'रास्ता और घाट दिखाओ—बर्रा ने कहा, मानो मोटी भीगी दरी को किसी ने फाड़ा हो।'

'बर्रा ने मुलायम स्वर में कहा—फिर भी जान पड़ा जैसे कई फटे बाँस एक साथ बज पड़े हों।'

इससे भी अधिक विचित्र जीव है, अपने पिता गयासुद्दीन को विष द्वारा स्वर्गधाम पहुँचाकर सिंहासनारूढ़ होने वाला नसीरुद्दीन। पहिले दिन ही १५०० रानियाँ एकत्रित करने का प्रण किया। व्यवस्था के लिए वहीं खाते बने। मर्दुमशुमारी के लिए आदमी अलग रखे गए। एक दिन कालियादह में नग्न स्त्रियों की लज्जा से खिलवाड़ करते हुए दुर्घटना हो गई। कुछ स्त्रियों का दम घुट गया। शोर मचा—बचाओ-बचाओ। नवाब साहब के मुँह से भी निकल पड़ा—बचाओ। पास वाले नौकरों ने आकर प्राण बचाए। इनाम की प्रतीक्षा थी। आज्ञा हुई कि बिना हुक्म के हरम में घुस आने के जुर्म में नौकरों को कत्ल कर दिया जाए। फिर बड़े गमगीन होकर अपने मुसाहिब ख्वाजा मटरू से बोले—'ख्वाजा मटरू! सब मजा किरकिरा हो गया। कोई और शगल सोचो।' थक कर रानियों के डूबने लग जाने के कारण जहाँपनाह का जल विहार जो बीच में रुक गया। उन्हें इसी का गम था। शेष जो कुछ हुआ, मानो उनके लिए न होने के बराबर था। विश्वास नहीं होता कि मानव (?) की कामुकता, शक्ति के मद में, कभी इस सीमा को भी पहुँच सकती है!

इन सामन्तों की बुद्धि का एक और नमूना देखिए। मृगनयनी को पाने के लिए गयासुद्दीन ग्वालियर पर तुरन्त आक्रमण करने की आज्ञा देता है। पता चला कि बरसात के कारण अभी आक्रमण नहीं हो सकता, बस फट पड़े—'इस कमबख्त बरसात के लिए क्या किया जाए? यह जो और तेजी के साथ बरस पड़ा। जैसे आसमान में छेद हो गए हों। धर्म के नाम पर यह राज्य विस्तार तो खूब करते थे, पर अपना स्वार्थ सामने आने पर धर्म के रहनुमाओं का क्या मूल्य उनकी आँखों में रह जाता था, यह भी देखने की चीज है। वही गयासुद्दीन लाखी को प्राप्त करने के लिए मन्दिर नहीं बरबाद कराता जिस पर मुल्लाओं को आपत्ति होना स्वाभाविक था। गयासुद्दीन बिगड़ उठे—गधा है! बेवकूफ है!! नालायक है!!! नाचीज है वह मुल्ला!!! मुल्ला नहीं कठमुल्ला है।'

धार्मिक संकीर्णता क्या कुछ कर सकती है,

इसका एक मात्र हृदयद्रावक उदाहरण है—लाखी और अटल की जोड़ी। मृगनयनी का भाई अटल गूजर है। और लाखी अहीर। गाँव का बोधन महाराज भला दोनों को विवाह बन्धन में बाँधकर ऐसा अनहोना काम करके पाप कैसे कमाए। फलस्वरूप उन्होंने नटों के साथ मगरौनी पहुँचना पड़ा। स्वाभिमानी हिन्दू ने 'बिना कुछ कर दिखाए' बहनोई के घर जाना अनुचित समझा। वहाँ दो बार नटों के षड़यन्त्र से बचे। नट लाखी को गयासुद्दीन की वासना का आखेट बनाकर अटल को खत्म करना चाहते थे। बाद में ग्वालियर पहुँचने पर बड़ी रानी सुमन मोहिनी ने दोनों को आमंत्रित किया। मृगनयनी ने प्रथानुसार बधू—लाखी—से पहले—पहल थोड़ा-थोड़ा भोजन परोसवाने के लिए आग्रह किया। फलस्वरूप अपमानित होकर लौटना पड़ा। बाद में पता चला कि इस भोजन को खाने वाले कुत्ते तुरन्त मर गए। अन्त में सिकन्दर के आक्रमण से राई गढ़ी को बचाते हुए लाखी ने इन शब्दों के साथ प्राण दे दिए—

'ब्याह कर लेना''''अपनी किसी जात-पाँत में।'

प्यासे अरमान समेटे, कर्त्तव्य की वेदी पर, इस प्रकार इस युगल जोड़ी का बलिदान हो जाना कुछ महत्त्व रखता है!

त्याग में मृगनयनी भी कम नहीं। बचपन में वह नाहर, सूअर और अरनों का शिकार करती थी। ग्वालियर में आकर उसने मानसिंह को ग्वालियर का किला जैसी कलात्मक वस्तु के निर्माण करने की प्रेरणा दी। बैजू बावरे से गान विद्या सीखी। पूरी तरह से मानसिंह उसके हाथ में था। ग्वालियर में लाखी तथा अटल को आमंत्रित करने के अवसर पर विषाक्त भोजन दिया गया, बैजू बावरे की शिष्या कला द्वारा मृगनयनी को निस्संतान करने का षड़यन्त्र रचा गया, फिर भी मृगनयनी ने स्वेच्छा से अपने दोनों पुत्रों को राज्याधिकार से वंचित करके बड़ी रानी के सुपुत्र को ही राज्य दिला दिया। कर्त्तव्य-पालन का इससे अधिक उदाहरण और क्या हो सकता है? मानसिंह का रात्री भर नगर में घूमना, मजदूर-मजदूरिन के साथ चक्की पीसना, जान-बूझ कर शरणागत जलाल को आश्रय देकर सिकन्दर का कोपभाजन बनना, उसके आदर्श चरित्र में चार चाँद लगा देते हैं। खटकने वाली बात केवल एक है—हिन्दू राजा होकर आठ रानियाँ रखना। पर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, गले उतारना ही पड़ेगा।

वर्माजी के पूरे उपन्यास का वातावरण ग्राम्य-संस्कृति से सुवासित है। प्रारम्भ में ही होली-वर्णन है। ऐसा लगता है कि मानो वर्माजी ने अत्यधिक मनोयोग से इन अध्यायों को लिखा है। स्त्री पुरुषों का मिल-जुल कर होली खेलना, संध्या समय ग्राम मन्दिर में एक साथ रसिये गाना, फिर सहभोज होना—सभी बातें कथानक में एक अनोखी आत्मीयता भर देती हैं। नन्द-भावज, मृगनयनी—लाखी के मधुर पारस्परिक संलाप हर तीसरे या चौथे अध्याय के उपरान्त मिलेंगे जो मन को अपनी मधुर अल्हड़ता से भर देते हैं। ग्राम-संस्कृति में फूलने-फलने वाले निश्छल, निष्कपट, भोले चरित्र कितने प्यारे हो सकते हैं, वर्माजी ने इतिहास के सहारे यहाँ पर सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिखाया है। 'मृगनयनी' में किंवदन्तियों तथा रोमांस के सहारे इतिहास बोल उठा है।

इसमें मन को मोहित कर लेने वाली अछूती प्रणय-गाथाएँ मिलेंगी, उलझन में डाल देने वाले राजनीतिक दाँव पेच मिलेंगे, रोंगटे खड़े कर देने वाली अंध-काम-वासना की दुष्चेष्टाएँ मिलेंगी, साँस रोककर अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक पढ़ने के लिए कुतूहल-वर्द्धक जासूसी उलट-फेर मिलेंगे और साथ ही मिलेंगे, आश्चर्य में डाल देने वाले, हँसा-हँसा कर पेट फुला डालने वाले असाधारण पात्र!

———

कुरुक्षेत्र

श्री रमाप्रकाश एम० ए०, सा० र०

कुरुक्षेत्र क्या है ?—कुरुक्षेत्र को गीता में धर्म-क्षेत्र कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि कुरुक्षेत्र वास्तव में मनुष्य के उचित और अनुचित के निर्णय का क्षेत्र है। लेखक भी कुरुक्षेत्र में उचित और अनुचित की भावनाओं से प्रेरित है। उचित ही पुण्य और अनुचित ही पाप है। परन्तु इन पुण्य और पाप की भावनाओं पर केवल युद्ध प्रसङ्ग से ही विचार किया गया है। लेखक के दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह के धर्म में भी अन्तर है।

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनयभी त्यागभी।
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को॥

व्यक्ति के प्रश्न को तो लेखक ने इतना कह कर ही बन्द कर दिया है। समष्टि का धर्म ही उसके कुरुक्षेत्र का विषय है। व्यक्ति जहाँ कहीं आया भी है समष्टि का अङ्ग बनकर ही।

अपने इन विचारों को व्यक्त करने के लिये महाभारत युद्ध ही लेखक के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन हो सकता था; उसी को लेकर केवल दो पात्रों के विचार विमर्श द्वारा विषय को प्रस्तुत किया। गया है। वे दोनों पात्र भीष्म और युधिष्ठिर हैं। इनमें युधिष्ठिर को विजयी होकर भी युद्ध से ग्लानि उत्पन्न होती है और भीष्म पराजित होकर भी युद्ध को आवश्यक और वृहत नर-संहार को उचित समझते हैं।

पुस्तक में सात सर्ग हैं जिनमें कथा केवल युद्धोपरान्त युधिष्ठिर के शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म तक जाने की है। उसके पश्चात् केवल उपर्युक्त समस्या पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इसलिये सारी पुस्तक विचार-प्रधान है भाव-प्रधान नहीं। पद-पद पर बौद्धिक प्रयास पाठक के मन को काव्य के सहज गुण आनन्द से परिश्रान्ति के क्षेत्र में ला पटकता है। इसे तो लेखक ने स्वयं भी स्वीकार किया है।

शान्ति पर्व और कुरुक्षेत्र—दोनों ही ग्रन्थों का प्रारम्भ युधिष्ठिर को युद्ध से उत्पन्न ग्लानि से हुआ है। इस एक समानता को छोड़ कर दोनों ग्रन्थ दृष्टिकोण में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। महाभारत के युधिष्ठिर की ग्लानि कर्ण की कथा तथा अर्जुन द्वारा उसके वध से उत्पन्न होती है और अपने ही द्वारा हत हुये बन्धु-बान्धवों के ध्यान से और भी बढ़ जाती है। अर्जुन आदि के सामने युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार भी किया है।

"राज्य प्राप्त करने की इच्छा से अपने ही भाइयों की हत्या कर हम तो दुख में डूब गये।"

कुरुक्षेत्र में मानव-वध इस ग्लानि का प्रमुख कारण है और बन्धु-बान्धवों का वध गौण। कुरुक्षेत्र में देश की करोड़ों माताएँ और नारियाँ बन्धु-बान्धवों से अधिक महत्व रखती हैं।

पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से,
हो गया संहार पूरे देश का।
× × × ×
पुत्र पति हीना इसी से तो हुईं,
कोटि माताएँ करोड़ों नारियाँ।
× × × ×
और बैठ मानव की रक्त सरिता के तीर,
नियति के व्यंग भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शव-दाह बन्धु-बान्धवों का,
उत्तरा का विलाप सुनता है कौन?

महाभारत के युधिष्ठिर को राज्य केवल इसीलिए अच्छा नहीं लगता कि उसे उन्होंने भाइयों

की हत्या कर प्राप्त किया है, परन्तु कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर की विमुखता का कारण वीरहीन पृथ्वी है।

अब वीर कहाँ जो विरोध करें,
विधवाओं पै राज्य करें सुख से।

महाभारत का युधिष्ठिर अपनी ग्लानि को अपने भाइयों, द्रौपदी तथा कृष्ण आदि पर ही प्रकट करता है और उसका निराकरण भीम, अर्जुन और द्रौपदी की भर्त्सना तथा कृष्ण, व्यास और नारद आदि के आदेशों द्वारा होता है। युद्ध के औचित्य पर उपर्युक्त सभी व्यक्ति एकमत हैं। इनमें भीम अर्जुन द्रोपदी तथा कृष्ण युद्ध से निकट सम्बन्ध रखने वाले हैं; व्यास उस समय के इतिहास कार है। सभी के दृष्टिकोण में कृत कर्म के औचित्य और स्वार्थ की सम्भावना हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसा सोचना अनुचित नहीं कहा जा सकता। नारद को निष्पक्ष कहा तो जा सकता है परन्तु सम्भव है उनके सामने भी विजयी के यशो गान का प्रश्न सम्मुख हो।

कुरुक्षेत्र के लेखक ने कवि अधिकार के प्रयोग से इस सम्भावना को आने ही नहीं दिया। इसलिये उसने युधिष्ठिर के हृदय की शङ्का का समाधान ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया है जो उस समय का प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ उनका विपक्षी और इच्छा मृत्यु था और युद्ध में हताहत होकर बाणों की शय्या पर उत्तरायण होने तक मृत्यु को टाल रहा था। अनुभव-जन्य व्यापक ज्ञान उसके सामने था। उसके समाधान में सशक्त और विजयी के डर एवं उसके यशोगान की सम्भावना हो ही नहीं सकती।

परन्तु इसमें भी अन्तिम समय प्रतिशोध की भावना से विष फैलाने की सम्भावना हो सकती थी; लेखक ने इसका भी ध्यान रखा है। विजयी जब अपने विजयासन से उतर कर अपनी द्वेषगत भावनाओं को मानव बन कर विजित से स्वीकार कर लेता है तब विजित भी सत्य की इस पवित्र धारा में अपने अपमान को भूल कर मानव मात्र बन... है; प्रतिशोध की भावना गल कर बह जाती... लेखक ने कुरुक्षेत्र में इसी मनोवैज्ञानिक सत्य से... लिया है। युधिष्ठिर ने भीष्म से स्पष्ट... लिया है :—

अपमान का शोध मृषा मिस था
सच में हम चाहते थे सुख पाना,
फिर एक सुदिव्य सभा गृह को
रचवा कुरुराज के जी को जलाना।

इस पर भीष्म भी अपनी और कौरवों... गलतियों को मानने में सङ्कोच नहीं करते—

सदा नहीं मानापमान की
बुद्धि उचित सुधि लेती...
बाँध उसी ने मुझे द्विधा में
बना दिया कायर था...
राजद्रोह की आग जलाकर
कहीं प्रचारा होता,
न्याय पक्ष लेकर दुर्योधन
को ललकारा होता॥

दुर्योधन के द्वेष को भी वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

पर दुर्योधन दुरग्नि
नङ्गी हो नाच रही थी
अपनी निर्लज्जता
देश का पौरुष जाँच रही थी॥

महाभारत के भीष्म और युधिष्ठिर के पारस्परिक सम्बन्ध से इसमें आकाश पाताल का अन्तर है। युधिष्ठिर वहाँ भीष्म के सामने जाने में भी डरते हैं। उन्हें भीष्म के श्राप का भय है। अर्थात् महाभारत का युधिष्ठिर इतना दृढ़ नहीं है।

महाभारत कार ने एक पक्षीय समाधान ... भीष्म द्वारा राज धर्म के आदेश से ही सन्तोष ... किया है। परन्तु कुरुक्षेत्र के लेखक ने दोनों दलों के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के विचार विमर्श द्वारा समाधान देने का प्रयास किया है। साथ ही साथ कुरुक्षेत्र के लेखक

राज धर्म के स्थान पर युद्ध के औचित्य एवं अनौचित्य को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है।

कुरुक्षेत्र क्यों? साहित्य युग और देश दोनों का परिचायक और पथ प्रदर्शक होता है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि कुरुक्षेत्र उपर्युक्त कसौटी पर कहाँतक खरा उतरा है। द्वितीय महायुद्ध १६४५ में समाप्त हो चुका था और कुरुक्षेत्र १६४६ में प्रकाशित हुआ। लेखक के 'निवेदन' से यह ज्ञात नहीं होता कि लेखक ने इसे कब लिखना प्रारम्भ किया।

लेखन काल में देश की स्थिति—१६४६ तक देश पराधीनता और सम्पूर्ण देश युग महापुरुष महात्मा गांधी के दिखाए विलक्षण अहिंसा मार्ग का अनुसरण करता हुआ स्वतन्त्रता की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा था। विजय पल-पल पर वरण करने के लिए बढ़ती चली आ रही थी। देश के दूसरे राजनैतिक दल भी इसी एक उद्देश्य को लेकर भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा क्रियाशील थे, जिनमें हिन्दू-महासभा, मुस्लिम-लीग, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा समाजवादी दल प्रमुख थे। समाजवादी दल का गांधीजी के अहिंसा मार्ग पर पूरा विश्वास था। मतभेद केवल देश के आर्थिक निर्माण में था। और सभी दल संकुचित धार्मिक दृष्टिकोण लिए हुए थे। कुछ दलों में तो गांधीजी के मानवतावाद के विरुद्ध इतने उग्र और हिंसात्मक विचार भरे हुये थे कि उन्होंने उस युग महापुरुष को संसार से उठा दिया।

उधर विश्व महायुद्ध में भाग लेने वाले दोनों पक्षों पर दृष्टिपात करने से कोई भी निष्पक्ष मनुष्य निर्णय पूर्वक यह नहीं कह सकता कि धुरी राष्ट्र न्याय पथ पर थे अथवा मित्र-राष्ट्र। प्रतीत यही होता है कि दोनों ही अपने-अपने स्वार्थों से प्रभावित होकर एक दूसरे को अन्यायी ठहरा रहे थे। युद्ध में दोनों ही पक्ष दानवीय साधनों से लड़े और दोनों ने मानव रक्त की होली निर्दयता पूर्वक खेली। युद्ध में विजय के फलस्वरूप ही विजयी पक्ष को न्याय और मानवता का संस्थापक नहीं कहा जा सकता।

लेखक ने विश्व की वर्तमान साधारण राजनैतिक परिस्थितियों का अनुमान युद्ध से पहिले महाभारत काल में भी किया है—

परस्पर की कलह से, बैर से होकर विभाजित,
कर्म्म से दो दलों में हो रहे थे लोग सज्जित।
खड़े थे वे हृदय में प्रज्वलित अंगार लेकर,
धनुर्ज्या को चढ़ाकर म्यान में तलवार लेकर॥

इस दशा में वर्तमान के अनुभव के बल पर यह कैसे कहा जा सकता है कि महाभारत काल में भी कुरुक्षेत्र के अनुसार कोई दल न्याय पथ पर था। उपर्युक्त राजनैतिक परिस्थितियों में युद्ध का विस्फोट उत्पन्न करने के लिये जो विशेष कारण कुरुक्षेत्र के लेखक ने माने हैं उनमें अवश्य अन्याय के प्रतिकार की भावना मिलती है।

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर सत्य की अन्वेषणा पातक नहीं है॥

यही भावना युद्ध पर औचित्य की मोहर लगा देती है।

पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

इस दृष्टिकोण से केवल पांच पाण्डवों और सौ कौरवों तक ही न्याय का अन्याय के प्रति संघर्ष कहा जा सकता है शेष में लेखक न्याय की भावना स्वयं भी नहीं मानता।

न केवल यह कुफल कुरुवंश के संघर्ष का था,
विकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का था।
कहीं उत्कर्ष ही नृप का नृपों को सालता था,
कहीं प्रतिशोध का कोई भुजङ्गम पालता था।

तब फिर लेखक कौरवों और पाण्डवों को छोड़ कर शेष वृहत मानव-रक्तपात को कहाँ तक न्यायोचित कह सकता है समझ में नहीं आता।

इसलिए देखना यह है कि कुरुक्षेत्र में कौन सी विचार-धारा काम कर रही है।

वास्तव में देश में गांधीजी के मानवतावाद के विरुद्ध कितने ही संगठित और संयुक्त मोर्चों का निर्माण हो चुका था जिनमें कुछ तो रूढ़िवादी थे जो किसी भी नये प्रयोग को शंका की दृष्टि से देखते थे। कुछ को सम्भावित स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर बहुत-सी (अवांछित) सुविधाओं से हाथ धोने का भय था। कुछ विदेशी राज्य को विधाता की इच्छा समझते थे तथा कुछ पाश्चात्य देशों के भिन्न-भिन्न वादों से प्रभावित थे। इन सभी व्यक्तियों का दृष्टिकोण निष्पक्ष नहीं था। जो मनुष्य भिन्न-भिन्न वादों से प्रभावित थे वे तो सभी अपने को उचित और यथार्थ मानवता का प्रतीक समझते थे; दूसरे को राक्षस। इसलिए वे सभी अपने वाद और उसके द्वारा प्रतिपादित मानवता की स्थापना के लिये दूसरे के विनाश को प्रत्येक समय प्रस्तुत थे (तथा अब भी हैं।)

दनुज क्या शिष्ट मानव को कभी पहिचानता है।
विनय की नीति कायर की सदा वह मानता है॥

उस युद्ध और विजय की आशा में उनके तर्क भी वैसे ही थे—

है मृषा तेरे हृदय की जल्पना
युद्ध करना पुण्य है या पाप है।
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो॥

इन लोगों ने व्यक्ति और समुदाय को भी भिन्न ही माना है—

व्यक्ति का धर्म तप करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी।
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को॥

इन्हीं विचारों के प्रवाह में उनके सामने केवल एक ही पथ आया वह था युद्ध का और मानव रक्त पात का—

न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिलें तो लड़ के।
तेजस्वी छीनते समर को
जीत या कि खुद मरके॥

और न्यायोचित अधिकार की व्याख्या प्रत्येक के स्वार्थमय दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न और उसे सिद्ध करने के लिये स्वार्थ का कहीं अन्त नहीं था।

कुरुक्षेत्र ऐसी ही विचार धारा का फल है।

मानव सभ्यता के विकास में कुरुक्षेत्र और गाँधी वाद का स्थान—मनुष्य की उत्पत्ति और उसकी सभ्यता के विषय में डारविन का विकासवाद ही अब तक सबसे अधिक उपयुक्त वैज्ञानिक माना जाता है। उसके अनुसार जीव छोटे-छोटे जलजन्तुओं से विकसित होकर वानर आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार कर मानव श्रेणी में आ[illegible] है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि उ[illegible] सभ्यता का विकास भी पशुत्व से मनुष्यत्व की [illegible] होना चाहिए, पशुत्व की ओर नहीं।

इस दृष्टि कोण से कुरुक्षेत्र बिल्कुल अवैज्ञानिक है। उसके मत से प्रारम्भिक मानव अधिक सभ्य था।

नर नर का प्रेमी था, मानव
मानव का विश्वासी।
उच्चनीच का भेद नहीं था
जन-जन में समता थी॥
था कुटुम्ब सा जन समाज
सब पर सबकी ममता थी॥

कुरुक्षेत्र के अनुसार इस मानवता का धीरे धीरे ह्रास हो गया।

तब पैठा कलिभाव स्वार्थ बन,
कर मनुष्य के मन में।
लगा फैलने गरल लोभ का
छिपे छिपे जीवन में॥

परन्तु गांधीवाद विकास श्रृङ्खला में एक [illegible] कड़ी है। जहाँ मानव को धीरे प्रकृति के [illegible]

को जानकर अपने सुख और सुविधा के साधनों का विस्तार किया है। वहाँ वह पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर भी अग्रसर हुआ है। उसकी निजत्व की भावना का विस्तार कुटुम्ब से बढ़कर, गिरोह जाति और देश तक बढ़ा। आज तो देश की सीमा भी विश्व में विलीन होने की सम्भावना प्रतीत होती है। इसी भावना से प्रेरित होकर आज के विचार-शील पुरुष विश्व तन्त्र पर विचार कर रहे हैं।

परन्तु कुरुक्षेत्र का लेखक अभी इस भावना से बहुत पीछे है। उसके सामने तो अभी दलों का प्रश्न और सामुहिक युद्ध दोनों ही हैं। परन्तु वसुधैव कुटुम्बकं की भावना आने पर तो विपक्षी दल की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता, और दण्ड का विधान आन्तरिक शासन के समान अपराधी तक ही सीमित रह जाता है। मानव-रक्त तब व्यर्थ ही पानी बनकर नहीं बहता।

कुरुक्षेत्र के लेखक का विकास व्यक्ति में धर्म, तप, करुणा, क्षमा विनय और त्याग की उत्पत्ति तक ही सीमित है। समुदाय में उसमें अभी पशुत्व दानवता और रक्तपात की प्रवृति अभी तक विद्यमान है। जिस मानवता को बुद्ध और ईसा ने व्यक्ति में स्थापित किया था उसे गांधीजी ने अहिंसात्मक युद्ध द्वारा समुदाय में सफलता पूर्वक स्थापित कर दिया है। इसलिये लेखक अभी अढ़ाई हजार वर्ष पीछे है।

दोनों का महान अन्तर—युद्ध में मानव रक्तपात की हीनता और उससे उत्पन्न पाप कुरुक्षेत्र के लेखक के हृदय में प्रवेश तो करता है।

सच है, मनुज बड़ा पापी है।
नरका बध करता है ॥

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है, कि जैसे वह उसे बरबस निकाल फैंकना चाहता है और अपने को ही धोखा देकर वह अपने कुकृत्य पर सुकृत्य की मोहर लगाना चाहता है।

पर भूलो मत मानव के हित।
मानव ही मरता है ॥

यहाँ यथार्थ को छिपाने का शब्द कौशल स्पष्ट है। पद से तो यह ध्वनि निकलती है, कि मनुष्य मनुष्य के हित के लिए ही अपना बलिदान करता है। परन्तु लेखक का तात्पर्य है कि मानव मानव का संहार मानव हित के लिये करता है। बलिदान होने और संहार करने की भावना में कितना महान् अन्तर है।

संहार करने की भावना पशुत्व को प्रबल कर युद्ध का आवाहन करती है और बलिदान की भावना अत्याचारी में भी अपने बलिदान से मानवता की भावना का उदय करती है। एक मनुष्य को पशु और दूसरा मानव बनने का आदेश देता है।

पहिला पथ लेखक का है, और दूसरा गान्धीजी का। पहिली भावना आज की तृतीय महा युद्ध का आवाहन कर रही है, और दूसरी विश्व को प्रेम और शान्ति का सन्देश दे रही है। अच्छा होता लेखक ने इसी भावना को अपने किसी ग्रन्थ में प्रश्रय दिया होता।

पन्त : मार्क्स से अरविन्द की ओर

श्री चन्द्रदान चारण

बीसवीं सदी में विश्व की दो महान् विभूतियों ने संकट-ग्रस्त मानव जाति के त्राण के लिए दो अनूठे प्रयोग किये। प्रथम रूस में लेनिन द्वारा तथा द्वितीय भारत में महात्मा गांधी द्वारा। एक ने भौतिक जगत को महत्व प्रदान किया और उसी के अनुसार आर्थिक तथा राजनीतिक क्रान्ति को सर्वस्व मानकर समस्या का हल प्रस्तुत किया। द्वितीय ने रोटी कपड़े से भी उच्च आदर्श की ओर संकेत किया। यद्यपि दोनों ही मानव-जाति की कल्याण कामना करते थे पर साधन भिन्न थे एक की दृष्टि में साध्य ही मुख्य था, साधन चाहे जो हो पर दूसरे ने साधन की पवित्रता पर भी जोर दिया।

इन दो प्रबल व्यक्तियों में से पन्तजी पर सर्वप्रथम प्रभाव पड़ा लेनिन द्वारा ग्रहीत मार्क्सवादी विचार धारा का। 'छायावाद के मुक्त सूक्ष्म आकाश में कल्पना की उड़ान' भरने के बाद कवि 'हरी भरी ठोस जन पूर्ण धरती' पर आया और हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद का सर्वप्रथम नेतृत्व किया। उसकी कोमल-कान्त-पदावली और कल्पना पीछे छूट गई। उसके छन्दों के बन्ध खुल गये और उसकी वाणी 'अयास' बहने लगी। अलङ्कारों का महत्व भी उसकी दृष्टि में कुछ न रहा। केवल विचार ही सब कुछ रह गये। कवि ने 'वाणी' को सम्बोधन करते हुए लिखा—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार!

पर पन्तजी की यह विचारधारा अधिक दूर तक सीधी न जा सकी। 'परिवर्तन' के कवि की काव्य-धारा में परिवर्तन हुआ और आज पन्तजी मार्क्स को नमस्कार करके अरविन्द के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं। श्रमिकों की रोटी-वस्त्र के प्रश्न को महत्व प्रदान करने वाले कवि को जन्म लेती हुई नई मानवता की अन्तर्चेतना का प्रकाश प्राप्त हुआ और उसने अनुभव किया कि केवल आर्थिक क्रान्ति से ही विश्व सुखी नहीं हो सकता। मानव का जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आवश्यक है। पन्तजी ने युगवाणी की भूमिका में इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए लिखा—"......... भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत तथा अणुशक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका सञ्चालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी.... बाह्य-जीवन के साथ ही उसकी अन्तर्चेतना में भी युगान्तर होना अवश्यंभावी है।"

दीर्घ अस्वस्थता के बाद पन्तजी के तीन नवीन काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं—(१) स्वर्ण किरण (२) स्वर्णधूलि और (३) उत्तरा। कवि ने अपनी आँखों के सामने दो महान् युद्धों की विभीषिका देखी। कवि के मस्तिष्क में एक हलचल उत्पन्न हुई—विनाश का ताण्डव नृत्य क्या मानवता को जीवित न रहने देगा? अणुबम और उद्जन बम के ध्वंसात्मक प्रयोग की कल्पना कर कवि सिहर उठा। तभी कवि का परिचय अरविन्द के जीवन-दर्शन से हुआ और 'विश्व-कल्याण के लिए अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन' मान वह उसी मार्ग पर चल पड़ा। "........नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूपरेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो इस सम्बन्ध में मेरे मन में ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय में श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के संपर्क में आगया और मेरी ज्योत्स्ना-काल की चेतना एक नवीन युग प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी जिसको मैंने

प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण-चेतना कहा है........"
(मैं और मेरी कला—पंत, 'संगम' २१ मई सन् १९५०) उपरोक्त विचार को 'श्री अरविन्द दर्शन' शीर्षक कविता में अंकित करते हुए पन्तजी ने लिखा—

"आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अति मानव बन तुम युग-संभव हुए धरा पर !
अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग सँजोने आये सुन्दर !"

कवि का विश्वास है कि वर्तमान संघर्ष पूर्ण विश्व को यदि जीवित रहना है, विकास करना है तो उसे भारत की महान् विभूतियों—गांधी, अरविन्द आदि के जीवन-दर्शन को अपनाना चाहिए। मानव की चेतना में आज एक प्रकार की जड़ता आ गयी है। पाशवता ने उसके देवत्व को दबा लिया है। एक मनुष्य दूसरे का गला काटने को तैयार बैठा है। मानव का अन्तर्मन सुप्त पड़ा है और बहिर्रूप ने उसकी बुद्धि को कुण्ठित कर रक्खा है—

"बहिर्चेतना जाग्रत जग में,
अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित,
अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत ॥"

कवि वर्तमान दशा से सन्तुष्ट नहीं है और वह इसमें परिवर्तन लाना चाहता है—

"बदलेंगे हम चिर विपण्ण वसुधा का आनन
विद्युत् गति से लावेंगे जग में परिवर्तन।"

यह परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है? अर्थ के समविभाजन से नहीं बल्कि जीवन के प्रति वर्तमान भौतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन ही इसका उपचार है। इसके लिए वर्तमान जीर्ण मन उपयोगी नहीं। अतः नवीन मन का सृजन करना पड़ेगा और कवि यही कहता है—

"सृजन करो नूतन मन।
प्रार्थी आज मनुज आत्मज मन
नव्य चेतना का भू पर
जिसकी स्वर्णिम आभा में
विकसित हो नव संस्कृत जीवन।"

वर्तमान याँत्रिक युग ने हमारे भौतिक सुखों में वृद्धि अवश्य की है पर कवि की राय में वही सब कुछ नहीं। मानव की इच्छा पेट की ज्वाला शान्त करने तक ही नहीं, वह उससे भी आगे मन की तृष्णा भी शान्त करना चाहता है। वह तृष्णा बिना अन्तश्चेतना के शान्त नहीं हो सकती। कवि इसीलिए साँस्कृतिक क्रान्ति को विशेष महत्व देता है। आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति तो उसकी दृष्टि में साँस्कृतिक क्रान्ति के महान् लक्ष्य की सोपान कही जा सकती हैं। वह साँस्कृतिक क्रांति शीघ्र ही आने वाली है। उसे कोई रोक नहीं सकता, वर्तमान यान्त्रिक युग भी नहीं। कवि की राय में यह चिरन्तन 'सत्य' है—

"यान्त्रिक पशुबल से रोकोगे,
मानव का देवोत्तर विकास !"

कवि चाहता है कि मानव के सुप्त गुण जाग्रत हों—

"फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव अन्तर हो अन्तः स्मित।"

मार्क्स की लाल क्रान्ति कवि की राय में भारत के लिए अनावश्यक और अहितकर है। पन्तजी का विश्वास है कि विश्व में भावी मानवता निर्माण करने की, पथ निर्देश करने की क्षमता महात्मा गाँधी और अरविन्द के जीवन-दर्शन में है। और उनका यह जीवन-दर्शन ही पन्तजी की साँस्कृतिक क्रान्ति का आधार है।

यह माना जा सकता है कि अगर मानवता को वर्तमान विनाश से बचना है तो उसे ध्वंस के मार्ग, सृजन के पथ को अपनाना पड़ेगा। पर पन्तजी की यह साँस्कृतिक क्रान्ति कैसे हो? कैसे मानव की अन्तर्चेतना जाग्रत हो? क्या वर्तमान समाज व्यवस्था में यह सम्भव है? नहीं। जब तक प्रत्येक मनुष्य को उसके श्रम का पूर्ण भाग नहीं मिलता तब तक साँस्कृतिक चेतना केवल कल्पना ही रहेगी और

इसी विचार को लेकर जब कुछ आलोचकों ने पन्तजी की इन नवीन रचनाओं की आलोचना की तो वे अत्यन्त क्षुब्ध हुए और उन आलोचकों को कम्युनिस्ट होने का फतवा दे दिया। "ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।" ('उत्तरा' की भूमिका)

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाएँ ही नहीं बल्कि नामकरण भी पन्त को प्रगति के पथ से हटाकर उस कल्पना लोक में ले जाता है जिससे बचपन से ही उनका परिचय है। पन्तजी की नवीन रचनाओं की आलोचना करते हुए 'श्री बच्चनजी' ने लिखा है—"मनुष्यता सदा से स्वप्न देखने की आदी रही है। उसे अच्छे स्वप्न देखना आता है, चाहे वे स्वप्न अन्त में झूठे ही क्यों न साबित हों। पन्तजी की स्वप्नमयी कल्पना ऐसे तमाम लोगों के लिये निमन्त्रण है।" (उत्तर पंत—बचन, संगम, २१ मई सन् १९५०)

सांस्कृतिक क्रान्ति आवश्यक है यह तो स्वीकार किया जा सकता है पर बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के वह किस प्रकार सफल हो सकती है इस पर विचार नहीं किया गया। पन्तजी वैज्ञानिक आविष्कारों के ध्वंसात्मक प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति ने मानव को अणुशक्ति से ही नहीं बल्कि उद्‌जन शक्ति से भी परिचित कराया है पर सृजन के लिये नहीं बल्कि संहार के लिए।" पर पन्तजी इस बात को भूल जाते हैं कि विज्ञान का संहारकारी प्रयोग वे मुट्ठी भर साम्राज्यवादी और पूँजीपति ही करते हैं जो अर्थ सत्ता को अपने अधिकार में रख कर करोड़ों व्यक्तियों का अधिकार और मुँह का कौर छीनना चाहते हैं। वैज्ञानिक उन्नति प्रतिगामी नहीं है, अन्तर व्यवहार में है। जहाँ राष्ट्रीयकरण है वहाँ वैज्ञानिक विकास व्यक्ति और समाज को अधिक से अधिक सुख और शान्ति प्रदान करता है। अशान्ति और दुःख का कारण तो वह तब बनता है जब कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का अधिकार छीन स्वयं तो कोठियों में रहते हैं और उत्पादन करने वालों को अपने श्रम का पूर्ण भाग प्राप्त न होने के कारण सर्दी, गर्मी और बरसात में खुले आकाश के नीचे जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतः सांस्कृतिक क्रान्ति और सांस्कृतिक चेतना मानव के लिये कल्याणकारी होते हुए भी बिना आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के असम्भव है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर सम्भव है, पन्तजी ने लिखा है—"मेरे हृदय में यह बात गम्भीर रूप से अङ्कित हो गई कि नवीन सामाजिक संगठन राजनीतिक आर्थिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्व प्रथम सन् १९४२ में मेरी 'लोकायन' की योजनाओं में और आगे चल कर 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।" (मैं और मेरी कला)

महात्मा गाँधी और अरविन्द का जीवन व्यक्ति के लिए उपयोगी और आदर्श हो सकता है पर जहाँ समाज का प्रश्न आता है वहाँ यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन में तप और एकान्तवास का नहीं बल्कि कर्म का महत्व अधिक है। अहिंसा का सिद्धान्त और तपस्या व्यक्ति के लिए शोचनीय हो सकता है पर समाज और देश की समस्यायें इनसे नहीं सुलझ सकती। गाँधीवाद भी साँस्कृतिक विकास में अभी आगे नहीं बढ़ा है। स्वयं पन्तजी ने 'उत्तरा' की भूमिका में इसे स्वीकार किया है—"गाँधीवाद का साँस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है।"

पन्तजी आजकल गद्य में नये प्रयोग कर रहे हैं और 'क्रमशः' नामक उपन्यास की रचना में संलग्न हैं। आशा है कि मानवता का यह कवि अपनी लेखनी से युगानुरूप सामाजिक चेतना को अङ्कित कर प्रगति का नव प्रकाश विकीर्ण करेगा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(एक अध्ययन)

श्री दुर्गाचरण मिश्र

आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी के उन इने-गिने चिन्तकों में से एक हैं जिनकी मूल निष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृति में है। लेकिन साथ ही साथ आप में नवीनता का एक अद्भुत एवं अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। आपने जीवन के प्रारम्भिक काल में गवर्नमेण्ट-संस्कृत-कालेज, काशी में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की और साथ ही साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहचर्य्य से साहित्यिक प्रेरणा भी प्राप्त करते रहे। इस तरह एक प्रकार से आचार्य शुक्ल जी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। काशी के अतिरिक्त हजारीप्रसादजी शान्ति निकेतन में हिन्दी-भवन के अध्यक्ष भी रहे। शान्तिनिकेतन के रमणीय, सहज, आत्मीय एवं साहित्यिक वातावरण में रहकर आचार्य हजारीप्रसादजी को अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का स्वर्ण अवसर मिला। वहाँ पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन के सरल साहचर्य्य में आपने बँगला साहित्य का गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन किया। साथ ही साथ इन महानुभावों के सरल एवं आत्मीय स्वभाव ने हजारीप्रसादजी को भी प्रकृति, पशु, पक्षियों, पौधों आदि से आत्मीयता स्थापित करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण में एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हाथ है तो दूसरी ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन का। इसी प्रकार अध्ययन में एक ओर संस्कृत के विशाल साहित्य-भण्डार का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य और विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों का गहन अध्ययन, उदाहरणार्थ जैन-धर्म बौद्ध-धर्म नाथ-सम्प्रदाय एवं सिद्ध सम्प्रदाय आदि और दूसरी ओर बँगला साहित्य का विस्तृत ज्ञान। इसके अतिरिक्त आपका अपभ्रंश-साहित्य का भी विशेष अध्ययन उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसादजी हिन्दी साहित्य में निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में विशेष विख्यात हैं।

निबन्धकार:—निबन्धकारों में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य शुक्लजी के पश्चात् आचार्य हजारीप्रसादजी का ही प्रमुख स्थान है। हम यह पहले कह आये हैं कि आचार्य शुक्लजी आचार्य हजारीप्रसादजी के साहित्यिक गुरु हैं। अतः शुक्लजी की निबन्ध-शैली का हजारीप्रसादजी की शैली पर स्पष्ट प्रभाव है। हजारीप्रसादजी के हमें चार प्रकार के निबन्ध प्राप्त होते हैं—

१—शुद्ध साहित्यिक निबन्ध।
२—साँस्कृतिक निबन्ध।
३—खोज सम्बन्धी निबन्ध।
४—शिक्षा विषयक निबन्ध।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में 'बसन्त आ गया', 'एक तोता और एक मैना', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है' आदि हैं, जिनमें आप की विद्वता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। बसन्त आता है, हमारे आसपास का वातावरण, वनस्थली अनेक प्रकार के रङ्ग-विरंगे पुष्पों से आच्छादित हो जाती है लेकिन हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे देखकर कुछ सोचते हैं। हजारीप्रसादजी उसे देखते हैं। उस पर विचार करते हैं और कहने के लिए बाध्य हो उठते हैं—"पढ़ा है हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमङ्ग नहीं इत्यादि-इत्यादि। इधर देखता हूँ पेड़-पौधे और भी बुरे हैं।........बसन्त आता नहीं ले आया जाता है" (अशोक के फूल पृ० सं० १२)

इन निबन्धों को पढ़कर पाठक कुछ सोचने के लिये बाध्य होता है।

सांस्कृतिक निबन्धों में 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' 'भारतीय संस्कृति की देन' आदि प्रमुख हैं। जिनमें हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के व्यापकता की एक झाँकी मिलती है। साथ ही साथ उसका संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों से एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्राप्त होता है। जो हमें हमारी संस्कृति की विशेषता और उसके व्यापक प्रसार का ज्ञान कराता है। संस्कृति के बारे में इनका अपना जो मत है वह यह है—"मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अङ्गीकृत नहीं हो सकी" (अशोक के फूल पृ० सं० ७३, भारतीय संस्कृति की देन) इस प्रकार ये सारे संसार की जातियों में साँस्कृतिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयास करते हैं।

खोज सम्बन्धी निबन्धों के लिये तो हजारीप्रसादजी हिन्दी में एक हैं। इनके पहले इस प्रकार के निबन्धों का एक प्रकार से हिन्दी में बिलकुल अभाव ही था। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य आदि के व्यापक अध्ययन के बाद आपने इन सम्प्रदायों पर तथा उनके साहित्य पर जो निबन्ध लिखे वे हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के अन्तर्गत आपके इसी प्रकार के निबन्धों का संकलन है। इन निबन्धों से हिन्दी साहित्य के वास्तविक इतिहास को समझने और लिखने में विशेष सहायता मिली है। कबीर के ऊपर आपकी पुस्तक 'कबीर' हिन्दी-साहित्य को अनुपम और नवीन देन है।

शिक्षा-विषयक आपके बहुत कम निबन्ध हैं। लेकिन शिक्षा के बारे में आपका एक स्वस्थ दृष्टिकोण होने के कारण तद्विषयक निबन्धों में भी आपने शिक्षा को जनहित की दृष्टि से ढालने की एक नवीन दिशा सुझाई है, जिसका अनुसरण किया जाय तो राष्ट्र के उत्थान के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हो सकती है।

निबन्धों की भाषा और शैली में भी हजारीप्रसादजी अपनी विशेषता रखते हैं। भाषा सरल एवं चुस्त है। शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास कितना सुन्दर है, इसका परिचय आपको केवल एक उदाहरण से मिल सकता है। जैसे "नीम है, जवान है। मसें भींगी हैं और आशा तो है ही"। "मल्लिका बुरी तरह खुश है" (अशोक के फूल—पृ० सं० ११—बसन्त आ गया) गम्भीर भावों के लिये भी आपने अपनी एक ही प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग इस विद्वता के साथ किया है, कि न भाषा में रूक्षता आने पाई है, और न भावों के व्यक्त होने में ओछापन ही आने पाया है। उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का एक प्रकार से बहिष्कार ही है। संस्कृत उद्धरण अवश्य बीच-बीच में मिलते हैं। शैली प्रवाह युक्त है। बंगला-साहित्य और विशेषकर गुरुदेव के प्रभाव के कारण आपकी वर्णन-शैली में जो आत्मीयता बोधगम्यता एवं सरलता है वह हिन्दी के किसी भी निबन्धकार में नहीं पाई जाती। शुक्लजी की भाँति अपने मत को किसी के ऊपर बलपूर्वक लादने की इन्होंने कहीं भी कोशिश नहीं की है। कहीं व्यङ्ग भी किया है, तो बड़े आत्मीय-ढङ्ग से उदाहरण के लिये 'एक तोता और एक मैना' नामक निबन्ध में मैना के ऊपर यह व्यङ्ग देखिये—"भले मानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते।" यही कारण है कि लेखक की आत्मीयता पाठक के साथ बराबर बनी रहती है। पाठक को इनके आचार्यत्व का मान किसी प्रकार खटकता नहीं। लेखक के भावों का पाठक के भावों के साथ तादात्म्य होता चलता है। उसे निबन्ध में एक अपनापन सा अनुभव होता है। हाँ इनके निबन्धों में शुक्लजी की भाँति तारतम्य

आद्योपान्त एक ही नहीं रहता। इसका कारण यह है कि ये विषय से हटकर बहुत दूर चले जाते हैं, और फिर घूम-फिरकर उस पर आते हैं। उदाहरण के लिये 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध को ही लीजिये। उसमें द्विवेदीजी अशोक के फूल के बारे में सोचते-सोचते भारतीय संस्कृति और मानव-प्रवृत्ति तक चक्कर काट आते हैं। और फिर अन्त में विषय पर आते हैं। इसलिये इनके अनेक निबन्ध निबन्ध न रहकर 'लेख' की श्रेणी में आ जाते हैं। समझाने का ढङ्ग भी हजारीप्रसादजी का अपना है। विषय को समझाने के बाद पाठक को आप एक नाटकीय चरमसीमा पर लाकर छोड़ देते हैं कि वह कुछ सोचे। निबन्ध में आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि आप विषय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। जिसके लिये आपको अनेक ऐसी बातें कहनी पड़ती हैं, जो विषय के बाहर की होती हैं। इससे पाठक का एक विषय के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का ज्ञान-भण्डार भी बढ़ता रहता है। पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। वह एक के बाद दूसरे निबन्ध को पढ़ने की इच्छा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हजारीप्रसादजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं।

आलोचक:—'वाद' से तटस्थ रहकर साहित्य की सच्ची परख करने वालों में आचार्य हजारीप्रसादजी का नाम अग्रगण्य हैं। द्विवेदीजी में आलोच्यकृति की आत्मा को मापने की अद्भुत क्षमता है। एक ओर संस्कृत काव्य शास्त्रों का गहन अध्ययन और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ की आलोचना शैली के प्रभाव से आपकी आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त ही दृढ़ है। उसमें न शुक्लजी की भाँति शास्त्र की रूक्षता है, और न शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति कवि का बेसँभाल भावातिरेक। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय आपकी आलोचना में सभी स्थानों में प्रतिबिम्बित होता है। आज से कई वर्ष पूर्व आपकी आलोचनायें 'विशाल-भारत' में छपीं जिनमें आपने आधुनिक छायावादी काव्यों का विवेचन करते हुये आधुनिक-काव्य का विवेचन किया जो अपर्याप्त मात्रा में होते हुये भी अत्यन्त पुष्ट एवं आक्षेपरहित है। साथ ही साथ वह शास्त्रीय भी है। परन्तु हजारीप्रसादजी का ध्यान अब विशेष रूप से आलोचना की ओर न होने के कारण उनका आभार आलोचनात्मक साहित्य पर कम है।

आजकल हजारीप्रसादजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा उसके प्रकाशन की ओर विशेष प्रवृत्त हैं। आशा है आप हिन्दी-साहित्य को अपनी अन्य खोजपूर्ण कृतियाँ देकर उसके भण्डार को भरेंगे।

आपकी कृतियाँ :—

१—विचार और वितर्क,
२—अशोक के फूल।
३—कबीर
४—बाणभट्ट की आत्म-कथा,
५—हिन्दी-साहित्य की भूमिका
६—नाथ-सम्प्रदाय।

नोट—उक्त पुस्तकें सा० र० भण्डार से प्राप्त हो सकती हैं।

———

'चिन्तामणि' के निबन्ध

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा एस० ए०

'चिन्तामणि' के निबन्धों की विशेषताओं का उल्लेख करने के पहले हमें निबन्ध-रचना तत्व पर विचार कर लेना चाहिये।

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध को गद्य की कसौटी कहा जा सकता है। वस्तुतः निबन्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ चाहे कुछ भी क्यों न हो—आज इसे अंग्रेजी के 'Essay' शब्द का ही पर्याय समझा जाता है। तथापि व्याख्या की दृष्टि से आचार्य रामकृष्ण शुक्ल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "निबन्ध एक ऐसी गद्य रचना है जिसमें किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञात और ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन उसकी बौद्धिक प्रतिपत्ति के लिये किया जाता है।" यहाँ हम निबन्ध के अनिवार्य उपकरणों पर विचार करेंगे।

वस्तुतः निबन्ध में विचार और विचार-शीलता आवश्यक तत्व हैं। निबन्ध में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा विचार-तत्व का प्राधान्य होता है, एवं भाव तत्व गौण रहता है। भावना प्रवृत्ति-मूलक हैं, एवं विचार निवृत्ति-मूलक। निबन्ध में यह निवृत्ति प्रवृत्ति का ही नियमन करती है—तभी निवृत्ति प्रधान विचार भी हमारे लिये अतीव प्रयोजनीय हैं। अतः निबन्ध में विचार तत्व की प्रधानता आपेक्षिक दृष्टि से ही है—जो कि भावांश अथवा भाव तत्व को संयत रखते हैं। तद्विपरीत साहित्य के अन्य प्रचारों—उपन्यास, कहानी, आत्मकथा आदि में विचार तत्व की अपेक्षा भावांश प्रधान होता है। यों तो भाव और विचार प्रायः परस्पर संलग्न से रहते हैं, तथापि निबन्ध में आपेक्षिक दृष्टि से विचार तत्व की प्रधानता—इसका साहित्य की अन्य विधाओं से पार्थक्य सिद्ध करती है।

निबन्ध की अन्य प्रमुख विशेषताओं में—प्रयत्न-शीलता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, स्वतन्त्रता आदि हैं। स्वतन्त्रता से हमारा आशय विचारों की उच्छृ-खल अभिव्यंजना से नहीं—प्रत्युत प्रतिपाद्य विषय पर अपने मौलिक ढङ्ग से सोचने, विचारने एवं उसे अपनी निजी अभिव्यञ्जना-प्रणाली से अभिव्यक्त करने में हैं—जिसे हम पारिभाषिक पदावली में 'शैली' कहते हैं। वस्तुतः निबन्ध में भावप्रेषणीयता नितान्त अनिवार्य है। भावप्रेषणीयता का अर्थ है, आत्मा-भिव्यञ्जन की सफलता और इसके लिये लेखक एवं पाठक में पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता है। इस तादात्म्य अथवा सम्पर्क-स्थापन का माध्यम है, शैली। अतः शैली निबन्ध का सर्वाधिक अनिवार्य गुण है, क्योंकि शैली के द्वारा ही लेखक अपने निबन्ध में वैयक्तिक तत्व (Personal element) और मानवीय तत्व (Human element) को अभिव्यक्त करता है। कहानी, उपन्यास आदि में शैली इतना प्रमुख तत्व नहीं क्योंकि उनमें तो भावांश की प्रधानता होने से लेखक का व्यक्तित्व अन्यथा भी पहचाना जा सकता है, किन्तु निबन्ध एक विचार प्रधान रचना होने से इसमें लेखक का व्यक्तित्व तलस्पर्शी रहता है, अतः निबन्ध में लेखक के भावना-त्मक पक्ष को प्रस्फुटित करने का शैली ही एक-मात्र साधन है।

निबन्ध के वैयक्तिक तत्व से हमारा आशय उस अंश से है, जिसके द्वारा हम लेखक के व्यक्तित्व को अर्थात् उसके भावात्मक पक्ष को सरलता से देख सकते हैं। अतः निबन्ध का वह तत्व जिसके द्वारा हम लेखक के साथ एक प्रकार के भावात्मक साहचर्य का अनुभव करते हैं—वैयक्तिक तत्व कहलाता है। तद्विपरीत मानवीय तत्व के सहारे लेखक अपने वर्ण्य

विषय को सबकी पठनीय वस्तु बनाता है, क्योंकि मानवीय तत्व सभी का समान रूप से अनुभूति का विषय होता है। निबन्ध के ये दो अतीव अनिवार्य तत्व हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि निबन्ध अपनी विचारशीलता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता एवं शैली के कारण साहित्य के अन्य प्रकारों से सर्वथा एक विशिष्ट विधा है। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में और निबन्ध में जो मौलिक अन्तर है, वह इन्हीं गुणों के कारण—जो शैली के द्वारा प्रकट होते हैं। शैली के इस प्राधान्य के कारण ही कहा जाता है—'Style is the man.'

निबन्ध के उपर्युक्त तत्वों के आधार पर अब हम 'चिन्तामणि' के निबन्धों पर विचार करेंगे। वस्तुतः 'चिन्तामणि' में संगृहीत निबन्धों के हम स्पष्ट ही दो प्रकारों अथवा श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) एक श्रेणी में तो मनोविकारों अथवा मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध आते हैं। जिनमें 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध', आदि हैं।

(२) दूसरी श्रेणी में हम विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक निबन्धों को रख सकते हैं। इन समीक्षात्मक निबन्धों के भी स्पष्ट ही दो विभेद लक्षित होते हैं—

१—सैद्धान्तिक समीक्षा—जैसे 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमङ्गल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'मानस की धर्म भूमि'।

२—व्यक्ति विषयक समीक्षा—'भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति मार्ग'।

इस प्रकार 'चिन्तामणि' में स्पष्ट ही तीन प्रकार के—मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी अथवा समीक्षात्मक, एवं व्यक्ति विषयक निबन्ध मिलते हैं। इन सब निबन्धों के आधार पर हम शुक्लजी की कुछ निबन्ध-गत विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—

१—मनोवैज्ञानिक निबन्धों का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध.—आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में सर्वप्रथम इस विषय पर उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध तो लिखे ही साथ ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उन्होंने इन मानवीय भावों अथवा मनोविकारों—प्रेम, लोभ, ईर्ष्या, करुणा, भय, क्रोध आदि वृत्तियों को शुद्ध मनः शास्त्र के चश्मे से न देखकर साहित्य के स्थायी भावों के रूप में देखा है। एवं साहित्य का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। फलतः इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि बराबर जीवन पर ही केन्द्रित रही—मनोविज्ञान के ग्रन्थों पर नहीं। उन्होंने इन वृत्तियों का अपने प्रत्यक्ष जीवन में ही अनुभव किया। एवं उसी अनुभव के आधार पर इनकी मीमांसा की है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही इन वृत्तियों की मीमांसा कर जीवन को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि इनमें हमें अन्तः निरीक्षण, एवं वाह्य निरीक्षण का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनके मनोभावों अथवा मनोविकारों का उद्गम स्थान मनः शास्त्र के विस्तृत ग्रन्थ नहीं—प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का कर्मक्षेत्र है। एवं जीवन के इसी विशाल वाङ्मय में कर्म सौन्दर्य के बीच बिखरे हुये सूक्ष्म भाव-तन्तुओं को लेकर उन्होंने जीवन के ही समष्टि रूप कलेवर को समझने का प्रयास किया है। यही कारण है कि हम इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों को एकान्ततः मनःशास्त्र की वस्तु कहकर टाल नहीं सकते। ये मनोशास्त्र को शुष्क सिद्धान्तजाल से गुम्फित एवं समाच्छन्न नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूतियों के स्पन्दन से अनुप्राणित हैं। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की यह एक बड़ी भारी विशेषता है। जो इनके निबन्धत्व को कभी संदिग्ध नहीं होने देगी।

(२) भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था—

वस्तुतः शुक्लजी के निबन्ध उनके गम्भीर अध्ययन, गहन मनन एवं मौलिक आत्म चिन्तन के परिणाम हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही विविध विषयों की मीमांसा की है। तथापि उनके सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी निबन्धों की—जिनमें उन्होंने काव्य शास्त्र की दृष्टि से विचार किया है—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि उन्होंने इन निबन्धों में जो आदर्श प्रतिष्ठित किया है वह सर्वथा भारतीय शास्त्र से सम्मत एवं भारतीय आदर्श भावना पर निर्धारित है। भारतीय शास्त्र के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा रही है। फलतः उनके समीक्षात्मक निबन्धों—'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोक मङ्गल की साधनावस्था', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि में जो उन्होंने अपना मत अभिव्यक्त किया है, आदर्श स्थापित किया है—उसका सम्बन्ध सीधा भारतीय शास्त्र से ही है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर अपने प्रतिपाद्य विषयों का आधुनिक ढङ्ग से नवीन रूप में प्रतिपादन कर आचार्य ने समीक्षा पद्धति के क्षेत्र में एक पथ-प्रदर्शक अथवा नियामक का कार्य किया है। इनके ये निबन्ध मौलिक विवेचन एवं गहन आत्म चिन्तन से प्रसूत अवश्य हैं—तथापि शुक्ल जी की विचार-धारा की मूल पृष्ठभूमि भारतीय होने से इनके निबन्धों की आधार शिला भी यही है। उनकी उत्कट लोकादर्श भावना इसी का परिचायक है।

(३) विषय तथा व्यक्ति का अपूर्व सामञ्जस्य:—शुक्ल जी ने 'चिन्तामणि' की भूमिका में ही कहा है "इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं अथवा व्यक्ति प्रधान?" वस्तुतः इस कथन से उन्होंने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि इन निबन्धों में विषय एवं व्यक्ति के अपूर्व सामञ्जस्य का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में इनके निबन्ध विवेचनात्मक अथवा समीक्षात्मक होने के कारण विषय प्रधान तो हैं ही साथ ही इनमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नहीं है। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है अन्यथा उनके मनोवैज्ञानिक लेख, मनोविज्ञान के विषय होने से केवल विषय प्रधान कहलाते किन्तु शुक्ल जी ने उनमें यत्र तत्र अपने व्यक्तित्व की अतीव सुन्दर झलक दिखाकर विषय और व्यक्ति का अनूठा सामञ्जस्य स्थापित किया है। विषय के झीने अवगुण्ठन में से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। इसीलिये न तो वे एकान्ततः विषय प्रधान ही कहे जा सकते हैं और न एकान्ततः व्यक्ति प्रधान ही—बल्कि वे दोनों का सुन्दर समन्वय हैं।

(४) एक प्रकार की प्रबल प्रेरक शक्ति अथवा भाव-प्रेषणीयता :—यद्यपि शुक्ल जी के निबन्ध—जैसा कि हम कह आये हैं—इनके गहन अध्ययन मनन एवं चिन्तन के परिणाम हैं—किन्तु इनकी सर्वाधिक विशिष्टता अपने संचित ज्ञान को एक अत्यन्त प्रभावशाली शैली द्वारा अभिव्यक्त करने में है। क्योंकि यों तो हमें शुक्ल जी से कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी एवं मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण करने वाले लेखक हिन्दी साहित्य में मिल सकते हैं—तथापि उनकी सी समर्थ अभिव्यञ्जना शक्ति हमें परवर्ती निबन्ध लेखकों में नहीं मिलती। उसमें एक ऐसी प्रेरक शक्ति है कि हम उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिये सहसा प्रवृत्त हो जाते हैं—और इसी में निबन्धकार की सफलता है। अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धों को भी अपनी अपूर्व व्यञ्जना शैली द्वारा उन्होंने अत्यन्त सरल, सुबोध एवं सहज ग्राह्य बना दिया है। दुरूह विषयों की विवेचना करते समय उन्होंने बहुत छोटे एवं सारगर्भित सूक्ति-वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—

"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"
"बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

अतः भाव प्रेषणीयता की दृष्टि से इन निबन्धों की शैली अत्यन्त सफल है। इनकी इसी प्रेरणा शक्ति

के कारण इनका स्थान निबन्ध साहित्य में सर्वोपरि रहेगा। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली (Impressive) एवं विश्वसनीय (Convincing) तो है ही—साथ ही उसमें एक प्रकार की अशेष शालीनता (Grandeur) भी है।

(५) वैयक्तिक तत्व एवं मानवीय तत्वः—निबन्ध के ये दो अतीव महत्वपूर्ण तत्व हैं जो निबन्धकार की शैली द्वारा प्रकट होते हैं। वैयक्तिक तत्व (Human element) का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के भावात्मक अंश से है एवं मानवीय तत्व (Human element) के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो सबका समान रूप से अनुभूति का विषय (Matter of Common Experience) बन सकता है।

चिन्तामणि के निबन्धों में ये दोनों तत्व मिलते हैं। साहित्य के स्थायी भावों अथवा व्यक्ति मात्र की शाश्वत वृत्तियों (लोभ, प्रेम, क्रोध, प्रीति आदि) को वर्ण्य विषय मानकर चलने के कारण इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में मानवीय तत्व तो हैं ही पर बीच-बीच में वैयक्तिक तत्व (Personal touch) के भी यत्र तत्र अतीव सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार विचारों के शुष्क तन्तुवाय के भीतर से हम लेखक के विशुभ्र, कोमल, भावात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। ऐसे वैयक्तिक तत्व के उदाहरणों में शुक्लजी के व्यंग्य बड़े मार्मिक हैं। दो एक उदाहरण लीजिए—

(१) मोटे आदमियो! तुम अगर जरा सा दुबला हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

(२) हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी पर ये लोग (स्वार्थी एवं ढोंगी देशोद्धारक) बाघ की बोली भी बोल लेते हैं।

(३) संगीत के पेंच पांच देखकर भी हटयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।

चिन्तामणि के निबन्धों की इन कतिपय विशेषताओं का अवलोकन कर हम कह सकते हैं कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य में क्या ऐतिहासिक एवं क्या गवेषणात्मक दोनों दृष्टियों से आचार्य शुक्ल का स्थान अद्वितीय है। चिन्तामणि में संगृहीत इन निबन्धों में हमें निबन्ध के सभी अनिवार्य तत्व—विचारशीलता, संक्षिप्तता, वैयक्तिकता, प्रभाव प्रेषणीयता आदि मिल जाते हैं। हाँ, एक 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध अवश्य अपनी परिमिति का अतिक्रमण करता सा प्रतीत होता है—अन्यथा शेष सभी निबंध प्रायः संक्षेप में ही हैं।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल अपने निबन्धक्षेत्र के एकमात्र अधिपति हैं। यों हिन्दी साहित्य में इन्हीं विषयों को लेकर चाहे कितनी ही सूक्ष्म विवेचना—कितना ही गहन विश्लेषण क्यों न किया जाय, तथापि इससे आचार्य शुक्ल के निबन्धों का महत्व कभी कम नहीं हो सकता। कारण उनमें शुक्लजी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व ही संन्निहित है—एवं साहित्य में व्यक्तित्व का स्थानापन्न होना कदाचित् संभव नहीं।

वीर सतसई : एक दृष्टि

श्री कुमार शम्भूसिंह भादवा, एम० ए०

वीर सतसई राजस्थान के अमर कवि सूर्यमल्ल की अमर कृति है। जिस समय बूँदी का यह बाल-रवि अपनी प्रतिमा की प्रखर किरणों से, वीरत्व की तीक्ष्ण मयूखों में साहित्य के वाङ्मय को प्रलोकित कर रहा था—वह समय देश का महान् संक्रमण काल था विदेशियों की सार्वभौम सत्ता की उन्मुक्त कादम्बिनी भारतीय व्योम में विस्तरित होकर एक ओर सकल ऐश्वर्य की शीतल वृष्टि कर रही थी तो दूसरी ओर स्वतन्त्रता-सूर्य की ज्योति को सदा के लिए आवृत्त! इसीलिये तो समस्त भारत में प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम की उद्दाम ज्वाला फूट पड़ी। यह इतिहास प्रसिद्ध सन्, ५७ का तथाकथित विद्रोह था। ऐसे ही विपद्काल में सतसई के रचयिता ने अपनी वीर भावना से उद्वेलित होकर देश की सुप्त वीरता को उद्बुद्ध करने का बीड़ा उठाया। सतसई के दोहों में कवि ने जागरण का यही महामन्त्र फूँका है जिसका प्रत्येक स्वर कवि की इसी प्रबुद्ध कण्ठ-ध्वनि से निनादित है। सतसई का प्रारम्भ ही इसकी ओर संकेत करता है—

बीकम बरसां बीतियो गुण चौ चन्द गुणीस।
विसहर तिथि गुरु जेठ बदि समय पलट्टी सीस॥

समय के इस परिवर्तन को कवि ने भली भाँति समझा और तभी तो उसने देश के तत्कालीन सैनिक वीर राजपूतों का बड़ी ही ओजस्वी वाणी में आह्वान किया। क्योंकि कवि को सदैव ही मातृभूमि की रक्षा के निमित्त पद पद पर न्यौछावर होने वाले, शौर्य के साक्षात् प्रतीक एवं वीरता के वरेण्य दूत इन राजपुत्रों पर बड़ा गर्व था—बड़ी आशा थी। किन्तु उस समय ये नर-सिंह अपने अभिजात्य पौरुष एवं पराक्रम को भूल कर विलासिता में लवलीन हो रहे थे। उनकी इस मोह-निद्रा को भङ्ग करना परम वांछनीय था। इसलिये कवि ने उनको अपने उज्ज्वल अतीत के विस्मृत गौरव का स्मरण दिला-कर उनके समक्ष एक ऐसे आदर्श वीर समाज का चित्र प्रस्तुत किया जो उन गहन निराशा में उद्भ्रान्त क्षत्रियों को किसी अक्षय आलोक-स्तम्भ के समान अपने गंतव्य की ओर प्रेरित कर सके। सतसई में चित्रित उस आदर्श वीर समाज का सबसे उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट अङ्ग है—वीर नारी! वह नारी, जो स्वयं वीरता का मूर्त विग्रह है, त्याग की सजीव प्रतिमा है, उत्सर्ग का ज्वलन्त दृष्टांत है।

सतसई में इस तेजोमयी नारी को हम मुख्यतः दो रूपों में देखते हैं—वीर माता एवं वीर पत्नी। कवि जानता था कि वीर माता ही वीर पुत्र उत्पन्न कर सकती है। सिंहनी की कोख से ही सिंह-शावक जन्म लेते हैं। इसीलिये उसने वीरत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति वीर माता का अत्यन्त हृदय ग्राही वर्णन किया है। वीर माता को यदि किसी बात का सबसे अधिक ध्यान है तो वह है अपने दूध की लाज का। उसकी एकमात्र यही साध है कि उसका वीर पुत्र या तो अपने अतुल शौर्य एवं उद्भट पराक्रम से समर में जूझकर शत्रुओं पर विजय लाभ करे अन्यथा वह धारा तीर्थ में स्नान करता हुआ अपने प्राणों का विसर्जन। इनसे पृथक् अपने पुत्र का युद्धभूमि से जीवित पलायन वह कदापि नहीं देख सकती। देखिये उस वीर माता को अपने दूध की लाज का कितना ध्यान है—

सहणी सबरी हूँ सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणे पूत सम, वलय लजाणे नाह॥

वह दूध नहीं वरन् तीव्र हलाहल है जिसका पान कर उस वीराङ्गना का पुत्र कभी रणक्षेत्र से

पराजित होकर नहीं लौट सकता। ऐसा ही था उन वीर माताओं का दूध जिसे पीकर उन वीरों को अपने देश की रक्षा के लिए हँसते-हँसते उत्सर्ग हो जाने की महत्प्रेरणा मिलती थी।

साथ ही कवि को अजस्र प्रेरणा दायिनी वीर नारी का पत्नी रूप भी बहुत प्रिय है। जिस प्रकार वीर माता को अपने स्तन्य की लाज का ध्यान है उसी प्रकार वीर पत्नी को अपने चूड़े का। यही कारण है कि अपने पति के युद्धार्थ अभियान करते समय वह इन मार्मिक शब्दों में अपने स्वामी को विदा करती है—"हे नाथ! गज मुक्ताओं से मैंने आपकी पूजा की है, मुझ जैसी वीर बाला का आपने पाणि-पीड़न किया है एवं आप पर खूब चँवर डुला-कर मैंने आपकी अथक सेवा की है, अब युद्ध भूमि में भी मेरे इस चूड़े की लाज रखने का ध्यान आपको शक्ति देगा"—

पूजाणौ गज मोतियाँ, मीडाणौ कर मूझ।
वीजाणौ घण चामरां हैं चूड़ो बल तूझ॥

कितनी प्रेरणा-प्रद पंक्तियाँ हैं!

यदि उस वीराङ्गना का पति समर में विजय लाभ कर लौटता है तो वह वीर बाला अत्यन्त उल्लास पूर्वक अपने विजयी पति की नीराजना करती है—आरती उतारती है। इसके विपरीत यदि कदा-चित् वह योद्धा युद्ध में धराशायी होकर वीर गति को प्राप्त होता है तो वह वीर पत्नी सम्भवतः उससे भी द्विगुणित उमंग से अपने दिवङ्गत पति के साथ सती होने का उपक्रम करती है। कैसी अपूर्व आकांक्षा है! एक ओर सहमरण की अनुरागिनी वीराङ्गना को सती होने का चाव लग रहा है तो दूसरी ओर उसके युवा पति को धारा तीर्थ में स्नान करने का। वृद्धा सास अपने पुत्र और पुत्र-वधू की यह मरण-उमङ्ग देख कर दङ्ग रह जाती है—

आज घरै सासू कहै, हरख अचाणक काय।
बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय॥

धन्य राजस्थान! तुम्हारे सिवा शायद ही कहीं मृत्यु का यों जय-जय कार किया जाता हो। मरण-महोत्सव का इतना स्वागत! कवि ने सती प्रथा को वीरत्व का ही एक अभिन्न अङ्ग माना है—सर्वथा उज्ज्वल एवं अनुपम। क्योंकि यह सहमरण नारी-हृदय की वियोग-जन्य दुर्बलता का परिणाम नहीं वरन् सती की उस अनुपम निष्ठा एवं अविचल आस्था का प्रतीक है जो इस पार्थिव जगत् के क्षणिक सम्बन्ध से परे—उस अमरलोक में प्राप्य शाश्वत संयोग को ही अपने जीवन का एकमात्र ध्येय समझती है। उन वीर पत्नियों को अनन्य विश्वास था कि जब वे सोलह श्रृङ्गार से सुसज्जित होकर अपने पति के शव को गोद में लिए हुये चिता पर आरोहण करेंगी तभी तो उनका अपने पति के साथ चिरकाल के लिए मिलन होगा, वह मिलन जो कभी टूट नहीं सकता और इसी नित्य-संयोग की मङ्गल कामना से प्रेरित होकर वे अपने अनित्य शरीर की तनिक भी ममता न रख सहर्ष ज्वलन्त-बसंत में क्रीड़ा करती थी। उधर उन वीर योद्धाओं को विश्वास था कि युद्ध में वीर गति को प्राप्त होने पर वे सीधे स्वर्ग जावेंगे जहाँ स्वर्ग की वे अनिंद्य रूपवती अप्सरायें उनको अपने सुकुमार हाथों से आसव पिलायेंगी। इस प्रकार देश के युवक और युवतियों में मरण की सार्थकता का अमोघ मन्त्र फूँक-फूँक कर कवि ने उन्हें देश रक्षा के निमित्त उत्सर्ग होने को आह्वान किया। सतसई के दोहों में मर मिटने की उत्कट भावना है, देश पर उत्सर्ग होने की महत् प्रेरणा है, हृदय को वीरत्व से उद्वेलित करने की अतुल शक्ति है एवं मृत्यु द्वारा ही गौरवपूर्ण जीवन निर्वाह करने का अमिट सन्देश है। कवि ने अपने इसी सन्देश को अत्यन्त वर्चस्वित वाणी में व्यंजित किया है।

सतसई का काव्य सौष्ठव इस बात में है कि कवि ने वीरता के प्रतीक किन्हीं दो चार उपकरणों द्वारा ही वीर रस का मूर्तिमान् स्वरूप चित्रित किया है। देखिये ऐसे भूमि के अधिपतियों के रहते हुये

कौन उनकी भूमि का अपहरण कर सकता है—जिनके—

घर घोड़ां ढालां पटल भालां थंभ बणाय।
जे ठाकुर भोगै जमी, और किसा अपणाय॥

भला ऐसे शूरवीर अपनी मातृभूमि के लिए क्यों न न्यौछावर होंगे जिनको पालने में झुलाते हुये भी माँ ने लोरी गागा कर यही सिखाया था—

इला न देणी आपणी हालरिया हुलराय।
पूत सिखावै पालणै मरण बड़ाई पाय॥

वीर पुत्र ही क्यों अवसर पड़ने पर वीरबाला भी शत्रु से लोहा ले सकती है—

सिंहण जाई सिंहणी लीधी तेग उठाय।

इस प्रकार वीर सतसई में वीर रस से उद्वेलित करने वाले अत्यन्त सजीव चित्र मिलते हैं। वीर नारी के तेजोपम स्वरूप का दर्शन हम कर चुके—इसके अतिरिक्त योद्धाओं की स्वामि-भक्ति, धरती-प्रेम, प्रतिशोध-भावना इत्यादि का भी कवि ने अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वीर स्वामी वह नहीं जो अपने उद्भट पराक्रम से शत्रु के सैन्य-समूह को चीरता चला जाता है—बल्कि वह है जिसकी रक्षा के लिये उसके निज के ही सैनिक अहमहमिका से अपने प्राण दे देते हैं एवं स्वामी के घायल होकर गिर पड़ने पर जब चील्ह उसकी आँखों का भक्षण करने के लिये उस ओर झपटती है तो उस समय भी वे वीर अपने कलेजे के टुकड़े-टुकड़े काट कर उनकी ओर फेंककर अपने स्वामी के नेत्रों की रक्षा करते हैं—

भड़ सो ही पहलां पड़ै चील्ह विलग्गा चैंक।
नैण बचावै नाह रा आप कलेजो फैंक॥

ऐसे स्वामि-भक्त योद्धाओं के घावों को भरने के लिये यदि रानियाँ स्वयं अपने हाथों से नीम पीसती थीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या? ऐसे वीरों के साधारण झोंपड़ों पर राजाओं के रम्य रत्न-सौध भी न्यौछावर हैं जो विवाह के अवसर पर भी समर दुन्दुभि का घोष सुनकर तुरन्त रण के लिये प्रस्थान कर देते हैं—

बंब सुणायो बींद नूँ पैसन्ता घर आय।
चञ्चल साम्है चालियो अञ्चल बंध छुड़ाय॥

वरण से भी अधिक मरण को महत्ता देने वाले इन शूरवीरों का रक्त-दान देश के लिये परम गौरव एवं गर्व की वस्तु है—इनका जन्म और मरण दोनों ही धन्य हैं। जन्म लेकर इन्होंने जननी के भाल को उज्ज्वल किया एवं अपने को उत्सर्ग कर इतिहास को अमरत्व का अक्षय वरदान दिया है।

इस भाँति सतसई के इन दोहों में एक आदर्श वीर समाज का चित्रण कर कवि ने तत्कालीन क्षत्रिय समाज को उद्बोधित करना चाहा ताकि उनका सुप्त वीरत्व उद्वेलित होकर देश-रक्षा के लिये समष्टि रूप में खड़ा हो सके। किन्तु आह! कवि द्वारा उत्तेजित किये जाने पर भी विलासी क्षत्रियों की मोह निद्रा भङ्ग नहीं हुई। ऐसी निराशाजनक स्थिति में कवि का मानस एक अतीव करुणा-जनक अवसाद से समाहित हो गया। वीरत्व का स्रोत अवरुद्ध हो गया एवं निराशा की उस गहन तमिस्रा में वीरत्व की तरल विद्युच्छटा को अपने अन्तर्पट में छिपाये ही कवि की वाणी ने भी अकस्मात् मौन धारण कर लिया। देश पर पराधीनता की घनघोर घटा छा गई। ऐसी विषम परिस्थिति में कवि के मानस से केवल यही विषाद भरी उक्ति निकली—

जिण बन भूल न जावता गैंद गवय गिड़राज।
तिण बन जम्बुक ताखड़ा ऊधम मँडै आज॥

इस प्रकार वीर सतसई में काव्य सौष्ठव के साथ साथ तत्कालीन परिस्थिति की ओर भी संकेत है। वस्तुतः "वीर सतसई भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का काव्यमय उद्गार है," हाय! जहाँ भूलकर भी गीदड़ पैर नहीं रखते थे आज वहीं वे निश्शङ्क होकर विचरण कर रहे हैं। जो कभी सिंह शावकों का रम्य क्रीड़ा-हर्म्य था आज वहीं शूकर समूह विध्वंस का

कुटिल ताण्डव कर रहा है एवं जहाँ जाते हुए मदोन्मत्त गजयूथ भी थर्राते थे आज वहीं वे उच्छृंखल होकर उत्पात मचा रहे हैं—

डोहै गिड़ बन बाड़ियां द्रह ऊँडा गज दीह।
सींहण नेह सकैक तो सहल सुलाणो सीह॥

इन पंक्तियों में कितने गम्भीर विषाद की छाया है। आप तनिक सोचिये कि कवि को अपनी वाणी की विकलता पर कितना असह्य दुःख—कितनी तीव्र वेदना हुई होगी जब उसने देखा कि इस पुण्य भूमि भारत में जहाँ शान्ति और सौख्य का अटल साम्राज्य था एवं स्वतन्त्रता का बाल सूर्य जहाँ अपनी समुज्ज्वल कान्ति विकीर्ण करता हुआ दिग-दिगन्त को उद्भासित करता था—वही आज विदेशी आक्रान्ताओं की सघन मेघमाला से आच्छादित होकर वों अस्तमित हो रहा है! दैव की यह निर्मम विडम्बना कवि को सहन न हो सकी और यहीं उस स्वतन्त्रता के अमर पुजारी एवं वाणी के वरद् पुत्र ने अपने वीर हृदय से निसृत उस सिन्धु-गर्जना को सदा के लिये अपने मौन में ही अव्यक्त रख कर काव्य-जगत से विदा ली—तथापि उसकी यह अधूरी रागिनी युग-युग तक भारतीय वाङ्मय को निनादित करती हुई देश-प्रेम की भव्य भावना का मङ्गल उद्घोष करती रहेगी—इसमें कोई सन्देह नहीं।

(पृष्ठ ६० का शेष)

प्रान्तों में उनके बीच शिक्षा के अभाव ने उन्हें इस सामाग्य के उपभोग से भी वञ्चित रहने को विवश किया है। जिन महिलाओं ने इस दिशा में थोड़ी बहुत भी चेष्टा की है, वे निर्विवाद रूप से प्रस्तुत अनुष्ठान में सफल हुई हैं यह मानने के पर्याप्त कारण हैं। होमवती के 'निसर्ग' तथा 'धरोहर' शीर्षक कहानी-संग्रहों को पढ़कर तथा सौनरिक्शा के 'आदम खोर' को देखने से मैं अपनी मान्यताओं के समर्थन में विशेष बल का अनुभव करने लगा हूँ। उषा देवी मित्रा की कहानियों में से भी यही सिद्ध होता है। 'अतीत के चलचित्र' में महादेवी के संस्मरणों को जिन्होंने गौर से पढ़ा है, उनकी राय संभवतः मुझसे मिलती-जुलती होगी। इसे आप दुराग्रह समझने का भ्रम न करें।

जब मैं प्रस्तुत तर्कों को सामने रखकर हिन्दी-साहित्य पर विचार करता हूँ, तो मेरा मस्तक गुप्तजी के चरणों पर श्रद्धा से झुक जाता है। जिन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी अपने लोक-प्रिय महाकाव्य 'साकेत' में 'पारिवारिक रस' का पूर्ण परिपाक किया है।

पारिवारिक कथा-साहित्य : (डायरी के पन्ने)

प्रो० बैजनाथप्रसाद खेतान, एम० ए०

मार्च सन् ५१ की ८ तारीख। मैंने विभूति-भूषण बंद्योपाध्याय की 'सान्त्वना' शीर्षक अनूदित कहानी (प्रतीकः वर्ष ३, संख्या २, फरवरी १९५१) आज समाप्त की और अनायास ही सोचने लगा— क्या हिन्दी में पारिवारिक कहानियाँ नहीं लिखी जा सकतीं ! बहुत सोच-समझ कर और अत्यधिक तर्क-वितर्क के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि वर्तमान समय में इसके लिये अनुकूल परिस्थिति नहीं है। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में परिवार होते ही कहाँ हैं ! घूँघट और मर्यादा के बाह्याडंबर में हम मिले-जुले रह कर भी अपनी सर्वथा स्वतन्त्र इयत्ता बनाये हुए हैं। इसी की यह स्वाभाविक परिणति है कि हमें चिन्तन का तो अवसर मिलता है, परिहास का नहीं। अतः हिन्दी वाले दार्शनिक अधिक होते हैं, व्यावहारिक कम। यह उनकी प्राकृतिक विशेषता है।

इसी प्रसंग में मुझे दो-एक बातें और भी सूझीं। बंगाल के मध्यवर्गीय घरों में सङ्गीत है, उनकी महिलाओं के बीच थोड़ी-बहुत शिक्षा का भी प्रचार है, इसकी तुलना में हिन्दी-भाषी तथा कथित सभ्य परिवारों में कलह है, उनकी स्त्रियाँ अनपढ़ हैं। इन परिस्थितियों को देखते हुए आप कलाकारों की मनःस्थिति का अनुमान कीजिए। बंगाल का कथाकार कृतिनिर्माण के सिलसिले में अपनी पत्नी से सहयोग की आशा करता है, लेकिन हिन्दी के कथाकार को तो उनके सामने लिखते हुए झुँझलाहट होती है। वे इस लायक भी नहीं कि प्रेस भेजने के लिये रचनाओं की प्रतिलिपि तक कर सकें। इस वातावरण में हिन्दी के कथाकारों से पारिवारिक कहानियों की उम्मीद करना दिवा-स्वप्न नहीं तो और क्या है ! हमें इसके लिए उस शुभ-घड़ी की प्रतीक्षा करनी होगी जब कि रवीन्द्र सङ्गीत की तरह हिन्दी-भाषी-परिवारों में निराला-सङ्गीत मुखरित होने लगेगा।

बङ्ग-प्रदेश में उत्तराधिकार के जो नियम हैं, उनसे घर-बार में शान्ति बनी रहती है, यह कानून का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। दायभाग-सम्प्रदाय के अनुसार पैतृक सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार नहीं होता, बल्कि पिता की मृत्यु के बाद ही वह बँटवारे की माँग कर सकता है। अतः वहाँ लड़के कभी भी पिता से झगड़ने का दुस्साहस नहीं कर सकते, अन्यथा उन्हें सम्पत्ति से वंचित रह जाना पड़ेगा। हिन्दी-भाषी प्रान्तों में इसके ठीक विपरीत परिस्थिति है। वे मीताक्षर-सम्प्रदाय से अनुशासित होते हैं, जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का जन्मना अधिकार मान लिया गया है। यही कारण है कि हम आये दिन सुना करते हैं, कि पिता-पुत्र में, भाई-भाई में बँटवारे के लिये खून-खराबी तक हुई। इस गृह-कलह के वातावरण में पारिवारिक कथा-साहित्य की समृद्धि नहीं हो सकती, यह मानी हुई बात है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि पारिवारिक कहानियों का सम्बन्ध केवल अमन-चैन से ही क्यों जोड़ा जाय, गृह-कलह को भी तो केन्द्र मानकर रचनाएँ लिखी जा सकती हैं ? माना कि आपका सवाल अपनी जगह ठीक है, लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि कोई भी कलाकार यह नहीं चाहेगा कि उसके प्रशंसक यह समझने लगें कि लेखक का घर एक ऐसे विषैले धुएँ से भरा हुआ है जिसमें प्रतिभा का भी दम घुटने लगता है।

मनोविज्ञान का अध्येता करुणा का अंश प्रबल रहने के कारण नारी-जाति से यह आशा रख सकता है कि वे पारिवारिक कथा-साहित्य को स्वस्थ बनाने का बीड़ा उठावें, लेकिन हिन्दी-भाषी

(शेष पृष्ठ ८९ पर)

आलोचना

आधुनिक साहित्य—लेखक-श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक-भारती-भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद। पृष्ठ ४१६, मूल्य ७)

हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर क्रम-बद्ध रूप में बहुत कम लिखा गया है क्योंकि हम उसके बहुत निकट हैं। इतिहासकार साहित्य के साथ कदम मिला कर नहीं चल सकता। उसको समय चाहिए। उसको सोचने समझने और व्यापक दृष्टिकोण बनाने के लिए समय अपेक्षित है। इसीलिए विद्वद्वर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने स्फुट निबन्धों को 'निर्माण की पगडण्डियाँ' कहा है किन्तु ये पगडण्डियाँ काफी चौड़ी हैं, ऐसी ही पगडण्डियों पर रोलर फेर कर इतिहास का राज मार्ग बनाया जा सकता है। ये निबन्ध इतिहास नहीं हैं किन्तु इतिहासकारों के लिए मूल्यवान सामग्री अवश्य उपस्थित करते हैं। वास्तव में जो चीज इतिहास के निकट आती हो वह इसकी भूमिका और नई कविता शीर्षक निबन्ध है, उसमें बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अर्द्धशताब्दी के अन्त तक के साहित्य का प्रवृत्तिगत सिंहावलोकन किया गया है। उसी भविष्य में बनने वाले राजमार्ग के रमणीय विराम स्थलों की जैसे साकेत, कामायनी, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, प्रयोगवादी कविता के तारसप्तक, गोदान, त्यागपत्र आदि की झाँकी भी दिखा दी गई है। इन ग्रन्थों के आलोचनात्मक परिचय देने में लेखक ने बड़ी सुरुचि और संतुलन से काम लिया है, गुण और दोष दोनों ही लेखक के दृष्टिकोण से सामने लाये गये हैं। दृष्टिकोण में पूर्ण निरपेक्षता बहुत कठिन है। लेखक का प्रयोगवादी और प्रगतिवादी कविताओं की अपेक्षा छायावाद की ओर अधिक झुकाव प्रतीत होता है किन्तु वे उसके अन्धप्रशंसक नहीं हैं। उसके सूक्ष्म सौन्दर्यबोध भाषा की लाक्षणिकता के हिमायती होते हुए भी वे उसके सामूहिक चेतना के अभाव को स्वीकार करते हैं। वाजपेयीजी अच्छी कविताओं के मूल में वे उलझी हुई संवेदनाओं और मानसिक कुण्ठाओं को स्थान नहीं देते हैं। उपन्यासों में भी लोक प्रतिष्ठित नैतिक भावनाओं का तिरस्कार करने वाले जैनेन्द्रजी के वैयक्तिक मनोविज्ञान के वे पक्षपाती नहीं हैं। प्रेमचन्द के प्रशंसक होते हुए भी उन्होंने गोदान को इतना महत्व नहीं दिया है जितना देना चाहिए। वे उसमें किसी व्यापक सङ्घर्ष को नहीं देखते हैं। वास्तव में गोदान का सङ्घर्ष व्यक्तित अधिक है। साकेत, कामायनी आदि की आलोचना में उन्होंने शुक्लजी की भान्ति कुछ काव्य सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जिनमें उन्होंने महाकाव्यों के प्राचीन मानदण्डों में परिवर्तन का अनुभव किया है।

इस ग्रन्थ में कहानी नाटक आदि के शिल्प विधान पर भी प्रकाश डाला है। नाटक के तत्वों में पश्चिमी और पूर्वी सिद्धान्तों को छोड़ दिया गया है। उनके समन्वय और पारस्परिक समावेश का प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकों के सम्बन्ध में कुछ अवस्थाओं अर्थ-प्रकृतिओं और संधियों के ऊपर नया प्रकाश डाला गया है। कुछ साहित्यिक समस्याओं पर, जैसे स्वच्छन्दता और परम्परा Romanticism and Classicism तथा यथार्थ और आदर्श का विवेचन किया गया है। रस और ध्वनि के सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही गई है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद के सम्बन्ध में वाजपेयी ने शुक्लजी की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से काम लिया है। यद्यपि इस पुस्तक की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उतनी पुष्ट और मौलिक नहीं है जितनी कि व्यावहारिक आलोचनाएँ तथापि इस ग्रन्थ में वाजपेयीजी के साहित्यिक अध्ययन का फल हमको एकत्रित मिल जाता है और हमको उनकी कठिन साधना से लाभ उठाना चाहिए।

सुमित्रानन्दन पन्त—काव्यकला और जीवन दर्शन—सम्पादिका–श्रीमती शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, प्रकाशक–सर्व श्री आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ३०२, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक श्री सुमित्रा नन्दन पन्त पर अधिकारी विद्वान द्वारा लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। किन्तु ये निबन्ध इस प्रकार सजाये गये हैं कि उनसे पन्तजी के व्यक्तित्व, कवित्व और उनकी भावधारा तथा अभिव्यञ्जना शैली का पूर्ण आभास मिल जाता है। निबन्धों के आरम्भ में सम्पादिका का एक छोटा सा प्राक्कथन भी है जिसमें कवि प्रतिभा का क्रमबद्ध एक संक्षिप्त विकास क्रम दिया हुआ है। लेखिका का मत है कि आलोचकों के मत पर उनकी प्रतिभा झुकी है और वे स्वयं भी अपनी प्रतिभा का विश्लेषण नहीं कर सके हैं। उनके आत्मविश्लेषण में भी आलोचकों के मत की प्रतिध्वनि है। यद्यपि यह ठीक है कि कवि की प्रतिभा कुछ अंश में आलोचकों के मत से प्रभावित होती है तथापि कवि उनके ऊपर भी रहता है कवि को आत्म-प्रकाश और आत्म-बोध का श्रेय न देना उनके साथ अन्याय है। पन्तजी के आत्मविश्लेषण में उन परिस्थितियों और प्रभावों का वर्णन मिलता है जिन्होंने उनकी प्रतिभा को गति दी है—किस प्रकार उनकी प्रतिभा प्रकृति प्रेम रहस्यमयी जिज्ञासा में परिवर्तित हुई, फिर वह वस्तुवाद की ओर गई और उसने आध्यात्म से समन्वय किया और अन्त में उसका सांस्कृतिक रूप निखरा। पन्तजी के व्यक्तित्व पर दो लेख हैं एक शिवचन्द्र नागर का दूसरा बच्चनजी का। बच्चनजी का लेख बहुत कवित्व पूर्ण है। इन लेखों द्वारा पता चलता है कि पन्तजी को लोग जैसा आत्मलीन और असामाजिक समझते हैं वैसे वे नहीं हैं वे बड़े वाग्विदग्ध हैं। वे भावुक होते हुए भी संसार का ज्ञान रखते हैं—चिकित्सा शास्त्र की उनको अच्छी जानकारी है। वे पूजा नहीं वरन् प्रकृति और सर्वात्मा से साम्य भावना प्राप्त करने के लिए थोड़ी देर के लिए ध्यानमग्न भी होते हैं।

लेख सभी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं छायावादी दृष्टिकोण से और प्रगतिवादी दृष्टिकोण से भी। डाक्टर रामविलास जी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से पन्तजी के स्वर्ण साहित्य की आलोचना की है। वे पन्तजी जो 'ग्राम्या' में प्रगतिवादियों के आदर्श कवि और गर्व के कवि थे आज उनकी निगाहों से गिर गये हैं। जो कुछ भी हो पन्तजी में पूँजीवाद के साथ समन्वय की गन्ध पाना प्रगतिवादी भावाक्रान्ततर का फल है। यह सब पन्तजी की सौन्दर्यानुभूति का फल है जो चारों ओर सोना ही सोना देखती है। सोना पूँजीवाद का ही प्रतीक नहीं है वरन् सौन्दर्य का भी। अन्त में एक विनोद की बात कह देना चाहता हूँ जहाँ डाक्टर रामविलास शर्मा ने स्वर्ण किरण में 'चिर' के बाहुल्य की शिकायत की है वे भूल जाते हैं कि उस पुस्तक में 'चिर' गाँव के सन्त

का स्तवन भी है। पुस्तक का संग्रह सुरुचि पूर्ण और एक प्रकार से क्रमबद्ध भी है। भूमिका में भी यदि सब निबन्धों को यथा स्थान बैठा दिया जाता तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती। —गुलाबराय

मीरां, एक अध्ययन—लेखिका–सुश्री पद्मावती 'शबनम' प्रकाशक–लोक-सेवक-प्रकाशन, बनारस। पृ० सं० २६४, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—१–विषय प्रवेश, २–जीवन खण्ड, ३–उपासना खण्ड ४–आलोचना खण्ड और ५–परिशिष्ट। सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुरामजी चतुर्वेदी के 'वक्तव्य' से पुस्तक का प्रारम्भ हुआ है। इस ग्रन्थ के पढ़ने पर लेखिका की शोध-दृष्टि की छाप पाठक पर पड़े बिना नहीं रहती। मीरांबाई के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक सामान्य धारणाओं पर लेखिका ने युक्ति और प्रमाणों का सहारा लेते हुए प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये हैं। अध्ययनशील पाठक निश्चय ही अपने अपने ढङ्ग से इन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे और इस प्रकार मीरां सम्बन्धी अध्ययन को एक गति मिलेगी जिसकी वास्तव में अत्यन्त आवश्यता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखिका मताग्रहित्व से अपने आपको बचा सकी है; ज्ञान के क्षेत्र को वह उन्मुक्त रखना चाहती है और वस्तुतः यही सच्ची शोध दृष्टि भी है। लेखिका ने एक पुस्तक लिख कर हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। 'चन्द्रसखी' और उसके भजनों पर भी यदि कोई शोधपूर्ण पुस्तक लेखिका प्रस्तुत कर सके तो एक बड़े अभाव की पूर्ति हो। स्व० पुरोहित हरिनारायणजी मीरांबाई की चर्चा चलने पर अत्यन्त उल्लसित हो उठते थे। इस सम्बन्ध में करीब एक हजार भजनों का संग्रह उन्होंने मुझे दिखलाया था। 'मीरां एक अध्ययन' जैसी कृतियों से पुरोहितजी की स्वर्गस्थ आत्मा को भी शान्ति मिलती होगी। —कन्हैयालाल सहल

काव्य

निराधार—लेखक व प्रकाशक–श्री विश्वम्भर 'मानव' एम० ए०, बनवटा, मुरादाबाद। पृष्ठ ६६, मूल्य १)

'निराधार' मानवजी द्वारा लिखित ९ गद्य-गीतों का संग्रह है। लेखक ने ये गद्य गीत नारी जीवन के विभिन्न अङ्गों को छूते हुये लिखे हैं, जिसमें कहीं-कहीं देश की आर्थिक हीन अवस्था तथा साम्प्रदायिक भावनाओं का चित्र उपस्थित हो जाता है। प्रथम गद्य गीत 'भाभी' में जात पाँत और वात्सल्य प्रेम का एक सजीव द्वन्द्व है। 'चन्दा' और 'मीरा' दोनों में ही बालिका के सरल और निष्कपट हृदय का चित्रण है। 'नरगिस' में देश में फैली हुई साम्प्रदायिक भावनाओं की ओर लेखक का लक्ष्य है। 'महामाया' 'श्यामा' तथा 'सुषमा' में लेखक ने नारी हृदय की सरलता, प्रेम और बन्धनों की कहानी को रखा है। अन्तिम गीत 'आरती' में दार्शनिकता और काव्य की कसौटी पर नारी को परखने की चेष्टा की है।

लेखक ने अपने गद्य गीतों में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा अपने भावुक हृदय को अधिक महत्व दिया है। जीवन की वास्तविकता से गीतों के पात्र दूर ही दिखाई पड़ते हैं और लेखनी द्वारा ही सञ्चालित प्रतीत होते हैं। गीतों में प्रवाह है, भावुकता है, किन्तु सजीवता नहीं। सामाजिक बन्धनों और परिस्थितियों से उत्पन्न वेदना और निराशा तो है किन्तु कहीं भी जीवन से समझौता नहीं है। —दयाशङ्कर शर्मा

उपन्यास

अछूत—ले०–श्री मुलकराज आनन्द, अनुवादक 'निष्काम' प्रकाशक (निष्काम प्रकाशन, मेरठ)। पृष्ठ १९५, मूल्य १॥)

इस छोटे से उपन्यास में भङ्गी-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलेगी। सवर्ण-हिन्दुओं का

भङ्गियों के साथ कैसा अमानुषिक और क्रूर व्यवहार भारतवर्ष में रहा है यह सब भी। इसका नायक है बक्खा जो आधुनिक काल के भङ्गियों का प्रतिनिधि होकर आया है। उसमें जातीय गुण अधिक हैं, वैयक्तिक कम। उसके जीवन के उतार-चढ़ाव में मानवोचित सभी आशाओं-आकांक्षाओं का सञ्चार होता है पर रहता है वह समाज से बहिष्कृत ही। अन्त में गाँधीजी के व्याख्यान से प्रभावित होता दिखाया गया है। यह उपन्यास लेखक के अन्य उन्यासों जितना रुचिकर नहीं बन पाया। मल-मूत्र के वर्णनों की भरमार से वीभत्सता आ गई है और पाठक भी जैसे उसमें तन्मय होकर अपनी सवर्णता भूल नहीं पाता। इसे पढ़ कर पुरानी बात में बहुत कुछ तथ्य लगा कि चाहे जो कोई काव्य का नायक हो जाय तो साधारणीकरण नहीं हो पाता। वैसे अनुवाद अच्छा हुआ है।

भावी समाज की भूमिका—लेखक-श्री बलभद्र ठाकुर साहित्याचार्य, प्रकाशक-शक्ति पब्लिकेशन्स फीरोजपुर शहर। पृष्ठ ४१८, मूल्य ४।।।≡)

'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का लेखक ने स्वयं अपने प्राक्कथन में तिरस्कार किया है। कला का वे नैतिक मानदण्ड मानते हैं मनुष्य को, समाज को सुधारना है कला का काम, बिगाड़ना नहीं। उपन्यास में वही नैतिक, आदर्शवादी दृष्टिकोण सामने आया है। 'अपने घूमन्तू जीवन में बहुत कुछ देखा, भीतर और बाहर की आँखों से' लेखक ने उन्हीं यथार्थवादी चीजों को कथा-सूत्र में पिरोया है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में लेखक का विश्वास है। यह उपन्यास पढ़ते समय बार बार आरम्भिक कृति सा लगता है पर लेखक की सूझ-बूझ को देखते हुए लगता है कि आगे जाकर वे साहित्य को अधिक सुगठित उपन्यास दे सकेंगे।

मृगजल—ले०-श्री अनन्तगोपाल शेवड़े, प्रकाशक-नीलाम प्रकाशन गृह ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद। पृ० ३३५, सजिल्द मूल्य ५)

मराठी भाषा ने हिन्दी को दो यशस्वी लेखक दिये हैं—आलोचक माचवे और कहानीकार शेवड़े। शेवड़े के दो उपन्यास 'निशागीत' और 'पूर्णिमा' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इस उपन्यास का नायक है चित्रकार अशोक। कला की साधना में तन्मय रहने वाला अशोक मायादेवी, मरियम और अरुणा के क्रमिक प्रभाव में आता है। मायादेवी पूरी मायाविनी और धूर्त है—निर्लज्ज होकर वह अशोक से प्रेम की भीख माँगती है। नग्न चित्र खिंचवा कर उसे अपनी साधना से स्खलित भी करती है। मायादेवी से उलझ-उलझ कर भी वह सुलझ जाता है। फिर मिलता है उसको मरियम का सहज, अकृत्रिम प्रणय। मरियम के गर्भ रहजाता है। अशोक का आगे जाकर विवाह हो जाता है आधुनिक रमणी अरुणा से, पर उनका गार्हस्थ जीवन सुखी नहीं रहता। अविवाहित गर्भिणी मरियम के पुत्रोत्पत्ति होती है। पुत्र को लेकर वह सब तरह के लाँछन सहती है। मायादेवी अशोक को फिर फँसाना चाहती है पर अशोक को निर्लिप्त देखकर वह स्वयं अपने को बदल लेती है; बुरी से एक दम भली बन जाती है। अरुणा अशोक को छोड़ कर चली जाती है और मायादेवी मरियम और अशोक को मिलती है। मरियम की मृत्यु हो जाती है। माया का आकस्मिक परिवर्तन खटकने वाला है क्योंकि चित्रकार अशोक इतने 'उज्ज्वल' नहीं कि वे माया की 'कालिमा' को पोंछ सकें। इन तीनों स्त्रियों में मरियम अविवाहित स्थिति में गर्भवती होने पर भी सर्वश्रेष्ठ चित्रित की गई है। वह हार्डी के टेस की याद दिलाती है। पूरा उपन्यास मेरीडिथ के Egoist का स्मरण दिलाता है वहाँ भी Sir Willoughby patlerne के इर्द-गिर्द तीन स्त्रियाँ हैं। बाध्य होकर उसे तिरस्कृता Laetitia Dale को अन्ततोगत्वा अङ्गीकार करना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर और संग्रहणीय है।

आखिरी दाँव—ले०-श्री भगवतीचरण वर्मा, प्रकाशक-भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृ० सं० २७३, सजिल्द मूल्य ३॥)

ससुराल वालों के वर्ताव से तङ्ग आकर एक हिन्दू स्त्री चमेली घर से बाहर निकल जाती है और कई ठोकरें खाने के बाद उपन्यास के नायक रामेश्वर के पास रहने लगती है। अपनी सारी सम्पत्ति खोकर रामेश्वर गरीबी का जीवन बिता रहा है पर आत्मसम्मान के साथ। न चाहते हुए भी चमेली को वह स्टूडियो में काम करने देता है। वहाँ सेठ शिवकुमार तथा सेठ शीतलप्रसाद आदि उसे कई तरह से फँसाने की चेष्टा करते हैं। रामेश्वर से अपमानित होकर शीतलप्रसाद उससे बदला लेने पर उतारू है। चमेली रामेश्वर को सचेत भी करती है, रामेश्वर को और अपने को बचाने के लिए शीतलप्रसाद की हत्या भी कर देती है पर रामेश्वर जूआ खेलने में इतना तन्मय है कि वह चमेली की बात सुनी अनसुनी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप वह गिरफ्तार भी होता है यह कह कर "ले चलिये सार्जेण्ट साहब—आज मैं जिन्दगी का आखिरी दाँव हार चुका हूँ, ले चलिये!" यह उपन्यास का अन्तिम वाक्य है और यही है इसके शीर्षक की सार्थकता। स्टूडियो में काम करने वालों का बड़ा तथ्यपूर्ण चित्र इसमें हुआ है और अप्रत्यक्षरूप से जूए की हानियों का दिग्दर्शन भी जिसके कारण रामेश्वर जैसे दृढ़ एवं कर्मठ व्यक्ति को भी नीचा देखना पड़ता है। उपन्यास रुचिकर, सुगठित एवं सुपाठ्य है।

सौभाग्य—ले०-श्री जानकीप्रसाद पुरोहित और 'प्रेरणा' प्रकाशक-नवजीवन पुस्तक माला मल्हारगञ्ज, इन्दौर। पृष्ठ ११२, मूल्य १॥)

यह 'एक था राजा जिनके न था कोई लड़का' के ढङ्ग की बूढ़ी दादी—नानी के मुँह से कही जाने वाली कहानी सी है। राजा के योगी के आशीर्वाद से लड़का हो जाता है—उधर दूसरे राजा के लड़की दोनों जङ्गल जाते हैं—वहाँ लड़की अरुणा कुमार अरुणा के कुष्ठ का दैवी उपचार सफलतापूर्वक करती है और दोनों का विवाह हो जाता है और पिताओं के राज्यों पर अधिकार कर लेते हैं। शैली प्रौढ़ है अन्यथा बच्चों के लायक कहानी अच्छी है। उपन्यास की संज्ञा इसे बेकार दी गई है।

मुक्ति के बन्धन—लेखक-श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, प्रकाशक-भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग। पृष्ठ संख्या ३४६, सजिल्द मूल्य ४)

देश की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं कुमार और लक्ष्मी। दोनों चाहते थे अविवाहित रहना पर अन्त में दोनों परिणय के सूत्र में ग्रथित होते हैं। यही हैं मुक्ति के बन्धन। इस उपन्यास में कुमार के विकास-दर्शन के साथ साथ अनेक प्रश्नों की चर्चा हुई है। कच्ची-पक्की रसोई, ज्योतिष, अन्धविश्वास, आश्रम-जीवन, सत्याग्रह, उसका सरकार द्वारा दमन आदि आदि। कुमार का गायब हो जाना 'नेताजी' के जीवन की याद दिलाता है। उपन्यास में कई जगह अनावश्यक विस्तार है तथा सुगठितता का कहीं-कहीं अभाव सा है। उपन्यास सर्वत्र एकसा रुचिकर भी नहीं है। लेखक औपन्यासिकता को भूलकर अनेक जगह नैतिक-धार्मिक प्रश्नों के वितण्डा में पड़ गये से दीखते हैं जिससे कथा का प्रवाह मन्द पड़ गया है। फिर भी आजकल के नवीन-प्राचीन का संघर्ष इसमें ठीक प्रतिफलित हुआ है। पुराने लोगों के आचार-विचार और उनकी मान्यताएँ आधुनिक युग में कहाँ तक मान्य हैं इनकी चर्चा अधिकतर हुई है।

—प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

शिक्षा-विज्ञान

शिक्षण प्रविधि—लेखक-श्री विश्वनाथ सहाय तथा शची माथुर, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ७६, मूल्य १॥)

पुस्तक एक सुन्दर, सरल एवं मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षकों को एक विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करने में सहायक होगी। लेखकों ने बड़ी

सावधानी से तथा बहुत ही संक्षेप में उन सब वृहद अनुभवों का निचोड़ संग्रह कर दिया है, जिनका जानना हर अध्यापक के लिये नितान्त आवश्यक है।

लेखकों ने नवीन शिक्षा प्रणालियों पर बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से प्रकाश डाला है। इस युग के शिक्षा प्रेमियों के लिए इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हुये ढङ्ग बहुत हितकर सिद्ध होंगे। ये नवीन योजनाएँ उन अध्यापकों के सामने नया रूप प्रदर्शित करेंगी। जिनका उन्हें अभी तक भास भी न था। इस पुस्तक में बताई गई नीति द्वारा शिक्षक अपनी कक्षा के बालकों के लिये बहुत उपयोगी बन सकेगा।

—जे० पी० गुप्ता एम० ए०, एल० टी०

धर्म और दर्शन

गीता-मर्म—लेखक-श्री कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार 'गीतामर्मज्ञ', प्रकाशक—साहित्य निकेतन कानपुर और बरेली। पृष्ठ संख्या ६१५, मूल्य ७)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। इसकी अनेकों टीकाएँ हुई हैं और प्रत्येक टीकाकार ने अपने-अपने मत के अनुकूल अर्थ लगाये हैं। प्रस्तुत टीका आर्यसमाजी दृष्टिकोण से लिखी गई है। इसमें गीता के निष्काम कर्म को मान्यता देते हुए अन्य सिद्धान्तों को आर्य समाज की मान्यता के अविरुद्ध बताने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अवतारवाद, सगुणोपासना, मूर्तिपूजा आदि को आश्रय नहीं दिया गया है। गीता के एकात्मवाद को भी पूरी तौर से नहीं माना गया है वरन् प्रकृति को परमात्मा से स्वतन्त्र ही माना गया है। गीता को आर्य समाज की मान्यताओं के अनुकूल बनाने में अर्थ में काफी खींचतान करनी पड़ी है। भगवान कृष्ण को विष्णु का अवतार नहीं माना है वरन् योगेश्वर ही माना गया है, इसीलिए चतुर्भुज शब्द का चारभुजाओं वाला अर्थ नहीं माना है। वैसे तो गीता के अनेकार्थ और लोगों ने अर्थ भी लगाये हैं किन्तु वे लोग साधारणतया मान्य अर्थों को भी मान्यता देते हैं। इसमें बुद्धिवाद को अधिक स्थान देते हुए भी पर्याप्त उदार दृष्टिकोण रखा गया है।

भारतीय धर्म और दर्शन—लेखक-मिश्रबन्धु प्रकाशक-राष्ट्रभाषा प्रकाशन, चौक बाजार, मथुरा। पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १॥)

डाक्टर शुकदेव बिहारी मिश्र मूलतः इतिहासज्ञ हैं। इस ग्रन्थ में भारतीय धर्म और दर्शन का पूर्व वैदिककाल से लगा कर बीसवीं शताब्दी तक संक्षेप में परन्तु क्रम बद्ध रूप से परिचयात्मक और कुछ आलोचनात्मक भी इतिहास उपस्थित किया गया है। इस इतिहास का आधार यद्यपि शास्त्रीय है तथापि इसके निर्णय पाश्चात्य विद्वानों के मत के अनुकूल अधिक हैं। लेखक की इतनी ही ईमानदारी है कि इन निर्णयों को उसने अन्तिम नहीं बतलाया है वरन् उनको दिशा निर्देश मात्र कहा है। पाश्चात्य पण्डितों के अनुकूल ही लेखक ने माना है कि भारत में कोल द्रविड़ सभ्यता आर्य सभ्यता के पूर्व की है और वैदिक काल में इन दोनों सभ्यताओं में धर्म रहा है।

वैदिक काल से लगा कर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त तक लेखक ने आठ युग माने हैं। लेखक ने भारतीय धर्म और विज्ञान को यथासम्भव वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है। वास्तव में वर्तमान विज्ञान बहुत कुछ आध्यात्मवादी नहीं तो प्रत्ययवादी (Idealistic) अवश्य बनता जाता है और वह वेदान्त के निकट आगया है। फिर भी उसमें भौतिकता का प्राधान्य है। लेखक ने वेदान्त को अधिकांश में उपनिषदों के आधार पर ही माना है। शाङ्कर मत का यत्र-तत्र ही उल्लेख किया गया है। वास्तव में एकात्मवाद के लिये मायावाद आवश्यक नहीं है। इस पुस्तक की सब मान्यताओं से हम चाहे सहमत न हो सकें किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस पुस्तक से शास्त्रों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ जाती है।

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १९५० से जून १९५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

भारतेन्दु विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा-मध्यमा-उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी वसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी हैं और सदा की भाँति शीघ्र बिक जाने की आशा है। अतः आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पता:—**साहित्य सन्देश कार्यालय,** ४, गांधी मार्ग, आगरा।

Shahitya Shandesh, Agra.
AUGUST. 1951.

REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

वर्ष १३] आगरा—सितम्बर १९५१ [अङ्क ३

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा,

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वार्षिक मूल्य ४), एक अङ्क का ।=)

इस अङ्क के लेख

हिन्दी का नया प्रकाशन

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।

आलोचना

साहित्य समीक्षा—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार २॥)
सूरदास की वार्ता—प्रभूदयाल मीतल १॥)
साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतहसिंह १॥।≈)
पिंगल प्रबोध—रसिकेन्दु ॥)
सुमित्रानन्दन पन्त—रामरतन भटनागर २॥)
प्रसाद के नाटक— " " ५)
महादेवी वर्मा— " " ४)
कलाकर प्रेमचन्द्र— " " ५)
साहित्यक लेख—दत्त विद्यावाचस्पतिजी ।≈)

कविता

ग्रामीण—गिरजाशङ्कर पान्डेय ।।)
पथ के गीत—रामदशरथ मिश्र ≈)
सुधापान—रसकेन्द्र ।≈)

उपन्यास

इन्सान—श्रीयज्ञदत्त शर्मा ४)
पथ की खोज—श्री देवराज ४॥)

कहानी

विधाता की भूल—श्री पन्नालाल गर्ग एम. ए. ३)

हृदय मंथन—सीताचरण दीक्षित
गंगा किनारे—श्री हरिवल्लभ एम. ए. ५)
काश्मीर पर हमला—कृष्ण मेहता १।)
२॥)

अर्थ शास्त्र

आधुनिक अर्थ-शास्त्र—श्री केदारनाथ एम. ए. १०)

संगीत

संगीत परिचय—श्री रामावतार वीर ४॥)

धार्मिक

हिन्दुओं का जीवन दर्शन—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ११॥)
भागवत धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय ६॥)

हास्यरस

कवि की पत्नी—देवीदास शर्मा निर्भय २)

राजनीति

बापू की सीख— ॥)
सर्वोदय तत्व दर्शन—गोपीनाथ धावन ७)

निबन्ध

राजनीति से दूर—पं० जवाहरलाल नेहरू २)

सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मंगाने का पता—**साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।**

साहित्य सन्देश के नियम

१—साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। वार्षिक मूल्य ४) है।

२—महीने की १० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

३—किसी तरह का पत्र व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

४—फुटकर अंक मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

५—ग्राहक अपना पता बदलने की सूचना १५ दिन पूर्व भेजें।

वर्ष १३] आगरा—सितम्बर १९५१ [अङ्क ३

हमारा नया विशेषाङ्क—

अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी हम साहित्य-सन्देश का एक महत्वपूर्ण विशेषाङ्क निकालने का आयोजन कर रहे हैं। हमारा पत्र आरम्भ से ही आलोचना प्रधान रहा है। इस वर्ष हम आलोचना सम्बन्धी विशेषाङ्क निकाल रहे हैं। यह अङ्क अक्टूबर और नवम्बर का संयुक्ताङ्क होगा। अतः पाठकगण अक्टूबर अङ्क की प्रतीक्षा न करें। इसमें हम निम्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे हुए लेखों को देना चाहते हैं—

१—आलोचक में अपेक्षित गुण।
२—कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा (अर्थात कवि और आलोचक की प्रतिभा)
३—भारतीय आलोचना पद्धति की विशेषताएँ।
४—आलोचना के पाश्चात्य मानदण्ड।
५—पाश्चात्य मानदण्ड के अनुकूल हिन्दी आलोचना का मूल्याङ्कन।
६—हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना।
७—राजशेखर और आलोचना।
८—भारतीय और पाश्चात्य काव्यादर्श।
९—विभिन्न प्रकार की आलोचनाओं के उदाहरण।
१०—मनोविश्लेषण और आलोचना।
११—प्रगतिवादी आलोचना।
१२—आर्थिक, नैतिक, सौन्दर्यगत और आध्यात्मिक मूल्य।
१३—अंग्रेजी भाषा के प्रमुख आलोचना शास्त्री।
१४—बङ्गाली भाषा का आलोचना साहित्य।
१५—मराठी भाषा का आलोचना साहित्य।
१६—गुजराती भाषा का आलोचना साहित्य।
१७—दक्षिणी भाषाओं में आलोचना साहित्य।
१८—उर्दू में आलोचना साहित्य।
१९—हिन्दी के प्रमुख आलोचक।
२०—हिन्दी में आलोचना साहित्य।
२१—हिन्दी में आलोचना का विकास।
२२—हिन्दी में आलोचना के मान का प्रश्न।
२३—हिन्दी आलोचना की न्यूनताएँ।
२४—हिन्दी आलोचना का भविष्य।
२५—आलोचना क्षेत्र में साहित्य-सन्देश का स्थान (विविध विद्वानों और पाठकों के मतानुसार)

आशा है कि हमारे उदार लेखक उपर्युक्त तथा उनसे सम्बन्धित विषयों पर लेख भेज कर हमारे इस आयोजन को सफल बनायेंगे।

रुग्ण कवि की सहायता—

अमरीका में श्री केंथेन पेचन नाम के एक प्रसिद्ध कवि हैं। इनकी लिखी 'डार्क किंगडम' और 'विफोर दि ब्रेब' आदि पुस्तकों का वहाँ बड़ा आदर है। अभी आपकी आयु केवल ३६ वर्ष की ही है। ३ वर्ष से आप गठिया रोग से पीड़ित हैं। आपके कष्ट में सक्रिय सहानुभूति प्रकट करने के लिए वहाँ के सात प्रसिद्ध लेखकों ने एक फण्ड खोला है जिसमें स्वयं भी बड़ी सहायता की है। कई लेखकों ने अपनी फिल्म प्रदर्शन की पूरी आय इस कोष में दे दी है। ये लेखक इस कोष में १० हजार डालर इकट्ठा करना चाहते हैं।

हिन्दी के गरीब लेखकों की दशा किसे विदित नहीं है? इनकी सहायता के लिए भी ऐसे ही कोष और प्रबन्ध की आवश्यकता है।

आलोचना या अवज्ञा—

हाल ही में हिन्दी के दो पत्रों में ठा० श्रीनाथ सिंह जी ने दो लेख लिखे हैं जिन में हिन्दी के गौरव, स्वनाम धन्य श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की कुछ पुस्तकों की भी आलोचना है। किसी भी व्यक्ति की आलोचना करना बुरा नहीं है। सब को अधिकार है—जैसा उसकी समझ में आवे लिखे। परन्तु उस लिखने में शालीनता और सजनता को भुला देना और जिस व्यक्ति की आलोचना की जा रही है उसे भूल जाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। जिन दो लेखों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे इस दृष्टि से बहुत ही निम्न श्रेणी के हैं। ठाकुर साहब इतने नीचे गिर कर लिखेंगे—यह हम आशा नहीं करते थे। उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे लेखों को हिन्दी के प्रतिष्ठित पत्रों में स्थान कैसे मिल गया। हमें इन लेखों में गुप्तजी की आलोचना नहीं—स्पष्टतः उनकी अवज्ञा मिली, जिसे हिन्दी-संसार आज किसी भी तरह बर्दाश्त नहीं कर सकता। इन लेखों को महत्त्व न देने के ही कारण हमने उनका स्पष्ट उल्लेख यहाँ नहीं किया है।

प्रभुत्व के लिए झगड़े—

कांग्रेस में आज प्रभुत्व के लिए सज्जनता और शालीनता की जो छीछा-लेदर हो रही है—वह किसी से छुपी नहीं है। प्रभुता की यही लड़ाई [illegible] वर्ष से हिन्दी साहित्य सम्मेलन में चल रही है। अब तो यह लड़ाई इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि अदालत का दर्वाजा भी खटखटाया जा चुका है। प्रधान श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने मन्त्रियों के सब अधिकार अपने हाथ में कर लिए हैं। और आगे क्या होगा—भगवान जाने।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधान कार्यालय वर्धा में अलग झगड़े चल रहे हैं। वे भी यहाँ तक बढ़ गये हैं कि एक दो सज्जन उसके लिए भूख हड़ताल कर रहे हैं। वहाँ भी परिस्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है।

साहित्यिक संस्थाएँ जो शुद्ध सेवा की भावना से खोली गईं थीं आज लोगों की पद लोलुपता और स्वार्थ साधन के लिए अखाड़ा बन गईं है। ऐसी परिस्थिति में निस्वार्थ सेवी सज्जन यदि इन संस्थाओं से किनारा करें तो क्या आश्चर्य?—पर आवश्यकता आज इस बात की है कि सारी शक्ति लगा कर इन संस्थाओं से ऐसे लोगों को हटाया जाय जो इस प्रकार की दलबन्दी की जड़ में हैं।

भारतीय हिन्दी परिषद्—

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी की अध्यक्षता में दिल्ली में उक्त नाम से एक नवीन अखिल भारतीय संस्था का जन्म गतवर्ष हुआ है। संस्था का उद्देश्य है—"परिषद का काम सब लोगों को मिलाकर, जिस तरह बहुत-सी नदियाँ मिलकर संगम होकर आगे बढ़ती हैं, उसी तरह हिन्दी को देश भर की सर्वमान्य भाषा बनाकर बढ़ाना है।" इस संस्था के प्रधान मन्त्री संसद के सदस्य दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के कर्मठ प्रधानमन्त्री श्री सत्यनारायणजी हैं। यह परिषद शीघ्र ही हिन्दी की कुछ परीक्षाएँ प्रारम्भ [illegible]

करेगी जिनमें सर्वोच्च परीक्षा का नाम होगा 'हिन्दी पारङ्गत परीक्षा'। परिषद एक केन्द्रीय विद्यालय की स्थापना करने का भी विचार कर रही है जहाँ इस परीक्षा की तैयारी कराई जायगी। इसका उद्देश्य है भारत के अहिन्दी भाषी प्रान्तों में काम करने के लिए योग्य प्रचारक कार्यकर्त्ता और अध्यापक तैयार करना। परिषद को संसद के अधिकांश सदस्यों का सहयोग प्राप्त है और आशा है कि सरकार का भी आश्रय उसे प्राप्त होगा। परिषद की सफलता के लिये हमारी शुभ कामनाएँ हैं। और हमारा यह सुझाव है कि केन्द्रीय सरकार के शिक्षामन्त्री मान० मौ० आजाद जिस परिषद की स्थापना कर रहे हैं वह परिषद और यह परिषद या तो एक ही हों और अगर अलग ही बने तो उसका काम देश की अन्य सब इस तरह की संस्थाओं को एक सूत्र में बाँधकर व्यवस्थित रूप से काम करना हो। हम प्रयत्नों के बाहुल्य में शक्ति और धन का अपव्यय नहीं चाहते। इस समय प्रयत्नों के एकीकरण की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कई प्रयत्न हुए—कुछ निजी और कुछ सरकारी। हिन्दी का हित अग्रसर करने के लिए जितने प्रयत्न हों उनमें एक सूत्रता लाने का आयोजन किया जाय। सरकार विभिन्न विचारों के लोगों को एकत्रित करे और शब्द-कोषों आदि के जो अथक प्रयत्न हो रहे हैं उनमें प्रामाणीकरण का प्रयत्न किया जाय।

सत्रह लाख की योजना—

संसद में के एक प्रश्न के उत्तर में शिक्षामन्त्री मौलाना अबुलकलाम आजाद ने बताया कि सरकार ने हिन्दी के प्रचार के लिए एक मंत्रणा-बोर्ड की नियुक्ति का निर्णय किया है और सरकार द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार मंत्रणा-बोर्ड की नियुक्ति की जाने वाली है। उन्होंने बताया कि पाँच वर्षों में इस योजना पर १७ लाख रुपया खर्च होगा।

इस पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न कार्य किये जावेंगे:—

(१) हिन्दी में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शब्दों के कोष का निर्माण।

(२) एक केन्द्रीय हिन्दी सङ्गठन तथा चार प्रादेशिक बोर्डों की स्थापना।

(३) अहिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों में हिन्दी प्रचार कार्य में लगे हिन्दी सङ्गठनों को अनुदान देना।

(४) मंत्रालय में एक नया हिन्दी विभाग खोलना।

(५) केन्द्र में हिन्दी पुस्तकों के एक पुस्तकालय की स्थापना।

(६) हिन्दी से प्रादेशिक भाषाओं तथा प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी में शब्द-कोषों का निर्माण।

(७) अन्य भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद।

(८) अन्य भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद।

(९) हिन्दी की मौलिक कृतियों पर पुरस्कार देना।

(१०) हिन्दी पुस्तकों, चार्टों आदि की प्रदर्शनियाँ करना।

(११) द्विभाषीय पुस्तकों को तैयार करना।

(१२) हिन्दी के आधारभूत शब्दों का कोष-निर्माण।

(१३) हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के मिलते-जुलते शब्दों के एक कोष का निर्माण।

लोक प्रिय हिन्दी—

नई दिल्ली लोदी कोलोनी की हिन्दी-सभा में अभी एक भाषण हुआ उसमें वक्ता महोदय ने बताया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर लोक का बल ही प्रतिष्ठित कर सकता है। हमें आवश्यक है कि हम अहिन्दी क्षेत्र के लोगों में अपने सम्पर्क से विश्वास पैदा करें। उनके साहित्य की चर्चा उनके द्वारा अपनी गोष्ठियों में करायें। उनके साहित्य का अध्ययन कर उनकी भाषा की समृद्धि को अपनी भाषा में उतारें। बिना इस पारस्परिक आदान-प्रदान के हिन्दी को यथार्थ बल नहीं मिल सकता। दूसरी बात

यह है कि हिन्दी की अपनी एक संस्कृति को पुष्ट करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

हम वक्ता महोदय के अभिप्राय से पूर्ण सहमत हैं। साहित्य-सन्देश निरन्तर अपनी विचारधारा में इसको व्यक्त करता रहा है। आज तो हमारी एक और माँग है। वह यह है कि हिन्दी के कुछ विद्वान् सङ्कल्प पूर्वक नियमित रूप से हिन्दी के साहित्य की चर्चा किसी न किसी रूप में अँगरेजी में तथा भारत की अहिन्दी प्रान्त की भाषाओं के पत्रों में निरन्तर करते रहें। अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक पारस्परिक संपर्क इतना सरल नहीं। किन्तु यह आयोजन उसकी अपेक्षा कहीं सुविधाजनक और अधिक फलप्रद होगा।

हिन्दी भाषा और हमारे मन्त्रिगण—

अभी दो उदाहरण ऐसे उपस्थित हुए हैं जिनमें हमें केन्द्रीय मन्त्रियों की हिन्दी के प्रति उपेक्षा-भावना का परिचय मिलता है। वैसे तो वे दोनों ही महानुभाव (श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी तथा श्री नृसिंह विष्णु गाडगिल) हिन्दी के प्रेमी और समर्थक हैं। मुन्शीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रह चुके है और गाडगिल महोदय ब्रज-साहित्य-मण्डल का उद्घाटन कार्य सम्पन्न कर सके हैं। किन्तु स्वयं हिन्दी भाषा को व्यवहारिक प्रयोग का विषय बनाने में हिचकिचाहट करते प्रतीत होते हैं। मुन्शीजी ने हिन्दी में प्रश्न किये जाने पर भी संसद में उत्तर अङ्गरेजी में ही दिये और गाडगिल महोदय ने इस भय से हिन्दी भाषण नहीं दिया कि कहीं उसका कोई भ्रामक-अनुवाद न करदे। इसी को कहते हैं 'जुआँ के भय से कथरी को छोड़ना।' जब प्रधान मन्त्री के दिये हुए भाषणों का अनुवाद संसार में प्रसारित किया जा सकता है तो गाडगिल महोदय को ही क्यों विशेष भय होना चाहिए। वे तो हिन्दी में लिखते भी अच्छा हैं और संस्कृत के भी विद्वान है। भ्रामक अनुवादों के भय का भी निराकरण हो सकता है। संवाददाताओं से कह दिया ः रिपोर्ट को प्रकाशित कराने से पूर्व दिखालें। हमारे हिन्दी जानने वाले मन्त्रियों को राष्ट्रभाषा का गौरव रखने के लिए साहस से काम लेना चाहिए। जब मुंशीजी और गाडगिल महोदय हिन्दी में भाषण देने से हिचकिचायँगे तब इतर लोग तो कभी आगे पग नहीं रक्खेंगे। हमारे मन्त्रियों को केवल अँगरेजी के अखबारों का ही न ख्याल करना चाहिए वरन् हिन्दी के अखबारों का भी ध्यान रखना चाहिए। हिन्दी के पत्र उनके ही शब्दों को जनता के कानों तक पहुचा सकते हैं।

बी० ए० की परीक्षा में हिन्दी में उत्तर—

हमें यह जान कर प्रसन्नता हुई कि सन १९५२ से आगरा तथा प्रयाग विश्वविद्यालय ने बी० ए० के विद्यार्थियों को दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि के प्रश्न पत्रों का हिन्दी में उत्तर देने की छूट दे दी है। यदि यह कार्य केवल विद्यार्थियों की सूझ-बूझ पर छोड़ा जाता है तो इसमें अधिक उन्नति होने की आशा नहीं। इस छूट से लाभ उठाने के लिए हमारे अध्यापकों और लेखकों को विद्यार्थियों की सहायता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। वे अँग्रेजी की चिर-अभ्यस्त भाषा में पढ़ाने का मोह छोड़ कर हिन्दी में पढ़ाना आरम्भ कर दें। उपर्युक्त विषयों में हिन्दी पुस्तकों का बाहुल्य नहीं तो अभाव भी नहीं है। अध्यापक लोग अपने विद्यार्थियों के हाथ में अच्छी और प्रामाणिक पुस्तकें देने का प्रयत्न करें और उनको नोट भी हिन्दी में ही लिखाएँ। हम उक्त विश्वविद्यालयों को इस उदार निर्णय के लिए धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि हमारे तृतीय वर्ष के विद्यार्थी इस छूट से लाभ उठाने के लिए अभी से प्रयत्नशील रहेंगे और हमारे अध्यापकगण इस पुण्य कार्य में पूरे मनोयोग से सहायता देंगे।

भारत और भाषाशास्त्र

प्रो० भोलाशङ्कर व्यास एम० ए०, शास्त्री

सभ्यता के उषःकाल से ही भारत विभिन्न जातियों, सभ्यताओं तथा भाषाओं का मिलन-केन्द्र रहा है। भाषा की दृष्टि से भारत का विश्व-पटल पर एक विशेष महत्व है। यहाँ विविध परिवारों से सम्बन्धित भाषाओं का आज भी व्यवहार हो रहा है। उत्तरी भारत की प्रायः समस्त भाषाएँ विश्व के महान् भाषा परिवार आर्य-भाषा-समूह से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से इनके सम्बन्धी भाषातत्व सुदूर पश्चिम की आइसलैंडिक या अँग्रेजी तक में पाये जाते हैं। आर्य भाषाओं के अतिरिक्त भारत के दक्षिणी भाग में द्रविड़ परिवार की भाषाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध विद्वान् मध्यएशिया तथा एशिया-माइनर की अनार्य भाषाओं तथा यूराल-अल्ताई परिवार की भाषाओं से जोड़ते हैं, जो द्रविड़ परिवार की भाषाओं की भाँति ही प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ हैं। भारत का तीसरा भाषा-समूह 'मुण्डा' बोलियाँ हैं, जिसे भारत के आदिम निवासी आज भी मध्य-प्रदेश के वनों में बोलते हैं। ये भाषाएँ हिन्द-चीन मलाया तथा प्रशान्तसागरीय द्वीपों की भाषाओं से सम्बन्धित हैं। आसाम के प्रदेश तथा सिकिम आदि में कुछ ऐसी भी भाषाएँ बोली जाती हैं जिनका घनिष्ठ सम्बन्ध एकाक्षर परिवार से स्थापित किया जा सकता है। भारत आरम्भ से ही आक्रमित देश रहा है। विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोगों के यहाँ आक्रमण होते रहे हैं। यवन, हूण, तुरुष्क, पुर्तगाली, फ्रेञ्च एवं अँग्रेजों ने इस देश को अपनी जिगीषा तथा स्वर्णलिप्सा का लक्ष्य बनाया है। इन लोगों के सम्पर्क में आकर भी भारत की भाषाओं में शब्दावली के आदान-प्रदान के कारण कई विदेशी तत्वों का समावेश हो गया है। फिर भी ये भाषाएँ अपनी निजी विशेषता को नहीं छोड़ सकी हैं। वस्तुतः कोई भी भाषा कभी भी अपनी निजी विशेषता को नहीं छोड़ती। भाषा किसी देश तथा जाति के सामाजिक एवं मानसिक विकास की परिचायिका है। अतः उसका अध्ययन भी मानव के अध्ययन के एक महान् अङ्ग की पूर्ति करता है।

भाषाशास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। यास्क का निरुक्त, वैदिक प्रातिशाख्य तथा शिक्षा-ग्रन्थ प्राचीन भारतीय मनीषियों की इस दशा में की हुई गवेषणा के आज भी ज्वलन्त प्रमाण हैं। वेद के प्रसिद्ध छः अङ्गों में शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्त इन तीन अङ्गों का प्रधान स्थान रहा है। ये तीन अङ्ग आज के भाषा-विज्ञान के फोनिटिक्स, मॉरफोलोजी तथा एंटमोलोजी इन तीन अङ्गों के प्रतिरूप थे। भाषा-शास्त्र का यह अध्ययन हमारे यहाँ शुद्ध वैज्ञानिक रूप में होता था। आगे चलकर यह अवश्य हुआ कि भाषाशास्त्र व्याकरण के अन्तर्गत समाहित हो गया, जहाँ भाषाध्ययन का एक मात्र ध्येय भाषा के शुद्ध तथा अशुद्ध रूप के ज्ञान तक ही सीमित रह गया। यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि व्याकरण विज्ञान न हो कर कला है, भाषा के वास्तविक रूप का तात्त्विक अध्ययन न कर भाषा कैसी होनी चाहिए इस आधार पर वह भाषा का सुचारु तथा प्रौढ़ रूप देने की चेष्टा करता है। भाषावैज्ञानिक "भाषा कैसी होनी चाहिए" इस विषय की उलझन में न पड़ कर "भाषा कैसी है" इसका अध्ययन करता है। भाषा के वास्तविक तत्वों का निरीक्षण ही उसका प्रधान लक्ष्य है। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं में भाषा के इसी वास्तविक रूप का उच्चारण सम्बन्धी अथवा ध्वनि-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन पाया जाता है। जहाँ हम व्याकरण

तथा भाषाशास्त्र के बीच भेदक रेखा खींचते हैं, वहाँ हमारा तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृत के तथाकथित वैयाकरण भाषा शास्त्री नहीं थे। संस्कृत के समस्त महान् वैयाकरणों का भाषाशास्त्र तथा व्याकरण दोनों पर समान अधिकार था। किन्तु बाद में आकर संस्कृत वैयाकरण भाषाशास्त्र से कुछ दूर चले जाते जान पड़ते हैं। जहाँ तक महर्षि पाणिनि का प्रश्न है, वे विश्व के सबसे बड़े भाषाशास्त्री तथा वैयाकरण थे, जिनकी पश्चिम के विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते देखे जाते हैं। पश्चिम के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने एक स्थान पर लिखा है:—

"भारोपीय तुलनात्मक व्याकरण में भाषा का केवल एक ही पूर्ण विवरण पाया जाता है—वह पाणिनि का व्याकरण है। समस्त अन्य भारोपीय भाषाओं में ग्रीक तथा लैटिन की परम्परागत व्याकरण पाई जाती है, जो अत्यधिक अपूर्ण तथा अव्यवस्थित है। ××× क्योंकि अतीत की किसी भाषा का हमारे पास ऐसा विवरण नहीं है, जिसकी तुलना हम पाणिनि की मातृभाषा के विवरण से कर सकें। न ऐसा ही सम्भव है कि भविष्य में हम किसी आधुनिक भाषा का ऐसा पूर्ण विवरण दे सकें।" (पृ० २७)

भाषाशास्त्र के अध्येता के लिए इस लिए पाणिनि का अध्ययन आवश्यक है, विशेषतः भारोपीय भाषाओं के विद्वान् के लिए। किन्तु पाणिनि का अध्ययन करना इतना सरल नहीं। यद्यपि पाणिनि का अध्ययन भारत की विशेषता रही है, फिर भी ऐसे विद्वान् कम ही होंगे, जो वैज्ञानिक रूप में पाणिनि को समझ पाये हों। ब्लूमफील्ड ने ठीक कहा है:—'यद्यपि पाणिनि के सूत्रों पर हमें कई व्याख्याएँ उपलब्ध हैं...... फिर भी पाणिनि के ऊपर जीवन का अत्यधिक समय व्यतीत करना होगा, इसके पूर्व कि हम उस भाषा का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकें, जिसका विवरण पाणिनि ने सदा के लिए किया था।"

इस दृष्टि से हम देखते हैं कि संस्कृत का अध्ययन भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा-वैज्ञानिक जिज्ञासा की जननी है, जैसा कि हम आगामी पँक्तियों में देखेंगे। बड़ा खेद है भारत में विद्वानों का भी बहुमत संस्कृत को प्रायः हाथ में पञ्चपात्र लिये तथा बगल में रुद्री या दुर्गा की पोथी दबाये हुए इधर उधर अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों की वह मृत भाषा समझता है, जिसके साथ धार्मिक कर्मकाण्ड का अन्धविश्वास अनुस्यूत समझा जाता है। यह धारणा बड़े बड़े असंस्कृत विद्वानों में पाई जाती है। जनता ही नहीं, राज्य की भी संस्कृत के प्रति कुछ ऐसी ही उपेक्षा देखी जाती है। भाषणों में संस्कृत की महत्ता की डिण्डिमध्वनि की तो जाती है, किन्तु उसके उत्थान के लिए, उसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ भी कार्य नहीं किया जाता। पश्चिम में ग्रीक तथा लैटिन का जो महत्त्व है, उससे बढ़कर संस्कृत का महत्व भारत में होना चाहिए। पश्चिम के विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में ग्रीक तथा लैटिन का अध्ययन विशेष स्थान रखता है। इङ्गलैंड जैसे देशों में, जहाँ भाषातत्व की दृष्टि से बोली जाने वाली भाषा का ग्रीक तथा लैटिन से उससे कम ही सम्बन्ध है, जो कि भारतीय भाषाओं का संस्कृत से—इन भाषाओं का महत्व मौखिक रूप में ही नहीं, सक्रिय रूप में स्वीकृत किया गया है। ग्रीक व लैटिन ही नहीं, संस्कृत का महत्व भी कई पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में, भारत के कई विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक है। जब इन पँक्तियों का लेखक संस्कृत की महत्ता का प्रतिपादन करता है, तो पहले संस्कृत के प्रतिवादी यह समझलें कि लेखक इसलिए इस भाषा की महत्ता नहीं मानता है कि इसमें आप लोगों को दुःख तथा ग्रहों की क्रूरदृष्टि से बचाने वाले नवग्रह मन्त्र हैं अपितु इसलिए कि संस्कृत भाषा-तत्व की दृष्टि से विश्व की भाषाओं में मूर्धन्य है।

भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान की उद्भूति—

(यदि यहाँ पुनरुद्भूति शब्द का प्रयोग किया जाय तो ठीक होगा)—में संस्कृत का प्रधान हाथ रहा है। सर विलियम जॉन्स ने संस्कृत का सर्वप्रथम अध्ययन कर भारत व पश्चिम का ही नहीं समस्त विश्व का उपकार किया है। इसी महानुभाव ने सर्वप्रथम पश्चिम को "सोलोमन की अँधेरी गुफा" में दबे पड़े ज्वलन्त रत्नों का संकेत दिया, जिसके अभाव में आज का पाश्चात्य भाषाशास्त्र उद्भूत ही नहीं हो सकता था। लन्दन विश्वद्यालय के भाषाशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० फर्थ ने अपने 'ध्वनिशास्त्रियों का आँग्ल सम्प्रदाय" नामक निवन्ध में ठीक कहा है :—"भारतीय वैयाकरणों तथा ध्वनिशास्त्रियों के अभाव में, जिनका परिचय हमें उसने (सर जॉन्स ने) कराया, १६ वीं सदी के ध्वनिशास्त्रीय सम्प्रदाय की कल्पना करना कठिन है।" (ट्रान्जेक्शन्स ऑव् फाइलोलोजिकल सोसाइटी, १९४६, पृ० ९२) भारत के पूर्वाचार्यों का पाश्चात्य भाषाशास्त्र जितना ऋणी है, उतना अरस्तू, सिसरो या क्विंतीलियन का नहीं। भाषाशास्त्र का जो जाज्वल्यमान प्रदीप किसी समय इसी सप्तसिन्धु प्रदेश में अनवरत जलता रहा था, आज पश्चिम के हाथों चला गया है। किन्तु इससे उसकी भारतीयता लुप्त नहीं हुई है, मूल में आज भी वह शुद्ध भारतीय ही है। अतः भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र को विदेशी प्रणाली मानकर तिरस्कृत करना या उसकी अवहेलना करना ठीक न होगा। सभ्यताएँ उदय तथा ह्रास को प्राप्त होती रहती हैं। प्राचीन शिक्षाकारों, निरुक्तकारों तथा पाणिनि जैसे वैयाकरणों के नाममात्र वंशजों के अयोग्य होने पर उनके परम्परागत यूरोपीय शिष्यों ने उनकी वैज्ञानिक गवेषणा को अक्षुण्ण रखते हुए अग्रसर किया इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर, ह्विटनी, बीम्स, स्वीट, हॉर्नेली, ट्रम्प, ग्रियर्सन, ब्लॉख, टर्नर आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

भारत में भाषाशास्त्र के अध्ययन का श्रेय डॉ० भण्डारकर तथा इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों को है। किन्तु इस दिशा में उन्नीसवीं सदी के भारतीय भाषाशास्त्रियों में केवल डॉ० भण्डारकर का ही नाम लिया जा सकता है, जिनके "भारतीय भाषाओं" पर दिये गये सात व्याख्यान बड़े महत्वपूर्ण हैं। डॉ० भण्डारकर के "विल्सन्स फाइलोलोजिकल लेक्चर्स" भारत में भाषाशास्त्रीय अध्ययन के पुनरुत्थान के सूचक हैं। इसके बाद इस क्षेत्र में भारतीय भाषाओं पर काम करने वाले पाश्चात्य विद्वान् ही अधिक पाये जाते हैं। सर ग्रियर्सन ने सन् १९०३ के बाद "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इण्डिया" में प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं का विवरणात्मक अध्ययन प्रकाशित किया। यद्यपि भाषाशास्त्र की शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से आज का विद्यार्थी ग्रियर्सन के कई विवरणों को मान्य नहीं समझे, फिर भी इससे भारतीय भाषाओं के अध्ययन के इतिहास में ग्रियर्सन का महत्व किंचित्मात्र भी लुप्त नहीं होता। ग्रियर्सन के बाद इस क्षेत्र में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से ब्लॉख तथा प्रो० टर्नर के नाम लिये जा सकते हैं। ब्लॉख ने मराठी भाषा का शुद्ध शास्त्रीय अध्ययन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "ल फार्मेशाँ द ल लैंग मराथे" के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया, जो भारतीय भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से दीपस्तम्भ माना जायगा। वैसे ब्लॉख ने "ल इन्दो–आर्यां" आदि ग्रन्थों में भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक विवरण दिया है। प्रो० टर्नर ने गुजराती भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन "गुजराती फ्योनोलोजी" के नाम से उपस्थित किया जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुआ। इससे भी बढ़कर उनका महत्वपूर्णग्रन्थ "नेपाली भाषा का नैरुक्तिक कोष" है। इसी सम्बन्ध में इतेलियन विद्वान् तेस्सितोरी का उल्लेख कर दिया जाय, जिन्होंने तुलनात्मक भाषाध्ययन की दृष्टि से प्राचीन पश्चिमीय राजस्थानी का व्याकरण दिया जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है। डॉ० तेस्सितोरी की शीघ्र

मृत्यु ने इस क्षेत्र को बहुत हानि पहुँचाई यह कहना अतिशयोक्ति नहीं।

फिर भी भारत निर्बीज नहीं। डॉ० तारापुरेवाला, डॉ० चाटुर्ज्या, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा आदि भारतीय विद्वानों के नाम इस सम्बन्ध में लिये जा सकते हैं। डॉ० तारापुरेवाला ने जहाँ हमें भाषाशास्त्र के सैद्धान्तिक अंश का विवरण दिया, वहाँ डॉ० चाटुर्ज्या ने "बङ्गाली भाषा की उत्पत्ति एवं विकास" नामक वृहत् प्रबन्ध में हमें बंगाली जैसी एक प्रमुख भारतीय भाषा का वैज्ञानिक विवरण दिया। इस दृष्टि से डॉ० चाटुर्ज्या का यह निबन्ध ब्लाख के "ल फार्मेशाँ द ल लैंज मरा थे" से किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। चाटुर्ज्या का यह प्रबन्ध भारत में भाषाशास्त्रीय अध्ययन के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। ब्लॉख तथा टर्नर की भाँति डॉ० चाटुर्ज्या ने भी भाषाशास्त्र को अपना प्रमुख विषय बनाया है और अब तक वे हमें बङ्गाली भाषा के अतिरिक्त हिन्दी आदि का भी विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन दे चुके हैं। डॉ० चाटुर्ज्या के चरणों में बैठकर कई भारतीयों ने इस विज्ञान को भारत में पुनर्जीवित करने की चेष्टा की है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसी वैज्ञानिक शैली पर दरदी भाषाओं का अध्ययन किया है। यही नहीं उन्होंने प्राचीन भारतीय वैयाकरणों की ध्वनिशास्त्रीय खोजों पर भी एक गम्भीर प्रबन्ध लिखा है। इन विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बनारसीदास जैन, डॉ० बेनीकान्त काकती आदि विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने हमें अवधी, व्रजभाषा, पञ्जाबी, आसामी आदि के वैज्ञानिक अध्ययन दिये। इसी के साथ डॉ० कादरी के हैदराबादी हिन्दुस्तानी (दक्खिनी) के अध्ययन का भी उल्लेख किया जा सकता है। इतना होने पर भी इन अध्ययनों में से अधिकतर अध्ययन "तुलनात्मक व्याकरण" से ही हैं। यदि अँगरेजी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो हम कहेंगे ये अध्ययन प्रायः 'फाइलोलोजिकल' हैं, "लिंग्विस्टिक" नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनमें "लिंग्विस्टिक" तत्वों का सर्वथा अभाव है। सक्सेना, कादरी तथा जैन के निबन्धों में इन तत्वों का भी समावेश हुआ है। शुद्ध लिंग्विस्टिक दृष्टि से ये ग्रन्थ इतने महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते, किन्तु फिर भी ये सर्वथा महत्वहीन नहीं। डॉ० चाटुर्ज्या ने 'लिंग्विस्टिक' महत्व की दृष्टि से भी कार्य किया है। इस सम्बन्ध में हम उनका "बङ्गाली फ्योनिटिक रीडर" का उल्लेख कर सकते हैं।

भारत की नवीन पीढ़ी में, ऐसा जान पड़ता है, भाषाशास्त्र का अध्ययन कुछ कम ही हो रहा है। डॉ० चाटुर्ज्या तथा डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा जैसे लोगों के उत्तराधिकारी बनने के चिह्न इन नये लोगों के लोगों में कहीं दिखाई नहीं पड़ते। वैसे डॉ० प्रसाद जैसे लोगों ने 'भोजपुरी' आदि का वैज्ञानिक अध्ययन दिया तो है, पर फिर भी इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो रहा है। नवीन विद्यार्थी भारत में इस विज्ञान का अध्ययन उस उत्तेजना तथा स्फूर्ति के साथ नहीं करते देखे जाते, जितने कि पश्चिम में। इसके दो कारण हो सकते हैं—प्रथम तो कलकत्ता विश्वविद्यालय को छोड़कर (जहाँतक मैं जानता हूँ) किसी विद्यालय में भाषाशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं पाया जाता। संस्कृत या हिन्दी या किसी भी अन्य भाषा को उच्चतर उपाधि का विषय लेकर पढ़ने वाले लोग एक पत्र भाषाविज्ञान का लेकर भाषाशास्त्र के ज्ञाता नहीं बन सकते। साथ ही भाषाशास्त्र की आपातरूक्षता का अनुभव करके विद्यार्थी स्वयं ही इस गम्भीर विषय से ऊब सा जाता है। इसके साथ ही यह भी कहना अनुचित नहीं है, तथा अत्युक्तिपूर्ण नहीं समझा जायगा कि भारत में डा० चाटुर्ज्या जैसे एक दो ही विद्वान् ऐसे देखे जाते हैं, जिनके श्रीचरणों में बैठकर विद्यार्थी भाषाशास्त्र का अध्ययन कर सकता है। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में भाषाशास्त्र का अध्ययन

यन एक विशेष स्फूर्ति के साथ किया जाता है तथा वहाँ के प्रत्येक विश्वविद्यालय में इसके विशेषज्ञ विद्यमान हैं। यही नहीं कई नये विद्वान् भी उदित हो रहे हैं। तोखारी, हित्ताइत जैसी सर्वथा मृत भाषाओं तक के विशेषज्ञ इन विश्वविद्यालयों में पाये जाते हैं। भाषाशास्त्र को वहाँ केवल यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन तक ही सीमिति रक्खा गया हो, यह नहीं। वहाँ अपूर्व उत्तेजन के साथ सुदूर पूर्व की तथा अफ्रीका एवं अमेरिका की भाषाओं तक का अध्ययन किया जा रहा है। किन्तु भारत में कई विद्वान् तक यह नहीं जानते कि क्या राजस्थानी जैसी कोई भाषा भी है। लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल आव् ऑरियन्टल स्टडीज ने जब मुझे राजस्थानी भाषा में गवेषणा कार्य में सहायता देने के लिए निमन्त्रित किया तो मुझे याद है एक अच्छे पठित (विद्वान् ?) व्यक्ति ने इस विषय पर आश्चर्य प्रकट किया था कि क्या राजस्थानी जैसी कोई भाषा हो सकती है? ऐसी दशा में भाषाशास्त्र के निरर्थक विषय के अध्ययन में कौन अपना बहुमूल्य समय नष्ट करेगा।

किन्तु भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषाशास्त्र का प्रौढ़ अध्ययन नहीं होता इसके लिए भारत के विद्वान् उत्तरदायी नहीं हो कर वे शक्तियाँ उत्तरदायिनी हैं, जिनके हाथों में इन कालेजों तथा विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध है। यह तो मैं मानता हूँ कि भाषाशास्त्र के अध्यापन तथा गवेषणा कार्य के किसी व्यक्ति को पाश्चात्य सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पद्धतियों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। किन्तु यह परिचय बिना किसी संस्था की सहायता के प्राप्त नहीं हो सकता। यूनिवर्सिटियों को चाहिए कि अपने व्याख्याताओं को कम से कम एक वर्ष के लिए लन्दन या पेरिस जैसे स्थान पर इसकी विशद शिक्षा प्राप्त करने को भेजें। वह यहाँ रहें तथा भाषाशास्त्र की विभिन्न प्रक्रियाओं से परिचय प्राप्त करें। उसके बाद वापस आकर अध्यापन तथा गवेषणा में उसी पद्धति का आश्रय लें। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की प्रणाली पाई जाती है, जहाँ वे अपने व्याख्याताओं को अन्य देशों में गवेषणा सम्बन्धी ज्ञान के लिए हर चौथे वर्ष एक वर्ष के लिए भेजते पाये जाते हैं। किन्तु इसके लिए उनकी सरकार उन्हें प्रचुर धन देती है। भारत की भाषाओं पर आज भी कई विदेशी विद्वान् काम करते पाये जाते हैं। यदि भारतीयों को आवश्यक शिक्षा, समय तथा धन मिले तो इस सम्बन्ध में वे इन विदेशी विद्वानों से कहीं अधिक तथा वैज्ञानिक भाषातत्त्वों की खोज कर सकते हैं। एक बार आपस की बातचीत में मुझे प्रो० फर्थ ने बताया था कि "जो काम हम लोग भारतीय भाषाओं पर कर सकते हैं, उससे कहीं बढ़ कर काम आप लोग कर सकते हैं; क्योंकि हमें वह वातावरण उपलब्ध नहीं हो सकता जो आप लोगों को।" भारत में ऐसे स्फूर्तिशाली नवयुवकों का सर्वथा अभाव नहीं, किन्तु इस मिथ्या प्रचार के युग में, उचित परिस्थिति एवं प्रोत्साहन न मिलने से, ऐसे ऐसे कई तेल-दीपक, जो जलना चाहते हैं, समाज तथा सरकार से स्नेह प्राप्त न होने से किसी कोने में बुझ जाते हैं।

(पृष्ठ १०८ का शेष)

से पृथक है। वैदग्ध के विषय में यह अत्यत विवाद पूर्ण है कि वैदग्ध की सत्ता आलम्बन में है या आश्रय में। अभी तक विद्वान लोग इस पर एक मत नहीं हो पा रहे हैं। वैदग्ध का उपयोग शब्द और अर्थ दोनों से ही होता है। अतः अलङ्कार की तरह इसमें भी शब्द वैदग्ध और अर्थ वैदग्ध ये दो भेद किये जा सकते हैं।

भारतीय साहित्य में नाटक की नर्मन वृत्ति के अन्तर्गत वैदग्ध की सत्ता पर विचार किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैदग्ध को विचार की मितव्ययी कहा गया है।

हास्य के भेद

श्री रामेश्वर शर्मा साहित्य-रत्न

आत्माभिव्यक्ति की समस्या मानव जीवन के प्रारम्भ से चली आ रही है किन्तु इसी समस्या से जुड़ी हुई एक समस्या और है और वह है परबोध की। इसी परबोध की समस्या के कारण मनुष्य अभिव्यक्ति के एक साधन मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाता और फलतः उसे अभिव्यञ्जना के नए-नए प्रकारों से जूझना पड़ता है। आत्म के समाजीकरण के लिए यह आवश्यक भी है। अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिये लेखक प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों को खोज निकालता है। मूल भावना चाहे एक ही हो किन्तु दृष्टिकोण का अन्तर ही कलागत भेद का मूल कारण है।

हास्य की भावना भी मूलरूप में एक ही है किन्तु दृष्टिकोण के भेद से ही हम उसे पहिचान सकते हैं। उदाहरण के लिए एक नव युवती की मुस्कान तथा एक दार्शनिक की हँसी की तुलना करें तो प्रतीत होगा कि युवती की मुस्कान में जहाँ कुछ संकोच की मिश्रित छाप रहती है वहाँ दार्शनिक की मुस्कान निर्वेद की मनोभावना से पूर्ण रहती है। किसी नराधिप की विजय दर्प मिश्रित हँसी तथा शिशु की स्वाभाविक हँसी में कितना विराट अन्तर है। इन दोनों प्रकार की हँसी की प्रेरक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

पश्चिम में भी हास्य के भेद किये गये हैं:—वे इन्हीं प्रेरक शक्तियों के आधार पर। किन्तु भारतीय साहित्य में हास्य के जो विभाग किये गए हैं वे अत्यन्त स्थूल तथा शारीरिक आधार पर किये गए हैं। प्रेरक मनोवृत्तियों के अनुरूप हास्य की भावना का विश्लेषण हमारे साहित्य में नहीं किया गया। अतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विदूषक ही हास्य का आलम्बन रहा और वह भी किन्हीं आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण नहीं वरन् गंजे सिर, विकृत वेषभूषा, भोजन भट्ट होने आदि के कारण। इसी कारण हास्य की भावना एक बौद्धिक धरातल पर खड़ी न हो सकी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय साहित्य में उच्च हास्य रस बिलकुल नहीं है। पर हाँ, दिखाई देता है उसका केवल स्थूल रूप ही। पश्चिम में जो हास्य का विभाजन हुआ है वह गुण, उद्देश्य तथा उपकरण पर आधारित है जबकि हमारे यहाँ के विभाजन का आधार शारीरिक प्रक्रियाएँ मात्र हैं। देखिए दशरूपककार हास्य के भेद इस प्रकार बतलाते हैं—

विकृतकृति वाग्विशेषैर आत्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात् परिपोषो स्य हास्य त्रि प्रकृति स्मृतः॥
स्मितं इह विकास नयनम्, किन्चित् लक्ष्य द्विजं तु हासितं स्यात्।
मधुर स्वरं विहसितं, स शिरः कम्पं इदं उपहासितं॥
अपहासितम् सा स्त्राक्षं, क्षिप्तांग भवति अतिहासितं।
द्वे द्वे हासितं चैषाम् ज्येष्ठे मध्ये घने क्रमशः॥

इनमें हास्य के ६ भेद किए गए हैं। तथा उनके अनुरूप होने वाली शारीरिक क्रियाएँ भी बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं—

१—स्मिति—नेत्रों का विकास होना।
२—हसित—कुछ दाँतों का भी दिखाई देना।
३—विहसित—कुछ मधुर ध्वनि का होना।
४—उपहसित—इसमें कुछ सिर भी हिलने लगता है।

५—अपहसित—इसमें हँसते-हँसते आँसू भी आ जाते हैं।

६—अतिहसित—इसमें सारा शरीर हिलने लगता है।

इनका भी पात्र तथा स्थिति के अनुसार विभाजन किया गया है। पात्रों की दृष्टि स्मिति और हसित उत्तम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। विहसित और उपहसित मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित अधम श्रेणी के पात्रों के अनुभाव हैं। स्थिति की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं (१) आत्मस्थ, अर्थात् अपनी स्वयम् की विकृतियों, असंगतियों से उद्भूत अर्थात् इसमें आश्रय और आलम्बन एक ही रहते हैं। आश्रय, स्वयम् की विकृतियाँ ही इसमें विभाव बन जाती हैं। स्मिति, विहसित और अपहसित इस भेद के अन्तर्गत आते हैं। (२) परस्थ, अर्थात् इसके विभाव अन्य व्यक्ति होते हैं। इसके अन्तर्गत हसित, उपहसित तथा अतिहसित आते हैं। किन्तु आत्मस्थ परस्थ की इस व्याख्या को पण्डितराज जगन्नाथ स्वीकार करते दिखाई नहीं देते। उनके मत से आत्मस्थ परस्थ ये दो भेद तो हैं किन्तु उनका आशय दशरूपककार से भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मस्थ में जो हास्य रहता है वह विभाव के देखने मात्र से उत्पन्न होता है। किन्तु परस्थ हास्य परकीय चेष्टाजन्य ही रहता है। दोनों में तात्विक अन्तर केवल यही है कि आत्मस्थ में आश्रय के हृदय का भी योग रहता है, जब कि पूर्णतः चेष्टाकृत है।

आत्मस्थः परसंस्थश्चैत्यस्यभेद् द्वयं मतं।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणम् मात्रः॥
हसतं मपरं दृष्ट्वा विभाश्चोप जायते।
यो सौ हास्य रसतज्जै परस्यः परिकीर्तितः।
उत्तमानाम् मध्यमानाम् नीचानामप्य सौमवेत्।
आस्थः काचितस्तस्य षठभेदाः सन्ति चापरा:॥

दशरूपककार द्वारा विभाजित ६ भेद तथा उनका पात्रानुरूप विभाजन पंडितराज ने पूर्णतया अपरिवर्तित रूप में स्वीकार कर लिया।

हमारे साहित्य में रस का विवेचन अभिनय की दृष्टि से किया गया है। हास्य के विभाजन का जो आधार हम शारीरिक पाते हैं उसका मूल कारण नाट्य-शास्त्र के नियम ही हैं, जिनमें अभिनय को सदैव ही प्रमुखता दी जाती है। संक्षेप में हास्य रस के भेदों का यह भारतीय विवेचन है जिसका आधार शारीरिक है। आगे गुण उद्देश्य तथा उपकरण के आधार पर विभाजित पाश्चात्य सिद्धान्तों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल ली जावे।

पश्चिम के विवेचन का आधार अभिनय नहीं है। और न हास्य का विवेचन ही नाट्यशास्त्र के नियमों पर किया गया है। विशिष्ट प्रेरक शक्तियों के कारण हास्य के दो रूपों में जैसा कि पहिले कहा गया एक विराट अन्तर उत्पन्न हो जाता है। और इसी आधार पर यह विभाजन किया गया है। उदाहरण के लिये जिस हास्य का सम्बन्ध चरित्र, कार्य व घटना से होता है वह अपनी विशेषताओं के कारण उपहास अथवा वाग्वैदग्ध से साधारणतया ही पृथक दिखाई देता है। इस दृष्टि से हास्य के चार भेद किये गये हैं।

१—हास्य।
२—उपहास।
३—भ्रांत।
४—वाग्वैदग्ध।

हास्य—हास्य में आलम्बन के प्रति सहानुभूति का एक सूक्ष्म तार रहता है, जो उसके सुधार की कामना करता है। इसीलिए यह व्यङ्ग के प्रकार का न होकर उदारता का प्रदर्शन करता है। हँसने वाले के मन में प्रहसनीय के प्रति सहानुभूति की जो धारा बहती है वह मन से उसके सुधार की भावना रखती है, किन्तु सुधार की इस भावना का रूप सदैव ही मनोमय तथा गौण रहता है जिसे हँसने वाला स्वयम् भी नहीं पहिचान पाता। हास्य की आवश्यकता पर विचार करते हुए जार्ज मेरिडिथ ने लिखा है—

'If you laugh all round him, trouble him, roll him about, deal him

a smakle and drop a tear on him, own his likeness to you and yours to your neighbour, spare him as like as you shun, pity him as much as you expose, it is a spririt of humour that is moving you....................

The stroke of the great humourist is world wide with lights of tragedy in his laughter."

उद्धरण का अन्तिम अंश महत्वपूर्ण तथा विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों ने रसमैत्री के प्रकरण का विवेचन करते हुए करुणरस को हास्य रस का शत्रु बतलाया है। जब कि हास्य की भावना में जार्ज मेरिडिथ करुणा की झलक पाते हैं। साहित्य दर्पणकार का कथन है—

आद्यः करुण वीभत्सरौद्रौ वीर भयानकै।
भयानकेन कराणे नापि हास्यो विरोधभाक्॥

इसके अनुसार करुण रस के साथ हास्य का प्रयोग पूर्ण रूप से असफल तथा निर्जीव होगा। एक अन्य स्थल पर जार्ज मैरिडिथ कहते हैं—

'You may estimate your capacity for comic percepation by being able to detect the redicule of then you love without being loving them less."

हँसने के लिए प्रेम को कम करना पड़ता हो ऐसा तो मनोविज्ञान कभी नहीं कहता। हास्य की मनोवृत्ति सामाजिकता तथा प्रेम भावना लिए हुये है। फिर प्रेम पात्र से हँसने पर प्रेम कम हो और वही हास्य शक्ति का मापक हो, यह कदापि सङ्गत नहीं लगता। फिर शरीर वैज्ञानिक तो हास्य को बढ़ती हुई प्रेम की शक्ति का ही परिवर्तित रूप मानते हैं।

भ्रान्त—भ्रान्त में खासतौर पर ऐसे पुरुषों का मजाक उड़ाया जाता है जो समाज विरोधी है। हास्य के विपरीत भ्रान्त में हास्यास्पद पात्र को अपने हास्यास्पद होने का ज्ञान न होना चाहिए। ए० निकाल ने इस विषय में लिखा है।

"The absurd on the other hand is purely unconscious. We laugh at 'e' etourdi but he himself is quite innocent of the sense of our merriment. The absured character puts all his follies unconsciously to the world."

भ्रान्त का प्रयोग लेखक प्रायः तीन प्रकार से करते हैं। १—वस्तु का अतिरंजित चित्र करके। कल्पना के पङ्ख लगाकर वस्तु को यथार्थ से दूर करने पर। इस प्रकार भ्रान्त का प्रथम प्रयोग होता है। २—अत्युक्ति के कारण रूप परिवर्त्तन द्वारा। ३—वस्तु का आकार अत्यन्त विकृत करके उपस्थित किया जाता है। हिन्दी में जी० पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट चोंच, तथा बेढबजी ने इसके अच्छे प्रयोग किये हैं।

उपहासः—उपहास की भावना हास्य के ठीक विपरीत है। पहले कहा जा चुका है कि हास्य में हँसने वाले के मन में सहानुभूति की अन्तरधारा प्रवाहित रहती है किन्तु उपहास में घृणा आदि सहानुभूति विरोधी भावों का प्राबल्य रहता है। हास्य का उद्देश्य जहाँ हँसी उत्पन्न करके मनोरञ्जन करना मात्र रहता है उपहास का उद्देश्य घृणा का प्रकाशन है। हम समाज विरोधी व्यक्ति को हास्यास्पद बनाकर मनोरञ्जन करते हैं, उपहास में समाज तथा उसकी रूढ़ि रीतियाँ हमारे उपहास का आधार बनती हैं। समाज की दुर्बलताओं पर लेखक इसके माध्यम से तीखा मार्मिक और कटु प्रहार करता है कि पाठक तिलमिला उठता है।

वाग्वैदग्धः—वस्तुतः वैदग्ध न तो हास्य का कोई प्रकार विशेष है और न गुण ही। इसकी अपनी शैली पूर्णतः हास्य से पृथक है। साथ ही इसकी हास्योत्पादन की शक्ति भी हास्य के किसी अन्यभेद

(शेष पृष्ठ १०५ पर)

रीति-परम्परा का आरम्भ

श्री किशोरीलाल करुणेश 'साहित्य-रत्न'

रीतिकाल, जिसे इतिहासज्ञों ने अलंकृत काल या शृङ्गार काल कहा है, सामान्यतया संवत् १७०० के आस-पास से आरम्भ माना जाता है। कुछ गम्भीरता से विचार करने पर अवगत हो जाता है कि इसका प्रवाह भक्ति-काल से ही घूमता हुआ आगे बढ़ा है। शुद्ध एवं स्वतन्त्र रूप से इसका आरम्भ कम से कम सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। संवत् १५९८ ई० में कृपाराम ने हिततरङ्गिणी नामक पुस्तक लिख डाली थी। इसमें उन्होंने दोहों में शृङ्गार-रस का निरूपण किया है। इस एक ही ग्रंथ से भली भाँति मालूम हो जाता है कि रीति-परम्परा का स्फुरण बहुत पूर्व हो चुका था। 'रीतिकाल' या शृङ्गार-काल मानने से यह निश्चित करना अत्यावश्यक हो जाता है कि रीति-बद्ध रचनाओं की अखण्ड परम्परा कब से प्रारम्भ हुई। रीति रचनाओं के सिलसिले में हितरंगिणीकार का नाम सर्व प्रथम लिया जाता है; लेकिन यदि कृपाराम के आदर्शों की बात मानी जाय तो इसी समय मोहनलाल मिश्र ने उसी आदर्श पर 'शृङ्गार-सागर' नामक एक ग्रन्थ शृङ्गार-सम्बन्धी लिखा। अकबर के दरबारी कवि 'करनेस' कवि ने भी 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' एवं 'भूप-भूषण' नामक ग्रन्थों का वही आदर्श अपनाया।

इन ग्रन्थों के आधारभूत ग्रन्थ थे जयदेव का चन्द्रालोक एवं अप्पय दीक्षित का कुवलयानन्द।

जिस प्रकार अलङ्कार निरूपण के लिए संस्कृत के जयदेव एवं अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ थे उसी प्रकार रस-निरूपण के लिए भानुदत्त की 'रसतरङ्गिणी' एवं नायिका भेद के लिए उन्हीं के द्वारा प्रणीत 'रस-मञ्जरी'। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से—"रस-निरूपण एवं अलङ्कार-शास्त्र के विवेचन के सूत्रपात के पश्चात् रीति काव्य की अखण्ड परम्परा का प्रवाह केशवदास की 'कविप्रिया' के पचास वर्षोंपरान्त हुआ। लेकिन वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्शों पर नहीं। केशवदास .... काव्य में अलङ्कारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत-साहित्य शास्त्र के विकास क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गयी। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गयी थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्याङ्ग निरूपण से उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी, उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में 'अलङ्कार' और 'अलङ्कार्य' का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था; रस, रीति, अलङ्कार सबके लिए 'अलङ्कार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में पाते हैं।" लेकिन केशवदास की कवि प्रिया को सामने रख कर कहना कि वह अलङ्कार वादी वामन-दण्डी आदि आचार्यों के ग्रन्थों के आदर्श पर निर्मित हुई है; ठीक नहीं प्रतीत होता। वामन और दण्डी रीतिवादी एवं आलङ्कारिक थे, चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव तो उनसे भी बढ़कर विशुद्ध अलङ्कारवादी थे उनके दृष्टिकोण से—"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥" इस प्रकार उन्हें 'मम्मट के विचारों के खंडन के लिए लिखना पड़ा। मम्मटाचार्य ने काव्य—लक्षण पर विचार करते हुए लिखा है कि—"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" (देखें काव्य

प्रकाश)। वामन ने भी इसी तरह की बात कही थी उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सौन्दर्य ही के कारण काव्य ग्राह्य है तथा सौन्दर्य ही अलङ्कार है। (काव्यं-ग्राह्यमलंकारात एवं सौन्दर्यमलङ्कार:)। तात्पर्य यह है कि रसों एवं भावों को भी अलङ्कार मान कर वे लोग चले।

केशवदासजी ने कवि प्रिया को शुद्ध आलङ्कारिक दृष्टि कोण से ही नहीं प्रस्तुत किया है वरन् रसवादियों के दृष्टिकोणों को भी लेते हुए। यद्यपि उन्होंने काव्य की सारी सामग्री को 'अलङ्कार' कह कर वर्ण्य विषय एवं वर्णन प्रणाली का भेद अवश्य दिखलाया है लेकिन रस दृष्टि उन्होंने छोड़ दी है, ऐसा नहीं मालूम होता। वह केवल दण्डी के काव्यादर्श पर ही अवलम्बित नहीं हैं। वह केवल अलङ्कार की दृष्टि से नहीं रची गयी है, वह वस्तुतः कवि शिक्षा की पुस्तक है। उसके अध्ययन से भली भाँति प्रतीत होता है कि उसकी अधिक सामग्री 'कवि कल्प लतावृत्ति' से उठा कर रक्खी गयी है। यद्यपि इसके मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं कि वे चमत्कारवादी कवि थे। लेकिन अलङ्कार के सम्बन्ध में उन्होंने कभी नहीं कहा जो भी कहा सब अलङ्कार ही हैं। यदि ऐसा होता तो नग्नत्व दोष उन्होंने स्वीकार ही न किया होता—देखें नग्नत्व दोष के लिए उनका यह छन्द—

"तोरि-तनी टकटोरि कपोलनि
जोरि रहे कर त्यों न रहौंगी।
पान खवाय सुधाधर पान के,
पाँय गहे तस हौं न गहौंगी॥
केशव चूक सबै सहिहौं,
मुख चूम चले यह पै न सहौंगी।
कै मुख चूमन पै फिरि मोहि कि.
आपनि धाय सौं जाय कहौंगी॥

यही नहीं बल्कि उन्होंने 'हीन' रस की भी दोषों के अन्तर्गत गणना की है। कविता में रस होना अनिवार्य है; जहाँ वे इस सिद्धान्त का प्रतिपोषण करते हैं कि—"भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त" वहाँ यह भी कहते हैं—जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।' यहाँ 'सुरस' शब्द से सुस्पष्ट विदित होता है कि केशवदासजी रसवादी भी थे। रसिकप्रिया उनके इस दृष्टि कोण, का ज्वलन्त उदाहरण है। रसिक प्रिया की रचना इन्होंने साहित्य-दर्पण, और शृङ्गार प्रकाशक के आधार पर की है। अस्तु इस कारण केशव दास को कोरा अलङ्कारवादी कहना उचित नहीं मालूम होता।

अब कृपाराम को रीतिकाल की सूचना देने वाला आचार्य एवं कवि मानने में क्या कठिनाई है। उनकी हिततरंगिणी तो रसतरंगिणी का आधार लेकर चली जिसके आधार पर हिन्दी के परवर्त्ती सैकड़ों कवियों ने ग्रन्थ-रचना की।

अब अखण्ड परम्परा की बात रही। विचारपूर्वक देखने से यह परम्परा कृपाराम से भी पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी, लेकिन वे रीति-निरूपण करने वाले पूर्ववर्त्ती कवि एवं आचार्य कौन हैं। इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है। उसके पास पर्याप्त एवं प्रचुर सामग्री का प्रायः अभाव है। किन्तु कृपाराम से लेकर सम्वत् १७०० तक रीति-परम्परा की अखंड धारा प्रवाहित होती रही। इन रीति-ग्रन्थों से इतिहास मुखरित है। देखें—

सं० (रचना-काल)	कवि	रचना
१५९८	कृपाराम	हिततरंगिणी
१६१६	गंग	कोई ग्रंथ नहीं, स्फुट छन्द
१६१६	मोहनलाल	शृङ्गार-सागर
१६२०	मनोहर	स्फुट छन्द
१६२०	गङ्गाप्रसाद	(कोई रीति-ग्रन्थ बनाया जिसका नाम ज्ञात नहीं)
१६३७	करनेस	करनाभरण, श्रुति-भूषण, भूप-भूषण
१६४०	बलभद्र मिश्र	नख-शिख

१६४०	रहीम	बरवै, नायिका-भेद
१६५०	केशवदास	कविप्रिया, रसिक प्रिया
१६५०	मोहनदास	बारहमासा
१६५१	हरीराम	छन्द रत्नावली
१६५७	बालकृष्ण	रसचन्द्रिका (पिंगल)
१६६०	मुबारक	अलक-शतक, तिलक शतक
१६७६	लीलाधर	नख-शिख
१६८८	सुन्दर	सुन्दर शृङ्गार
१७००	सेनापति	षट्ऋतु वर्णन ।

हिन्दी-रीतिग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से प्रारम्भ हुई । उन्होंने संवत १७०० के आस-पास काव्य-प्रकाश, कवि-कुल-कल्पतरु एवं काव्य-विवेक जैसे रीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया। इसके उपरान्त तो लक्षण-ग्रन्थों की बाढ़ सी आगई, कवियों ने यह एक प्रणाली बनाली कि पहले एक दोहे में अलंकार या रस का लक्षण देना फिर कवित्त एवं सवैयों में उसका उदाहरण ।

यह पहले कहा जा चुका है कि रीति-परम्परा का प्रवाह भक्ति-काल से होते हुए प्रवाहित हुआ। अस्तु; भक्ति काल के रीति-ग्रंथकारों में भी दो वर्ग बन चुके थे। एक शृङ्गारी. दूसरा भक्त। शृङ्गारी कवि अधिकतर दरबारी थे। लेकिन भक्त कवियों का सम्बन्ध दरबारों से न था। उनकी रचनाओं का विकास उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक अनुभूतियों के अनुकूल हुआ। अकबर के दरबार में कई ऐसे शृङ्गार वर्ग के कवि थे जो शृङ्गार सम्बन्धी रचनाएँ करते थे। उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित सवैया देखिये—

"पाय प्रसिद्ध पुरन्दर ब्रह्म
सुधारस अमृत अमृतबानी,
गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी
गुनसागर गंग सुज्ञानी।
जोध जगन्न जगे जगदीस
जगामग जैत जगत्त है जानी.
कोरे अकब्बर सों न कथी.
इतने मिलि कै कविता जु बखानी ॥"

शृङ्गार-काल की अधिकांश रीतिबद्ध रचनाएँ दरबारों में ही बनीं। रीति मुक्त रचनाकारों में से बहुतों (रसखान, घनानन्द, बोधा आदि) का सम्बन्ध दरबारों से जरूर था लेकिन वे स्वच्छन्द प्रवृत्ति के होने के कारण ज्यादा समय तक दरबारों में टिक न सके।

इस प्रकार इस काल का आरम्भ १६०० के आस-पास से मानना उचित प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में १६०० से १७०० तक की यह अवधि इस काल की प्रस्तावना ही मानी जा सकती है। शृङ्गार-काल जिसे दूसरे शब्दों में रीति-काल कह सकते हैं—की सरिता के वेग में प्रखरत्व सं० १७०० के बाद ही आया।

———

कबीर का महत्व

श्री ऐस० टी० नरसिंहाचारी, एम० ए०

कबीर की प्रशंसा औरों से जितनी हुई है, हिन्दी-भाषा-भाषियों से उतनी नहीं। हिन्दी साहित्य में कबीर को समुचित स्थान नहीं मिला। कबीर की गणना विश्व के श्रेष्ठ कवियों में होनी चाहिए। कबीर के पदों का रवि बाबू का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका के रूप में उनकी श्रद्धाञ्जलि, तथा विदेशी साहित्य महारथियों द्वारा उसकी प्रशंसा इस बात की साक्षी है। इस विश्व-कवि की जिसकी प्रतिभा अनन्य सामान्य थी, हिन्दी में उपेक्षा ही हुई। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है।

शुक्लजी के मतानुसार (१) कबीर तथा अन्य निर्गुण-पन्थियों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं मान सकते। उपदेश और धर्म की नीरस-चर्चा तथा उलटी बाखियों से भरे रहना ही इसका कारण है। निर्गुण पन्थ के कवियों की रचनाओं में सुनी सुनाई बातों का पिष्ट पोषण तथा हठ-योग की बातों के कुछ मद्दे रूपकों को छोड़ कर और कुछ नहीं है। अतः भक्तिरस में मग्न करने वाली सरसता बहुत कम पाई जाती है। (२) कबीर तथा इस वर्ग के अन्य कवियों में शृङ्खलाबद्ध, सुव्यवस्थित, दार्शनिक विचारधारा भी नहीं है। इसीलिए कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम-तत्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसा वाद की। अर्थात् विचारधारा में गड़बड़ी है और विषय का प्रतिपादन ठीक नहीं हो पाया। (३) भाषा और शैली भी अधिकतर अव्यवस्थित है। सभी बोलियों को मिलाकर, व्याकरण की अवहेलना कर दी। फिर भी अन्त में शुक्लजी को मानना पड़ा कि कबीर की प्रतिमा बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि कबीर में ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें कविता के दर्शन नहीं होते—और ऐसे पद्य कम नहीं हैं—किन्तु उनके कारण कबीर के वास्तविक काव्य का महत्व कम नहीं हो सकता, जो अत्यन्त उच्चकोटि का है। तत्व ज्ञान की शुष्कता और अपरिमार्जित भाषा पर ही दृष्टि अधिकतर डालने के कारण कबीर का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सका।

कबीर का स्थान—यदि हम साहित्य की कुछ उपादेयता स्वीकार करें तो जीवन की मूल समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करने की प्रेरणा ही साहित्य की सबसे बड़ी देन होगी। ऐसी महान् प्रतिभा विरले ही कवियों में हम देखते हैं। शेक्सपियर, इब्सन, बर्नाड शा आदि इसी श्रेणी के लेखक है। उनमें कुछ प्रबल शक्ति है कि वे हमारी विचारधारा को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जा सकते हैं। हमारा ध्यान सामयिक समस्याओं पर भी केन्द्रित किया जाता है जैसे बर्नाड शा के नाटकों में, और जीवन की शाश्वत समस्याओं पर भी जैसे शेक्सपियर के नाटकों में। शेक्सपियर के दुःखांत नाटकों में व्यक्तिगत सुख दुःख के धरातल से ऊपर उठकर सार्वभौमिक दृष्टिकोण से विचार हुआ है। उनके अध्ययन से जीवन समस्या की एक गम्भीर छाया मन को आवृत करती है। जीवन के सत् और असत् पक्षों का यह संघर्ष और अन्त में जा कर सबका महानाश, नाटक समाप्ति पर एक विषाद की भावना मनमें व्याप्त करती है। लेकिन उस विषाद में निश्चलता है, गम्भीरता है। विध्वंस के इस महायज्ञ को देखते हुए सत् असत् पक्षों के जीवन संघर्ष की मूल समस्या पर विचार होता है।

यद्यपि कबीर का दृष्टिकोण भिन्न है, उनमें कुछ ऐसी ही शक्ति है जहाँ पाश्चात्य लेखक जीवन-संघर्ष

की वास्तविकता पर ही दृष्टि रखते हैं, कबीर भारतीय परम्परा के अनुरूप आदर्श और उसकी साधना में तत्पर हैं। समाज में धन, पद और महत्वाकांक्षा के कारण एक दूसरे से ईर्ष्या, राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू मुसलिम संघर्ष, धर्म के क्षेत्र में जाति-पाँति के भेद-भाव, जीवन के हर एक क्षेत्र में यह सङ्घर्ष और विषमता देखकर एक महान् आत्मा सच्चे सुख और शान्ति के अन्वेषण में संलग्न हुई। पहले पहल वैदिक काल के ऋषियों ने सङ्घर्षमय इस भौतिक संसार से ऊपर उठकर सत्य को पाने की चेष्टा की थी। फिर बुद्ध भगवान ने इस सांसारिक दुख को दूर करने का प्रयत्न किया। भारतीय चिंतन परम्परा में महात्मा बुद्ध के बाद कबीर का ही प्रमुख स्थान है। दार्शनिक अनेक महात्मा हुए लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में व्याप्त इस विषमता को दूर कर शान्ति देने वाले कोई नहीं। कबीर की प्रेरणा सत्य की साधना से है न कि सामाजिक या और किसी दृष्टि से सब लोगों को मिलाने से; जैसा लोग प्रायः भ्रम वश समझते हैं। संसार की अनेकता में मानवता की एकता का सूत्र मिल गया। जब एकता की पहचान हुई, सब समान हैं। जो अपने को भिन्न मानते थे, समझते थे कबीर ने एकता का सत्य स्वरुप दिखाते हुए, उनका खण्डन किया। व्यङ्ग के साथ धर्म के बाह्य आडम्बर के खण्डन-मण्डन से, जिन्हीं के कारण यह सब भेद भाव फैला हुआ है, हमारा ध्यान उधर आकृष्ट होता है और हम उसी विषय के सम्बन्ध में सोचने लगते हैं। इस विषमता, आडम्बर और भेद भाव के विरोध में सरल प्रेममय जीवन कर कवि हमें उसे अपनाने को विवश करता है।

इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कबीर का क्या स्थान होगा? हिन्दी साहित्य की प्रधान दो धाराएँ हैं। सूरदास तथा अन्य सगुण भक्त कवियों ने रसार्द्र साहित्य का सृजन किया जिसकी तन्मयता अनन्य-सामान्य थी। रीतिकाल के कवियों ने रस को न छोड़ते हुए भी अलङ्कारों और कला की बारीकियों को प्रधानता दी। आधुनिक साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो हरिश्चन्द्र युग तथा द्विवेदी युग के कवि रसवादी ही हैं चाहे आधुनिक तर्क, युक्ति और अविश्वास के कारण उनकी कविता में भक्तिकालीन तन्मयता न हो। छायावादी कवि कलावादी हैं यद्यपि उनका कुछ भिन्न मार्ग है। रस के बदले भावना को मानते हुए भी, अलङ्कारों और कला की बारीकियों की अपेक्षा ध्वन्यार्थक व्यञ्जना और चित्रोपम अङ्कनकला पर अधिक दृष्टि रखते हैं। वीर गाथा काल के कवि भी रसवादी ही हैं पर रस तन्मयता से अनुभूति का तीव्रता और ओज की मात्रा कुछ अधिक देखते हैं।

अब गोस्वामी तुलसीदास और कबीर तथा अन्य निर्गुण पन्थ के कवि रह गये। इन कवियों में रसार्द्रता के साथ-सबलता भी देखते हैं। इन महा-कवियों ने शक्तिशाली साहित्य का सृजन किया जिसका मन पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। साहित्य की दृष्टि से तुलसी और सूर, विषय के महत्व की दृष्टि से तुलसी और कबीर हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। तुलसी में अपने आदर्श के कारण जहाँ शक्ति, बल और उत्साह मिलता है, कबीर में जीवन की प्रधान समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो चिन्तन की प्रेरणा मिलती है। यहाँ कबीर अपने उच्च आसन पर अकेले विराजमान हैं।

कबीर की सार्वजनीनता और महत्व—कबीर विश्व कवि हैं। सूर और प्रसाद के समान अपने साहित्यक महत्व के कारण नहीं, तुलसी की तरह अपनी सार्वजनीनता के बल पर। रस ग्राहियों और कला पिपासियों से कबीर का विशेष सम्मान कभी नहीं हुआ। पर जनता ने उनकी रचनाओं को अपनाया।

ईश्वर पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर जिनके कारण धर्म में भेद-भाव फैला हुआ था, कबीर शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे। धर्मों के नाम पर अत्याचार से उत्पन्न मूक वेदना से ही कबीर की प्रेरणा है। ऐसी स्थिति में नाक सिकोड़ने की आव-

श्यकता नहीं कि कबीर में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ीचक्र की, कहीं सूफियों के प्रेमतत्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद का और कहीं वैष्णव अहिंसावाद की। सैद्धान्तिक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति ग्रहण करने से कभी-कभी इस तरह का अनर्थ हो जाता है। इसीलिए लेखक की भाव-धारा उसकी प्रेरणा और मूल प्रवृत्ति पर ध्यान देना परम आवश्यक हो जाता है। कबीर की दृष्टि सदा सामञ्जस्य पर थी, इसलिए उन्होंने सब सम्प्रदायों से उत्तम बातें ग्रहण कीं। लेकिन कबीर पहुँचे हुये महात्मा थे, एकता के मार्ग को प्राप्त, सत्य स्वरूप को पहचानने वाले। अतएव सच्चा सुख और शान्ति जिससे सम्भव है, उसी पथ को सामान्य जनता के सामने उपस्थित किया।

ईश्वर सान्निध्य की प्राप्ति विविध सम्प्रदायों के अनुसरण से, उनकी दार्शनिक विचारधारा से अवगत होने से या उनके बाह्य विधि-विधान के आचरण से नहीं, आन्तरिक प्रेरणा और अनुभूति से ही सम्भव है। यही कबीर पथ है, उसका प्रधान विशेषता है। इसीलिए धार्मिक सङ्कीर्णता, रूखी दार्शनिकता और बाह्य-आडम्बर का कबीर ने घोर विरोध किया। सरलता और प्रत्यक्ष अनुभव पर जोर दिया। प्रेम और आन्तरिक साधना ये ही मुख्य विषय हैं। प्रेम के द्वारा परमात्मा से मिलन ही कबीर का लक्ष्य है। परमात्मा के साथ आत्मा के प्रेम का यह सम्बन्ध बहुत ही आन्तरिक और व्यक्तिगत सीमा तक पहुँच गया है। रहस्यवाद का उस स्थिति में कबीर की वाणी में अद्वितीय माधुर्य देखते हैं।

प्रायः लोग कबीर की खण्डनात्मक उक्तियों पर आपत्ति प्रकट करते हैं। लेकिन वे समय अनुकूल ही हैं। लोग पूजा पाठ, श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, रोजा, नमाज आदि को ही सब कुछ मानकर घोर अन्ध विश्वास में फँसे हुये थे। उन्हें उन्मुक्त करना था। पण्डित और मुल्ला लोग जनता के अन्ध-विश्वासों से अनुचित लाभ उठाकर धर्म के नाम पर पाखण्ड बढ़ाते थे। कबीर रूखी दार्शनिकता और धर्म के बाह्य विधि-विधानों में अन्ध विश्वासों का ही नहीं सस्था सम्बन्धी (Institutional) धर्म का भी तीव्र विरोध करते हैं। पण्डितों और मुल्लाओं की प्रधानता और उनकी संकुचित विचारधारा का कबीर ने चुभती भाषा में खण्डन किया। जाति-पाँति छूत-अछूत के प्रचलित उन विधि-नियमों पर भी कबीर ने घोर आपत्ति प्रकट की।

यही कबीर को सार्व-भौमिक बना देता है। मातृ-भावना और समता की यह दृष्टि कबीर के पहले और कहीं नहीं दिखायी देती। भक्ति के क्षेत्र में सबकी समानता का भाव बहुत पहले रामानुज ने ही स्वीकार किया था, और तब से वह सब आचार्यों को मान्य हुआ। लेकिन भक्ति के क्षेत्र के बाहर वे जाति पांति के भेदों को मानते थे, और तत्सम्बन्धी आदेशों का पालन करते थे। लेकिन 'हम सब ईश्वर की सन्तान हैं, मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं, जाति या धर्म का कोई भेद नहीं है।' इस तरह का घोषणा करने वाले सर्व-प्रथम कबीर ही हुए। स्थान स्थान पर इस तरह कहना कितने साहस का काम है, हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। इस तरह कबीर मानवता के प्रथम कवि हैं। सबकी समता स्वतन्त्रता और भ्रातृ भावना का प्रचार करने वाले सार्व-जनीन विश्व-कवि हैं।

कबीर की वाणी में ओज है, शक्ति है। हृदय की सच्चाई और आत्मबल के कारण कबीर की वाणी में वह अद्भुत बल आ गया है। सत्य के स्वरूप को जब पहचान होती है, तब कहने की पद्धति कुछ और ही होती है। जो कुछ कहते हैं पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहते हैं। सत्य और एकता की उस पृष्ठ-भूमि में ही उनकी शक्ति और विशेषता का अनुभव कर सकेंगे।

कबीर की प्रतिभा बड़ी प्रखर है, जिससे उनकी बात बड़ी चुटीली और व्यङ्ग की हो जाती है। उस

व्यङ्ग से हृदय तिलमिला उठता है। कबीर के कहने का जबरदस्त प्रभाव पड़ता है—

पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।
ता तें या चाकी भली पीस खाय संसार॥

भाव सुकुमारता में भी कबीर किसी भी कवि से कम नहीं हैं। प्रेम का यह कैसा एकाधिकार है—

नैनों अन्तर आव तू नैन झाँपि तोहि लेंव।
ना मैं देखूँ और को ना तोहि देखन देंव॥

प्रेम की यह अनन्यता है। नैनों में लेने की कल्पना कितनी सुन्दर है, सुकुमार है। कला की बारीकियाँ, दूर की सूझ जो बिहारी तथा अन्य रीतिकालीन कवियों में देखते हैं, कबीर में नहीं मिलेंगी। दूर की उस कल्पना से कबीर की यह भाव-योजना कितनी स्वाभाविक है, कोमल है, हृदय स्पर्शी है।

कबीर के रहस्यवाद सम्बन्धी पद-साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से कम नहीं हैं। विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा-वेदना के ये पद हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय हैं। उन पदों में कुछ विशेष सरसता है, आडम्बर, अस्वाभाविकता या प्रयत्न ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। आधुनिक-काल में रहस्यवादी कवि बहुत हो गये हैं। लेकिन उनमें से किसी की कविता में भी कबीर की-सी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार, असीम व्याकुलता नहीं देखते। कला की प्रौढ़ता से मन को तृप्ति हो सकती है, हृदय को नहीं। कुछ कवियों में कला की प्रौढ़ता होती है, कुछ में रसार्द्रता और कुछ कवियों की कविता में उनकी ही आत्मा को देखते हैं। आत्मा की ही पुकार उनकी वाणी का रूप धारण करती है। इसलिये उनको पढ़ने में हमारी आत्मा को, हृदय को जो विशेष तृप्ति होती है, शान्ति मिलती है, वह अन्य कवियों की रचनाओं से नहीं। ऐसी प्रतिमा हिन्दी में केवल कबीर और तुलसी में देखते हैं। सारे संसार को सीताराम-मय देखने से तुलसी की भक्ति में, उनके आराध्य राम के शील सौन्दर्य और शक्ति के वर्णन में यह विशेषता आ गई है। भक्ति की चरम सीमा दीनता में है और परम विश्वास हो जाने पर आराध्य की शक्ति असीम मालूम होती है, उसके लिये कुछ असाध्य नहीं होता। प्रथम में आत्मा की पुकार सुनते हैं, दूसरे में में शक्ति-स्वरूप। परमात्मा से मिलने की अभिलाषा और वेदना कबीर के जीवन से अभिन्न अङ्ग नहीं, जीवन-मात्र सब कुछ हो जाने से कबीर की वाणी में वह व्याकुलता देखते हैं, आत्मा की पुकार सुनते हैं, जो आधुनिक काल के किसी रहस्यवादी कवि में सम्भव नहीं है। रहस्यवाद सम्बन्धी पदों से दो-एक उदाहरण—

हरि मेरा पीव माइ हरि मेरा पीव।
हरि बिन रह न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव हउ हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटकि लहुरिया॥
किया सिंगार मिलन के ताई······

× × ×

दुइ दुइ लोचन देखा।
हउ हरि बिन अउरु न देखा।
नैन रहे रंगु लाई
अब बे गल कहनु न जाई॥

इन पदों में न अलङ्कार है, और न कला की प्रौढ़ता। केवल इतना ही है—हरि मेरा प्रिय है और मैं उसके बिना अत्यन्त व्याकुल हूँ। हरि को देखने पर और कुछ नहीं है। न सुनने के लिये, न कहने के लिये और न देखने के लिये। भावों की यह सरलता कबीर की अपनी विशेषता है। आत्मा की विरह वेदना और व्याकुलता जिस मार्मिकता से कबीर में प्रकट हुई है, वह हिन्दी साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं। गम्भीर रहस्यमय अनुभूतियाँ, हर्षातिरेक, विरह व्याकुलता, शान्त-निश्चलता की स्थिति, आत्म समर्पण की उत्कण्ठा और भक्ति, आन्तरिक प्रेम के क्षण—परमात्मा के साथ मिलन की साधना में विरहिणी आत्मा की विविध स्थितियों

और भावों का बड़ा ही कोमल हृदय-स्पर्शी वर्णन हुआ है।

कबीर में रूपक और अन्योक्तियाँ अधिक मात्रा में मिलती हैं। रहस्यमय अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिए रूपकों, प्रतीकों और संकेतों का ग्रहण करना एक तरह से अनिवार्य ही है। लेकिन वे रूपक और अन्योक्तियाँ हैं अत्यन्त सरस। वे उपमा और रूपक हिन्दू और मुसलमानों के घरेलू विषय हैं। कल्पना का आधार सामान्य मानव जीवन है जिससे वह हर एक की अनुभूति का हो सके। वर-वधू, गुरु-शिष्य, यात्री, किसान आदि सरल रूपकों से ही हृदय की अभिलाषाएँ, भावातिरेक और रहस्यमय अनुभूतियों को प्रकट किया गया है। दीपावली का उत्सव, मन्दिर की घंटायें, विवाह, सती, यात्रा, षटऋतु आदि की उपमाओं से कबीर के पद बहुत ही सरस लगते हैं। औपानिक यात्रा में सांसारिक जीवन की नश्वरता का कितना प्रभावशाली आभास नीचे लिखे दोहे में है—

माली को आवत देखि कै कलियाँ कहैं पुकार।
फूले फूले चुनि लिये कालिह हमारि बार॥

नीति की दृष्टि से भी उनके दोहे गहरी अनुभूति लिये हुये हैं।

भाषा-शैली—कबीर की भाषा पर बहुत आक्षेप किये गये हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित है। हिन्दी की सभी बोलियों का (मुख्यतया राजस्थानी, पञ्जाबी, खड़ी बोली और ब्रज) का सम्मिलन (जिससे चिढ़ कर शुक्लजी ने सधुक्कड़ी संज्ञा दी) व्याकरण के नियमों के विरुद्ध बराबर प्रयोग और शब्दों को तोड़-मरोड़ने की प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। इस तरह का दोषान्वेषण कबीर की भाषा के सम्बन्ध में बहुत हुआ है लेकिन उनका भाषा पर अधिकार, शब्द-शक्ति, भावाभिव्यक्ति की सरलता और स्वाभाविकता भाषा-सौंदर्य पर शायद ही किसी की दृष्टि गई है। व्याकरण की दृष्टि से कबीर में बहुत सी अशुद्धियाँ हैं, यह तो ठीक है, पर साथ ही हमें साहित्य को साहित्य की दृष्टि से भी देखना है। तभी भाषा सौन्दर्य का ठीक मूल्याङ्कन हो सकेगा। भाषा भावों को प्रकट करने का माध्यम है। इस लिए सहज ही पहले यह प्रश्न उठता है कि कवि अपने भावों को स्पष्ट प्रकट करने में सफल हुआ है या नहीं। और फिर वह भाषा किस हद तक सजीव है। भावों को प्रकट करने में अधिक प्रयत्न या कृत्रिमता तो नहीं है।

इस दृष्टि से देखें तो कबीर को जितनी सफलता मिली है, उतनी हिन्दी के कम कवियों को। चाहे दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना हो, चाहे योग की चर्चा चलानी पड़े, और चाहे रहस्यमय अनुभूतियों को प्रकट करना हो, कबीर की भाषा में अस्पष्टता कहीं नहीं देखते। भाषा भावों को प्रकट करने में सर्वथा समर्थ है। इतना ही नहीं कबीर की भाषा में ओज है, बल है, शक्ति है। उनकी प्रतिभा बड़ी ही प्रखर है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

दर्शन मात्र से तन्मयता की स्थिति का कितना सजीव वर्णन है। चारों ओर ईश्वर की दीप्ति की छटा है। अरुणिमा फैली हुई है। अरुणिमा में सब वस्तु लाल दिखायी देती है, जिस पर अरुणिमा पड़ती है लाल हो जाती है। रंग में रँग जाती है। और भाषा की स्वाभाविकता को भी देखिये। कृत्रिमता या प्रयत्न कहीं भी नहीं मालूम होता। लाल शब्द का इतना अधिक प्रयोग हुआ है, फिर भी हमारी दृष्टि उस ओर नहीं जाती। भाव तन्मयता और भाषा सौंदर्य पर ही हमारा ध्यान केन्द्रित रहता है। और कवि अनुप्रास, यमक आदि के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं, प्रयोग करते हैं, ध्वनि माधुर्य से आकर्षित होते हैं; पर अर्थ पिछड़ जाता है। कबीर में हम यह कभी नहीं देखते।

(शेष पृष्ठ १२१ पर)

कृष्णकाव्य में राधिका के व्यक्तित्व का विकास

श्री अम्बाप्रसाद शुक्ल एस० ए०, साहित्य-रत्न

अनेक विद्वानों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व हो चुका था। श्रीकृष्ण का दूसरा नाम वासुदेव भी है। श्री पाणिनि के व्याकरण में वासुदेव और अर्जुन देवयुग्म हैं। प्रसिद्ध मैगस्थिनीज ने भी लिखा है कि ईसा के ३०० वर्ष पूर्व कृष्ण की पूजा मथुरा में होती थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृष्ण की पूजा का प्रारम्भ 'उपनिषदों' के साथ ही हुआ, क्योंकि 'महानारायण उपनिषद' में विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का ही पर्यायवाची शब्द है, अतः कृष्ण ही विष्णु का सूचक हुआ।

इस प्रकार वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, बाद में विष्णु और अन्त में गोपाल कृष्ण हुआ।

जब हम महाभारत में कृष्ण के व्यक्तित्व का दर्शन करते हैं तो वे केवल मनुष्य रूप में ही नहीं देव रूप में भी स्थापित हुये हैं। वहाँ कृष्ण की भावना परब्रह्मस्वरूप में है, गोपाल कृष्ण के रूप में नहीं। गोपाल कृष्ण की भावना का विकास 'हरिवंश पुराण' में हुआ है। उसमें कृष्ण अपने पिता नन्द से गोवर्द्धन-पूजा की प्रार्थना के समय अपने को पशुपालक कहते हैं और अपना वैभव गोधन से ही मानते हैं। उनका प्रारम्भिक जीवन प्रकृति की गोद में ही विकसित हुआ था। जिस समय उन्होंने अपने अलौकिक कृत्य से व्रज की जनता का रक्षण किया उस समय उन्होंने अपने ईश्वरत्व का आभास कराया। इससे हमें यह कहने में संकोच न होना चाहिए कि कृष्ण का ईश्वरीय रूप में विकास उनके गोपालजीवन से ही प्रारम्भ हुआ था।

जिस प्रकार रामानन्द ने श्रीरामानुजाचार्य से प्रभावित होकर तथा विष्णु और राम का रूपान्तर कर राम भक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रख कर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति भागवतपुराण से ली जाने के कारण उसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का महत्व अधिक है, आत्मचिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। श्री वल्लभाचार्यजी ने ईसा की १५ वीं शताब्दि में कृष्ण-भक्ति का अत्यधिक प्रचार किया। उन्होंने दार्शनिक पक्ष में शुद्धाद्वैत की स्थापना की और भक्ति के पक्ष में पुष्टिमार्ग की। इस प्रकार दोनों के योग से सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म की कल्पना की, और कृष्ण को इसी ब्रह्म स्वरूप माना। इनके सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव कवि हुए जिन्होंने कृष्ण भक्ति का बहुत ही प्रचार अपनी उत्कृष्ट रचना द्वारा किया।

यहाँ तक श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव और कृष्णभक्ति के प्रचार की बात हुई। अब राधा के जीवन के इतिहास के बारे में विचार करने की चेष्टा करूँगा। श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव और कृष्णभक्ति के प्रचार की बात इसलिए हुई कि गोपाल कृष्ण के साथ ही राधा का स्थान है।

महाभारत में श्रीकृष्ण के गोपजीवन का थोड़ा सा वर्णन होने से वहाँ राधा के चित्रण का अभाव है। इस ग्रन्थ में विशेष बात यह है कि एक गोपी जो कृष्ण के साथ एकान्त में विचरण करती थी उसका उल्लेख है।—अन्य गोपियाँ उसे इस प्रकार कृष्ण के साथ देखकर उसका मान करतीं और सोचती थीं कि शायद इसने अगले जन्म में कृष्ण की आराधना की हो।

माध्व-सम्प्रदाय जो 'भागवत-पुराण' के आधार पर पहला सम्प्रदाय है जिसमें कृष्णोपासना पर

ज्यादा जोर दिया गया है उसमें राधा को स्थान नहीं दिया गया है। 'भागवत-पुराण' के आधार पर जिन अन्य पुराणों का निर्माण हुआ है उनमें राधा को स्थान दिया गया है। 'भागवत पुराण' में जिस विशेष गोपी का उल्लेख है वह अपनी आराधना के कारण कृष्ण को प्रिय है। इससे यह प्रतीत होता है कि इसी 'आराधना' शब्द से 'राधा' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। 'राधा' शब्द संस्कृत धातु 'राध' से बना है जिसका अर्थ सेवा करना या प्रसन्न करना है। वह 'विशेष गोपिका' श्रीकृष्ण की सेवा करती होगी और उनको अपनी सेवा द्वारा प्रसन्न करती होगी, शायद 'राधा' शब्द का उसके लिए प्रयोग हुआ हो तो निरर्थक नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है कि जिसमें 'राधा' का पहले पहल इस अर्थ में प्रयोग हुआ हो। लेकिन जो ग्रन्थ प्राप्त हैं जिसमें 'राधा' का पहले पहल उल्लेख मिला है, वह 'गोपालतापनी उपनिषद' है जिसमें राधा कृष्ण की प्रेयसी के रूप में चित्रित की गई है।

विष्णु-स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय में भी, जो माध्व सम्प्रदाय के बाद हुए और जिन्होंने कृष्ण का ब्रह्मत्व स्वीकार किया है, राधा का निर्देश नहीं है। निम्बार्क सम्प्रदाय के जयदेव कवि ने राधा-कृष्ण के विहार की रचना की। ऐसा माना जाता है कि राधा की उपासना वृन्दावन में सन् ११०० के लगभग 'भागवत पुराण' के आधार पर हुई होगी और वहीं से बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची होगी। बङ्गाल में चैतन्य महाप्रभु ने और वृन्दावन में श्रीवल्लभाचार्यजी ने राधा को विशिष्ट स्थान दिया। श्रीवल्लभाचार्य की राधा की उपासना से प्रभावित होकर महाकवि सूरदास ने अपनी कवित्व-शक्ति और भक्ति-भावना से राधा-कृष्ण की उपासना में अनेक मधुर और मादक गेय पद बनाए; तथा जयदेव से प्रभावित होकर मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति ने भक्त-हृदय की भावना के आवरण में राधा की उपासना में लौकिक शृङ्गार का दर्शन कराने वाले गेय पदों की रचना की। इस प्रकार श्री राधा को श्रीकृष्ण के साथ उपास्य के रूप में महाकवि सूरदास और विद्यापति की रचनाओं में महत्व पूर्ण स्थान मिला।

कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ हिन्दी में तो महाकवि विद्यापति से माना जाता है किन्तु विद्यापति जयदेव से प्रभावित होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए।

जयदेव का 'गीतगोविन्द' मधुर, मादक और सरस है। इसमें आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा लौकिक शृङ्गार का अधिक दर्शन कराया है। डॉ० रामकुमार वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं—"उसमें कामसूत्र के संकेतों के आधार पर राधा-कृष्ण परिरंभन है, विलास है, क्रीड़ा है। भक्ति-भावना का बिलकुल अभाव है। शृङ्गार ही काव्य की शोभा है, शृङ्गार ही काव्य का रस है, रतिभाव ही काव्य का मुख्य भाव है।" इस से प्रतीत होता है कि राधा का चित्रण एक साधारण नायिका के रूप में है और कृष्ण का एक साधारण नायक के रूप में।

महाकवि विद्यापति इसी शृङ्गार-मय रचना से प्रभावित हुए। अतः उनकी 'पदावली' भी वैसी ही शृङ्गार भावना से पूर्ण हुई है जैसे 'गीत गोविन्द'। उन्होंने राधा-कृष्ण का वर्णन बड़ी सुन्दर एवं सजीव शैली में किया है। मैथिली की कोमलता में राधा के अंगों की कोमलता को व्यक्त करने का उन्होंने सुन्दर प्रयत्न किया है तथा संयोग और विप्रलंभ को उत्कृष्ट बनाने की अलौकिक चेष्टा की है। भक्त हृदय के आवरण में राधा-कृष्ण के जीवन के प्रसङ्गों को सङ्गीत की लहरों में लहराने का प्रयत्न उन्होंने किया किन्तु उसमें वे असफल रहे, कारण यह कि उनकी कविता राज दरबार के लिए थी। अतः राधा-कृष्ण केवल कामुक नायक नायिका के रूप में चित्रित हुए। अपनी कोमल कान्त 'पदावली'

सन्धि' का जो वियोग है वह उनकी अपनी एवं मौलिक कल्पना है, जयदेव में यह प्रसंग नहीं है। जयदेव की राधा केलि-चतुरा, यौवन-प्राप्त नायिका है जो छल से नायक कृष्ण को प्राप्त करना चाहती है। विद्यापति की राधा में शैशव-यौवन का उसके शरीर पर युद्ध है। बाहर और भीतर दोनों में संघर्ष है। यह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। राधा के यौवन के विकास के साथ मनोभावों का विकास भी कवि ने सुन्दर रूप से कराया है। नेत्र दीर्घ होते हैं, वचन में चातुरी आती है, मुक्त हास्य गुप्त हुआ, कुच निकल आए। अतः—

चरन चपल गति लोचन पाव।
लोचनक धैरज पदतल जाव॥

इस प्रकार कामदेव उसके शरीर पर अधिकार कर लेता है। राधा के प्रत्येक अङ्ग का रूप बदल जाता है और काम पीड़ा देने लगता है। राधा समझती है कि कामदेव भगवान कैलाशपति का शत्रु है और मुझमें महादेव के चिह्न देख कर पीड़ा देता है, इसलिए वह काम से प्रार्थना करती है:—

कत न वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला मोहि जुवति जना॥

वह अपने में केवल एक दोष देखती है:—

एक पए दूखन नाम मोरा बामा।

अर्थात् मेरा नाम 'बामा' (रमणी) है जो महादेव के 'वामदेव' के नाम से मिलता-जुलता है।

इस प्रकार देखा गया कि विद्यापति की रचना में भक्ति-भावना का अभाव है। उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में उनके भक्त-हृदय का रूप छिप जाता है। कविता में कलामात्र है, भक्ति-भावना-मय व्यक्तित्व नहीं। राधा इसलिए प्रेम करती है कि अन्य स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं, कृष्ण से इसलिए प्रेम करती है कि सौन्दर्य से प्रेम किया जाता है।

अत्यधिक शृङ्गार का कारण उनकी कविता राजदरबार के लिये थी। उनका ध्यान 'राजा सिवसिंघ रूप नरायन लखिमा देइ रमाने' की ओर विशेष था। विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदय-ग्राही वर्णन नहीं किया जितना वाह्य-जगत का। वह केवल सौंदर्योपासक थे। सौंदर्य की वस्तु हमेशा आनन्ददायिनी होती है।

इससे यह निश्चित होता है कि राधा का चरित्र चित्रण एक कामिनि नायिका के रूपमें हुआ है। ईश्वरत्व का दिग्दर्शन करने वाले श्रीकृष्ण के लिए ऐसी राधा योग्य नहीं है। विद्यापति की इस कमी को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्य कवियों और सूरदास, नन्ददास जैसे महाकवियों ने दूर करने की कोशिश की है और राधा को अपनी उपासना की साधना बनाकर एक विशेष प्रकार का स्थान ब्रज-भाषा काव्य में दिया है। विद्यापति के बाद राधा-कृष्ण की भावना महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' में उपस्थित हुई और अनेक भक्तकवियों द्वारा अपने सच्चे हृदय के प्रेममय जल से सिंचित हुई। स्व० रामचन्द्र शुक्लजी के शब्दों में—"जयदेव की देव-वाणी स्निग्ध पियूषधारा, जो काल की कोठरी में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सर-सता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कण्ठ से प्रकट हुई और आगे चलकर करील कुञ्जों के बीच फैले मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अन्धे कवि सूरदास की वीणा की थी।" इस प्रकार सूरदास की वीणा में से राधा-कृष्ण की उपासना की झनकार निकलने लगी जो अनेक भावों में विभक्त होकर 'सूर सागर' को भरने लगी। सूरदास ने वात्सल्य और शृङ्गार का विशेष और सूक्ष्म रूप से वर्णन किया है जिसमें ऐसे भावों को व्यक्त किया है जिनका नामकरण भी अभी तक नहीं हुआ है। कवियों की सच्ची पहुँच यही है।

सूर की बाल क्रीड़ा में कृष्ण और गोपियों के बीच प्रेम की चेष्टाओं का प्रारम्भ होता है जिनके

द्वारा प्रेम का सर्जन होता है और इसी प्रेम की नवीन सृष्टि में रूप लिप्सा और साहचर्य्य का योग है। कृष्ण-गोपियों का प्रेमबन्धन ऐसा है जो किसी समय पर नहीं छूट सकता। गोपियाँ और कृष्ण का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा तथा ईश्वर और जीव का अमर सबन्ध है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं:—

"लरिकाई को प्रेम कहौ, अली कैसे छूटे।"

राधा की भी यही स्थिति है। वह कृष्ण के प्रेम में पागल है। बचपन यौवन में परिणत हो जाता है। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही है। राधा कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सबने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है। कृष्ण राधा को देखते ही उसके रूप में अन्धे बन जाते हैं। देखिए:—

खेलन हरि निकसे ब्रज-खोरी।
गए स्याम रवि-तनया के तट,
अङ्ग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा,
नन विशाल, भाल लिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे,
नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

और यह राधा-कृष्ण का संवाद:—

"बूझत स्याम कौन तू गोरी!
कहाँ रहति, काकी तू बेटी?
देखी नाहि कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवत?
खेलति रहति आपनी पोरी।
सुनति रहति नन्द-ढोटा करत-
रहत माखन-दधि-चोरी।
तुम्हरी कहा चोरी हम लै हैं?
खेलन चलौ सङ्ग मिलि जोरी।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि
बातन भुरर राधिका भोरी॥"

इस प्रकार प्रेम उभय पक्ष में उत्पन्न होता है। दोनों एक दूसरे को मिलने के लिए आतुर रहते है। शुक्लजी के शब्दों में सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम सङ्गीत मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता है····। राधा और कृष्ण वन में गाय चराते समय एक दूसरे से मिलते हैं और इस प्रकार वे दोनों एक दूसरे के घर पर आने-जाने लगते हैं। कभी-कभी आपस में झगड़े भी होते हैं। जैसे:—

(क) करि ल्यो न्यारी, हरि आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लात कछु तुमसौं,
सबै ग्वाल इकठैयाँ॥
(ख) तुम पै कौन दुहावै गैयाँ।
इत चितवत, उत धार चलावत,
एहि सिखयो है मैया?

इस प्रेम में न विलास की मादकता है, न छल कपट और न बाह्य शृङ्गार द्वारा नायक को आकर्षित करने की रीति जो जयदेव और विद्यापति की राधा में पायी जाती है। इसमें विशुद्ध प्रेम की धारा है, भोला व्यक्तित्व है और उस व्यक्तित्व के प्रति सच्चे भक्त हृदय की उपासना है। सूरदास का विप्रलम्भ शृङ्गार एक उत्कृष्ट रचना है। कृष्ण के विरह में राधा और अन्य गोपियाँ व्यथित हैं। उस समय उद्धव राधा को कृष्ण की पत्री देते हैं और राधा उसे:—

निरखत अङ्क स्याम सुन्दर के
बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलिकै
ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥

सूरदास ने 'अङ्क' और 'स्याम' के श्लेष द्वारा उत्कृष्ट प्रेम की व्यञ्जना की है। राधा का व्यक्तित्व सूर के काव्य में एक सच्ची प्रेयसी के रूप में विकसित होता है जो भक्त हृदय की शुद्ध भावना का प्रतिबिम्ब है।

अष्टछाप के कवियों ने राधा के महत्व को और भी बढ़ा दिया है और यहाँ तक कि श्री हितहरिवंश जी 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' के प्रवर्तक भी हुए। श्री हितजी ने स्वप्न में राधिकाजी से मन्त्र ग्रहण किया था और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आरम्भ

'हित चौरासी' बड़ा अनूठा ग्रन्थ है जिसे पढ़ते-पढ़ते कवि कोकिल जयदेव का स्मरण हो आता है। श्री हित जी ने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्रीराधा कृष्ण के विशुद्ध शृङ्गार का वर्णन किया है। यहाँ भावों की कोमलता, भाषा की सुन्दरता एवं मधुरता तथा सजीव अभिव्यञ्जन शक्ति की सरसता में राधा का जो वर्णन हुआ है उसमें सच्चे भक्त हृदय की भक्ति-भावना का विमल स्रोत बहता है।

श्री हरिराम व्यासजी, जो हितजी के शिष्य थे श्रीराधा की अलौकिकता के बारे में लिखते हैं:—

परम धन राधे नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारम्बार॥
जंत्र-मंत्र और वेद-तंत्र में, सबै तार कौ तार।
श्रीसुक प्रकट कियौ नाहिं यातें, जानि सार कौ सार॥
कोटिन रूप धरे नँद-नन्दन तऊ न पायौ पार।
'व्यास दास' अब प्रगट बखानत, डारि भार में भार॥

व्यासदासजी की श्री राधिका के प्रति अनन्य भक्ति भावना का द्योतक यह पद है जो बहुत ही सुन्दर एवं सजीव है।

इस प्रकार शनैः शनैः राधा कृष्ण की भावना भक्तिकाल में भक्त हृदय में प्रवाहित हो कर रीतिकाल में शृङ्गारिक भावना में सम्मिलित हुई और वहाँ राधा-कृष्ण उपास्य न रह कर एक नायक-नायिका के रूप में जनता के सामने आये। राधा कृष्ण की इस भावना में केवल बाह्य शृङ्गार, रूप लिप्सा तथा कामुकता ही रही जिसके द्वारा जनता की अभिरुचि तृप्त होती थी। इसका कारण यह था कि वह शृङ्गार की अभिरुचि का युग था, जिसमें जनता केवल विलास और भोग की तृप्ति के सिवा और कुछ चाहती न थी धर्म की भावना नष्ट प्रायः हो गई थी। अन्त में राधा-कृष्ण की भावना आज उस स्थान तक सीमित रही जहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार है। राधा-कृष्ण की जीवन कहानी जनता के आदर्श के रूप में ही रही।

(पृष्ठ ११६ का शेष)

कबीर की भाषा की सबसे प्रधान विशेषता है उसकी सरलता। उनको जो कुछ कहना है सीधे-सादे शब्दों में सरल ढंग से कह लेते हैं। लेकिन उस कहने की पद्धति में एक बहाव है। बात उनके मुख से सुगमता से निकलती है, कहीं बीच में नहीं रुकती। इसलिये कबीर की वाणी में एक स्वाभाविक धारा प्रवाह देखते हैं—

मरिये तो मर जाइये, छूटि परै जंजार।
ऐसा मरना को मरै दिन में सौ-सौ बार॥

कैसी विडम्बना है। अकाम करते हैं और लज्जा के मारे मर जाते हैं। न जाने कितने बार ऐसा होता है। इसकी अपेक्षा सदा के लिए मर जाते तो कितना अच्छा होता। कबीर की भाषा इतनी सरल और कहने की पद्धति इतनी सीधी होती है कि हृदय पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है, उनकी वाणी हृदय को स्पर्श करने वाली होती है।

कबीर जिनहु किछू जानिआ नहीं,
तिन सुख नींद बिहाई।
हमहु जु बूझा बूझना,
पूरी परी बलाई॥

कबीर की भाषा में रूपक और अन्योक्तियाँ बहुत अधिक हैं। फिर भी कहीं आडम्बर या अलंकारिता का अनुभव नहीं होता। अलंकार रहे और उसका अनुभव न हो; कवि की प्रतिभा, उसकी वाणी की स्वाभाविकता का यही सबसे अधिक परिचायक है—

कबिरा एक अचंभउ देखिओ हीरा हाट बिकाइ।
बनजन हारे बाहरा, कउडी बदले जाइ॥

उलटी बाणियों का अर्थ लगाना बहुत कठिन हो सकता है, लेकिन कबीर की भाषा में कहीं भी क्लिष्टता नहीं है। बिहारी या रीतिकाल के कवियों की रचनाओं के अन्वय में जो कठिनाई का अनुभव करते हैं, वह कबीर में नहीं। प्रायः भाव सरल होते हैं और कहने की पद्धति भी सीधी होती है। जहाँ कहीं सावयव रूपक मिलते हैं वहाँ भी प्रसाद गुण देखते हैं—

नैनों की कटि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥

महादेवी की रहस्य भावना

श्री कौशलकिशोर बी० ए०, डिप्-इन-इड्

काव्य में अजर-अमर परमात्मा की सत्ता, महत्ता एवं महानता का मंजुल उद्घोष एवं अभिव्यञ्जना ही रहस्यवाद की सत्ता पाता आ रहा है। सच तो यह है कि हिन्दी काव्य में कबीर आदि सन्त कवियों की पुनीत वाणी में हम सर्व-प्रथम ईश्वरीय विभूति का पावन, सुन्दर एवं अभिनव गुण-गान पाते हैं। "सुन सखि जिउ मँह जिउ बसै, जिउ मँह बसै कि पिउ"—कहकर इन संत कवियों ने अपने तपः-पूत शरीर को 'पिउ' के चरणों में न्योछावर कर दिया। पर इनकी पुनीत एवं लोकोपकारी भावनाएँ अपने तक ही सीमित न रह सकीं। इनकी खंजरी के सुमधुर स्वर के साथ-साथ इनकी वाणी का स्वर भी आर्यावर्त के घर-घर में गूँज उठा और निखिल भारतीय सन्तान अपने हृदय में बैठे 'पिउ' के लिए व्यग्र हो उठीं। आगे चलकर इनकी पीयूष-वर्षी वाणी 'मीरा' के कोमल कानों में गूँज उठी। और वह अपने 'मोर मुकुट' वाले 'बैद सँवलिया' के लिए तड़प उठीं। सारा राजमहल थर्रा उठा, पर मीरा—'दरद दिवाणी' मीरा—अपने प्रेम की पीर की एक-मात्र दवा 'बैद सँवलिया' के लिए पुकार मचाती ही रही। विश्व की कोई भी शक्ति उसे अपने मार्ग से विचलित न कर सकी। और, महादेवी—मीरा का आधुनिक संस्करण—भी उसी अगोचर एवं चिर-सुन्दर के लिए तड़पती रहती हैं, वही इनका एक-मात्र आराध्य है, वही इनका एक-मात्र 'बैद सँवलिया' है।

महादेवी नवयुग की साधिका हैं। इनकी अर्चन-पूजन पद्धति अपनी है। मन्दिरों में जाकर प्रस्तर-खण्डों के समक्ष आरती दिखाना शायद इन्हें अच्छा नहीं लगता। इनकी नवीन अर्चन-वन्दन पद्धति देखिये। सारा शरीर ही एक पवित्र देवालय है, एक पुनीत देव-मन्दिर है—

> क्या पूजा क्या अर्चन रे?
> उस असीम का सुन्दर मन्दिर
> मेरा लघुतम जीवन रे!
> मेरी श्वासें करतीं रहतीं
> नित प्रिय का अभिनन्दन रे!
> पद रज को धोने उमड़े आते
> लोचन से जल कण रे!
> अश्रुत पुलकित रोम मधुर
> मेरी पीड़ा कर चन्दन रे!
> स्नेह भरा जलता है झिलमिल
> मेरा यह दीपक मन रे!
> मेरे दृग के तारक में
> जब उत्पल का उन्मीलन रे!
> धूप बने उड़ते रहते हैं
> प्रति पल मेरे स्पन्दन रे!
> प्रिय प्रिय जपते अधर ताल
> देता पलकों का नर्तन रे!

साधकों का संसार ईश्वर से अपने सम्बन्ध की कल्पना भिन्न-भिन्न रूपों में करता आया है। 'कबीर' ने अपने को 'राम की बहुरिया' 'पिउ हिरदय मँह भेंट न होई' 'कोरे मिलाव कहाँ केहि होई'—की पुकार मचाने वाले जायसी ने ईश्वर की कल्पना स्त्री रूप में की और साधकों को पुरुष रूप में उसकी प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित एवं व्यथित बताया। मीरा ने 'जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' कह कर माधुर्य भाव की उपासना की। महादेवी भी 'मीरा' की तरह अपने ईश्वर को प्रियतम रूप में देखती हैं। वह कहती हैं—

प्रिय चिरन्तन है सजनि
और वह स्वयं—
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।

ऐसा देखा जाता है कि ज्यों-ज्यों साधक अपनी साधना में लीन होता जाता है त्यों-त्यों वह कृत्रिम अलङ्कार के अनावश्यक बोझ से दूर होता जाता है, पर वह अलङ्कार का सर्वथा त्याग नहीं कर पाता—कर पाता है तब जब उसके 'अहं' का 'इदं' के साथ समन्वय हो जाता है। लेकिन जैसे २ साधक कृत्रिम अलङ्कारों को छोड़ कर प्राकृतिक अलंकारों की ओर बढ़ता जाता है, अथवा यों कहिये कि ज्यों ज्यों वह स्थूलता का त्याग कर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी साधना, आराधना एवं उपासना मधुर से मधुरतर होती जाती है। और, महादेवी ने भी सच्चे साधकों की तरह प्राकृतिक उपकरण ही अपनाया है। अपने प्रियतम को रिझाने के लिए प्राकृतिक उपकरण ही महादेवी को प्रिय हैं—

रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण,
ले नव अशोक का मधुर राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला
रजनी-गंधा का पराग।

सन्त कबीर की आत्मा—'विरहिन आत्मा' जब अपने प्रियतम से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठी थी तो उसने पुकार मचायी थी—

ये अखियाँ अलसानी हो, पिय सेज चलो।

महादेवी की आत्मा भी अपने प्रियतम के लिए तड़पती है, पर फिर भी 'प्रिय क्यों आता इस पार नहीं' का व्यवधान समाप्त नहीं हो पाता। वह सच्चे साधकों की तरह अपने प्रियतम की मधुर ध्वनि सुनती है, पर उसके निकट पहुँच नहीं पाती।

प्रियतम के मिलन में त्याग की भावना होनी चाहिए। हम अपने को जितना पीड़ित करेंगे, वह 'छलनामय' प्रभु हमारे निकट आता जाएगा। उत्सर्ग की चरम परिणति चरम मिलन में ही होगी। महादेवी भी ऐसा ही समझती हैं। वह कहती हैं कि जब तक हम अपने को क्षय नहीं करते, तब तक वह महाप्रभु दूर रहता है। वह मिलेगा तब ही जब हम—

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय।
मधुर मिलन में मिट जाता तू,
उसके उज्ज्वल स्मित में घुल-मिल॥

—के रहस्य को समझ सकेंगे। सम्भवतः इसी लिए सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं सन्तों ने अपने शरीर को भिन्न रूपों में पीड़ित करने का भिन्न-भिन्न साधन बना रक्खा था।

साधक कबीर को अपना 'नैहरवा' नहीं भाता था—

नैहरवा हमका नहिं भावै।

वह तो—

सांई की नगरी परम अति सुन्दर,
जहँ कोई न जाय न आवै।

—के लिए अनवरत उत्कंठित रहा करते थे। और कभी-कभी इसी पुलक में उनकी आत्मा उल्लसित हो कह भी उठती थी—

पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।

हमें तो लगता है कि महादेवी को भी यह संसार अच्छा नहीं लगता। वह कहती हैं—

सखे! यह है माया का देश,
क्षणिक है मेरा तेरा संग।
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु,
सजीला-सा फूलों का रंग।
तुम्हें करना विच्छेद सहन,
न भूलो हे प्यारे जीवन।

यह संसार के प्रति अनास्था नहीं तो और क्या है? पर कभी-कभी कबीर की आत्मा की तरह इनकी आत्मा भी उल्लसित हो कहती भी है—

जाने क्यों कहता है कोई,
मैं तमकी उलझन में खोई?
मैं कण-कण में ढाल रही अलि,
आँसू के मिस प्यार किसी का।

मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का ॥

विरहिणी आत्माएँ अपनी 'सूनी सेज' पर तड़पती रहती हैं। उनका यह तड़पना भौतिक नहीं, आध्यात्मिक रहता है। 'दादू' की आत्मा की यह पुकार देखिये—

वाला सेज हमारी रे तूँ आव,
हौं बारी रे, दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुंदर सेज सँवारू रे,
जियरा तुम पर वारूँ रे।

महादेवी भी अपनी भौतिक नहीं, आध्यात्मिक सेज शून्य देख रो पड़ती हैं। वह कहती हैं—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर।

'बादल' संतों की तरह महादेवी का पथ दुर्गम पथ है, तलवार की धार है। साधक ज्यों-ज्यों अपनी साधना में क्षिप्रता से आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे अपने प्रियतम के आगमन की ध्वनि पा चकित होना पड़ता है। आध्यात्मिक यात्रा की यह प्रगति अभिनन्दनीय है। महादेवी भी अपनी आध्यात्मिक यात्रा के दुर्गम मार्ग में जाती हुई यह प्रश्न कर बैठती है—

मुस्काता संकेत भरा नभ,
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

और, तभी उसकी आत्मा में एक नया स्पन्दन होता है—

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन ?
रोम रोम में होती री सखि
एक नया का सा स्पन्दन।

निर्गुण सम्प्रदाय के संतों ने 'नाम-सुमिरन' का महत्व बतलाया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपनी पुस्तक' The Nirguna School of Hindi poetry में एक स्थल पर इसी के सम्बन्ध में लिखा है—"नाम सुमिरन को संसार के सभी धर्मों ने एक विशेष स्थान दिया है।" महादेवी भी नाम के महत्व को स्वीकार करती सी जान पड़ती है। सम्भवतः वह इसे साधना के लिए उत्तम समझती है-

प्राण-पिक, प्रिय नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
बँध गया वह लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू,
चिर-मिलन का प्रात रे कह !

आत्मा की साधना का प्रतिफलन परमात्मा के मिलन में सन्निहित है। महादेवी की आत्मा पुकारती है—

जो तुम आ जाते एक बार !

इस 'एक बार' में कितनी उत्कण्ठा है। और तब—

कितनी करुणा कितने सन्देश,
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार,
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू पद लेते वे पखार !

भ्रमवश ऐसा आलोचक कहा करते हैं कि महादेवी के गीतों में आँसू के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। मैं कहता हूँ—आँसू हैं अवश्य हैं, पर यह विरह-जन्य आँसू नहीं है—यह हैं आध्यात्मिक विरह-जन्य आँसू और ऐसे ही गीतों के लिए कहा गया है -

Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

ऐसे आँसुओं की बूँदों का साधारण मूल्य न होता जिनकी आत्मा अपने 'बालम' के लिए दिन-रात तड़पती रहती हैं, उनकी वियोगिनी आँखों से ही ऐसे अविरल अश्रु-धार चलते हैं। यह साधकों की बड़ी ही उच्च स्थिति है। महादेवी के गीत अगर आँसुओं से गीले हैं, तो उनका आध्यात्मिक महत्व है, आध्यात्मिक मूल्य है। महादेवी ने इसी उच्च भाव भूमि पर पहुँच कर ऐसा कहा है—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्झरिणी मचली।

'पलकों में निर्झरिणी मचलना' साधकों की बहुत बड़ी उच्च स्थिति है।
और यह प्रेम बहुत ही मधुर समझा जाता है, उसी स्थिति में जब कि वह अश्रु-सिक्त हो—

And love is the loveliest when enbalmed in tears.

आचार्यों ने बतलाया है विरहिणियों को वियोग-दशा में अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, प्रभृति दशाओं में गुजरना पड़ता है। हमारा तो ख्याल है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में विरहिणी आत्माओं को भी ऐसी मनोदशाओं से गुजरना होता है। महादेवी की एक अभिलाषा देखिये—

तुम्हें बाँध पाती सपने में,
तो चिर-जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।

इस प्रकार इनके गीतों में और-और मनोदशाएँ भी देखी जा सकती हैं।

महादेवी का प्रिय उस पार है। वह उसे इस पार लाना चाहती है। वह तो हैरान है—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं?

उसने उसे लुभाने के लिए प्रसाधन भी ठीक कर दिया है—

शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर फिर ये अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं?

दिवानी 'मीरां' ने अपने 'वैद-सँवलिया' के लिए अभिसार किया था—

गली तो चारों बन्द हुई मैं
हरिसूँ मिलूँ कैसे जाइ।
ऊँची नीची राह रपटीली
पाँव नहीं ठहराइ।

सन्तों ने कहा है कि ईश्वर विश्व के रग रग में, कण-कण में परिव्याप्त है—

खालिक खलिक, खलिक में खालिक,
सब घट रहा समाई।

और, वही ईश्वर 'मेरे पास' में भी है। महादेवी भी ऐसा ही समझती हैं। 'उसे' अपने हृदय में पा कुतूहल होता है। वह पूछ बैठती हैं—

कौन तुम मेरे हृदय में!
कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलसित,
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर भरता अपरिचित,
स्वर्ण-स्वप्नों को चितेरा,
नींद के सूने निलय में,
कौन तुम मेरे हृदय में!

हमारा विश्वास है कि महादेवी की भावनाएँ धीरे धीरे मधुर से मधुरतर होती जा रही हैं। वे अपना सम्बन्ध अपने प्रियतम से इस प्रकार बतलाती हैं—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-सङ्गम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया—छाया में रहस्य!
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?

अपने प्रियतम की 'अमर सुहागभरी' और 'अनंत अनुराग भरी' साधिका अब धीरे-धीरे अपने प्रिय-मिलन के सपने देखने लगी हैं।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रो० गोपीनाथ तिवारी, एम० ए०

एक ही समय, एक ही सरोवर में दो कमनीय कमल मुस्कराए। दोनों ने मुक्तहस्त पराग बखेरा। हिन्दी संसार सुरभित हो उठा। एक ने उपन्यास क्षेत्र पर आसन जमाया तो दूसरे ने नाटक-मञ्च पर अधिकार किया। ये दोनों यशस्वी कलाकार थे—श्री प्रेमचन्द एवं प्रसाद। वैसे तो प्रेमचन्दजी ने नाटक लिख कर नाटककार कहलाने का भी असफल प्रयास किया और उधर प्रसादजी ने भी उपन्यास भवन के निर्माण में दो तीन ईंटियाँ लगाईं पर क्षेत्र दोनों का भिन्न ही रहा। उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा उपन्यासकार प्रसाद में बहुत सी समानताएँ मिल जायँ तो आश्चर्य न होगा। उसी प्रकार नाटककार प्रसाद एवं प्रेमचन्द के नाटकों में भी कुछ समान प्रवृत्तियाँ मिल ही जायेंगी। कारण स्पष्ट है। दोनों एक ही मार्ग के यात्री हैं, किन्तु कैसी विचित्र बात है कि नाटककार प्रसाद एवं उपन्यासकार प्रेमचन्द में बहुत साम्य प्राप्त होता है। इसका बहुत कुछ कारण तो यह है कि दोनों ने एक ही आकाश के नीचे डेरा लगाया, एक ही युग के वातावरण को पिया तथा एक ही प्रान्त, नहीं नहीं एक ही नगर से नाता बनाए रक्खा।

दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही है—मानव जीवन को ऊपर उठाना। अतः दोनों ही आदर्शवादी कलाकार हैं। दोनों के दिलों में एक ही धड़कन थी, एक ही गति। दोनों अपने देश का उत्थान चाहते थे। अतः दोनों ने देशभक्ति की सुरसरी धारा प्रबल वेग से प्रवाहित की। हाँ, मार्ग दोनों के दो थे। प्रसाद ने अतीत के गौरव-चित्रों का स्मरण कराया, "अरुण यह मधुमय देश हमारा (चन्द्रगुप्त)" "हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार (स्कन्दगुप्त)" एवं "हिमाद्रि तुङ्ग श्रृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती (चन्द्रगुप्त)" का शंख घोष कर भारतीयों के हृदयों में देश प्रेम का सागर उद्वेलित किया और पूछा "वसुन्धरा का हृदय भारत किस मूर्ख को प्यारा नहीं"। उनकी 'अलका' राष्ट्रीय ध्वज लेकर स्वयं सेवक सैनिकों के आगे कूच करती है। उधर प्रेमचन्द ने प्रसिद्धि ही पाई है, राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में। श्री रामदास गौड़ के शब्दों में 'प्रेमाश्रम' भारत का पहिला राजनीतिक उपन्यास है। तब प्रेमचन्दजी भी प्रथम राजनीतिक उपन्यासकार सिद्ध हुए। उनके उपन्यासों में गुलाम भारत की आत्मा का करुण क्रन्दन है। उनके उपन्यास गांधीवाद के प्रतिनिधि हैं। उनमें अहिंसात्मक आन्दोलन है तो सत्याग्रह संग्राम भी। साथ ही इस राष्ट्रीयता के रूप में भी अपूर्व साम्य है दोनों की लेखनी में। दोनों देश प्रेमियों ने महाकवि रवीन्द्र अथवा नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय की राष्ट्रीयता को नहीं स्वीकार किया है, वरन् अपनाया गांधीजी के राष्ट्र प्रेम को जिसमें मेरा देश मेरा है। मैं पहिले इसका ध्यान रक्खूँगा, पीछे अन्य देशों का। राष्ट्र मेरे लिए सर्वोपरि है, यह अन्य देशों से श्रेष्ठतर है।

कथा निर्वाचन शैली में भी दोनों ने अनोखी समानता दिखाई है। दोनों को कथा विस्तार से मोह था। अतः दोनों कलाकारों की कृतियों में कथानक की विशालता, सघनता एवं जटिलता मिलेगी। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में अधिकांशतः एक मुख्य कथा-प्रवाह न होकर कई कथाओं एवं घटनाओं का घटाटोप भरा रहता है। रङ्गभूमि में काशी, पांडेपुर एवं जसवन्त नगर भिन्न-भिन्न कथाओं को लपेटे हुए एक सामञ्जस्य उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास में २ हिन्दू परिवार, १ मुस्लिम परिवार तथा १ ईसाई परिवार के सदस्य जीवन-नाटक में अभिनय करते हैं। इसमें ५ कथाएँ हैं:—१ विनय

सोफिया की, २–सूरदास की, ३–ताहिर अली की ४–राजामहेन्द्रसिंह एवं इन्दु की, ५–ईसाई परिवार की। 'कायाकल्प' में ३ जन्मों की ५ प्रेम गाथाएँ हैं (१) ठाकुर हरिसेवक एवं लौंगी की (२) विशालसिंह एवं रोहिणी की (३) मनोरमा एवं विशालसिंह की (४) मनोरमा एवं चक्रधर की (५) देवप्रिया एवं महेन्द्रसिंह की। इसी भाँति प्रेमाश्रम में गोरखपुर, काशी, लखनऊ एवं महेन्द्रसिंह की। इसी भाँति प्रेमाश्रम में गोरखपुर, काशी, लखनऊ एवं लखनपुर—इन चार घटनास्थलों की कथाएँ आगे बढ़ती हैं।

उधर प्रसादजी ने भी कथा-विस्तार में पराजय नहीं मानी है। उन्होंने अपने नाटकों में घटनाओं की भीड़ लगादी है। 'अजात शत्रु' में तीन राज्यों, को, मगध और कोशल की मुख्य घटनाओं की श्रृङ्खला में ६ कहानियाँ पिरोई गई हैं। स्कन्दगुप्त में ६ कथाएँ हैं तो चन्द्रगुप्त में ८।

इस कथा सुरसा की भीड़ भड़प्पा में कहीं कोई अङ्ग रसौली बनगया है, तो कोई फील-पाँव। अनावश्यक घटनाएँ आगई हैं जिनसे कथा प्रवाह में कोई सहायता नहीं पहुँचती। प्रेमचन्दजी ने व्यर्थ ही भोले तेज शङ्कर एवं पद्मशङ्कर की प्रेमाश्रम में बलि दी। गोदान में ३२ वें अध्याय की वेश्याओं से घटना-प्रवाह को क्या बल मिला? प्रसादजी ने स्कन्दगुप्त में श्रमण एवं ब्राह्मण विवाद क्यों कराया? उससे कथानक-विकास में क्या सहायता मिली? सिकन्दर एवं दाण्ड्यायन भेंट से कथा की क्या अङ्गपुष्टि हुई? वास्तव में बात यह है कि कथाकार किसी न किसी रूप में अपने व्यक्तिगत विचारों के प्रदर्शन के लिये दृश्य, परिच्छेद वा घटना की योजना कर देता है जो पेवंद की भाँति ऊपर से चिपक गया है।

कथा विस्तार के कारण पात्रों की संख्या भी कलि-पातकों की नाई बढ़ गई है। वह यहाँ तक बढ़ी कि उनका समेटना कठिन हो गया। परिणामतः आत्महत्याओं द्वारा उन्हें जीवन-रङ्गमञ्च से हटाया गया। आत्महत्या का प्रचुर प्रयोग कलाकार की असमर्थता का ही द्योतक है। जो लेखक पात्रों को सँभाल नहीं पाता, वही इस साधन को काम में लाता है। स्कन्दगुप्त नाटक में कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार एवं महादण्ड नायक आत्मघात करते हैं। चन्द्रगुप्त में मालविका, कल्याणी, अलका एवं पर्वतेश्वर का प्रयत्न इसी दिशा में हुआ। हमारे प्रेमचन्द जी ने भी प्रेमाश्रम में विद्या, ज्ञानशङ्कर, गायत्री, पद्मशङ्कर और तेजशङ्कर द्वारा आत्मवध कराया है। गवन में जौहरा एवं रतन भी वही कार्य करते हैं।

दोनों चित्रकारों ने वर्गगत पात्रों का निर्माण किया है। दोनों कलाकारों के पात्र भिन्न भिन्न कृतियों में प्रायः एक से हैं। केवल दो ही अमर पात्र अपने अतुल व्यक्तित्व से सदा स्मृति पटल पर अङ्कित रहेंगे। रङ्गभूमि में प्रेमचन्दजी का सूरदास अपनी सत्ता सब से अलग रखता है। उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। साधारण व्यक्ति होते हुए भी वह हिमालय की भाँति उच्च एव दृढ़ है। ऐसा ही एक कमनीय कुसुम है प्रसाद का। वह स्वर्गीय पुष्प अपनी सुधा-सुगन्ध सदा हिन्दी संसार में वितरित करेगा। वह कोमल, मृदुल, भोली एवं त्यागमयी देवसेना है।

प्रसाद के वर्गगत पात्रों में सब से पहिले हमारा ध्यान वे पात्र आकृष्ट करते हैं जो बाहर से बहुत कर्मशील हैं किन्तु अन्दर से विरक्ति की भव्य-भावना से आक्रान्त हैं। ये आदर्श पात्र सदा सत्य का पक्ष ग्रहण करते हैं। 'विशाख' का प्रेमानन्द, 'राज्यश्री' का दिवाकर, 'नागयज्ञ' का वेदव्यास, 'अजात' का बुद्ध एवं 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य—सब इसी कोटि के पात्र हैं। इसके विपरीत एक वर्ग उन पात्रों का भी है जो बाहर से विरक्त हैं किन्तु हृदय में आसक्ति एव वासना की आँधी छिपाये हैं जैसे 'विशाख' के महन्त सत्यशील अजात के समुद्रदत्त एवं 'नागयज्ञ' के कश्यप। एक एक श्रेणी है 'विशाख' के भिक्षु, 'राज्यश्री' के शान्ति भिक्षु, 'अजात' के विरुद्धक, 'स्कन्द' के भटार्क और 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस पात्रों की। ये सब पात्र जीवन में बड़ा वेग भरे हैं। साथ ही हैं बड़े निर्भीक एवं

साहसी। इनमें दिखलाई पड़ता है आवेग एवं स्पन्दन। इनके बिम्बसार, विशाख एवं स्कन्द—तीनों नायक एक विचित्र दार्शनिक उदासीनता से भरे डोलते हैं मानों जीवन का बोझ अब उतार कर फेंक देंगे।

कथाकार प्रेमचन्दजी ने भी बाजी जीती। इनके उपन्यासों में पिताओं का एक वर्ग है। ये पिता पहिले तो पुत्रों को क्रोध में त्याग देते हैं किन्तु पुनः ग्रहण कर लेते हैं। सेवासदन में मदनसिंह अपने पुत्र 'सदन' को शान्ता के कारण त्याग कर पुनः अपना लेते हैं। प्रेमाश्रम में प्रभाशङ्कर भी यही व्यवहार करते हैं अपने पुत्र दयाशङ्कर के प्रति। 'कायाकल्प' के बज्रधर अपने पुत्र चक्रधर को अहिल्या के कारण छोड़ देते हैं परन्तु बाद में अहिल्या साथ आया देख दौड़ पड़ते हैं और कहते हैं—एक पंक्ति ही लिख कर डाल देते तो क्या बिगड़ जाता। कर्मभूमि के समरकान्त भी अपने प्रिय पुत्र अमरकान्त से पहले तन कर फिर झुक जाते हैं। इसी प्रकार प्रेमाश्रम के प्रेमशङ्कर, कर्मभूमि के अमरकान्त एवं कायाकल्प के चक्रधर एक ही कोटि के साधुपुरुष हैं। उनके कादिर मियाँ (प्रेमाश्रम) एवं ख्वाजा महमूद (कायाकल्प) में एक रूपता है।

दोनों कलाकारों ने विचारों की समानता भी प्रदर्शित की है। स्त्री का क्षेत्र क्या हो इस पर दोनों के विचार एक से हैं। दोनों के मत से स्त्री, गृह एवं हृदय स्वामिनी बनी रहे, इसी में गौरव है। उसका आधिपत्य घर में ही रहे, न कि बाहर। प्रसाद अपने नाटक अजातशत्रु में व्यक्त करते हैं "विश्व भर में सब कर्म सब के लिए नहीं हैं। इसमें कुछ विभाजन है अवश्य। मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है जो उसके जीवन का परम ध्येय है। उसका एक शीतल विश्राम है और वह स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय वरद हस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुञ्जी, विश्व-शासन की एक-मात्र अधिकारिणी प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचार पूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट कर इस दौड़ धूप में क्यों पड़ती हो देवि! "ऐसा ही विचार गोदान में डा० मेहता के शब्दों में प्रेमचन्दजी प्रकट करते हैं। "देवियो! मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुष के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव क्षेत्र में आना चाहती हैं तो उसमें समाज का कल्याण न होगा।"

विवाह हिन्दू-समाज का एक अत्यावश्यक अंग माना गया है। किन्तु क्या प्रणय का अन्त विवाह ही हो सकता है? दोनों का उत्तर है, नहीं। एक मार्ग और भी है। वह इससे श्रेष्ठतर है। हाँ, वह मार्ग सर्वसाधारण के लिये नहीं। उसे तो दृढ़ पुरुष और सबल अबला ही अपना सकती हैं। उसे तो देवसेना जैसी स्वर्गीय आत्मा और मिस मालती (प्रेमचन्द का गोदान) जैसी विदुषी स्त्री ही ग्रहण कर सकती हैं। स्कन्द की प्रेम याचना का उत्तर देवसेना देती है—आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित रहेगी! सम्राट् क्षमा हो। "वह कामना के भँवर में न स्वयं फँसती है न स्कन्द को फँसने देती है। देश को स्कन्द की आवश्यकता है। वह उसे कैसे एक कोने में छिपाये रक्खे। यही मालती ने कहा—अभी तक तुम्हारा जीवन यश था, जिसमें स्वार्थ के लिये बहुत थोड़ा स्थान था, मैं उसको नीचे की ओर न ले जाऊँगी।" इसके बाद डा० मेहता एवं मिस मालती प्राणों की मौन-भाषा में आसक्ति का तार भेजते हुए भी कौमार व्रत ले केवल जीवन साथी के रूप में एक दूसरे के सहायक बनते हैं, देशोद्धार के लिये, पर सेवार्थ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों महान कलाकारों में बड़ा भारी सादृश्य है, यद्यपि हैं ये भिन्न भिन्न मार्ग के पथिक। दोनों आदर्शवादी कलाकार हमारे हिन्दी गगन के सूर्य चन्द्र हैं जिन पर हमें गर्व है।

आलोचना

हिन्दी कविता में युगान्तर—लेखक-श्री सुधीन्द्र एम० ए०, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ ५२२, मूल्य ८)

द्विवेदी युग चाहे अपनी इतिवृत्तात्मकता और विषय प्रधानता के लिए बदनाम रहा है किन्तु वह कविता के लिए नवोत्थान और समृद्धि का काल था। भारतेन्दु युग में परिवर्तन के अंकुर दिखाई देने लगे थे किन्तु वह पूर्णतया रीतिकालीन प्रभावों से मुक्त न हो सका था। द्विवेदी काल में वास्तव में युगान्तर उपस्थित हुआ। प्रो० सुधीन्द्रजी ने इस काल को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया है और उस काल के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभावों के आधार पर उस काल की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है किस प्रकार वह इतिवृत्तात्मकता को पार करते हुए भाव जगत में पहुँचा और वहाँ से आगे बढ़ कर छायावाद, रहस्यवाद के प्रतीक लोक में प्रविष्ट हुआ। सुधीन्द्रजी जीवन की पृष्ठभूमि शीर्षक अध्याय में सभी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और भाषा-सम्बन्धी परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया है जिन्होंने कि वर्तमान कविता को प्रभावित किया है। उन्होंने ऐतिहासिक आलोचना का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है। इस पुस्तक में प्रवृत्तियों के वर्गीकरण और उनके नामाङ्कित करने तथा उन चौखटों में विभिन्न कवियों की कविताओं को जमाने की ओर अधिक रुचि है। यह प्रवृत्ति बुरी नहीं है क्योंकि वर्गीकरण व्याख्या में सहायक होता है। कविताओं के कलागत सौन्दर्य का उद्घाटन भी अच्छा हुआ है किन्तु उसके अनुरूप भावगत सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं हुआ है। एक पुस्तक में हम सभी बातों की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। द्विवेदी युग की कविता के स्रोतों के अध्ययन के लिए यह पुस्तक बड़ी उपादेय सामग्री उपस्थित करती है। —गुलाबराय

कविता

भावों की भीख—लेखक-श्री रामनिवास जाजू, प्रकाशक-पिण्डार्स लिमिटेड, ७ लोअर राउडन स्ट्रीट कलकत्ता २०। पृष्ठ ६१, मूल्य १।।)

पुस्तक में २७ कवितायें हैं जो लगभग सभी जीवन की अनुभूति को भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त करती हैं। कवि की लेखनी क्रान्ति का आवाहन तो करती है—

पहिले आज मिटा लो उनको
जो वैभव के हैं अधिकारी

परन्तु उसके साधन उत्कृष्ट और मानवीय हैं—

कृषक हमारी हों बन्दूकें।
जिनसे निकलें श्रम की गोली॥

अधिकांश वर्तमान-कवियों की बाढ़ पर कवि ने सरल भाषा में सुन्दर व्यङ्ग किया है—

चाहते कवि बन सकें सब,
शब्द माला घोंट कर ही।
कौन सन्यासी बना पर,
भस्म में बस लोट कर ही॥

कवि का विश्वास कर्म में है और उसका सन्देश कर्तव्य है। भगवान की लीला का नाम लेकर अकर्मण्यता की दुहाई देने वाले भाग्यवादी लोगों से वह पूछ बैठता है—

जिन्दगी के यह थपेड़े, क्या मनुज सहता रहेगा।
भाग्य ओ! भगवान की अविरल कथा कहता रहेगा॥

श्री रामनिवासजी के प्रथम प्रयास में ही हमें एक प्रौढ़ कवि का आभास मिलता है। भाषा मँजी और सशक्त है। —दयाप्रकाश एम० ए० साहित्यरत्न

कबीर बीजक—सम्पादक श्री हंसलाल शास्त्री तथा श्री महावीरप्रसादजी, प्रकाशक—कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, हरक (बाराबङ्की)। पृष्ठ ३३५, सजिल्द, मूल्य ५॥)

कबीर ग्रन्थों का प्रकाशन करने के लिए हरक में एक समिति स्थापित हुई है उसने यह पुस्तक छाप कर हिन्दी का बड़ा हित किया है। इसमें कबीर साहब के बीजक, रमैनी और शब्द सभी मूल रूप में १२४ पृष्ठ में दिये गये हैं। इनका सम्पादन कबीरपन्थी विद्वानों ने किया है और सम्पादन में कई प्राचीन प्रतियों से भी मदद ली गई है जिससे आशा है पाठ शुद्धि का पूरा ध्यान रक्खा गया होगा। १३६ पृष्ठों में मूल पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों का एक कोष संग्रह किया गया है जिसमें मूल शब्द, व्याकरण, शब्द का शुद्ध रूप, अर्थ आदि दिए हैं। अन्तर्गत कथाएँ तथा उनका परिचय भी इसमें है। संस्थावादी शब्द तथा योग सम्बन्धी शब्द उनकी व्याख्या सहित ३७ पृष्ठों में दिये गये हैं। इस प्रकार इस पुस्तक में कबीर के अध्ययन की पूरी सामग्री एकत्रित की गई है। ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करने के लिए हम समिति को बधाई देते हैं और यह विश्वास करते हैं कि यह समिति इसी प्रकार और ग्रन्थों को भी प्रकाशित करेगी। —म

उपन्यास

पथ की खोज (विश्वास और निराशा)—ले०-डा० देवराज, प्रकाशक—बुद्धिवादी प्रकाशगृह लखनऊ। पृ० ४१२, मूल्य ४॥)

'फ्रैंच उपन्यासकार मार्सेल प्रू के "अतीत की स्मृतियाँ" की भाँति पथ की खोज एक उपन्यास न होकर उपन्यासों की माला है जिसका प्रत्येक खंड अपने में पूर्ण है।' हर भाषा के प्रारम्भिक उपन्यासों में कथावस्तु प्रधान हुआ करती थी—अधिकतर रोमाञ्चक, कुतूहलपूर्ण और औत्सुक्यवर्द्धक। उन उपन्यासों में कथानक और पात्र का कार्यकारण सम्बन्ध निभ नहीं पाता था। हिन्दी के उपन्यास भी कहानी बहुत कह चुके हैं। अब पाश्चात्य उपन्यासों की तरह कथा से पात्र के मनोविश्लेषण की तरह प्रगति हो रही है हिन्दी के उपन्यासों में भी। इस दिशा में डा० देवराज का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय है। इसमें कहानी जरा सी है। नायक चन्द्रनाथ एम० ए० का साधारण शिक्षा-प्राप्त सुशीला से विवाह हुआ है। सुशीला की एक सखी है साधना जो बी० ए० में पढ़ती है। चन्द्रनाथ साधना की तरफ आकृष्ट होता है, उनका पत्र व्यवहार चलता है। भाई बहिन का सा ही सम्बन्ध नहीं रह पाता। चन्द्रनाथ अपनी पत्नी से कुछ असन्तुष्ट सा रहने लगता है—कारण है साधना की साध पर उसका एक धनी युवक से विवाह हो जाता है। विवाह भी चन्द्रनाथ के प्रयत्न से ही होता है। चन्द्रनाथ को कोई नौकरी नहीं मिलती। साहित्यिक कार्यों से पेट नहीं भरता। सुशीला के बच्चा होता है पर वह खुद मर जाती है। कहानीकार हरिशङ्कर, वीरेन्द्र आदि चन्द्रनाथ के मित्र हैं। आशा और प्रेमलता भी क्लब की सदस्याएँ हैं। इन्हीं सब की बातचीत

के जरिये गांधीवाद, मार्क्सवाद, छायावाद, प्रगतिवाद आदि के सम्बन्धी राजनीतिक-सामाजिक-साहित्यिक चर्चाएँ चलती रहती हैं। यह उपन्यास इस तरह भारतवर्ष के सक्रान्ति-युग की सांस्कृतिक हलचल का सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित करता है। शैली शिष्ट, संयत, गम्भीर और साहित्यिक है। उपन्यास विचारोत्तेजक और पठनीय है।

राख की दुलहिन—लेखक-श्री रघुवीरशरण 'मित्र', प्रकाशक-अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशक परिषद्, सदर, मेरठ। पृष्ठ ४०४, सजिल्द, मूल्य ६)

यह है तो सामाजिक उपन्यास पर इसमें अध्यात्म, वेदान्त, अतिप्राकृतिक, Miracle. Morality के ढङ्ग के नाटकीय तत्व आदि सभी समाविष्ट हैं। इसमें दुलहिनें कई हैं और सब राख की हैं—वैसे भी सब की राख होती दिखाई गई है। पर नायक-नायिका के हिसाब से दुलहिन है प्रेरणा (विकास की पत्नी) जो सर्प दंश से अपनी इह लीला समाप्त करती है। कवि प्रभात करुणा की मृत्यु से दुःखी है; स्कूल की विधवा अध्यापिका शकुन से प्रेम करने लगती है, साथ ही 'राख की दुलहिन' प्रेरणा को भी अपनी प्रेयसी के रूप में देखना चाहता है। शकुन को फँसाये रखना चाहता है चौधरी धूमसिंह। प्रभात को बाधक समझ उसकी पिटाई करवाता है गुण्डों से। इस पुराणपन्थी जर्जर समाज में आमूल परिवर्तन सुधार की अपेक्षा है इसी का निर्देश इस उपन्यास में हुआ है। विकास की जाति का पता नहीं पर उसकी योग्यता है कारण समाज से अपमानित हो कर भी बड़े सेठ धन्नोमल अपनी पुत्री प्रेरणा का विवाह विकास के साथ कर देते हैं। इसी तरह हरिजन लड़की आमना के विवाह के लिए पूर्णिमा-प्रसाद योग्य ठहराया जाता है। विकास, प्रेरणा, ज्योति, कामिनी आदि सब मिल कर स्वतन्त्र पाठशाला- आश्रम खोलते हैं। समाज सेवा के लिए जेल जाते हैं, अनेक कष्ट सहते हैं। प्रभात, शकुन, ज्योति, कामिनी, सुमति आदि सब समाप्त हो जाते हैं, केवल विकास जीवन का सत्य खोजने में प्रयत्नशील रहता है। वास्तविक जगत की घटनाओं के बीच अमूर्त भाव मूर्त बन कर बोलने लगते हैं—वे चाहें छवि हो, या.माया, क्रोध, मृत्यु, आदि। यह उपन्यास को अवास्तविकता की ओर हठात् ध्यान दिला देता है जिससे Willing suspension of disbelief रहती नहीं पाता। कथा में एकसूत्रता और अन्विति का सन्तोषप्रद निर्वाह नहीं हुआ है। उपन्यास कई टेढ़ी मेढ़ी गलियों में अध्यात्म और तर्क का स्पर्श करता हुआ चलने का प्रयत्न करता है, पर पूरा चल नहीं पाता। लेखक के पास भावों की कमी नहीं, भाषा की भी नहीं पर उपन्यास का सा साज-सँवार अभी पूरा नहीं उतर पाया। उसमें थोड़ी कसर है। आशा है भविष्य में वह पूरी हो सकेगा।

—प्रो० नागरमल सहल एम० ए०

कहानी

ग्रहण के बाद—लेखक-श्री नरेन्द्र, प्रकाशक-मानस मन्दिर, जबलपुर। पृष्ठ ११६, मूल्य २।)

आधुनिक कहानीकार के निकट घटनाचक्र का महत्व अधिक नहीं रह गया है। कहानी के पात्र उसे अधिक प्रिय हैं। उन पात्रों के मन वैज्ञानिक-विश्लेषण में उसकी प्रवृत्ति मुख्यतः रमती है। नरेन्द्रजी की पन्द्रह कहानियों का यह संग्रह उन्हें इसी कोटि का कहानीकार सिद्ध करता है। इन कहानियों में कथावस्तु का अभाव और मनोवैज्ञानिक चित्रण का प्राधान्य है।

कहानियों की घटनायें साधारण हैं, चरित्र साधारण हैं। आन्तरिक भावों को स्पष्ट करने का लेखक ने प्रयास किया है। आन्तरिक गुत्थियों और उलझनों को प्रकाश में लाने के लिये 'अन्तर्द्वन्द्व' का आश्रय लिया जाता है। 'इन्सान की माँ' में उस्मान एक हिन्दू युवती से बलात्कार करने जाता है परन्तु उस में 'माँ' के दर्शन करके 'माँ माँ' चीख

उठत है। इस परिवर्तन को प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की आवश्यकता है, लेखक ने इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया है। परिवर्तन नाटकीय होकर रह गया है।

अधिकांश कहानियों में विभिन्न चरित्रों का कुछ परिस्थितियों में चित्रण किया गया है। चित्रण सुन्दर हुए हैं। 'कुसुम', 'पुन्ना की दुकान' और 'बहुत अच्छा आदमी' जीते-जागते पात्र हैं।

नील अंगार—लेखक-श्री ब्रह्मदेव, प्रकाशक-सुजाता प्रकाशन, मैगरा, गया। पृष्ठ ४४, मूल्य ॥)

आठ कहानियों के इस संकलन में लेखक ने विभिन्न आदर्शों को कलात्मक रूप से प्रविष्ट कराने का प्रयास किया है। वह 'प्रसाद' जी से अधिक प्रभावित मालूम होता है परन्तु 'प्रसाद' जी की इस होड़ का कोई अच्छा फल नहीं हुआ जान पड़ता है। कहानियों में कोरे शब्द-जञ्जाल, उलझे हुए—अस्पष्ट दृष्टिकोण तथा असन्तुलित भावुकता की भरमार है, सरलता, सरसता, और सजीवता का अभाव है।

इन्हें कहानियाँ न कह कर गद्य-काव्य के नाम से पुकारना लेखक के प्रति न्याय बर्तना ही होगा।

लेखक के कथनानुसार कहानियों में वासना की फेनिल मदिरा अवश्य न मिलेगी। उनमें स्वस्थ विचारधारायें व्याप्त हैं। परन्तु सफल कहानियों में और भी तो कुछ चाहिए। —शशिभूषण सिंहल

टीलों की चमक—लेखक-श्री जयनाथ 'नलिन' प्रकाशक-गौतम बुक डिपो, दिल्ली। पृष्ठ १४४, मू० १॥)

हास्य जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना हास्य का जीवन धीरे-धीरे मृत्यु का आवाहन करता है। हास्य रस उस हलके भार के समान है जिसका काम सन्तुलन के द्वारा जीवन के भार को वहन करता है। हास्यरस कितनी ही प्रकार से उत्पन्न किया जा सकता है कभी शब्द जाल से कभी परिस्थिति से, कभी व्यक्ति के हाव भाव और विचित्र वेशभूषा से तथा कभी विचित्र कल्पना से।

टीलों की चमक में नलिनजी ने शब्द जाल और परिस्थिति से हास्य उत्पन्न किया है। शब्द जाल का हास्य वार्तालाप में विभिन्न और विचित्र उक्तियों से उत्पन्न हुआ है जो तर्क का पुट मिलने से और भी निखर उठा है।

परिस्थिति से उत्पन्न हास्य दो रूप में उत्पन्न होता है। पहिला शुद्ध हास्य के रूप में जिसमें हास्य को उत्पन्न कर परिस्थिति अपने प्रभाव को पाठक पर नहीं छोड़ती, हास्य ही प्रमुख रहता है। उदित के प्रेम से धारा की खिलवाड़, भक्तों की दीनता, प्राइवेट पत्र आदि ऐसी ही हास्य की सुन्दर कहानियाँ है।

दूसरे रूप में परिस्थिति हास्य को करुणा के पुट से उत्पन्न करती है। टीलों की चमक में ऐसी भी कहानियाँ हैं। यदि करुणा ने पाठक को अधिक आकृष्ट कर लिया तो हास्य उत्तम कोटि का नहीं रह जाता। टीलों की चमक में भी कहीं-कहीं करुणा प्रधान हो गई है। आज के राशनकाल में मेहमान द्वारा रतदेव और रामा की दयनीय दशा में हास्य का उतना अनुभव नहीं होता जितना प्रतिदिन की कठिनाइयों को देखते हुये करुणा का।

लेखक ने कुछ कहानियों में व्यङ्ग का भी आधार लिया है। "नानी ने कहा" में वर्तमान मन्त्रियों पर अच्छा व्यङ्ग है। इस प्रकार टीलों की चमक में १४ हास्यात्मक कहानियाँ हैं जो जीवन के अन्धकार मय क्षणों में कुछ देर के लिए हास्य की किरण अवश्य उत्पन्न कर देंगी। —दयाप्रकाश एम० ए०

नाटक

कल और आज—लेखक तथा प्रकाशक-स्नेह एम० ए०, नवीन प्रेस, दिल्ली। पृष्ठ ५५, मूल्य ॥)

यह हिन्दू कोडबिल से सम्बन्धित नाटक है। हिन्दू कोडबिल पास होने से पूर्व पति, सासु, तथा भाई स्त्री के साथ कैसा दुर्व्यवहार करते हैं, और बिल के पास होते ही उनके व्यवहार में तुरन्त कैसा मधुर परिवर्तन हो जाता है, यह लेखक ने दिखाया

है। पितृगृह तथा श्वसुरालय दोनों की स्थिति का चित्र इसमें है। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त स्त्री के साहस और विद्रोह का भी चित्रण किया गया है। अत्यन्त साधारण नाटक है।

अन्ध कवि—(नाटक) लेखक-श्रीनारायण चक्रवर्ती। प्रकाशक-कृष्ण ब्रादर्स, कचहरी रोड, अजमेर। पृ० सं० ७८, मूल्य १)

इसमें लेखक के दो नाटक हैं: एक सूरदास सम्बन्धी, दूसरा तुलसीदास सम्बन्धी। नाटकों में ऐतिहासिक प्रामाणिकता तो इसलिए नहीं है कि 'घटना नाटकीय' है। इतना ही नाटककार ने देखा है। तभी व्रज के सूर को विल्व मङ्गल से मिला दिया गया है और तुलसी के दुस्साहस को सूर के साथ चिपका दिया है। लेखक का यह कथन मिथ्या प्रतीत होता है कि "मैंने ये दोनों एकाङ्की लिखने में उपलब्ध समस्त पुस्तकें तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि का अध्ययन किया है। यह भी स्पष्ट है कि लेखक यह भी नहीं समझता कि ऐतिहासिक वृत्त को नाटककार कितने परिवर्तन-परिवर्द्धन से ग्रहण कर सकता है। दोनों नाटक दरिद्र हैं। लेखक को कला का मर्म समझना चाहिये, तब नाटक लिखने चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से हिन्दी को क्षति हो सकती है।

जौहर—(एकांकी) ले०-श्रीनारायण चक्रवर्ती, प्रकाशक-इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। पृ० सं० ४२, मूल्य ।=)

यह नाटक चित्तौड़ की रानी पद्मिनी तथा अलाउद्दीन के ऐतिहासिक वृत्त से सम्बन्धित है। नाटक में न तो नाटकीय सौष्ठव है, न विचारों का सौन्दर्य। इन्डियन प्रेस ने इसे प्रकाशित किया है, इससे अवश्य ही यह छोटी बड़ी किसी कक्षा के पाठ्य क्रम में कभी न कभी रखा जा सकता है। हम यह सोचते हैं इससे क्या तो बालकों की भाव-भूमि प्रस्तुत होगी और क्या विचारों में उत्कर्ष आयेगा। लेखक को अभी कुछ और अभ्यास की आवश्यकता है। उसे उच्चकोटि के साहित्यकारों के नाटकों का भली प्रकार मर्म समझ कर लेखनी चलानी चाहिये।

न्याय तथा समस्या—लेखिका-श्रीमती विमला रैना, प्रकाशक-गङ्गाशरण एण्ड सन्स लिमिटेड, अलीगढ़। पृष्ठ १०८

इस पुस्तक में २ पृष्ठों में डा० अमरनाथ झा के 'दो शब्द' हैं, ६ पृष्ठों में 'मेरा साहस' शीर्षक से लेखिका ने अपना वक्तव्य दिया है, ५४ पृष्ठों में 'न्याय' नामक नाटक है और शेष ४६ में 'समस्या' नाटक। मूल्य दिया नहीं गया है।

'न्याय' का वास्तविक सम्बन्ध देवकी उसके पुत्र किशोर तथा चन्द्रमोहन से है। चन्द्रमोहन का देवकी से सम्बन्ध हुआ, विवाह भी। पहले परिस्थितियों के कारण इसी विवाह को उसने ढोंग बताया। अब उसी को वह सत्य स्वीकार करता है। वह धनवान था और देवकी का परित्याग कर देश-विदेश घूमा। देवकी को पुत्र मिला। घर से दरिद्र और निराश्रित हो उसने 'किशोर' के लिए वकील साहब के नौकरी स्वीकार की। वकील साहब इतने सज्जन और आदर्श पुरुष हैं कि वे उसे आश्रय देकर नौकर नहीं मानते। चन्द्रमोहन की मौसी के लड़के हैं। 'न्याय' 'एकांकी नाटक' 'वकील साहब' के घर के एक चौड़े कमरे में ही दृश्यान्वित होता है। 'देवकी' के सम्बन्ध में संदिग्ध बातों से दृश्य आरम्भ होता है -वेष वैधव्य द्योतक, माँग में हलका सिन्दूर सौभाग्य द्योतक। तभी चन्द्रमोहन आते हैं—किशोर की उन जैसी आकृति के आधार से, चलकर देवकी के मिलने तक यह निश्चय हो जाता है कि चन्द्रमोहन देवकी के पति हैं। चन्द्रमोहन किशोर को अपने साथ ले जाना चाहते हैं देवकी यह देखकर कि किशोर उससे छिन ही जायगा और चन्द्रमोहन के मन के यथार्थ परिवर्तन को न समझ कर विष खालेती है। 'एकाङ्की' सुख और दुःख के अद्भुत द्वन्द्व में समाप्त होता है,

'एकाङ्की' नाटक के लिए जिस कला की अपेक्षा है, वह लेखिका में प्रचुर है। पात्र सभी स्वाभाविक गतिवाले हैं, सजीव और यथार्थ हैं। वकील साहब उनकी स्त्री, उनकी पुत्री सुधा और मित्र-पुत्र मीरु, यहाँ तक कि ताई और जीजी का उपयोग भी मुख्य वस्तु के लिए बहुत सुन्दर ढङ्ग से हुआ है, और स्वमेव भी यह वृत्त भव्य भावोद्रेक के लिए अपना निजी महत्व रखता है। संवाद रोचक, पात्रों के व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले तथा मर्म को स्पष्ट करने वाले हैं। कथावस्तु सुगठित है। नाटक सर्वथा अभिनेय है। भाषा में परिमार्जन की अवश्य आवयकता है वह न तो घरेलू ही हो पायी है, न साहित्यिक ही। कुछ घरेलू भाषा की झलक लाने की चेष्टा की गयी है किन्तु पूर्ण निर्वाह नहीं हो सका।

'समस्या' में दो दृश्य हैं। कैलाश विवाह नहीं करना चाहते इसलिए पिता ने उन्हें अपनी सम्पत्ति से वञ्चित कर रखा है। अब आप वकील हैं और पास में पैसे नहीं—बिल हजारों के बिलबिलाते हैं। उनके मित्र दिनेश के कौशल से समस्या हल हो जाती है, सरिता और कैलाश विवाह सम्बन्ध में बँधते हैं, पिता उसे पूरा धन देते हैं और आशीय भोला नौकर विदूषक है, कैलाश जैसे मुफलिस स्वामी के पास फक्कड़ विदूषक ही टिक सकता है। मछली और पाँच रुपये के नोट के चारे का परिहास अच्छा है; सरिता को बड़े अच्छे अवसर पर सामने लाया गया है; और नाटककार की कुशलता इसमें है कि उसने दिनेश के कौशल से सरिता और कैलाश के पूर्ववर्ती पारस्परिक आकर्षण को दैवयोग के सहारे प्रणय के रूप में अनायास ही सिद्ध चित्रित कर दिया है—प्रेम कहानी में इतनी भव्यता कम कलाकार ही ला पाते हैं, फिर यह नाटक तो हास्य से भी युक्त है। लेखिका का एक बड़ा गुण यह है कि यह दलित, पीड़ित तथा वंचित का यथार्थ चित्र अङ्कित करती है और उसके लिए विषम पृष्ठभूमि की भी अवतारणा करती है।

इस लेखिका के यह प्रथम प्रयत्न ही उत्साह वर्द्धक हैं, हिन्दी इनसे और अच्छे योगदान की आशा कर सकती है।

—[illegible]

गीति-नाट्य—कवि लेखक-श्री सिद्धनाथ कु[illegible] प्रकाशक-सम्भवतः लेखक स्वयं। पृ० ५४, मूल्य [illegible]

गीति-नाट्य आजकल कुछ कम लिखे जाते फिर भी उनका एक विशेष महत्व है। उनके संगीत में एक विशेष प्रवाह और गतिमयता आ जाती है। इस गीति-नाट्य का विषय स्वयं कवि ही है। यहाँ उसका गठबन्धन कल्पना से जो उसको 'कोलाहल अवनी' से दूर एक स्वर्ग लोक में ले जाती है लेकिन उसको एक कलामय रूप से जीवन के कोलाहल और हाहाकार की ओर आकर्षित किया गया है। जब उसके एक काँटा लग जाता है तब उसे दूसरों का भी कोलाहल सुनाई पड़ने लग जाता है। उसकी चिरसङ्गिनी कल्पना उसको जीवन की ओर ले जाती है। नाटक का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है इसलिए स्वागत-योग्य है।

—गुलाबराय

निबन्ध

प्रबन्ध पारिजात—सम्पादक का नाम नहीं प्रकाशक-कपूर संस, १५८० लाजपतराय मार्केट दिल्ली। पृष्ठ २२२, मूल्य २)

पुस्तक में ५१ निबन्धों का संग्रह है सभी प्राइ-हायर सैकण्ड्री स्कूलों के योग्य अध्यापकों द्वारा लिखे गये हैं जिन्होंने परीक्षाओं के मापदण्ड और विद्यार्थियों की योग्यता का पूरा ध्यान रखा है। इन निबन्धों के १२ विभाग किये गये हैं जिनमें महापुरुष, प्रमुख कवि, सदाचार और आदर्श, धर्म विज्ञान, प्रकृति, राजनीति और साहित्य आदि सभी विषय आगये हैं।

प्रबन्ध किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिये विचार धारा को किस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये तथा किस प्रकार विकसित कर समाप्त करना चाहिये आदि बातों को ध्यान में रखकर कुछ उदाहरण निबन्ध होने चाहिये थे। तथा कुछ और

विषय लेकर विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए केवल आउट लाइन्स देकर छोड़ देना चाहिए था। साथ-साथ "निबन्ध में व्यक्तित्व की छाप" को अच्छी प्रकार समझाने के लिये तीन चार प्रबन्धों में से प्रत्येक को अलग-अलग तीन-चार लेखकों से लिखवा कर देना चाहिये था। —दयाप्रकाश एम० ए०

जीवनी

सूरदास की वार्ता (गो० श्री हरिरायजी कृत)—सम्पादक-श्री प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक-अग्रवाल प्रेस, मथुरा। पृष्ठ ६४, मूल्य १॥)

सूरदासजी का जीवन वृत्त हम को गोस्वामी गोकुलनाथजी चौरासी वैष्णवों की वार्ताओं में मिलता है। हरिरायजी गोकुलनाथजी के पौत्र थे। उन्होंने वार्ताओं की मौखिक साहित्य के आधार पर भाव प्रकाश नाम की टीका में विस्तार दिया है। इससे जिन वातों पर वार्ता से प्रकाश नहीं पड़ता है जैसे सूरदासजी के सारस्वत ब्राह्मण होने की बात उन पर प्रकाश पड़ता है। सम्पादन बड़ी सावधानी से हुआ है। बीच में आये हुए नामों आदि पर उपयोगी पद टिप्पणियाँ हैं। जो प्रसङ्ग वार्ता से अतिरिक्त हैं उनकी ओर भी संकेत कर दिया गया है। मूल में जिन पदों की केवल एक पंक्ति देकर संकेत किया गया है उनको पूर्ण रूप में लिख दिया गया है। अन्त में परिशिष्ट रूप से सूरदासजी की संस्कृत की वार्ता दीगई है और एक निबन्ध ब्रजभाषा गद्य पर दिया गया है उसके विकास और ह्रास दोनों की ही कथा कही गई है। यह अंश नितान्त मौलिक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इसमें बहुत सी नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। —गुलाबराय

जीवन जौहरी—लेखक-श्री रिषभदास शङ्कर प्रकाशक-भारत जैन महामण्डल, वर्धा। पृष्ठ १६७, मूल्य १।)

उक्त पुस्तक में लेखक ने बापू के दायें अङ्ग जमनालालजी की जीवन-झाँकी का एक रेखा चित्र खींच जीवनी साहित्य की आंशिक पूर्ति की है। साथ ही साथ पुस्तक को जीवन-जौहरी शीर्षक दे सेठजी के बिखरे जीवन मोतियों को एक सूत्र में सुन्दरता के साथ पिरो दिया है। जहाँ नेता की कथा में देश की कथा भी आ गई है। पुस्तक के अध्ययन के समय देश की स्वतन्त्रता का ऐतिहासिक युद्ध का चित्र स्वतः नेत्र पटल पर चल-चित्र सा चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत पुस्तक में गाँधीजी के मौन आचरण का प्रभाव पारस के सदृश्य सभी पृष्ठों पर पाते हैं, बापू के अहिंसा सिद्धान्त का मूर्ति रूप जमनालालजी में देखते हैं।

श्री जमनालालजी की जो सेवा तथा अतिथि सेवा कर्मयोगी गीता मूर्ति को पुनः धरातल पर खींच लाती है। तथा उनकी व्यवहारिक जीवन-व्यौपार की कार्य कुशलता एक आदर्श सूत्र छोड़ जाती है। मनोवैज्ञानिक विहंगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है, कि लेखक ने साहित्य के जिस अङ्ग की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया है उस ओर उसकी शुभ सफलता का पूर्ण विराम भी यदा-कदा उसके गहन, गम्भीर अध्ययन की पूरी पूरी छाप छोड़ स्वतः प्रकाश में आ गया है।

सत्यतः सेठजी ने जीवन की विविध परीक्षाओं में अविचलित रह निष्काम कर्म-योग की साधना को भक्त का वरदान बना दिया है, तथा अपने अहं को समिष्टि में मिला शेष सृष्टि के साथ तादात्म का अनुभव कर बापू के सच्चे पथगामी बन गये। —गङ्गाप्रसाद कमठान बी० ए०

धर्म

ईश्वर मीमांसा—लेखक-पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक नित्यानन्दजी महाराज (पूर्व नाम स्वामी कर्मानन्द) प्रकाशक-भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी, मथुरा। पृष्ठ ८०८+शुद्धि पत्र ३६, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक में जैन दृष्टिकोण से ईश्वर की मीमांसा की गई है। लेखक महोदय पहले आर्य-समाजी रह चुके हैं। इससे आपको वैदिक साहित्य

का निकट से ज्ञान है, किन्तु इस पुस्तक में वैदिक मन्त्रों के वे अर्थ नहीं हैं, जो आर्य समाजी करते हैं। आपने इस पुस्तक में वैदिक देवताओं का विद्वत्ता पूर्ण अध्ययन उपस्थित कर यह सिद्ध किया है, कि सब देवता प्रायः एकसा ही कार्य करते थे, इस आधार पर भक्तों द्वारा एक ईश्वर की कल्पना करली गई। ये देवता ईश्वर की शक्तियां नहीं हैं। क्योंकि शक्तियों के मान लेने पर ईश्वर को उन पर आश्रित होना पड़ता है। शक्तियाँ न मानकर भी हम उनको एक ही ईश्वर की शक्ति के विभिन्न रूप मान सकते हैं। चुल्लकजी ने सृष्टिक्रम को अनादि माना है, आर्य-समाज की अमैथुनी सृष्टि का खण्डन किया है। अमैथुनी सृष्टि में वैज्ञानिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं, और जीवन का तारतम्य मानना ही ठीक है, किन्तु सृष्टि की अनेकता में एकता स्थापन करने वाले एक चेतन सूत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। अनेकता विच्छिन्न हो सकती है। और यह मत-भेद की बात है। पुस्तक पाण्डित्य-पूर्ण ढङ्ग से लिखी गई है। इसमें दूसरों के मत के उद्धरण कुछ अधिक हैं। वे उद्धरण ऐसे हैं, जो लेखक के मत की पुष्टि करते हैं। विरुद्ध उद्धरण भी मिल सकते थे। उनको भी कार्य में लाया गया, किन्तु केवल खण्डन के लिए।

हिन्दुओं का जीवन-दर्शन—लेखक-डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, अनुवादक-श्री कृष्णकिंकरसिंह, प्रकाशक-वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड बम्बई। पृष्ठ १३२, मूल्य १॥)

डा० राधाकृष्णन् उन विचारकों में से हैं जिन पर भारत उचित रूप से गर्व कर सकता है। उन्होंने अपनी 'हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' ऑक्सफोर्ड के मेंन्चेस्टर कालेज में दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह किया है। अपनी दार्शनिक पैंठ और सूझ-बूझ के साथ हिन्दू जीवन-दर्शन की बुद्धिपरक व्याख्या की है। हिन्दुओं का धर्म-दर्शन लेखक के मत से श्रद्धा-विश्वास पूर्ण होते हुए भी बुद्धि-परक और गतिशील है। इसी कारण वह इतना उदार और समन्वयात्मक है। वह भेद में अभेद को देखता है। उसमें केवल अपनी ही बात सत्य कहने का कट्टरपन नहीं है। हिन्दू धर्म में विचार स्वातन्त्र्य है किसी रूढ़िगत संकुचित आचार से नहीं वरन् आचार के व्यापक नियमों से है। विचार में हिन्दू दृष्टिकोण एक आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करता है किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उदार है। वह किसी एक रूप पर आग्रह नहीं करता है—सतत् प्रवाहित होने वाला यह जगत सब कुछ नहीं है। इसका नियम के अधीन रहना तथा पूर्णता प्राप्ति के लिए उन्मुख होना यह बताता है कि यह आध्यात्मिक तत्त्व पर आधारित है जो तत्त्व किसी विशेष वस्तु या वस्तु समूह में समाप्त नहीं होता।'

इस पुस्तक में कर्मवाद और कर्म स्वातन्त्र्य की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है और बतलाया गया है कि हमारा जीवन क्रम पूर्व कर्मों से निर्धारित होता हुआ भी स्वातन्त्र्य हीन नहीं है।

हिन्दू जीवन के दृष्टि को समझने में यह पुस्तक बड़ी सहायक होगी यद्यपि सब लोग इसकी सब बातों से सहमत न हों। श्री कृष्णकिंकरजी ने ऐसी सुन्दर पुस्तक का हिन्दी अनुवाद कर हिन्दी जनता को आधुनिककाल के उच्च विचारक के सम्पर्क में लाये हैं। पुस्तक का गाम्भीर्य और काठिन्य देखते हुए अनुवाद बड़ा सफल हुआ है। जितनी प्रवाहमय मूल भाषा होती है उतनी ही वह अनुवाद की पकड़ में कम आती है द्विवेदीजी के शब्दों में कृष्णकिंकरजी ने विचार की रक्षा करते हुए भी मूल लेखक की धारावाहिकता को भी यथा सम्भव अक्षुण्ण रक्खा है।

—गुलाबराय

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १९५० से जून १९५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

भारतेन्दु विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा मध्यमा-उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी बसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी हैं और सदा की भाँति शीघ्र-बिक जाने की आशा है। अतः आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पता:—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

Shahitya Shandesh, Agra.
SEPTEMBER, 1951.

REGD. NO. A. 263.
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ३

लगभग आधा छप चुका है ?

परीक्षार्थी प्रबोध भाग १ व २ को प्रकाशित होकर परीक्षार्थियों के पास पहुँचने में विलम्ब हो गया जिससे वे अपनी परीक्षा तक पूरा अध्ययन न कर सके। इस बार

परीक्षाओं से १ मास पूर्व

ही हम उसे अपने ग्राहकों को भेज देंगे। इस बार सम्मेलन की परीक्षाएँ नवम्बर मास में होगी, हम परीक्षार्थी प्रबोध को अक्टूबर मास में ही भेज देंगे।

ग्राहकों को पौने मूल्य में

यह परीक्षोपयोगी पुस्तक साहित्य-सन्देश के वर्तमान ग्राहकों को पौने मूल्य में दी जायगी। पृष्ठ संख्या लगभग ३०० मूल्य ३) है, डाक व्यय ७ आने प्रथक।

आज ही २।।≡) मनीआर्डर से भेजदें

क्योंकि इकट्ठी वी० पी० तैयार होने में काफी समय लग जाता है, तथा डाक खाने वाले भी थोड़ी-थोड़ी लेने में ८-१० दिन की देर लगा लेते हैं। हम मनीआर्डर वालों को सबसे पहले रजिस्ट्री से पुस्तकें भेजेंगे।

जो परीक्षार्थी साहित्य-सन्देश के ग्राहक नहीं हैं, वे आज ही ४) वार्षिक शुल्क और और २।।≡) पुस्तक के कुल ६।।≡) का मनीआर्डर भेज कर उसके ग्राहक बन जायँ।

मनीआर्डर भेजने का पता—**साहित्य-सन्देश कार्यालय, ४ गान्धी मार्ग, आगरा।**

[१२] आगरा—दिसम्बर १९५१ [अङ्क]

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
…न्द्र एम. ए., पी-एच. डी.
महेन्द्र

प्रकाशक
…-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
…हित्य-प्रेस, आगरा।

(…मूल्य ४), एक अङ्क का।=)

इस अङ्क के लेख

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के अन्तिम सप्ताह में निकलता है ।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधा जनक है । नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है ।

३. महीने की ३० तारीख तक साहित्य सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्ट आफिस के उत्तर के साथ कार्यालय में भेजनी चाहिए, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी ।

४. किसी तरह का पत्र व्यवहार जबावी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए । बिना ग्राहक संख्या के सन्तोष जनक उत्तर देना सम्भव नहीं है ।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा ।

हिन्दी का नया प्रकाशन : अक्टूबर, नवम्बर १९५१

इस शीर्षक में हिन्दी की उन पुस्तकों की सूची दी जाती है जो हाल ही में प्रकाशित हुई हैं ।

आलोचना

दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ—प्रो० कपिल ३।।)
हमारे साहित्य में हास्य रस—कृष्णकुमार श्रीवास्तव ३)
मूल्याङ्कन—श्री हरिशङ्कर उपाध्याय ।।)
मुक्ति का रहस्य—श्री उत्तमचन्द्र जैन गोयल ।।)
आ० हिन्दी काव्य में नारी भावना—शैलकुमारी ७)
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी १२)
अलङ्कार सार संग्रह—श्री धर्मपाल वार्ष्णेय ।।)
हिन्दी कहानी और कहानीकार—प्रो० वासुदेव एम० ए० ३।।)
काव्याङ्ग प्रकाश—शुकदेव दुबे १।)
मानस मन्दाकिनी—शम्भुप्रसाद बहुगुणा ४।।)

कविता

अन्तिम ज्योति—श्री तख्तसिंह भटनागर ।।।=)
नीरिका—सुरेन्द्र १)
कुटज—महमूद
अगूरी—"नन्द" १)
कन्यादान—भागीरथ 'भास्कर' २)
सवेरा और साया—अरुण

कहानियाँ

कथा मञ्जरी—कर्णवीर नागेश्वर राव १।।)
रेल का टिकट—भदन्त आनन्द कौशल्यायन २।।)
हमारे गाँव—शान्ति टोंगी २।।)
आहुति और अन्य कहानियाँ—प्रफुल्लचन्द्र ओफर "मुक्त" ।।।)

उपन्यास

'इन्दु"—बृजबिहारी शरण एम० ए० २)
प्रगति की राह—गोविन्द बल्लभ पन्त ४।।)

नाटक

युग सन्देश—श्री मेदिनीप्रसाद आर्य १)
पाँच एकाङ्की—से० पि० आर० श्रीनिवास शास्त्री ।।।)
शपथ—श्री हरिकृष्ण प्रेमी २।।)
ध्रुवतारिका—रामकुमार वर्मा १)

साहित्य सन्देश के नियम

१. साहित्य सन्देश प्रत्येक माह के अन्तिम सप्ताह में निकलता है ।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर ... व्रत

पौने मूल्य में

आलोचना

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र एम० ए० । इसमें लोकवार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन और इतिहास, लोकवार्ता और लोकसाहित्य, लोकवार्ता और साहित्यिक संग्रह, ब्रज के लोक साहित्य का सङ्कलन विस्तार प्रणाली के साथ दिया गया है । यह लेखक का पी एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया ग्रन्थ है । मूल्य ६)

कला, कल्पना और साहित्य—डा० सत्येन्द्र । इस पुस्तक में लेखक के २६ आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह किया है जिनमें साहित्य के विविध युगों के निर्माताओं की विविध विषयों पर सैद्धान्तिक मीमांसा की गई है । पुस्तक में विद्यार्थियों की उपयोगिता के विषयों पर अधिक महत्व डाला गया है । इस नवीन रचना में लेखक की मौलिकता और विद्वत्ता, विस्तृत अध्ययन, ऐतिहासिक प्रज्ञा और सभी आलोचनात्मक अङ्गों का गम्भीर अध्ययन मिलता है । निबन्ध एम० ए०, बी० ए०, मध्यमा, उत्तमा, विदुषी, प्रभाकर तथा भूषण, साहित्यालङ्कार के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी और महत्व पूर्ण हैं । मूल्य ४।)

साहित्य की झाँकी—डा० सत्येन्द्रजी की यह प्रसिद्ध पुस्तक है, जिसमें हिन्दी साहित्य के प्रमुख कलाकारों और समस्याओं पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है और हिन्दी साहित्य में कई नई उद्भावनाएँ की हैं । पुस्तक का चतुर्थ संस्करण अभी हुआ है । मूल्य १।।)

रसज्ञ-रञ्जन—ले० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी । इस ग्रन्थ में आचार्य श्री के महत्व-पूर्ण साहित्यिक लेख संग्रहीत हैं, जिससे उन विषयों पर आचार्य द्विवेदीजी के उपयोगी विचार ज्ञात होते हैं । मूल्य १।)

कालिदास और उनका रघुवंश—ले० प्रो० रामप्रसाद एम० ए० । कवि-कुल-गुरु महाकवि कालिदास के जीवन पर ऐतिहासिक आलोक डालने के साथ ही इस पुस्तक में उनके ग्रन्थों का भी मूल्यांकन व परिचय कराया गया है । कालिदास को समझने के लिये पुस्तक आवश्यक है । मूल्य १)

प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा । प्रसादजी के अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी का इसमें सुबोध शैली में मूल्याङ्कन और अध्ययन है । मूल्य १)

परीक्षार्थी-प्रबोध भाग १, २ व ३—परीक्षार्थी प्रबोध हिन्दी-साहित्य के परीक्षार्थियों की सामयिक सहायता के लिए तयार की गयी है। प्रथमा-मध्यमा-उत्तमा, विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, इण्टर—बी० ए०—एम० ए० आदि परीक्षार्थियों के लिए चुने हुए उपयोगी विषयों पर इसमें प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री दी गई है। प्रत्येक भाग की पृष्ठ संख्या २०० है और प्रत्येक भाग का मूल्य ३) है।

प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला—डा० सत्येन्द्र—लेखक के संकल्प पर लिखी गई तुलनात्मक अध्ययन सम्बन्धी प्रेमचन्द साहित्य पर एक सुन्दर और विस्तृत पुस्तक है। प्रेमचन्द परिचय, कहानी की परिभाषा का विकास, कहानियों का विविध वर्गीकरण, आदि विषयों पर एक-मात्र उपयोगी आलोचनात्मक पुस्तक है। मूल्य ३)

भाषा-भूषण—लेखक जसवन्तसिंह—(बा० गुलाबराय जी द्वारा लिखी गई भूमिका सहित) अनुपम, अनूठा ग्रन्थ जिसमें अलङ्कार के उदाहरण, लक्षण, पद्य रूप में लिखे गये हैं। कंठस्थ करने में बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य १)

साहित्य-वातायन—श्री शिवनन्दनप्रसाद एम० ए०—"राम झरोके बैठिकें सबको मुजरा लेय, जैसी जाकी चाकरी तैसे ताकों देय" उक्त पुस्तक में लेखक ने ऐसे ही ऊँचे झरोके से झाँक कर साहित्यकारों और उनकी कृतियों का मूल्याङ्कन किया है। इसमें १४ आलोचनात्मक लेख हैं। मूल्य १।)

हिन्दी गीत काव्य—श्री ओंमप्रकाश अग्रवाल एम० ए०—यह पुस्तक विशेषकर हिन्दी गीत-काव्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए लिखी गई है। इसमें हिन्दी के गीति-काव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष रूप से दिया गया है। २३ प्रमुख गीत-काव्य के कवियों का आलोचनात्मक विश्लेषण है। मूल्य ३)

काव्य

अवकाश के क्षण—(काव्य) शकुन्तला वर्मा—इस पुस्तक में ३३ कविताओं का संग्रह है। छपाई तथा गेटअप देखते हुए पुस्तक सस्ती है। मूल्य ।।।)

रघुवंश—(पद्यानुवाद)—महाकवि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य का पद्य-बद्ध हिन्दी अनुवाद है। २४८ पेज की पुस्तक केवल १।।) में।

पूजा—श्री रामप्रसाद विद्यार्थी—इसमें गद्य-गीत के गुणों का यथेष्ट परिचय है, जिसमें साधक की अनवरत आकांक्षा सांसारिक परिस्थितियों को सुलझाकर प्रियतम का सामीप्य प्राप्त करना चाहती है। उल्लास अथवा आँसू की असीम छाप इस पुस्तक के प्रत्येक पद्य में मिलेगी। मूल्य १)

शुभ्रा—यह पुस्तक भी श्री रामप्रसाद विद्यार्थी के गद्यगीतों के संग्रह रूप में है। बड़ी भावना पूर्ण पुस्तक है। मूल्य ।।।)

संक्षिप्त गीतावली—महाकवि गो० तुलसीदास लिखित सं० गीतावली। भूमिका व टीका लेखक-बा० गुलाबराय हैं। मूल्य ।।।)

तुलसीदास (नाटक)—लेखक श्री बद्रीनाथ भट्ट मूल्य १।।)

चुङ्गी की उम्मेदवारी—यह भी श्री बद्रीनाथ भट्ट का ही एक प्रहसन है। चुनाव में जो चकल्लस होती है वह इसमें पढ़िये। मू० ।=)

न नर न नारी—हास्य सैक्स जीवन के आश्चर्य-जनक किन्तु सत्य वृत्तान्त कहानी रूप में संगृहीत हैं। मनोरञ्जन के लिये अनुपम पुस्तक है। मूल्य ।।।)

ग्रामोपयोगी

निम्न ग्रामोपयोगी साहित्य जिसमें एक मात्र शुद्ध ग्राम-साहित्य और उससे सम्बन्धित विषयों पर सुन्दर तथा उपयोगी प्रकाश डाला गया है।

ढोरों का इलाज—	।।=)	गाँव का जीवन—	।।)
घरेलू इलाज—	।।)	गाँव की कहानियाँ—	।।)
गाँव के गीत (पुरुषों के)	।।)	खेती व घरेलू धन्धे—	।।)
गाँव के गीत (स्त्रियों के)	।।)	संयोगिनी का डोला—	।।)
गाँव की सेहत—	।।)		

गृहदेवी—लेखक सूरजभान वकील। लेखक ने स्त्रियों की अवस्था का सच्चा वर्णन करने और सुधार का उपाय बताने में आशातीत सफलता प्राप्त की है। पुस्तक स्त्रियोपयोगी है। मू० ।।=)

तीन कथाएँ— १—शील कथा ।।) २—दान कथा ।।) ३—दर्शन-कथा ।।)

बालोपयोगी

बुद्धि परीक्षा (दो भाग)—लेखक श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०। बच्चों के मनोरञ्जन तथा बुद्धि-विकास के लिए एक मात्र पुस्तक है। प्रत्येक का भाग मू० ।=)

समझ के खेल (दो भाग)—लेखक श्री राममूर्ति मेहरोत्रा एम० ए०। बच्चों के आपस के चमत्कारपूर्ण प्रश्न और उनके उत्तर, जो पढ़ते ही हँसी आये बिना नहीं रहती। पुस्तक की भाषा सरल है। बड़ी ज्ञान बर्द्धक है, प्रत्येक भाग का मू० ।=)

बच्चों के बापू—लेखक डा० सत्येन्द्र एम० ए० पी० एच० डी०। महात्मा गाँधी के जीवन पर जो सैकड़ों पुस्तकें निकली हैं—बच्चों की दृष्टि से यह पुस्तक उनमें विशेष स्थान रखती है। मू० ।।)

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का प्रमुख स्थान—

साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ महात्मा गांधी रोड, आगरा।

वर्ष १३]　　　　आगरा—दिसम्बर १९५१　　　　[अङ्क ६

हमारी विचार-धारा

वैज्ञानिक-साहित्य—

हिन्दी के लेखकों के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न अपनी भाषा के साहित्य को समृद्ध करने का है। रायकृष्णदास के ये शब्द मिथ्या नहीं हैं कि "हाँ, शिकायत करने वालों की इस शिकायत में अवश्य दम्भ है कि आधुनिक ज्ञान-पिपासा को शान्त करने योग्य साहित्य की हिन्दी में कमी है," 'ज्ञान-पिपासा' शब्द विशेष दृष्टव्य है। हिन्दी के दासत्व-युग में ही विश्व ने वैज्ञानिक सभ्यता का विकास किया और भौतिक ज्ञान का भाण्डार नित्य नवीन आविष्कारों से समृद्ध हुआ। यही कारण है कि हिन्दी क्या देश की कोई भी भाषा इस ज्ञान-पिपासा को पूर्णतः शान्त करने में समर्थ नहीं। इसके लिए महती प्रयत्नों की आवश्यकता है। वे प्रयत्न सरकार द्वारा भी किये जाने चाहिए और स्वतन्त्र प्रकाशकों, लेखकों तथा विविध संस्थाओं के द्वारा भी होने चाहिए। सभी प्रकार के वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद होना चाहिए, विदेशी प्रामाणिक ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त उनके आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जाने चाहिए। किन्तु इससे भी आवश्यक एक और उद्योग है, जो होना चाहिए।

अनुभवस्यूत साहित्य—

आज प्रायः सभी क्षेत्रों में भारतीय काम कर रहे हैं—क्या भौतिक रसायनिक क्षेत्र में, क्या भूगर्भ क्षेत्र में, क्या खगोलीय क्षेत्र में, क्या यन्त्र-निर्माण क्षेत्र में, क्या वास्तु कला के क्षेत्र में—और भी आधुनिक युगीन जितने भी ज्ञान विज्ञान-निर्माण के क्षेत्र हैं सभी में प्रतिभाशाली भारतीय लगे हुए हैं। उन क्षेत्रों में काम करते हुए उन्हें निजी अनुभव हुए हैं; वे अनुभव यथार्थतः उस उपार्जित ज्ञान से भी कहीं अधिक मूल्यवान हैं जो उन्होंने विदेशी-देशी पुस्तकों को पढ़कर प्राप्त किया है। किसी भी देश के मौलिक साहित्य की संवृद्धि इसी अनुभव के आधार पर होती है। आज हमारे प्रत्येक ऐसे विशेषज्ञ का प्रधान और प्रथम धर्म है कि वह अपने अनुभवों को लिखे और उन्हें पुस्तक का रूप प्रदान करे। ऐसा विशेषज्ञ

अपने अनुभवों को हिन्दी में प्रस्तुत करे वह इसे अपना नियम बनाले। स्वर्गीय पुरातत्व वेत्ता गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझाजी का आदर्श हमारे सामने रहना चाहिए। 'भारतीय लिपि' की भाँति हमारे प्रत्येक अनुभवी विशेषज्ञ अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करके हिन्दी भारती का भाण्डार परिपूर्ण करे।

छपाने की समस्या—

किन्तु अनुभवों को पुस्तकाकार रूप देने से ही समस्या का हल नहीं हो जाता। इनका सम्मान भी होना आवश्यक है। इनकी माँग भी होनी चाहिए, इनके प्रकाशन के साथ इन्हें खपाने का भी उद्योग होना चाहिए। बिना उसके यह समस्त निर्माण एक भयङ्कर राष्ट्रीय हानि का स्वरूप ग्रहण कर सकता है। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि समस्त विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थाओं में—विशेषतः हिन्दी क्षेत्र की संस्थाओं में हिन्दी का माध्यम अनिवार्य कर दिया जाय। इससे स्वयमेव ग्रंथ प्रस्तुत होंगे, माँग बढ़ेगी और खपाने की समस्या का एक हल निकल आयेगा। दूसरे प्रकाशकों को प्रकाशन का स्तर इतना ऊँचा करना होगा कि पुस्तकें ग्राहकों को विवश होकर खरीदना पड़े। तीसरे निरक्षरता का भी निवारण होना चाहिए। साक्षरता का विस्तार हो और प्रत्येक मजदूर किसान पढ़ा-लिखा हो।

समान शब्दावली : टावर ऑफ़ बेबीलोन—

ऊँची कक्षाओं में वैज्ञानिक विषय हिन्दी में पढ़ाने के प्रयत्न होने लगे हैं। यद्यपि अभी ये प्रयत्न ऐसे नहीं हैं जिन्हें अभिनन्दनीय कहा जा सके, फिर भी प्रयत्न होना शुभ लक्षण ही है। हमतो यह मानते हैं कि अध्यापक यदि चाहे तो वह तुरन्त अपने भाषण का माध्यम हिन्दी बना सकता है। कितना ही शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषय क्यों न हो उसमें साधारण शब्दावली की प्रचुरता रहती है, यह साधारण शब्दावली ही भाषण को भाषण बनाती है, पारिभाषिक अथवा वैज्ञानिक शब्द तो शब्द भर होते हैं। अतः वैज्ञानिक शब्दों को छोड़कर शेष समस्त भाषण प्राध्यापक हिन्दी में दे सकता है। हिन्दी में भाषण देने के संकल्प के पश्चात् शेष वैज्ञानिक शब्द भी धीरे-धीरे प्रस्तुत हो जायँगे। पहले कुछ काम चलाऊ शब्द सामने आयेंगे, वे अनगढ़ गढ़े हुये से भी आरम्भ में प्रतीत हो सकते हैं। बाद में वे ही मँजकर, घुट-पिस कर अथवा किसी अन्य सुन्दर शब्द को स्थान देकर लुप्त हो जायँगे। किन्तु हर दशा में एक सावधानी का आवश्यकता है, जो इस समय व्यवहार में नहीं पड़ रही। इस ओर हमारा ध्यान विज्ञान के एक प्रसिद्ध प्राध्यापक महोदय ने आकर्षित किया है। विज्ञान की पुस्तकें बन रही हैं। इन पुस्तकों के लिखने वाले अपने मनोनुकूल चाहे जैसे शब्द रख लेते हैं, अतः प्रत्येक लेखक के शब्द अलग-अलग हैं। यह बात चिन्ताजनक है। टावर ऑव बेबीलोन की जैसी दशा हो जाने से निर्माण की अपेक्षा ध्वंस ही होगा। फलतः एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता आज प्रतीत होने लगी है, जो इन समस्त भिन्न उद्योगों में सामञ्जस्य प्रस्तुत कर सके। इस संस्था का कार्य यह होगा कि वह विज्ञान पर निकलने वाले समस्त ग्रन्थों तथा लेखों में आने वाले शब्दों की सूची प्रतिमाह या प्रति सप्ताह प्रस्तुत करे, और उसमें एक ही अर्थ रखने वाले जितने भी शब्द हैं उन्हें पर्यायवाची की भाँति संकलित करे—साथ में उनकी सार्थकता और औचित्य पर तुलनात्मक दृष्टि से अपने विचार भी प्रस्तुत करे।

हम समझते हैं कि 'विज्ञान' नामक पत्र इस कार्य में सहायता दे सकता है, वह प्रतिमास कुछ पृष्ठ इसी उपयोगी कार्य के लिए दे सकता है।

एक 'पर्याय' नामक अलग मासिक या त्रैमासिक पत्र भी चलाया जा सकता है। ऐसा पत्र सरकार ही निकाले तो और भी अच्छा रहे।

ऐसे उद्योगों से वैज्ञानिक शब्दावली का स्वरूप धीरे-धीरे स्थिर हो जायगा।

साहित्य-प्रकाशन में स्थायित्व—

'राष्ट्र-भारती' के दिसम्बर के अङ्क में राहुल-सांस्कृत्यायन ने यह स्पष्ट किया है कि 'हमारी साहित्यिक प्रगति में एक और बड़ी बाधा है, साहित्यिक प्रचार और प्रकाशन का काम जिन व्यक्तियों और संस्थाओं के हाथ में है, उनमें स्थायित्व नहीं देखा जाता।' राहुल जी का यह मत समीचीन है। साहित्य के प्रचार-प्रकाश में जब तक स्थायित्व नहीं आता साहित्य की प्रगति नहीं हो सकती। हिन्दी के प्रचार-प्रकाश से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं को स्थायित्व के लिए किसी सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग करना होगा।

नये लेखकों की समस्या—

'प्रतीक' के सम्पादकीय का अन्तिम पैराग्राफ इस वाक्य से आरम्भ हुआ है :—'इस प्रकार नये लेखकों की समस्या मूल रूप में यह है। सामाजिक यथार्थ को समझाने को किताबी गुर जानते हुए भी वे क्यों नहीं अपने साहित्य में वह शक्ति, वह मानवीय संवेदना ला रहे हैं जिसके बिना साहित्य का सामाजिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा—साहित्य का अस्त्र उस भोथरे छुरे की तरह हो जायगा, जिससे नाक भी नहीं कट सकती?' प्रश्न महत्व-पूर्ण है, उसका जो उत्तर 'प्रतीक' सम्पादक ने दिया है उसे तो वहीं देखा जा सकता है, पर हम जो कारण समझते हैं वह यह है कि पहले तो नया लेखक यह सब मानने के लिए तैयार ही नहीं, इसीलिए वह साहित्य में शक्ति नहीं ला पाता। आज का भी लेखक बीस-वर्ष पूर्व के 'अहंवादी' साहित्यकार के आतङ्क में है; वह अभी अपने को ही नहीं पहचान पाया, सामाजिक प्रयोजन को समझना तो और भी टेढ़ी खीर है। दूसरे, इसी कारण वह प्रत्येक बात का समाधान अपने इस अहं के खोल में से ही पाता है। उसकी मानसिक दासता इतनी प्रबल है कि वह सब कुछ अपने से बाहर से लेता है पर आँख बचाकर, और उसमें दंभ इतना बढ़ा हुआ है कि वह उसे अपनी स्वानुभूति अपने अहं की सृष्टि घोषित करता है। फलतः सर्वत्र नैतिक साहस का अभाव है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि नए साहित्य में शक्ति आये। नए लेखकों की समस्या यथार्थ में बहुत गम्भीर है।

साहित्य का उत्तराधिकार—

नए लेखक की समस्या के साथ ही साहित्य के उत्तराधिकार का प्रश्न है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने एक स्थान पर लिखा है कि 'प्रत्येक देश की जनता को विश्व के अन्यान्य देशों का प्राचीन साहित्य एक सामान्य विरासत के रूप में मिला है।' इस कथन में तो कुछ भी अमान्य नहीं हो सकता, पर नए लेखक की समस्या है कि वह अहं के खोल से निकल इस साहित्य के उत्तराधिकार की चिन्ता ही कब करता है! आज के नए लेखक से पूछा जाय कि उसने कितना अपने देश का प्राचीन साहित्य पढ़ा है, और कितना दूसरे देशों का। उसने पढ़ा ही कम है तो उसको मथकर उससे मक्खन निकालने और उससे अपनी कला को उन्नत करने की बात ही कहाँ आती है। स्वतन्त्र-भारत के हिन्दी के नए लेखक को बहुत अध्यवसायी, बहुत अध्ययनशील, बहुत मननशील होना चाहिए। लेखन-कार्य को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने और उसे अर्थ लाभ के दृष्टिकोण को प्राधान्य देने के हम विरोधी नहीं, किन्तु हम इसके विरोधी हैं कि इस व्यवसाय के लिए प्रस्तुत की गयी वस्तु का स्तर नीचा किया जाय। रूप रङ्ग का नहीं, वरन् यथार्थ प्रेषणीय वस्तु के स्तर की उन्नति तथा साहित्य के 'कंटेण्ट' की समृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए उसे अपने ज्ञान की गहरायी और विस्तार दोनों ही बढ़ाने होंगे, और तब प्रत्यक्ष अनुभव की ईमानदारी बर्तनी होगी। तभी साहित्य के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

विषय-कोष—

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने एक उपयोगी बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने

लिखा है—"अब तक मैंने कोष निर्माण के सिलसिले में केवल शब्दकोष निर्माण की चर्चा की है। परन्तु कुछ अन्य प्रकार के कोष भी होते हैं जिन्हें हम विषय कोष, ज्ञानकोष, अथवा विश्वकोष कह सकते हैं। विषय कोष से मेरा अभिप्राय किसी एक प्राचीन या नवीन विषय से सम्बन्धित समस्त ज्ञातव्य सामग्री को एक स्थान पर एकत्र कर देने से है।" आपका मत है कि भारत के विश्वकोष का निर्माण का समय तभी आयेगा जब ऐसे विषय-कोष या ज्ञान-कोष बन चुकेंगे। सभी भाषाओं के अपने विश्व-कोष हैं। अँग्रेजी में एन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स आदि बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं ही, छोटे-छोटे विषय-कोष तथा ज्ञान-कोष भी हैं। भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित अनेकानेक छोटे-बड़े ग्रन्थ भी अंग्रेजी में विषय-कोष तथा ज्ञान-कोष के रूप में उपलब्ध हैं—उदाहरणार्थ, बिहार पेजैण्ट लाइफ, कस्टम्स, ट्राइब्स ऐटसेटरा ऑफ यू० पी०, ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माइथालाजी एण्ड रिलीजन, ज्याग्राफी, हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर आदि। हिन्दी में पहली अवस्था में इनके अनुवाद या इनको भारतीय दृष्टि से संशोधित करके हिन्दी में रूपान्तर प्रकाशित किये जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति का स्वरूप विश्व के 'इण्डोलाजिस्टों' भारत तत्व-विदों ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है, भले ही वह विकृत हो। अतः हम यह मानने को तय्यार नहीं कि विश्व-कोष के निर्माण का समय अभी देर से आयेगा। हमें यथार्थ में इधर लग जाना है। भारतीय विषय तथा ज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी देश-विदेशों में कहा गया है, उसे सङ्कलित करके उसे भारतीय दृष्टि से संशोधित करके विश्व-कोष प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु ऐसे सभी कोष तभी तैयार हो सकते हैं जबकि हिन्दी में क्रय-शक्ति बढ़े और ऐसे अध्यवसायी विद्वान हों जो लगन से कोष के कार्य में अनवरत लगे रहें।

यादवेन्दुजी का निधन—

आगरे के श्री रामनरायण यादवेन्दु हिन्दी के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक थे। अभी २५ सितम्बर को क्षय रोग में उनका निधन हो गया। श्री यादवेन्दुजी का शरीर इतना अच्छा था और वे इतने स्वस्थ थे कि क्षयरोग में उनका अचानक निधन हो जायगा—इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। अपनी छोटी आयु में आपने हिन्दी में दसियों ऐसी पुस्तकें लिखी हैं जिनके कारण उनका नाम बहुत दिन तक भूलना कठिन है। राजनीति और नागरिक शास्त्र पर आपकी लेखनी अधिकार पूर्वक चलती थी। यों आपने पुस्तकें तो और भी अनेक विषयों पर लिखीं और अच्छी पुस्तकें लिखीं। उनके निधन से हिन्दी का एक अच्छा सेवक, एक कर्मठ लेखक उठ गया।

श्रीमती वर्मा की दक्षिण यात्रा—

श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री दिनकर, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री गङ्गाप्रसाद पाँडे का एक शिष्ट मण्डल अक्टूबर के महीने में १५ दिन तक दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों में घूमा और वहाँ की भाषा, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन किया। श्रीमती वर्मा ने इस यात्रा से लौट कर जो वक्तव्य दिया है उसका एक अंश हम यहाँ देते हैं—

"क्या प्रकृति क्या कला और साहित्य और क्या जीवन सभी दृष्टियों से दक्षिण समृद्ध है, परन्तु अभी तक उत्तर ने उसे वह आत्मीयतापूर्ण आदर नहीं दिया जो उसका प्राप्य है। आज यह अनिवार्य हो उठा है कि उत्तर के विद्यार्थी और लेखक दक्षिण की एक भाषा अवश्य सीखें और उस भाषा के महत्वपूर्ण साहित्य को हिन्दी के पाठकों तक पहुँचाएँ। उत्तर के साहित्यकारों, कलाकारों, चिन्तकों आदि की दक्षिण-यात्रा और दक्षिण के साहित्यकारों, दार्शनिकों की उत्तर-यात्रा भी विचारों के आदान-प्रदान में सहायक होगी।"

साहित्य के मूलाधार

(भाव, विचार और कल्पना)

श्री रतनलाल परमार 'पत्रकार'

साहित्य का शाब्दिक अर्थ होता है—सामग्री। 'सामग्री' अनेक वस्तुओं की राशि का नाम है। जिस प्रकार से सामग्री अनेक वस्तुओं का अम्बार है उसी प्रकार से साहित्य का सर्जन सब प्रकार की शक्तियों के आधार पर होता है; अतः सृष्टि के मूल तत्वों को लोकोपयोगी बनाने के लिये उनका सम्मिश्रण आवश्यक रूप से कर लिया गया है। शब्द, अर्थ, रस, ध्वनि, लय, गति, छन्द, व्याकरण और अलङ्कार आदि—नाना प्रकार के साधन प्रसाधन प्रचुरता से साहित्य-संसार में भी तदर्थ ही उपलब्ध कर दिये गये हैं।

सृष्टि, असंख्य दृश्य अदृश्य वस्तुओं का समवेत स्वरूप है; किन्तु उसके मूल तत्व (मूलाधार) तो केवल पाँच (पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और तेज) ही हैं जिनके आधार पर संसार का निर्माण हुआ है। साहित्य की भी अनेक शक्तियाँ हैं, किन्तु त्रिगुणों की भाँति (सत्, रज् और तम) उसके भी मूल तत्व केवल तीन ही हैं। साहित्य के मूलाधार (मूल तत्व) हैं—भाव, विचार और कल्पना। साहित्य का क्षेत्र संसार से भी अधिक विस्तृत एवं महान् है, किन्तु भाव, विचार और कल्पना की भूमिका (आधार) पर ही उसका संसार अवस्थित है।

मनुष्य ईश्वर का एक संक्षिप्त संस्करण है—'ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः (गीता, अ० १५ श्लोक ७) मनुष्य अपने इस लघु जीवन में जो कुछ क्रिया-कलाप करता है—कल्पना की जा सकती है कि ईश्वर भी बहुत कुछ वैसे ही काम करता होगा। मनुष्य ने साहित्य की सृष्टि (संसार का भावरूप) भाव, विचार, और कल्पना के आधार पर की है, अतः ईश्वर ने भी अपनी सृष्टि की रचना करने के पूर्व भाव, विचार और कल्पनाओं की मनोभूमिका तैयार की होगी। यदि वेद अपौरुषेय हों, और वे ईश्वर-कृत भी मान लिये जाँय तो उनके लिये भी यह कहा जा सकता है कि वेदों की भूमिका (आधार) भाव, विचार और कल्पना ही रही होगी। वेदों की सृष्टि और साहित्य की सृष्टि का तो समान आधार मान ही लिया जाना चाहिये; किन्तु गहन और विस्तृत दृष्टि से सोचा जाय तो सभी प्रकार की सृष्टियों (भाव-रूप) का भी मूलाधार (मूलतत्व) भाव, विचार और कल्पना ही रहेगी।

साहित्य के अनेक स्वरूप हो सकते हैं; किन्तु उनको हम तत्वों (भाव, विचार और कल्पना) के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। वे तीन विभाग होंगे :—

१—भाव-प्रधान साहित्य,
२—विचार-प्रधान साहित्य,
३—कल्पना-प्रधान साहित्य।

(क) भावना-प्रधान साहित्य में गद्यगीत, कविता-काव्य, नाटक, शब्द-चित्र (रूपक) आदि का समावेश होगा।

(ख) विचार-प्रधान साहित्य में विज्ञान, दर्शन, नीति आदि के ग्रन्थों की गणना की जाती है।

(ग) कल्पना-प्रधान साहित्य में गल्प, उपन्यास आदि को सन्निहित माना जाता है।

साहित्य के उपर्युक्त (भाव, विचार और कल्पना) तीनों मूलाधार आत्मा की तीन प्रधान शक्तियों से परिचालित तथा संचालित होते हैं। भावों की अनुभूति हृदय से होती है तो विचारों की अनुभूति बुद्धि

से और कल्पनाओं की अनुभूति मस्तिष्क से होती है।

हृदयगम्य अनुभूतियाँ (भाव) अपेक्षाकृत सरस, रागात्मक तथा सहज-सरल होती हैं। अतएव वे अधिकांश प्राणी जगत का रञ्जन करती हैं। बुद्धिगम्य अनुभूतियाँ (विचार) उन्हीं सज्जनों को प्रसन्न कर पाती हैं जो बुद्धिजीवी हों अथवा चिन्तन-मनन करना जिन्होंने अपना व्यवसाय बना लिया हो। तीसरे प्रकार की अनुभूतियाँ (कल्पना) केवल उन प्राणियों को सन्तोष दे पाती हैं अथवा उन व्यक्तियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो पाती हैं जो या तो विचित्र प्रकृति के हों अथवा जो मस्तिष्क का व्यायाम करना रुचिकारक मानते हों।

मनुष्य, अनेक प्रकार की आदतों की एक गठरी मानी गई हैं; किन्तु उसमें जो गुण सबसे प्रधान होता है—उसी के आधार पर मानव के प्रकार का नामकरण किया जाता है। साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं महान् होते हुए भी वह प्रधानतः मनुष्य-समाज पर ही निर्भर है। मनुष्य की प्रधान शक्तियाँ तीन हैं जिनके आधार पर उसने अपने संसार का विस्तार किया है। मनुष्य की वे तीन प्रधान शक्तियाँ हैं :—

१—हृदय, २—बुद्धि और ३—मस्तिष्क।

संसार के सभी प्राणियों में और मनुष्यों में उक्त प्रकार की तीनों शक्तियाँ किसी न किसी अनुपात में अन्तर्हित रहती है। जिस मानव में जिस शक्ति का प्राधान्य होगा वह मनुष्य उसी प्रकार का कहलायेगा। जैसे—१ भावुक, २ विचारशील और ३ कल्पना-प्रधान।

मानव की तीन प्रधान शक्तियों के (हृदय, बुद्धि और मस्तिष्क) आधार पर ही साहित्य भी मुख्यतः तीन प्रकार हुआ है। साहित्य के वे तीन प्रकार क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म और दुरूह होते चले गये हैं।

मानव-हृदय (भाव-पक्ष)—संसार की शक्तियों का जिस प्रकार से हमारे सम्मुख कोई दृश्य रूप नहीं है—उसी प्रकार से मनुष्य की शक्तियों का भी कोई दृष्टिगोचर रूप नहीं है। मानव-हृदय की शक्ति मनुष्य के ही शरीर में एक आश्चर्य है। हृदय की शक्ति, जीवन और चैतन्य का सबसे बड़ा प्रमाण है। सुख दुःख और राग-विराग आदि की अनुभूतियाँ मानव अपने हृदय से ही करता है। हृदय की शक्ति, कोमल और सरल होती है, यह एक स्रोत की भाँति फूटकर बहती रहती है। जगत में मानव-समाज तथा अन्य प्राणी भी अधिकांश में, हृदय की शक्तियों से ही प्रभावित रहते हैं। यही कारण है कि मानव-समाज अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से आदिकाल से आज तक अधिक ऊपर नहीं उठ पाया है और उसके सम्मुख संसार को स्वर्ग बनाने की समस्या चिर नवीन ही है।

भाव हृदय से ही उद्भूत होते हैं, वे मन्दाकिनी के समान जीवन के तटों को सिञ्चित करते हुए निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं। भावों की तरलता-सरलता जहाँ मन को आह्लादित करती है, वहाँ उनका अविरल प्रवाह हृदय में एक मधुर वेदना का भी अनुभव करता है। भावों का स्रोत जब हृदय में उमड़ता है तो अङ्ग-अङ्ग में विद्युत सी कौंध जाती है तथा शरीर की और मानस की समस्त शक्तियाँ जाग्रत होकर प्रकृति नटी की सरस क्रीड़ा का उत्सुकता से अवलोकन करने लगती है। भावों का जब हृदय में जन्म होता है तो नेत्रों को भी विशेष प्रकार की (अद्भुत) ज्योति उपलब्ध हो जाती है और रुद्ध कण्ठ को वरद वाणी।

मुखरित भावों का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—

"जीवन में सुख अधिक या कि, दुख
मंदाकिनी कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में
या बुद्बुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में,
सिन्धु मिलन को जाती हो।

या दोनों प्रतिबिम्ब एक के—
इस रहस्य को खोलोगी ?"
—कामायनी (स्वप्न-सर्ग, पृष्ठ १४४)

'कामायनी' (श्रद्धा—मानव की आदि जननी) भावाभिभूत होकर मुखरित वाणी में निकट में प्रवाहित मन्दाकिनी से ही प्रश्न कर उठती है कि, जीवन में सुख अधिक है या दुख—क्या मन्दाकिनी तुम कुछ बोलोगी ? क्या तुम यह गिन दोगी कि, आकाश में नक्षत्र अधिक हैं या सागर में बुदबुद ? मन्दाकिनी तुम में तो तारे प्रतिबिम्बित हैं और मिलने जा रही हो सिन्धु से ? यह क्या रहस्य है ? सागर और गगन, नक्षत्र और बुदबुद, जीवन और मन्दाकिनी—क्या ये सब एक ही वस्तु के प्रतिबिम्ब हैं ?

मनुष्य की बुद्धि (विचार पक्ष)—मनुष्य की बुद्धि मानव शरीर में एक चमत्कार है—प्रकृति की एक विचित्र शक्ति है। बुद्धि की प्रकृति तर्कशील रहती है। सद्-असद् का विवेक, बुद्धि का प्रधान विषय है। हृदय की मुख्य उपज भाव-जगत है तो बुद्धि का मुख्य उत्पादन विचारों का संसार है। भावों की अपेक्षा विचार अधिक सूक्ष्म और दुरूह होते हैं; अतः वे अपनी सृष्टि को मर्यादित रखते हैं। भावों का उद्रेक तो सरिता की भाँति होता है, किन्तु विचारों की शृङ्खला को अथवा भित्ति को एक एक कड़ी और एक-एक ईंट जोड़ कर बनाना पड़ता है। भावों का संसार जहाँ अधिकांश जन-समूह को अनुरञ्जित करने में समर्थसिद्ध होता है वहाँ विचार-जगत अपेक्षाकृत न्यून समाज को विचारशील व्यक्तियों को और बुद्धिजीवी प्राणियों को ही प्रसन्न कर पाता है। भाव आह्लादकारक होते हैं और विचार प्रसन्नता प्रस्फुटित करने वाले। बुद्धि, आत्मा का शारीरिक उपकरण है। यही कारण है कि उसका लोहा सभी प्रभावित जगत को मानना पड़ता है।

बुद्धि विचारों की जननी है। विचारों का बल मनुष्य के जीवन में एक विशिष्ट महत्व रखता है। भावों की अभिव्यक्ति साहित्य में जितनी सरल है—विचारों की अनुभूति उतनी वाणी-गम्य नहीं है। विचारों के प्रकाश ने सदैव भूले-भटके मानव-जगत का मार्ग-दर्शन किया है। तेजस्वी बुद्धि अतल गहराई से भी विचारों के मोती खोज लाती है; अतः विचार स्वभावतः प्रौढ़ एवं गम्भीर होते हैं। भाव-शक्ति अपेक्षाकृत स्वभाव जन्य होने के कारण—वह जंगली जातियों में भी पाई जाती है किन्तु संस्कार जन्य बुद्धि सभ्य और सुसंस्कृत मानव-समाज में ही पाई जाती है। अस्तु उदाहरण के लिए निम्न-लिखित विचारों के सागर में गोते लगाइये—

"मैं यह तो मान नहीं सकता,
सुख सहज लब्ध यों छूट जाँय।
जीवन का जो संघर्ष चले,
वह विफल रहे हम छले जाँय।"
—कामायनी (ईर्ष्या—सर्ग, पृष्ठ १२१)

विचारशील मनु महाराज ने कामायनी से सगर्व (तेजस्विता से) कहा कि, मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि जो सुख सहज उपलब्ध हैं वे सरलता से ही हम से दूर चले जाँय और जगत में जीवन का जो संघर्ष चल रहा है वह असफल सिद्ध हो जाय और हम हार जाँय।

मनुदेव की उक्त बातों के पीछे कितने गम्भीर विचार हैं ? स्पष्टतः इन विचारों में जीवन, जीवन का उद्देश्य, जीवन का संघर्ष और सुख सम्बन्धी असंख्य तर्क और निश्चयों का जाल रहा होगा—जो सहज ही समझ में नहीं आ सकता। यह बुद्धि का विषय है कि वह अपने निश्चयों में प्रच्छन्न तर्क जगत का आविष्कार करे।

मानव का मस्तिष्क (कल्पना पक्ष)—मानव का मस्तिष्क शरीर में एक सुनियंत्रित यंत्र की भाँति परिचालित रहता है। मस्तिष्क, इन्द्र जाल अथवा गोरख धन्धे के समान प्रकृति की एक विचित्र सृष्टि

है। मनुष्य के जीवन के प्रायः सभी व्यवहार मस्तिष्क से ही अनुशासित होते हैं। मस्तिष्क, शरीर की सभी शक्तियों को सञ्चालित करता हुआ एक और व्यापार करता है जिसको "कल्पना" कहा जाता है। कल्पनाएँ उड़ते हुए बादलों की भाँति होती हैं। जो क्षण-क्षण में अपना रूप और आकार परिवर्तित करती रहती हैं। भाव एवं विचारों के ही समान कल्पनाएँ भी जीवन में एक मौलिक स्थान रखती हैं। मनुष्य-कृत संसार का सबसे बड़ा आधार कल्पनाएँ ही हैं।

मस्तिष्क शरीर के मूर्धन्य स्थान में उपस्थित है; अतः वह हृदय के सरस भावों और बुद्धि के तर्क-शील विचारों का भी कल्पनाओं के सृजन में उपयोग करता है। अधिकांश मनुष्य यह सोचते हैं कि कल्पाएँ निराधार होती हैं; किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। विचित्रताओं के कारण ही कल्पनाएँ प्रायः निराधार मान ली जाती हैं, किन्तु वास्तव में संसार की कोई भी बात निराधार नहीं हो सकती। वैसे तो जगत की प्रत्येक कृति मूर्तिमन्त होने के पूर्व कल्पना (निराकार) के रूप में ही रहती है।

कल्पनाएँ सहजगम्य नहीं हैं; अतः वे मनुष्य को केवल आश्चर्य और स्मिति ही प्रदान कर सकती हैं और यदि कोई मानव गम्भीरता से चाहे तो कल्पनाएँ उसको अपने संसार में दूर-सुदूर तक क्षितिज के उस पार भी अबाध उड्डयन करवा सकती हैं।

कल्पना के साम्राज्य की एक झलक देखिये:—

"प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल-
उठा सुनहला भर पराग।
जिसके परिमल से व्याकुल हो,
श्यामल कलरव सब उठे जाग।
आलोक रश्मि से बुने उषा,
अञ्चल में आन्दोलन अमंद।
करता प्रभात का मधुर पवन,
सब ओर वितरने को मरंद।
उस रम्य फलक पर नवलचित्र
सी प्रकट हुई सुन्दर बाला।
वह नयन महोत्सव की प्रतीक,
अम्लान नलिन की नवमाला।
सुषमा का मण्डल सुस्मित सा,
बिखराता संसृष्टि पर सुराग॥
सोया जीवन का तम विराग।"

—कामायनी (इड़ा—सर्ग पृष्ठ १३६)

प्रकृति के विचित्र यंत्र—मस्तिष्क ने कल्पना की कैसी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है ?

पूर्व दिशा में एक प्रकार का नवीन मधुर राग विकीर्ण हो गया है जिसकी परिधि में स्वर्णिम पराग से युक्त एक कमल प्रस्फुटित हो उठा है। उस कमल का परिमल इतना मधुर गन्ध से परिपूर्ण है कि जिससे दिशि-विदिशि के सब राग-रागनियाँ (पक्षीगण की मधुर ध्वनि) की विवशता से झंकृत हो उठी हैं। आलोक की रश्मियों से ग्रंथित ऊषा के अञ्चल में सब ओर मकरन्द लुटाने के लिये प्रभात का मधुर पवन तीव्र आन्दोलन कर रहा है। उत्फुल्ल कमलों की नवमाला के समान एक नवल चित्र सी सुन्दर बाला उस परम रमणीय स्थान पर अवतरित हुई—यह शुभ अवसर नेत्रों के लिए एक महोत्सव था। उस सुन्दर बाला की प्रसन्न शोभा ने संसार पर प्रेम का साम्राज्य स्थापित कर दिया—जिसमें जीवन का धूषित विराग (निराशा) निद्रा-भिभूत हो गया।

मानव-समाज की चिरकाल से अभिव्यंजित शक्तियों का सुन्दर और सफल परिणाम साहित्य है, अतः वह समाज के लिए पूर्ण उपयोगी है। वस्तुतः साहित्य ने ही मानव को गौरवशाली, प्रतिष्ठित और सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाया है। साहित्य, मानव-समाज को आनन्दित और आह्लादित भी

(शेष पृष्ठ २५० पर)

आद पद्मावती

श्री दशरथ शर्मा, डी० लिट्

१—हिन्दी साहित्य में राजकुमारी पद्मावती के अनेक आख्यान हैं। पद्मावत समय की पद्मावती समुद्र-शिखर गढ़ के राजा विजयपाल की पौत्री थी। दिल्ली नगर के एक सूए से दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान की प्रशंसा सुन कर वह अपनी सुध-बुध भूल बैठी। सूए के हाथ सन्देश भेज कर उसने पृथ्वीराज को समुद्र-शिखर बुलवाया। नियत समय और स्थान पर पहुँच कर पृथ्वीराज ने पद्मावती का हरण किया। राजा विजयपाल की सेना कुछ न कर सकी। चौहान सेना ने उसे हरा दिया।

२—जायसी के पद्मावत की नायिका सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री थी। उसके सूए का नाम हीरामन था। हीरामन के मुख से पद्मावती के सौन्दर्य-की प्रशंसा सुनकर चित्तौर का राजा रत्नसेन उस पर अनुरक्त हो गया। जोगी का रूप धारण कर वह सिंहलद्वीप पहुँचा; किन्तु उसके प्रेम की मात्रा इतनी अधिक थी कि वह पद्मावती को देखते ही मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। पद्मावती इससे निराश हुई और उसके हृदय पर यह लिखकर चली गई, 'जोगी तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा; जब फल प्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।'* महादेव की कृपा से अन्ततः रत्नसेन और पद्मावती का विवाह हुआ।

३—पद्मिनी और हीरामन सूए की प्रायः इससे मिलती जुलती अनेक कथाएँ उत्तरी भारत में प्रचलित हैं।‡ प्रायः सभी में पद्मिनी सिंहल देश की राजकुमारी है।† सभी में एक सूआ सन्देशहर का कार्य करता है। नायक प्रायः कोई उत्तरी सम्राट् है।

४—पद्मावती के आख्यान की इस परम्परा का कब आरम्भ हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। हम आचार्यवर श्री रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक नहीं मानते कि—"सिंहलद्वीप में पद्मिनियों का पाया जाना गोरखपन्थी साधुओं की कल्पना है।" सिंहलद्वीप की सभी स्त्रियाँ काली कलूटी नहीं होतीं। वहाँ भी सौन्दर्य है। गुरु गोरख से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व महाराजाधिराज हर्ष-वर्धन ने सिंहल की राजकुमारी रत्नावली को इसी नाम से प्रसिद्ध अपनी नाटिका की नायिका बनाया था। शायद यही रत्नावली शनैः-शनैः हमारे हिन्दी साहित्य की पद्मावती में परिणत हुई हो। अनेक-शास्त्र-निष्णात मनुज-वाणी-युक्त शुक की कल्पना भी हर्ष के राज्य-काल में रचित कादम्बरी में वर्तमान है। किन्तु रत्नावली और कादम्बरी के समय में शुक, नायिका और नायक का वह सम्बन्ध स्थापित न हुआ था जो हमें पद्मावती के आख्यानों में प्राप्त है।

५—महापुराणों की रचना प्रायः गुप्त-काल से पूर्व पूर्ण हो चुकी थी। किन्तु उपपुराणों की रचना सम्भवतः इससे परतर काल में हुई है। कल्कि-पुराण उपपुराण है। इसकी रचना का संवत् निश्चित नहीं; किन्तु बहुत सम्भव तो यही है कि उसकी रचना उस समय हो चुकी थी जब हिन्दी के प्रथम युग का

---

* जायसी ग्रन्थावली, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, प्रस्तावना, पृष्ठ १४.

‡ देखें जायसी ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० २५

† पद्मावती समय में विजयपाल की राजधानी का नाम समुद्र-शिखर है, जिससे प्रायः किसी द्वीप के नगर का बोध होता है। शायद इस समय के रचयिता ने भी किसी सिंहलद्वीप की पद्मिनी की कथा के आधार पर अपने कथानक की रचना की हो।

आरम्भ हुआ। उसकी नायिका पद्मावती का आख्यान संक्षेपतः यह है*:—

पद्मावती सिंहलदेश के राजा बृहद्रथ की पुत्री थी। भगवान् शिव ने उसे वरदान दिया था कि नारायण उसका पाणि-ग्रहण करेंगे; अन्य पुरुष उसे कामभाव से देखते ही नारी बन जायेंगे। पद्मावती के स्वयंवर की रचना करने पर वास्तव में ऐसा ही हुआ। कल्कि को अपने सर्वज्ञ नाम के सूए से यह सब कथा ज्ञात हुई तो उन्होंने सूए को अपना सन्देश देकर पद्मावती के पास भेजा। सन्देश का उत्तर आने पर कल्कि स्वयं सिंहलद्वीप गये। जब पद्मा उनसे मिलने आई तो कल्कि सुख से एक कदम्ब के नीचे मणिवेदिका पर सो रहे थे। बृहद्रथ ने नियमानुसार अपनी पुत्री का कल्कि से विवाह किया।

६—यह कथा कई अंशों में पद्मावती की अन्य कथाओं से मेल नहीं खाती; किन्तु सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती, उत्तर देशीय नायक और सर्वज्ञ शुक, ये तीनों कल्कि पुराण में वर्तमान हैं। कल्कि और पद्मावती के विवाह-सम्बन्ध में जायसी के पद्मावत की तरह भगवान् शिव का हाथ है। कल्कि-पुराण की पद्मावती नायक को सोया पाती है। पद्मावत की पद्मावती को देखते ही नायक मूर्छित हो जाता है और नायिका यह समझ बैठती है कि वह सोया है, इन सब समानताओं को ध्यान में रखते हुए क्या यह मानना असंगत होगा कि कल्कि-पुराण की पद्मावती ही हमारी आदि पद्मावती है और सम्भवतः कल्कि-पुराण की ही यह कथा श्रुति-परम्परा से अनेक रूपों में फली-फूली है।

* देखें कल्किपुराण प्रथम खण्ड, अध्याय ३-७ और खण्ड २, अध्याय १-३।

(पृष्ठ २४८ का शेष)

करता है। साहित्य ने ही मानव को चिर कान्ति की ज्वाला और चिर सृजन की अमोघ शक्ति देकर संसार का नियन्ता एवं शासक बनाया है।

साहित्य अनन्त है; अतः उसमें अनन्त शक्तियाँ भी भरी पड़ी हैं। साहित्य की अनन्त शक्तियों में भाव (हृदय-पक्ष), विचार (बुद्धि पक्ष) और कल्पना (मस्तिष्क-पक्ष) के तीन तत्व मुख्य हैं और ये ही तीन मुख्य तत्व साहित्य के मूलाधार हैं। भाव मानव समाज के अधिकांश भाग को रागान्वित करते हैं तो विचार मानव समुदाय को अपने अनुशासन एवं नियन्त्रण में रखते हैं तथा कल्पना मनुष्य-जगत को जीवन के लिए सुदूर भविष्य में आशा का मधुर दीप टिमटिमाये रखती है। भाव अन्तर्जगत् को प्रकाश में लाते हैं, विचार संसार के बिखरे हुये तत्वों को संग्रहीत करते हैं और कल्पना अपनी शक्ति का साम्राज्य क्षितिज के भी उस पार तक प्रस्थापित करती है।

विद्यापति का विरह-वर्णन

श्री फूलकुमारी माथुर

विरह वर्णन शृङ्गारिक कवियों का विशेष वर्ण्य रहा है। प्रेम में जो मुग्ध अभिसार है, उसकी तमिस्रा विरह में निर्मल हो जाती है। मिलन का सुख उत्कीर्ण प्रेम को विसुत कर देता है, सौन्दर्य निस्तेज होने लगता है और मनोभाव संकीर्ण। प्रिय के निकट रहने पर प्रतिदिन आनन्द की उमंगें तो द्विगुण होती हैं किन्तु नवीनता—कौमार्य जैसे प्रेम का उतर जाता है—नवनीत की सी स्निग्धता शुष्क होने लगती है। जीवन की इसी क्रमशीलता को, प्रेम की इसी अन्यमनस्कता को, भावों की कोमलता पर आच्छादित इसी कठोर आवरण को दूर करने के लिये कवियों ने विरह का सर्वाङ्ग वर्णन दिया है। कवि विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतिकार हैं। गीति काव्य का अन्तर स्वतः ही संगीतपूर्ण एवं मधुर होता है—उस पर भी प्रेम और राग का प्रकरण। विद्यापति का कोकिल कण्ठ कविता की अमराइयों में जैसे माधव ऋतु का संयोग पा गया है—उन्होंने जिस रस और जिस वाणी में गाया है, वह नितान्त मंजुल एवं कमनीय है।

विद्यापति का प्रेम लौकिक है अथवा अलौकिक यह अवर्ण्य विषय है, किन्तु उनका विरह वर्णन सर्वथा अपूर्व है। उसमें भावों की जैसी वेदना है—हृदय की जैसी व्याकुलता है—प्राणों की जैसी भाव-भूरिमा है—तन्मयता और विस्मृति है, बारहवीं सदी की हिन्दी के लिये वह गरिमा की बात है और उस समय के कवि के लिये सर्वथा अभिमान की। हम विद्यापति को संस्कृत-साहित्य का ऋणी कह कर निस्तेज नहीं कर सकते। उनमें केवल छायानुवाद नहीं है, प्रभाव पूर्ण व्यञ्जनाशक्ति है, भावों को सांगोपांग अनुभूत करने की क्षमता है, और जिस रस का अर्चन उनके कवि हृदय ने किया है, उसको मुक्तकण्ठ से गाकर वे क्षमतापूर्वक जन मन के सम्मुख रख सके हैं।

विरह में मन और भाव बहुत निर्मल होते हैं। प्रेमी निकट नहीं होता है केवल उसकी स्मृति होती है। वही प्रेम और प्रेम-रस का आश्रय होती है। प्रेम की भावुकता विरह में और भी भावात्मक हो जाती है—व्यक्ति नहीं, व्यक्ति की स्मृति का सम्मोहन प्रेमी के प्राणों को विकल करता रहता है। अभाव त्रास देता है और त्रास की दारुण स्थितियाँ प्रेम को विरह का स्वरूप प्रदान करती हैं। प्रेमी जब निकट दिखाई नहीं देता तो निकट और दूर सभी स्थलों और उपकरणों में उसकी काया और छाया रूप और माधुर्य, गुण और आचरण के स्मरण-आरोपण से उसके भाव-दर्शन किये जाते हैं। वह आत्मरत होकर विश्वस्त हो जाता है और इस प्रकार विरह के प्रसंग में लौकिक प्रेम की साधारण व्यञ्जना स्वतः ही अलौकिक और असाधारण प्रतीत होने लगती है। भावों का उत्पीड़न आध्यात्मिक चिन्त्य और चैत्य प्रतीत होने लगता है।

विद्यापति के विरह वर्णन में भी काम दशाओं से प्रतीक ग्रहण किये जा सकते हैं। यों उन्होंने अपने नायक और नायिका का नामकरण जयदेव परम्परा पर किया है। राधा-कृष्ण भक्त सम्प्रदाय के मत से जीवात्मा और परमात्मा हैं—परमतत्त्व और जीव के सम्मोहन का रूपक भी विद्यापति के विरह पदों में आरोपित किया जा सकता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द उपलब्ध हो सकता है। किन्तु यह प्रेरणा किसी भी प्रकार कवि के व्यक्तित्व को अस्पष्ट नहीं होने देगी। विद्यापति का कवि रूप उनके भक्त-स्वरूप से सदा आगे रहेगा, क्योंकि वह मूलतः कवि थे—भावरसिक और भावानुयायी।

उनमें भक्तों के व्यक्तित्व का मौलिक अभाव था। क्योंकि भक्तों की सी तन्मयता और समर्पण; भावना तथा दीनता और विनय हम उनमें कहीं भी नहीं पाते हैं।

विद्यापति की नायिकाओं का विरह कृष्ण के उन्हें सोती छोड़ जाने से आरम्भ होता है। विद्यापति ने कृष्ण का मथुरा जाना तो स्वीकार किया है, और कुब्जा के प्रणय का भी संकेत करते हैं—किन्तु परम्परागत कथा के आधार पर उनका विरह आरम्भ नहीं होता। कृष्ण और राधा अथवा कृष्ण और गोपिकाओं का स्वरूप उनके सम्मुख बहुत स्थूल है। सम्भवतः 'राजा सिवसिंह रूपनरायन और लखिमादेवी' अथवा शिवसिंह और अन्य रानियों के व्यक्तित्व से अधिक विकसित व्यक्तित्व उनके कृष्ण और राधा का नहीं है। विरह के अतिरिक्त अन्य प्रकरणों में वर्णित उनकी राधा अथवा गोपिकाएँ संस्कृत कवियों की परम्परागत नायिकाओं के रूप में व्यक्त हुई हैं। कोई विप्रलब्धा है, कोई विरहोत्कंठिता, कोई कलहान्तरिता है और कोई खंडिता। अभिसारिका और वासकसज्जा भी उसमें अनेकों मिलती हैं। दूतियाँ भी अनेकों हैं—और सखियाँ भी। विद्यापति ने सर्वत्र प्रेम को लौकिक आचरण और मानवी आवरण प्रदान किया है—उनका प्रेम शरीर की स्वस्थ मांसल आवश्यकता है। उनके विरह वर्णन का स्वरूप ठीक रूप से समझने के लिए इस तथ्य को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

कृष्ण नायिका को सोती छोड़ गये हैं—उसका नायिका को परिताप है। वह अपनी सखी से इसी दुख की बात कहती है:—

"एक सयन सखि सूतल रे,
आछल बालम निसि भोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे,
बिछुरल चकेवा जोर॥"

विरह और वेदना का आरम्भ यहीं से होता है कवि के पास पृष्ठभूमि में कोई कथानक नहीं है। कृष्ण कहाँ चले गये और क्यों चले गये उसे वह यथासाध्य बताने को प्रस्तुत नहीं है। कृष्ण क्यों चले गये इस तथ्य को तो उसने कहीं खोला ही नहीं है। वेदना का मर्म ही इतना गहरा और विस्तृत है—उसके सामने, कि उसे वही कहना और बारबार वही कहना इष्ट हो गया है। उसकी विरह विदग्धा किशोरियाँ और तरुणियाँ इतनी आकुल प्राय हैं—कि अपनी वेदना को असह्य मानकर वे प्राण त्यागने को तत्पर हैं। विरह ताप से चिता की अग्नि उन्हें कहीं शीतल और सुखकर प्रतीत होती है, परस्पर वे आवेदन और आग्रह कर रही हैं—

"विनति करओं सहलोलिनेर,
मोहि देह अगिहर स.जि।"

स्थिरता व्याप्त होने पर उत्ताप कुछ मन्द होता है, और गम्भीरता तथा गरिमा हृदय की व्याकुलता को शक्ति प्रदान करती है। विरह की इस अवस्था में प्राणों में सजीव शून्यता उद्वेलित होती है:—जैसे कुछ संभार सा उठे, प्राणों में एक आलोड़न हुआ हो; सतर्कता से दृष्टि चौंककर किसी को देखने लगे—और किसी को न पाकर निराश लौट आये। विस्फारित नेत्र और कोलाहलपूर्ण मूक हृदय लेकर। प्रेम जब हृदय के इतने गहन स्तर में प्रविष्ट हो जाता है—तभी स्वप्न तन्द्रा और जाग्रति तथा विसुप्ति में भी प्रिय का सहज अवगाहन होने लगता है। प्रिय की मूर्ति नेत्रों में और नेत्रों का प्रकाश हृदय में उतर जाता है। विद्यापति की नायिका इसी अवस्था में स्वप्न में अपने प्रिय को खोकर अपने भाग्य को ग्लानि दे रही है;—

"सूतल छलहुँ अपन गृह रे
निन्दइ गेलउँ सपनाइ।
करसों छुटल परसमनि रे
कोन गेल अपनाइ॥"

तथा—

"सपनहु संगम पाओल,
रंग बढ़ाओल रे।

से मोरा बिहि बिछटाओल,
निन्दओो हेराएल रे ॥"

विरह में शरीर और प्राण दोनों अवसन्न हो जाते हैं। भूमा के समस्त उपकरण अपने साधारण धर्मों का कोई अर्थ—प्रभाव नहीं रखते प्रतीत नहीं होते। प्राणों में एक केवल पीड़ा का सञ्चार रहता है। और उस पीड़ा का कारण होता है एक निश्चित अभाव। प्रिय एक मात्र लक्ष्य होता है। उसकी प्राप्ति के उपरान्त ही समस्त सुखों या सुख के उपकरणों का मूल्य है और मान है। अन्यथा, चन्द्रमा की शीतलता, चन्दन का अंगलेप, मृगमद का सौरभ सब व्यर्थ हैं। उनसे कष्ट की वृद्धि ही और होती है। विद्यापति की नायिका को भी वे कितना संताप दे रहे हैं :—

"मृगमद चानन परिमल कुंकुम
के बोल सीतल चन्दा।
पिया विसलेख अनल जों बसिये,
विपति चिह्निए भल मन्दा ॥"

प्रिय को पाने अथवा उसके दर्शन की उत्कट काँक्षा रहती हैं। काग को भी निमन्त्रण और प्रलोभन दिये जाते हैं। साधारण विवेक बुद्धि भी उस काक वार्त्ता का उपहास करेगी, किन्तु दग्ध नायिका कितने प्रेमाकुल और आश्वासन के स्वर से काग से कह रही है :—

"काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा।
खीर खाँड़ भोजन देव रे
भरि कनक कटोरा ॥"

विद्यापति का विरह दो प्रकार से निरूपित हुआ है। प्रथम में उनकी नायिकाएँ अपनी वेदना स्वयं व्यक्त करती हैं, दूसरे में उनकी सखी या कवि उनकी वेदना का वर्णन करता है। उनसे जहाँ नायिकाओं ने अपनी वेदना को स्वयं व्यक्त किया है वहाँ उनकी प्रेम विकलता, प्रेम विह्वलता, हृदय का घना हाहाकार, प्राणों की उलझन, प्रण तत्परता और अश्रुओं की लाचारी सर्वथा तीक्ष्ण आवेग में मिलते हैं। लक्षणा और व्यञ्जना से वे अपने दुख के कारण को प्रकट करती हैं—किञ्चित रोष कुब्जा के प्रति भी उनका होता है, और नायक कृष्ण को उपालम्भ भी मिलते हैं—कृष्ण की कठोरता पर नायिका क्षुब्ध भी होती है और जब वह यों कह कर अपनी प्रेम की दृढ़ता का परिचय देती है :—

"नखर खोआओलँ, दिवस लिखि लिखि
नयन अँधाओलुँ पिया पथ देखि ।"

अथवा :—

"केतक जतन सौं मेटिए सजनी
मेटए न रेख पखान।
जे दुरजन कटु भाखए सजनी
मोर मन न होय विराम ।"

तो उनकी प्रेम-पणता पर अनायास आस्था हो जाती है—श्रद्धा से हृदय आप्लावित हो जाता है।

कृष्ण उन्हें सोता छोड़ गये हैं। उनसे प्रेम करके नायकाओं को परिताप है—"अपने कर हम मूड़ मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई।"—फिर भी वे सर्वथा प्रेमरत हैं—कष्ट यह है कि उनसे "एक सरि भवन पिया बिन्दुरे, मोरा रहलो न जाय।" एक रात भी प्रिय के बिना काटे नहीं कटती क्योंकि 'मोर मन हरि हरि लय गेल रे, अपनो मन गेले।' कृष्ण उनके हृदय को अपने साथ ले गये हैं यही उनकी वेदना का मूल कारण है। कृष्ण के आने की प्रतीक्षा उन्हें उत्कट है। प्रेम के साथ यौवन का मूल्य भी वे जानती हैं। यौवन के उपकरण आत्मभोग के लिए नहीं, किन्तु प्रिय के उपभोग के लिए उन्हें प्रिय हैं—उन्हें वे सहेज कर रखना चाहती हैं। प्रिय का सत्कार उन्हें उन्हीं से करना है और यौवन है, कि अस्थिर है, सौन्दर्य प्रतिक्षण निस्तेज होता जाता है। कृष्ण की प्रेयसी को उसकी चिन्ता है। वह बार-बार इसी व्यग्रता में कहती हैं:—

"अंकुर तपन ताप जदि जारब,
कि करब वारिद मेहे।
इह नव जौवन विरह गमाओब
कि करब से पिया गेहे॥"

वह प्रिय के लौटने की आशा में है, अन्यथा प्रिय के बिना उन्हें यौवन सर्वथा कष्टदाय है। अपने यौवन की असार्थकता का कितना सुन्दर कथन उन्होंने दिया है:—

"सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन
की जौबन प्रिय दूरे॥"

शृङ्गारिक उद्दीपन विरह में प्राणद्रोही हो जाते हैं। पावस ऋतु में दूसरों के पति और प्रेमी अपने-अपने घर आगये हैं—और नायिका का प्रेमी अभी नहीं लौटा, इस पर उसे कितना क्षोभ है—"सखि मोर पिया, अबहुँ न आओल कुलिस हिया।"—उस पर भी सूने मन्दिर पर अनङ्ग और इन्द्र के तीक्ष्ण शर।—नायिका कितनी विह्वल होकर कह रही है—

"सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
दूभर बादर माह भादर,
सून मंदिर मोर॥
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन,
सघन खर सर हंतिया॥
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक,
फाटि जायत छातिया॥
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि,
अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओव
हार बिना दिन-रातियाँ॥"

वर्ष की प्रत्येक ऋतु, ऋतु का प्रत्येक मास, मास का प्रत्येक दिन और दिन का प्रत्येक प्रहर—क्षण और पल विरहिणी को संतप्त करता रहता है। अपनी सुन्दरतम रूपराशि में प्रकृति सज्जित होती है—और विरहिणी का संताप गहनतम होता जाता है। उसे अपने जीवन की कोई आशा शेष नहीं रहती। प्रिय से निराश उसे प्राणों का मोह तो नहीं होता किन्तु लौकिक प्रेम की आस्था प्रिय के दर्शनों के लिए शरीर की स्थिति को अवश्य महत्व देती है। यही कारण है कि विद्यापति की विरह-विदग्धा नायिका अपनी मृत्यु की ओर भी बार बार संकेत करती है।

दूसरे प्रकार के विरह वर्णन में, जिसमें कवि ने स्वयं अथवा सखियों के द्वारा नायिकाओं और राधा की विरह दशा का वर्णन किया है। कवि की व्यञ्जना अधिक क्रमबद्ध और वेदना का संभार अधिक अर्जस्वित प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में वियोगिनी संसार से उदासीन केवल कृष्ण का—अपने प्रिय का नाम स्मरण ही करती रहती है। वह उनका गुण स्मरण नहीं करती। क्योंकि विद्यापति कथा-गायक नहीं हैं—

"अधर न हास विलास सखी संग,
अहो नित जप तुम नामें।
जनि जलि-हीन मीन जक फिर इह,
अहो निति रहइह जागी॥"

और भी:—

"लोचन नीर तटनि निरमाने।
करए कलामुखि तथिहि सनाने।
सरस मृनाल करइ जप माली,
अहोनिसि जप हरिनाम तोहारी॥
× × ×
"जिब कर समिध समर कर आगी।
करति होम बध होए बह भागी॥
चिकुर बरहि रे समरि करि लेअई।
फल उपहार पयोधर दे अई॥"

इस प्रकार की प्रेम साधना विद्यापति की वासकसज्जा और शुक्लाभिसारिका नायिकाओं में जाग्रत दिखाई देती है। योग के समय अनन्त भोग-उपभोग उन्होंने किया है, और अब, प्रेम मार्ग के जटिल स्तर पर भी वे उतनी ही उत्साहप्राण हैं। अपने प्रिय के स्मरण चिन्तन के अतिरिक्त उन्हें और कुछ प्रिय नहीं है। वेदना और प्रज्वलन में वे नितान्त क्लान्त काया और जीर्ण शीर्ण हो गई हैं, मानो शशिधर को मुख का सौन्दर्य, मृग को लोचन का लावण्य, चवँरि को केश राशि की कृष्णकान्ति और कोमलता दाड़िम को दशनों की आभा, अनंग चाप को भ्रू भंगिमा और प्रभृति को वे अपनी वाणी का राग समर्पित कर चुकी हों—और केवल क्षीण रेखा के समान शरीर शेष रह गया हो। जिसे प्रिय के दर्शन की अभिलाषा से वे जीवित रखे हुए हैं। लौकिक प्रेम की यह साधना भी ऐसी अपूर्व है, कि नितान्त अलौकिक सी प्रतीत होती है।

भाव जब घनीभूत हो जाते हैं, तो स्मृति और 'स्मृत' विस्मृति बन जाते हैं। हृदय में ऐसा आलोड़न होता है, वेदना का सञ्चार इतना घना हो जाता है—कि चेतना अपनी दृष्टि खो बैठती है। 'स्व' तो लीन हो ही जाता है 'पर' का भी व्यक्तित्व खड़ा नहीं रह पाता। तब भावों के विभोर भावोदधि में केवल भावनाद ही सुन पड़ता है—अन्य शब्द नीरव हो जाते हैं। तन्मयता और आत्मविभोरता की यह दशा प्रेम की चरम दशा है। विद्यापति का विरह-वर्णन यहीं आकर समाप्त हो गया है, जब राधा अपने प्रिय कृष्ण के नाम-रूप स्मरण में तल्लीन होकर स्वयं को ही कृष्ण समझ लेती हैं, और 'राधा राधा' चिल्लाने लगती हैं, जब उसकी यह समाधि टूटती है तब कृष्ण के अभाव में वह और भी विकल हो जाती है। वेदना की भी यह मर्मतम अवस्था है—

अनुखन माधव माधव सुमरत,
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल,
अपने गुन लुबुधाई॥
माधव, अपरुब तोहर सिनेह,
अपने विरह अपन तनु जरजर।
जिबइत भेलि सन्देह॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छलछल लोचन पारि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि॥
राधा सँय जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा॥
दुहुदिसि दारु-दहन जैसे दगधई
आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान॥

इस प्रकार विद्यापति का विरह वर्णन सर्वथा लौकिक होते हुए भी अपूर्व और अनन्य वेदनापूर्ण है।

भ्रमरगीत परम्परा की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

श्री देवीशरण रस्तोगी एम० ए०

'भ्रमरगीत' ज्ञान मार्ग पर प्रेम मार्ग का विजय बोध है। केवल भागवत में जिस समय अन्त में उद्धव गोपियों को ज्ञानोपदेश करते हुए दिखाई पड़ते हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेममयी-व्रज-बालाएँ ज्ञानी उद्धव के सम्मुख झुक गई हों अन्यथा प्रत्येक भ्रमरगीत के अन्त में किसी न किसी प्रकार से ज्ञानी उद्धव को हठीली गोपियों के सम्मुख माथा टेकता दिखाया गया है। सूर की ग्रामीण गोपिकाएँ हाथ धोकर उद्धव के पीछे पड़ जाती हैं। अल्हड़ जो ठहरी, जो जी में आता है, कह देती हैं। किसी का भय नहीं, किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं। इन वाचाल प्रेमिकाओं के व्यङ्गों और उपालम्भों की बौछार के सामने उद्धव जम नहीं पाते। अन्त में जब कृष्ण के सम्मुख पहुँचते हैं तो उनके मुख से निकल ही पड़ता है :—

> हौं पचि कहतो एक पहर में,
> वै छन माँहिं अनेक।
> हारि मानि उठि चल्यों दीन-
> ह्वै छाँड़ि आपनी टेक॥

नन्ददास की नागरियाँ लोहे से लोहे को काटती हैं। वह याचना के बल पर उद्धव से चुप लगाने के लिए नहीं विनती करतीं वरन् दार्शनिक तर्क-वितर्क द्वारा उसकी सिट्टी गुम करना चाहती हैं। रहीम, देव, पद्माकर तथा अन्य रीतिकालीन कवियों की गोपियाँ तो उद्धव को खूब पानी पी पी कर कोसती हैं। गुप्तजी तथा हरिऔधजी की गोपिकाएँ यद्यपि पूर्णरूप से आधुनिकाएँ बन चुकी हैं किन्तु उद्धव की आड़े हाथों खबर लेने के समय वह भी किसी से पीछे नहीं रह जातीं। 'रत्नाकर' की गोपियाँ कहीं पर तर्क और कहीं पर नारी-सुलभ वाचालता द्वारा उद्धव को छकाने का प्रयत्न करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक भक्त कवि ने डंके की चोट पर ज्ञानमार्ग की भर्त्सना की है। यहाँ पर प्रायः यह शंका हो जाती है कि क्या केवल प्रेम ही (रागात्मिका वृति) ही जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपेक्षित है? क्या ज्ञान (बोध-वृति) इतनी निकृष्ट है कि उसे सदा के लिए जीवन से निष्कासित कर देना चाहिए? क्या इसीलिए भक्त कवियों ने ज्ञान-मार्ग की इतनी कटु निन्दा की है? क्या उद्धव की पराजय का आशय यह है कि बुद्धि का भरोसा न करके जीवन की बागडोर हृदय के हाथों सौंप देनी चाहिए?

बात ऐसी नहीं है। वास्तव में रागात्मिकता को पकड़ बैठना तो उतना ही हानिकारक है जितना कि बोध वृति द्वारा जीवन के प्रत्येक मर्म को समझना। जो लोग आँख मूँद कर हृदय की गहराइयों में उतना चाहते हैं उनके वहीं खो जाने का डर बराबर बना रहता है। हृदय की ललक जीवन को गति प्रदान कर सकती है पर पथ-प्रदर्शन के लिए बुद्धि का ही पल्ला पकड़ना पड़ता है। क्षणिक आवेश के आधार पर किसी चिरन्तन सत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। बिना सोचे समझे कीर्तन में सिर हिलाने वाले भक्तों की संख्या कम नहीं है और उनकी भक्ति भावना (विश्वास) पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता पर फिर भी उनको 'आदर्श' मानने का दुस्साहस शायद ही कोई करे! इतना ही नहीं कोरी भावना भी जीवन के चारों ओर एक ऐसी अस्पष्टता का साम्राज्य फैला देती है कि अनजाने में सारी प्रगति और कर्मण्यता उसके बन्दी बन जाते हैं। इसका परिणाम होता है—निष्क्रियता तथा निश्चेष्टता।

ज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार की निष्क्रियता की

सम्भावना अधिक रहती है। वास्तव में ज्ञान संशय उत्पन्न कर देता है और यदि यह संशय, जिज्ञासा बनकर मनुष्य को सक्रिय बनाए रखे तब तो वह जीवन के लिए सञ्जीवन बन जाता है और यदि 'जितना छाने उतना ही गन्दा हो' के अनुसार दुविधा के फेर में डाल दे तो फिर अत्यन्त घातक बन जाता है। ऐसे अवसर पर संशय विश्वास का शत्रु बन जाता है और तब किसी में विश्वास का अभाव हो जाए तो समझ लेना चाहिए कि उसकी प्रेरक शक्ति क्षीण होने लगी है। इस प्रेरक शक्ति अर्थात् लगन (प्रेम, विश्वास) के अभाव में सारा ज्ञान बाँझ हो जाता है, सारी योग्यता धूल में मिल जाती है और मनुष्य मिट्टी का ऐसा ढेर रह जाता है जिसकी अपनी कोई पसन्द नहीं, निर्णय नहीं, जीवन नहीं। ऐसे व्यक्ति पर कौन दया न करेगा जो दूसरों के इङ्गित पर हँसता है, दूसरों के संकेत पर रोता है और यहाँ तक कि दूसरों के कहने पर किसी चीज को भली या बुरी मानने लगता है।

इस प्रकार की घातक बुद्धि को भक्त-कवियों ने तो क्या ज्ञानमार्गी संतों तक ने दूर से ही प्रणाम किया है। वह ज्ञान जो जीवन को कार्य-शक्ति न प्रदान कर सके, बुद्धि का अभिशाप है। ऐसे अनुपयोगी बाँझ ज्ञान से तो सीधी-सादी सच्ची लगन कहीं अच्छी है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़ै सु पंडित होय॥

वास्तव में बुद्धि मनुष्य का वास्तविक रूप भी नहीं है। मनुष्य तो बौद्धिक प्रयासों में प्रायः अपने व्यक्तित्व को बचाने का प्रयत्न करता है। देखा जाए तो बुद्धि वास्तविकता को छिपाने में जितनी चतुर है उतनी प्रकट करने में नहीं। मनुष्य का असली रूप तो उसके हार्दिक विश्वासों में प्रकट होता है और इसीलिए दार्शनिक शॉपनहायर ने स्पष्ट रूप से कहा भी है—Right action springs from the will, and not from the intellect for the true nature of man lies in his will. 'बुद्धि' में व्यक्ति का 'अहं' ही प्रकट होता है। भूल से भी इस वाह्य रूप को वास्तविक रूप न समझना चाहिए। सूफी कवि शब्सतरी ने बताया है कि जो मनुष्य बुद्धि को ही अपना वास्तविक रूप समझता है, अवश्य ही वजन को मुटापा समझ रहा है—

बेरौं से ख्वाजा खुद रा नेक वेशनास।
कि न बुवद फर विही मानिन्दे आमास॥

बुद्धि जीवन में असन्तोष उत्पन्न करती है। यदि यह असन्तोष प्रेरणा बन जाए तो इससे अधिक उपकारी कौन सिद्ध हो सकता है। इसके सामने वह आत्म-सन्तोष जो मनुष्य को निश्चेष्ट कर दे, शाप है। प्रायः मनुष्य आत्म-सन्तोष की आड़ में अपनी पलायन तृप्ति को थपकने लगता है जिसका परिणाम होता है उसका जीवन के संग्राम में प्रत्येक पग पर पीछे हटते हुए कायरता और अन्त में आलस्य को निमन्त्रण देना। यह आलस्य और कायरता तनिक सा सहारा मिलते ही व्यक्ति के चारों ओर बड़ा मोहक निष्क्रियता का ताना-बाना बुनने लगते हैं। इसीलिए बुद्धि जनित उस दिव्य असन्तोष (Divine Discontent) की सभी विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। वहाँ तो यह वाक्य वेदवाक्य बन गया है—It is better to be dissatisfied than to be a satisfied pig, Socrates! पर क्या यह निरा असन्तोष जीवन को गति प्रदान कर सकता है? वस्तुतः जब विश्वास के बल पर व्यक्तित्व की कीली ठीक स्थिर होती है तभी जीवन का चक्र भली-भाँति चल पाता है। यह न भूलना चाहिए कि क्षुद्र सी दीखने वाली यह भावनाएँ मानव जीवन का जीवन हैं। यदि इन्हें जीवन में उचित स्थान मिलता रहे तो कभी धोखा देती नहीं और जहाँ एक बार सन्तुलन बिगड़ा कि फिर चाहे विवेक घुटने टेक दे, यह वश में नहीं आतीं। भाव-

प्रवाह के एक झटके के आगे संयम के बड़े-बड़े बाँध पल भर में नष्ट हो जाते हैं।

योग-मार्ग में एक प्रकार से बुद्धि को ही सब कुछ मान लिया गया था। यद्यपि सन्त कभी-कभी बुद्धि के खोखलेपन से चिढ़कर 'दौं' तथा 'लगन' की बात करते थे पर फिर भी उन्हें 'ज्ञान' पर अधिक भरोसा था। भक्तों ने बुद्धि की एकांगिता की पोल खोल ही दी। उन्होंने बताया कि निरी बुद्धि (केवल ज्ञान) जीवन को सुघड़ और सुन्दर नहीं बना सकती, बुद्धि मनुष्य की चेतना को विश्राम देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करती। वास्तव में बुद्धि के पास जीवन में ऐसी कोई सारवान वस्तु हो नहीं रह जाती जिस पर खड़े होकर मानव-चेतना आराम की सांस ले सके। उल्टा वह तो चेतना में ऐसी अप्रिय हलचल मचा देती है कि वास्तविकता का पता लगाने की चिन्ता में ग्रस्त मानव, जीवन की तह पर तह हटाता हुआ अन्त में खाली हाथ खड़ा रह जाता है, ठीक कदलि दण्ड पर से एक-एक पत्ता उतार कर 'कुछ' पा लेने के लिए उत्सुक व्यक्ति की भाँति। ऐसे अवसर पर उसे अपने आप से (अपना वास्तविक रूप जो देख लिया—पशुवत्) जो घृणा होती है उसका सामना करने के लिए तैयार न रह सकने के कारण वह कभी तो घोर व्यक्तिवादी और कभी घोर स्वार्थी बन जाता है। कोरी निवृत्ति आखिर कहाँ तक चेतना को विश्राम दे सकती है—

त्यों 'पद्माकर' वेद पुरान पढ़यो,
पढ़िकें कछु वाद बढ़ायो।
दौरयो दराज में दास भयो पै
कहूँ विसराम को धाम न पायो॥

यदि बिखरे हुए जीवन में फिर से आस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न किया भी जाए तो उसमें पहले वाला लावण्य नहीं आ पाता। देखने में तो प्रायः यह आता है कि इस प्रकार चेष्टा करने से यह आस्था उत्पन्न नहीं हुआ करती। यदि बिगड़ी बन भी जाए तो जरा सी ठेस लगते ही झट से टूट पड़ने का भय बराबर बना रहता है। यदि टूटी को जोड़ भी ले तो गाँठ थोड़े ही कहीं जाती है—

बिरचि मन बहुरि राच्यो आप।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय।
× × ×
दूध फटे जैसे भइ कांजी, कौन स्वाद करि खाय॥
—सूर

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावुकता की धारा में आँख-मीचकर गोते मारने में मग्न रहने वाला और विचारों के मरुस्थल पर सुख-शान्ति की खोज में बेतहाशा दौड़ लगाने वाला—दोनों एक ही पथ के पथिक हैं। जीवन के लिए तो हृदय और बुद्धि का सहयोग आवश्यक है। हृदय जीवन को रस दे, बुद्धि जीवन को इस रस का सदुपयोग करने का अवसर दे, यही सब कुछ है। भक्त-कवियों का अभिप्रेत भी यही हृदय तथा बुद्धि, प्रेम तथा ज्ञान का समन्वय था। बुद्धिवाद का खंडन करते समय उनके स्वर में स्थान-स्थान पर जो तीक्ष्णता आ गई है, वहाँ उस उग्रता से यही समझना चाहिए कि ज्ञान का सर्वथा परित्याग करने से कवि का आशय, बुद्धि के उस अतिशय प्रयोग से बचने का है जो जीवन को आलोकित नहीं करता वरन् उसकी जड़ें काटता है। इस प्रसङ्ग में अतिशय-बुद्धिवादिता के प्रतीक हैं उद्धव। जब गोपियों से हार का उद्धव स्वयं भी प्रेममय हो जाते हैं, तो वहाँ यही समझना चाहिए कि अतिशय बुद्धिवादिता ने अपनी पराजय स्वीकार करके राग (प्रेम) के लिए अपेक्षित स्थान छोड़ दिया है। प्रेममय हो जाने पर भावना बुद्धि को डुबा नहीं देती वरन् अनजाने में उसी से परिचालित होने के लिए उसके पास आ जाती है। मानो दो वियोगी जीवन को सुखी बनाने के लिए फिर मिल गए हों। आचार्य प्रवर भागवत कुमार ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में (The Bhagwat cult in Ancient India) इस प्रसंग की इस समस्या को सुलझाते हुए कहा है—An overflowing sentiment

प्रसाद और उनकी कामायनी

श्री आनन्दनारायण शर्मा एम० ए०

हिन्दी के जागरूक स्रष्टाओं में भारतेन्दु के बाद प्रसाद का ही स्थान आता है, जिन्होंने राष्ट्रभाषा के सभी आहत अङ्गों पर पट्टियाँ बाँधी। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य-गगन में प्रसाद का अभ्युदय भारतेन्दु के अस्त के लगभग तीन दशाब्दि बाद होता है, किन्तु कला और सन्देश का जहाँ तक प्रश्न है, वह निश्चय ही भारतेन्दु को काफी पीछे छोड़ जाते हैं। यदि भारतेन्दु में इन्दु की शीतलता और स्निग्धता है तो प्रसाद में अंशुमाली का प्रखरतम किरणजाल एवं जीवनप्रद स्वस्थता। भारतेन्दु केवल नवयुग का श्रीगणेश ही कर सके थे, कलात्मक निर्माण नहीं। वह काम प्रसाद द्वारा पूरा हुआ। प्रसाद इतना अजेय आत्म विश्वास लेकर आए थे कि आलोचनाओं का भीषणतम वात्याचक्र भी उनके मानस-जलधि में तनिक अशान्ति न ला सका और युग के हलाहल का पान करने पर भी उनके होंठों से मुस्कराहट अन्त तक न गई। यहाँ उनकी ही सर्व-श्रेष्ठ कविता पुस्तक 'कामायनी'—जिसे 'रामचरित मानस' के बाद हिन्दी का दूसरा महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है—का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

'कामायनी' मानवता के विकास का रूपक है। जलप्लावन की कथा और उससे बचे हुए आदि पुरुष की अनुश्रुति हमारे ही नहीं, अन्य देशों के

---

carries away all sense and sense activities in its impetuous rush. The tidal wave of a full emotion submerges reason but drowns it not. If it does not use to the surface, it works deep in the mind, and unconsciously guides emotion itself. 'कृष्णायन' में पंडित द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

बुद्धि भावना संतुलन, आई धर्म आधार।
नष्ट भावना आजु प्रभु, शेष बुद्धि व्यभिचार॥
चंचल मानस थिर न विचारा,
मन क्षण कछु क्षण अन्य प्रकारा।
आत्मघात पथ जनु बौरायी,
ध्येय विहीन रहे नर धायी॥
अनुचित ज्ञानोपासन नाहीं,
श्रद्धा बिनु न सार तेहि माहीं।
भक्ति सहाय लहत जब ज्ञाना
सकत तबहिं करि नर कल्याना।
सृजन शक्ति ताहि महँ होई,
प्रकटत प्रतिपल जीवन सोई।

तुलसी ने भी इस समन्वय की ओर संकेत किया था :—

...... ज्ञानहिं भक्तिहिं कछु नहिं भेदा।

वास्तव में भक्तों ने 'ज्ञान' से अधिक 'ज्ञानमार्ग' की निन्दा करनी चाही है। यदि निर्गुणी परम्परा सामाजिक जीवन में स्वेच्छाचरिता, धर्म के प्रति हर प्रकार का विरोध तथा अस्पष्टता, और साथ ही सब प्रकार के अध्ययन—अध्यापन के प्रति घृणा न फैला देती तो निश्चय ही भक्त कवियों का स्वर कभी भी इतना कटु न हो पाता। यही कारण है कि गोपियों के उपालम्भों तथा व्यंगों का आधार प्रायः ज्ञान-मार्ग का व्यवहारिक रूप रहा है।

साहित्य की भी अक्षय निधि है। और यह देखकर तो सचमुच आश्चर्य होता है कि हमारे मनवंतर के प्रवर्त्तक मनु का नाम ग्रीक के माइनोस और मिश्र के म्युन्सियस से विचित्र साम्य रखता है। देवगण के उच्छृंखल विलास और निर्बाध आत्म-तुष्टि की जल-प्लावन में परिणति स्वाभाविक थी। यहीं नव-मानव युग के उद्भव की सूचना मिलती है। 'कामायनी' का कथानक विंदुशः संक्षेप में इस प्रकार है—

'जलप्लावन के बाद देव-सृष्टि का अवशिष्ट मनु (मनोमय कोश में स्थित जीव) अपने को अकेला देखकर अत्यन्त चिन्तित होता है। किन्तु क्रमशः ऊषा के आगमन के साथ उसमें आशा का सञ्चार होता है और प्रलय का जल फटने पर वह अग्नि-होत्र आरम्भ कर कर्ममयी देव-संस्कृति का आवाहन करता है। तभी अकस्मात कामगोत्रजा श्रद्धा (कामायनी) से उसकी भेंट होती है। श्रद्धा उसे तपमय जीवन से हटाकर ममता-सम्पन्न मानव-जीवन की ओर अग्रसर करती है। इसी समय काम के स्वर मनु को सुन पड़ते हैं और उसके मन में वासना जगती है। जलविप्लव से बचे हुए असुर पुरोहित किलात और आकुलि उसे पशुयज्ञ के लिए आमंत्रित करते हैं और मनु एक निर्भय कर्मकाण्डी के रूप में हमारे सामने आता है। श्रद्धा को इससे विरक्ति होती है। वह तब तक आसन्न प्रसवा हो चुकी थी। अतः वह भावी मानव के लिए एक सुन्दर लताकुञ्ज का निर्माण करती है। मनु श्रद्धा का प्रेम बँटता हुआ देखकर ईर्ष्या से जल उठता है और उसे असहाय छोड़कर चला जाता है। इसके बाद उसका परिचय सारस्वत प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी इड़ा (बुद्धि) से होता है। इड़ा उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश का शासन-सूत्र मनु के हाथों में सौंप देती है। मनु इड़ा के सहयोग से कर्मों का विभाजन कर वर्ग-सृष्टि की नींव डालता है और व्यवसायात्मिका बुद्धि का चक्र क्षिप्रतम गति से चलने लगता है। मनु सारस्वत प्रदेश का एक छत्र सम्राट बन जाता है। पर उसे इतने से भी सन्तोष नहीं होता। उसके मनकी निर्वाधित अधिकार-लिप्सा इड़ा को भी अपने बाहुपाश में जकड़ा हुआ देखना चाहती है। परिणाम में प्रजा का विद्रोह होता है, और प्रजापति मनु आहत होकर धराशायी होता है।

'उधर श्रद्धा, जो अबतक मानव की जननी बन चुकी थी, स्वप्न में मनु की इस विपन्नावस्था से परिचित होती है और वह उसे खोजती-भटकती सारस्वत प्रदेश पहुँचती है। घायल मनु को देखकर उसकी करुणा उमड़ पड़ती है। उसके स्नेहशील उपचार से मनु शीघ्र ही स्वस्थ होता है और उसका मन क्षोभ तथा पश्चाताप से भर आता है। वह एक रात सबको—श्रद्धा, इड़ा और मानव को—छोड़कर भाग निकलता है। श्रद्धा पुनः उसकी खोज में निकलती है और उसे मन्दाकिनी के किनारे एक पर्वत-प्रदेश में तप करता हुआ पाती है। यहीं मनु को आनन्द में नृत्य-निरत नटराज के दर्शन होते हैं, जो संहार-सृजन की आह्लादपूर्ण लीला में तन्मय है। श्रद्धा मनु को भाव, कर्म और ज्ञान लोकों के दर्शन कराती है। उसकी मुस्कान से तीनों लोकों का समन्वय हो जाता है और मनु जीवन के अन्तिम रहस्य से अवगत होते हैं अन्त में इसी संधिस्थल पर मनु और श्रद्धा आनन्द की अखण्ड साधना करते हैं, जहाँ उनके दर्शन को प्रजा सहित इड़ा और मानव आते हैं और प्रकृति के मादन दृश्य के साथ पटाक्षेप होता है।'

पुस्तक समाप्त करने पर जो दो बातें पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती हैं, वे ये हैं—

(१) कवि की आस्था कथा की ऐतिहासिकता पर उतनी नहीं जितनी उसकी भावात्मकता पर है। इसलिए वह उसके इतिवृत्तात्मक विस्तार पर न ध्यान देकर सांकेतिक अभिव्यक्ति का ही पक्षपाती है, जो छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है।

(२) यह सारा काव्य एक विराट् रूपक है। "कामायनी की व्यक्त कथा जहाँ आदिम पुरुष मनु और उसकी आदि सहचरी कामायनी के संयोग से

मानवसृष्टि के उद्भव और प्रसार का इतिहास उपस्थित करती है, वहीं उसकी अव्यक्त धारा अहङ्कार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक—मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक—का क्रम-विकास उपस्थित करती है।" (डा० नगेन्द्र—साहित्य-सन्देश) प्रसादजी ने अपने आमुख में स्वयं भी स्वीकार किया है—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है।"

'कामायनी' का नायक मनु है। वह मनोमय कोश में स्थित जीव के अतिरिक्त मनन शील मन का भी प्रतीक है—'मन्यते अनेन इति मनुः'। वेदों में मनु का उल्लेख भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। कहीं उसे प्रजापति माना गया है, कहीं ऋषि, कहीं वन्य ओषधियों का प्रणेता और कहीं पिता। प्रसादजी ने उसे मुख्यतया चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उसके मूल लक्षण हैं 'अहङ्कार' और 'अस्तित्व'—'मैं हूँ' तथा 'मैं रहूँ'। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मनु की प्रजा कहा गया है। ये ही सङ्कल्प-विकल्प यहाँ अहङ्काररूपी मनु के सञ्चारी दिखलाए गए हैं। समग्र 'कामायनी' में मनु का चरित्र परिवर्त्तनों की स्थिति से आगे बढ़ता हुआ दिखलाई देता है। वह एक तपस्वी से आरम्भ होकर क्रमशः कर्मकाण्डी, वर्गों के नियामक, प्रजापति आदि की सीढ़ियाँ पार करता हुआ अन्त में पूर्ण आनन्दवादी बन जाता है। इस प्रकार मनु में हमें मानव-प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण परिचय मिलता है। एक ओर वह अति भावुक है तो दूसरी ओर निर्मम तार्किक, कहीं विलासी तो कहीं उदासीन। वह मनुष्य की सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघात रूप है। दीर्घ-लघु, कोमल-कठोर, हृदय-बुद्धि, राग-विराग आदि सभी मानवीय विशेषताओं का मनु में सम्मिश्रण है। इसलिए उसका चरित्र इतना आकर्षक हो गया है।

पर 'कामायनी'—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—पुरुष-प्रधान काव्य नहीं। पुरुष तो केवल माध्यम है। कथा का सूत्र वस्तुतः नारी पात्रों के—विशेषकर कामायनी के हाथों में रहता है। प्रसाद की सुकुमार नारियाँ वासन्ती वायु के सरस परस की भाँति जीवन का एक फुलक-फुलक से भर कर अनन्त नीलिमा में विलीन हो जाती हैं। 'कामायनी' की नारी में प्रसाद की नारी-सृष्टि पूर्णता को प्राप्त होती है। कथानक की नायिका श्रद्धा हृदय-तत्व का प्रतीक है। उसका यह प्रतीकत्व ऋग्वेद-काल में ही स्वीकृत हो चुका था—'श्रद्धांहृदय्य भाकूत्या श्रद्धय विन्दते वसु' प्रसाद ने भी उसे इसी रूपमें ग्रहण किया है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार।' इसके अतिरिक्त उसे कामगोत्रजा (कामायनी) कहा गया है। किन्तु यह 'काम' संकुचित 'सेक्स' का पर्याय न होकर अपने अत्यन्त व्यापक रूप में आकर्षण तथा चेतना के आत्म-विस्तार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार है। शुक्लजी ने उसे ठीक ही 'विश्वासमयी रागात्मिका-वृत्ति' कहा है। 'उसका निर्माण अनन्त स्नेह, निश्छल सहृदयता और स्वाभाविक कोमलता से हुआ है। ममता उसकी अमोघ शक्ति है। उसमें हम चेतना की दीप्ति, हृदय का अनुराग-लावण्य एवं वात्सल्य का व्यापक वरदान पाते हैं।' (ग० प्र० पाण्डेय) उसमें प्रसाद की नारी का वह आदर्श चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ है जो मल्लिका, देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से पल्लवित हो रहा था। वह अमला इस संसृति में प्रेमकला का सन्देश सुनाने के लिए अवतरित हुई है—

"यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूलशक्ति की प्रेमकला।
उसका सन्देश सुनाने को,
संसृति में आई वह अमला॥"

इसके विपरीत इड़ा बुद्धि-तत्व का प्रतीक है, तर्कमयी प्रवृत्तियों की संपोषिका। जहाँ श्रद्धा अनन्त करुणामयी है, वहाँ इड़ा अनन्त प्रेरणामयी। श्रद्धा यदि कल्पना-सी कोमल है तो इड़ा यथार्थ सी परुष। श्रद्धा भावनात्मक है, इड़ा विचारात्मक। वह जीवन

की सरसता से अधिक उसकी अबाध गतिशीलता की पुजारिन है। मनोवृत्तियों का यही अन्तर उनकी आकृति में भी मुखरित हो उठा है। देखिए, यह है श्रद्धा—

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रङ्ग॥"
"या कि नव इन्द्र नील लघु श्रृङ्ग
फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।
घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास;
नील घनशावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुस्कान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम;
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भीनी कर मोद;
मदभरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-धुनि की गोद।
कुसुम कानन-अञ्चल में मन्द
पवन-प्रेरित सौरभ साकार:
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार॥"

इस भावात्मक सहज, सरल आकर्षण के प्रतिकूल इड़ा का तिर्यक व्यक्तित्व है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम
शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग
देते अनुराग-विराग ढाल।
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश
वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे
संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म कलश
वसुधा जीवन रस सार लिये।
दूसरा विचारों के नभ को था
मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली की त्रिगुण तरङ्गमयी,
आलोक-वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल॥"

इस चित्रण में अन्य स्पष्ट अन्तरों के साथ एक यह भी प्रमुख अन्तर है कि कलाकार प्रसाद ने जहाँ श्रद्धा के वर्णन में छोटे क्षिप्र छन्द का प्रयोग किया है, वहाँ इड़ा का चित्र लम्बे, मंथर, गेय पद द्वारा प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा ने मनु के प्रति आत्म-समर्पण किया था, इड़ा उसे बन्दी बनाकर रखना चाहती है। श्रद्धा के समर्पण में त्याग की भावना थी, इड़ा के स्वागत में, कार्य सिद्धि की साध है। वह शासन करने वाली है—'इड मकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्' (ऋग्वेद)। इसीलिए वह मनु की वासनाओं को उपशमित करने के स्थान पर और भी भड़का देती है, और फलस्वरूप प्रजापति मनु का पतन होता है। लेकिन स्वार्थ परायण मनु के लिए इड़ा जहाँ अभिशाप-सी सिद्ध होती है, वहाँ श्रद्धायुत मानव के लिए वह वरदान-सदृश है। कामायनी स्वयं मनु को खोजने जाते समय इड़ा को अपना विश्वास पात्र समझ कर अपने कलेजे के टुकड़े मानव को उसे सौंपती है—

"हे सौम्य, इड़ा का शुचि दुलार;
हर लेगा तेरा व्यथाभार ।
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय ॥"

इड़ा और कुमार का यह सहयोग हृदय और बुद्धि-तत्वों का सम्मिलन है और है नूतन मानवता के विकास का स्वस्थ शक्ति चिह्न !

प्रसादजी आनन्दवाद के पुजारी थे। उनके अनुसार शुद्ध निर्लेप चेतनता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। 'कामायनी' की रचना मानव मन की उस सनातन साधना का परिणाम है जो आदिकाल से जीवन और जगत के अन्धकारमय अंश को विदीर्ण कर एक अमर सत्य और शाश्वत सुख की ओर अहर्निश, अविरत उन्मुख है। 'कामायनी' के मूल में जो आध्यात्मिक तत्त्व है वह शैवतत्त्व-ज्ञान के आनन्द तत्व पर आधारित है और उसकी विवेचना कवि की मौलिकता है। दर्शन सर्ग के अन्त में प्रसादजी ने मनु को नटराज के दर्शन कराए हैं। काव्य की दृष्टि से नर्त्तित नरेश का साकार रूप अन्तर्जगत की उपलब्धियों की दृष्टि से आनन्द-स्वरूप चैतन्यात्मा की पावन अनुभूति का क्षण है, जिसमें वह परमतत्व के रहस्य से अवगत होती है। नटराज भारतीय आध्यात्म और दर्शन की विलक्षण कल्पना है। आध्यात्म और दर्शन की भूमि पर जिसे भारतीय मस्तिष्क ने आनन्द-स्वरूप चैतन्यात्मा कहकर स्वीकार किया था, उसे ही कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय हृदय ने सृष्टि-सङ्गीत के गायक जगनाट्य प्रवर्त्तक नटराज के रूप में मूर्त्त कर दिया है। नटराज के दर्शन से मनु के हृदय के अज्ञानान्धकार का नाश हो जाता है और प्रकाशस्वरूप 'चिति' शक्ति जागरित होती है। यही 'चिति' शक्ति अपने आविर्भाव-तिरोभाव रूपी दोनों पदों से सृष्टि का उन्मेष-निमेष (सृजन-संहार) करती रहती है—'सा एकापि युगपदेव उन्मेष-निमेषमयी' (स्पन्द-सन्दोह क्षेमज)।

आगे चलकर रहस्य सर्ग में श्रद्धा मनु को भाव, कर्म और ज्ञान लोकों के दर्शन कराती है। भावलोक का रङ्ग रागारुण है और वहाँ बराबर रङ्गीन तितलियाँ घूमा करती हैं। उसमें पञ्चतन्मात्राओं की सम्मोहिनी है, माया पाश बिछाकर जीवों को फाँसती रहती है। कर्मलोक श्यामल गोलक की तरह है, जहाँ नियति प्रेरणा बनकर सबों को नचाया करती है। वहाँ सङ्घर्ष है, कोलाहल है, विकलता है। वहाँ केवल स्थूल साकार पञ्चभूतों की उपासना होती है। अन्तिम ज्ञानलोक उज्ज्वल है, जहाँ बुद्धि का चक्र निर्ममता से चलता रहता है। वहाँ अनास्था है, शङ्का है, तृष्णा है और दम्भ है। वहाँ विज्ञान द्वारा अनुशासित शास्त्र शास्त्र-रक्षा में पलते हैं। वहाँ के सारे विधि विधान सामञ्जस्य के स्थान पर विषमता और ध्वांत ही फैलाते हैं। मनु ही नहीं, वर्त्तमान मानव जीवन के पराभव का भी यही रहस्य है कि मन की ये तीनों वृत्तियाँ—भाव कर्म और ज्ञान—पृथक, प्रायः विपरीत दिशाओं में प्रवहमान हैं—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की॥

श्रद्धा की मुस्कान एक ज्योतिरेखा बनकर तीनों ज्योतिष्पिण्डों को मिला देती है, जिसके परिणाम-स्वरूप मनु के सारे क्लेश, सारी विडम्बनाओं का अन्त हो जाता है। यही पौराणिक त्रिपुरदाह की वैज्ञानिक काव्यात्मक व्याख्या है। और इसके बाद श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द में लीन हो जाते हैं। प्रसादजी ने दिखाने की चेष्टा की है कि 'श्रद्धा और विज्ञानमयी बुद्धि, दोनों के सुविकसित रूप का सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण समन्वय मानवजीवन का चरम कल्याणमय आदर्श है। इस आदर्श की आराधना वैयक्तिक मानव के जीवन को 'अहम्' की ऐकांतिक विकास-जनित विकृति से मुक्त करके राग-विराग

समन्वित सामूहिक जीवन की मङ्गलमय चेतना में एक रूप बनकर लय हो जाने की प्रेरणा देती है।' (गङ्गाप्रसाद पाँडेय) यही 'कामायनी' का सन्देश है।

यहाँ एक आपत्ति आचार्य शुक्ल ने उठाई थी कि श्रद्धा जब रति और काम की जाया है अर्थात् जब उसकी स्थिति भी भावात्मक है तो उसका अस्तित्व भाव, कर्म और ज्ञान तीनों से पृथक कैसे सम्भव हो सकता है ? पर प्रसाद ने श्रद्धा को केवल हृदय (लिबिडो) का ही नहीं, अपितु आस्तिक बुद्धि का भी प्रतीक माना है। वह नारी-भावना की पूर्णता की द्योतक है। कवि के ही शब्दों में—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥"

'कामायनी' छायावाद की अन्यतम कलाकृति है। यह एक अकेली रचना सम्पूर्ण छायावादी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। 'कामायनी' में प्रकृति का जितना विशाल चित्रपट प्रस्तुत किया गया है, उतना सम्भवतः हिन्दी के किसी दूसरे कथा-काव्य में नहीं—'मानस' में भी नहीं। सारी रचना में प्रकृति अपने नाना रूपों में सामने आती है। कहीं उसका शुद्ध काव्यात्मक रूप है, कहीं रहस्यात्मक—सांकेतिक। वह आलम्बन बनकर भी उपस्थित है, कथासूत्र का आधार बनकर भी। पुस्तक का आरम्भ प्रलय के भयङ्कर चित्र से होकर अवसान एक अतीन्द्रिय ऐश्वर्य शाली दृश्य में होता है। इनके अतिरिक्त 'कामायनी' में सैकड़ों मादक, उत्फुल्ल, हासोज्ज्वल, विराट् चेतन प्रेषणीय चित्र—सब एक से-एक —यत्र-तत्र बिखेर मिलेंगे। प्रसादजी ने प्रकृति का उपयोग अलङ्कार रूप में उपमान जुटाने के लिए भी किया है। सुन्दर उपमानों की मदिर मादिकता से 'कामायनी' का पृष्ठ-पृष्ठ सुरभित है। उसमें मधुचर्या का अतिरेक है, जिसके कारण मूल संदेश कुछ दब-सा गया है। प्रकृति के जिन अंशों तथा रूपों का प्रसाद ने सांश्लेष्ट आयोजन किया है, वह हिन्दी को उनकी अपनी देन है। प्रसाद प्रकृति के कवि हैं। उनकी तूलिका प्राकृतिक चित्रों का सफल तम अंकन कर सकती है। उनके चित्र सजीव हैं, गत्यात्मक, सौंदर्यपूर्ण।

प्रसाद की शैली की विशेषता है उसकी मादकता, सम्पन्नता, मनोवैज्ञानिकता, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रवृत्ति, संस्कृतमयता और कहीं-कहीं तज्जनित जटिलता। बाबू श्यामसुन्दरदास का यह कथन कि ससीम रूप सौन्दर्य भी उनके निस्सीम हृदय में आकर उन्हें निस्सीम सौन्दर्य की ओर ले जाता है, उनके लिए अक्षरशः सही है। प्रसाद की कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती है और सुन्दरता के चयन में उसका अद्वितीय स्थान है। उन्होंने मनोनुकूल कथा के सूत्रों में परिवर्तन किया है, जिससे काव्योत्कर्ष में पर्याप्त अभिवृद्धि हो गई है। पर 'कामायनी' में कल्पना की ऊर्ध्वापगामिता दोष की सीमा तक जा पहुँची है; इसीलिए साधारण पाठक उसका आनन्द लेने से वञ्चित रह जाता है। विशेषकर 'लज्जा' सर्ग में तो कल्पना को इतना प्रमुख स्थान मिल गया है कि रस-निष्पत्ति में बाधा पहुँचने लगती है। एकाधिक स्थलों पर यही कल्पना-वैभव कथा के प्रवाह को कुण्ठित कर देता है। 'कामायनी' के कल्पनाधिक्य के विषय में शुक्लजी का यह अभिमत विचारणीय है—"यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर ध्यान न दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़ें; श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यञ्जना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है। प्रसादजी प्रबन्ध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्र-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।"

—(हिन्दी साहित्य का इतिहास)

प्रेम के प्रति प्रसादजी का दृष्टिकोण बड़ा ही

स्वस्थ है। वह उसे न एक दम त्याग कर चलते हैं, नहीं अश्लीलता की सीमा तक उतर आते हैं। 'कामायनी' में प्रेम न भक्त कवियों के प्रेम की तरह इतना ईश्वरोन्मुख है कि वह संसार को अपदार्थ, अयथार्थ और त्याज्य समझने लगे, न रीतिकालीन कवियों की तरह वासना कलुषित है। वहाँ लौकिकता में अलौकिकता के दर्शन होते हैं। 'कामायनी' में प्रेम के तीनों रूप—सात्विक, राजस् और तामस। उपस्थित हैं। श्रद्धा का प्रेम सात्विक है, इड़ा का राजस् और मनु का तामस। इस प्रकार तीनों सत्कों के एकत्रित हो जाने से एक ऐसी नैसर्गिक मूर्च्छना आ गई है जो अन्यथा असंभव थी।

भाषा की दृष्टि से भी 'कामायनी' में बहुत-सी नई भंगिमाएँ मिलेंगी। उसमें व्याकरण की नियमबद्धता नहीं, पर कोमलता है, ध्वन्यात्मकता है और भावों का वह आरोह-अवरोह है जो एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है। 'कामायनी' द्विवेदी युग की घोर इतिवृत्तात्मकता और रूढ़िबद्धता के ध्वंसावशेष पर खड़ी एक अभिनव कलाकृति है। यह उन लोगों के लिए एक चुनौती है जो खड़ी बोली को रूक्ष, मार्दवहीन और अकाव्योपयोगी मानते रहे। प्रसाद की लेखनी अपरिचित वस्तुओं का भी मानस-चित्र सफलता से अङ्कित कर देती है। उसमें अभिधा शक्ति से बहुत अधिक लक्षणा और व्यञ्जना से काम लिया गया है। उपचार-वक्रता उसकी विशेषता है। आरम्भ से अन्त तक वह तत्समता-प्रधान है। प्रागैतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिए उसमें 'इड़ा', 'सोमलता', 'पुरोडाश', 'लोध्र', 'प्रश्नानर', 'अलंबुषा' जैसे एकांत वैदिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अलंकारों में पुराने अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीपों की तो भरमार है ही, नये पाश्चात्य अलङ्कार विशेषण विपर्यय, अमूर्त्त-संस्थापन, मानवीकरण प्रभृत्ति का भी कम प्रयोग नहीं हुआ है। प्रसाद कवि होने के अतिरिक्त नाटककार भी थे। अतः उन्होंने कथानक को स्थल-स्थल पर नाटकीय मोड़ दिए हैं, जिससे प्रभाव की प्रेषणीयता कहीं अधिक बढ़ जाती है।

फिर भी कामायनी को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'महाकाव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह ठीक है कि उसका विभाजन सर्गों में हुआ है, उसमें आठ से अधिक (पन्द्रह) सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में छन्द बदलते गए हैं। साथ ही वह प्रेम और उपेक्षा से भरी कहानी है, जिसका पर्यवसान शान्त-रस में होता है और उसका नायक उदात्त है। किन्तु जिस विशिष्ट शैली में उसकी रचना हुई है, उसमें चाहे उसका संदेश कितना भी महान् हो, वह महाकाव्य न रह कर एक विशाल गीतिकाव्य मात्र रह जाती है। उसकी गीतिमत्ता जहाँ छायावादी दृष्टिकोण से एक प्रधान गुण है, वहीं उसके महाकाव्यत्व को भी आहत करती है। उसका वह गीत—

> "तुमुल कोलाहल कलह में,
> मैं हृदय की बात रे मन !"

एक ओर यदि हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम गीतों में स्थान पाने का अधिकारी है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञों की दृष्टि से दोष भी बन जाता है। फिर उसका मनोवैज्ञानिक रूपक इतना जटिल है कि वह कथा-सूत्रों को पूर्ण विकसित नहीं होने देता। उसके अधिकांश पात्र (मनु को छोड़ कर सभी) अशरीरी से लगते हैं। जगह-जगह मानसिक प्रवृत्तियों के उद्घाटन (चिन्ता, काम, वासना, लज्जा) कथा के प्रवाह को विच्छिन्न कर देते हैं। और अन्तिम बात यह कि उसका जन-जीवन से बहुत दूर का सम्बन्ध है। वह कभी लोक-रुचि के परिष्कृत हो जाने पर भी, जनता का हृदय-हार बन सकेगी, यह सन्देहास्पद है। लेकिन इतनी अधिक सतर्कता दिखलाने पर 'रामचरित मानस' को भी महाकाव्य मानने से इन्कार करना पड़ेगा। कामायनी नई हिन्दी कविता की शक्ति का प्रतीक है।

देवताओं की छाया में—एक अध्ययन

(हिन्दी में एकांकी, उसका विकास एवं उसकी लोकप्रियता)

प्रो० विनयकुमार गुप्त एम० ए०

एकाङ्की नाटकों का जन्म आधुनिक युग की आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ है। आज जीवन एक भाग-दौड़ के समान हो गया है। मानवता दुस्तर से दुस्तर मार्ग से होकर अपना जीवन यापन कर रही है। जीवन की जटिलताओं एवं समस्याओं के सुलझाव के उधेड़बुन में ही उसका अधिकांश समय जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में समष्टि का एक स्थान पर बैठकर अनवरत रूप से अभिनय देखना एक टेढ़ी खीर है। अतः एकाङ्की नाटकों में ही उसे अल्पाति-अल्प समय में अधिकाधिक मनोरञ्जन प्राप्त हो जाता है और जीवन की थकान का अवसान हो जाता है।

संस्कृत में भी छोटे-छोटे नाटकों का निर्माण होता था, जिन्हें कुछ अंशों में एकाङ्की कहा भी जा सकता है। भाण, व्यायोग, वीथी, गोष्ठी, रासक आदि एक प्रकार से एकाङ्की ही हैं। पर हिन्दी एकाङ्कियों का विकास इनसे न होकर, अंग्रेजी एकाङ्कियों की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ है। सर्व-प्रथम योरोप में आधुनिक एकाङ्की नाटक का उपयोग कर्टेन-रेजर के रूप में किया गया। जिस प्रकार सिनेमा में प्रमुख सिनेमा के पहिले या मध्य में ट्रेलर दिखाया जाता है, उसी प्रकार मुख्य नाटक के पहिले कर्टेन-रेजर दिखाए जाते थे। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में एकाङ्की नाटक ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व निर्माण कर लिया एवं वह भी एक कला की वस्तु बन गया।

एकांकी नाटक की कला के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा के मतानुसार उसमें "एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कुतूहल का सञ्चय करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसङ्ग नहीं रहता।" श्री उदयशङ्कर भट्ट के शब्दों में, "एकाङ्की नाटक में जीवन का एक अंश, परिवर्तन का एक क्षण, सब प्रकार के वातावरण से प्रेरित घटना का झोंका व्यक्त ह है।" प्रो० नगेन्द्र लिखते हैं—"इसमें केवल एक ही दृश्य होता है, अतः स्थान और समय के एकत्र का भी पूरा-पूरा निर्वाह हो जाता है। एक घटना, एक अनुभव या एक परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षणवाली बात।" इसमें होती है। वस्तुतः इसमें एक-एक वाक्य और एक एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र इने गिने ही होते हैं जिनका नाटक की घटना से चोलीदामन का साथ होता है। इसमें अनावश्यक पात्रों का धक्कम धक्का लेशमात्र भी नहीं होता। प्रत्येक की रूप रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की तरह खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलाने की उच्छृङ्खलता नहीं। कथावस्तु स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है। कथावस्तु का प्रारम्भ, चरम सीमा और अन्त बिना किसी शैथिल्य के स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

हिन्दी में एकाङ्की नाटकों का जीवन अधिक लम्बा नहीं है वरन् बीस वर्ष के लगभग है। यदि हम नाटक-सम्राट श्री जयशङ्करप्रसाद के 'एक घूँट' को एकाङ्की-कानन का प्रथम पुष्प कहें तो कोई अनौचित्य नहीं। तदनन्तर डाक्टर रामकुमार वर्मा ने एक कुशल माली के रूप में इस कानन में कई सुन्दर सुन्दर पौदे लगाए। टेकनीक की दृष्टि से 'सप्तकिरण' में संग्रहीत सातों एकाङ्की उत्तम हैं। वर्माजी ने अपने

एकाङ्कियों में शिक्षित व्यक्तियों के चारित्रिक द्वन्द का चित्रण किया है। इनकी 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नामक एकाङ्की नाटकों के दो सुन्दर संग्रह हैं। इधर हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने कुछ एकाङ्की नाटक लिखे हैं जिनका एक अच्छा संग्रह 'आधुनिक एकाङ्की नाटक' के नाम से प्रकाशित है। इसमें श्री सुदर्शन, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनन्द, उदयशङ्कर भट्ट के क्रमशः राजपूत की हार, दस मिनट, स्ट्राइक, लक्ष्मी का स्वागत, सबसे बड़ा आदमी, दीन तथा दस हजार नाम के नाटक संग्रहीत हैं। सेठ गोविन्ददास, 'प्रेमी', जैनेन्द्र, कमलाकान्त, 'उग्र', 'अवस्थी' आदि ने भी अच्छे एकाङ्कियों का निर्माण किया है। भुवनेश्वर मिश्र के 'कारवाँ' एकाङ्की ने भी एकाङ्की नाट्य-साहित्य क्षेत्र में यथेष्ट ख्याति पाई है। यद्यपि अभी एकाङ्की नाटकों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है किन्तु आशा है कि निकट भविष्य में इसका पूर्णरूपेण अभ्युत्थान होगा।

'अश्क' जी एकाङ्की नाटककार के रूप में—नाटकीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल योरप अपितु भारत के लेखक भी एकाङ्की नाटकों की रचना में सन्नद्ध हैं। एकाङ्की प्रासाद को सुन्दर पच्चीकारी से युक्त करने में श्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उदयशङ्कर भट्ट, श्री अश्क एवं विष्णु प्रभाकर मुख्य हैं किन्तु जिस कुशलता एवं विद्वत्ता से अश्कजी ने अपनी लेखिनी की तूलिका से इस प्रासाद की मीनाकारी की है वह असाधारण है। प्रासाद के एक एक ईंट पत्थर पर उनकी कुशलता की मुहर लगी है। इनकी इस कुशलता का एक मात्र कारण 'स्वर्ग की झलक' नाटक के प्रस्तावना की विचार धारा है। उस प्रस्तावना में आपने एकाङ्की नाटक के उद्देश्य एवं प्रेरणा पर युक्ति-संगत प्रकाश डाला है। 'आज हम एक परिवर्तन-काल (Transitional Period) से गुजर रहे हैं, और अपने अतीत का गुण गान करने के बदले हमारे लिए आवश्यक है कि हम अपने भविष्य की भी चिन्ता करें। समाज की कुरीतियों को दूर करके उसे स्वस्थ बनाते हुए उन्नति के पथ पर ले जावें। साथ ही यह देखें कि एक अतिरेक से निकल-कर वह दूसरे अतिरेक में तो नहीं जा पड़ा। और इसलिए आवश्यक है कि हम समाज की विभिन्न समस्याओं को छूने वाली रचनाओं का सृजन करें, फिर चाहे वह कथाएँ हों, उपन्यास हो अथवा नाटक।'

अश्क जी के लगभग दर्जन एकांकी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'देवताओं की छाया में' नामक पुस्तक में उन्हीं एकाङ्कियों में से सात एकांकियों का अभूतपूर्व संकलन है जिसमें नाटककार की प्रतिभा का सिक्का पूर्ण-रूपेण अङ्कित है। इस सङ्कलन में क्रमशः इस प्रकार से एकाङ्की नाटक है ? 'देवताओं की छाया में', 'जोंक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'विवाह के दिन', 'पहेली' और 'आपस का समझौता' (प्रहसन)। इसके अतिरिक्त आपके अन्य एकांकियों में 'चरवाहे', 'चुम्बक' और 'खिड़की' आदि प्रसिद्ध हैं। अश्कजी के अधिकांश एकांकी सामाजिक हैं जिसमें समाज के सड़े गले अङ्ग पर विशद विवेचन है, और परोक्ष रूप से उनके परिष्कार करने का भी सफल प्रयास है। इतना ही नहीं उनके एकाङ्कियों को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे यथार्थवाद के मार्ग के पथिक हैं। आदर्शवाद की चिकनी चुपड़ी बातों के घटाटोप में वह अपनी कला का गला नहीं घोंटना चाहते। उनके एकाङ्कियों में जीवन का नग्न रूप परिलक्षित है। उसमें जीवन की कर्कशता, निर्ममता, कठोरता और वास्तविकता है। उनके एकाङ्कियों में उन समस्याओं का तांता सा लगा है जो मानस पटल को वेदना की ज्वाला से प्रज्वलित कर देती हैं। उनमें एक तड़पन, एक कसक है। 'लक्ष्मी का स्वागत' एकांकी में माता-पिता की इच्छाओं के सामने

पुत्र की इच्छाओं का किञ्चित मात्र भी मूल्य नहीं। अपनी स्वप्निल अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए पुत्र की विषम परिस्थितियाँ नगण्य हो जाती हैं। घर में बेचारा अरुण (रौशन का पुत्र) जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है, उसका जीवन-दीप अब तब बुझने ही वाला है, किन्तु फिर भी रौशन के माता पिता बहू प्राप्त करने की अभिलाषा से पुत्र का विवाह कर डालना चाहते हैं। इसी प्रकार 'अपना समझौता' भी आधुनिक शिक्षा पर अचूक एवं चुटीला व्यंग्य है। 'डिग्रियाँ' लेकर के भी जीवन भर उसके लिए रोते रहे।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। पात्रों एवं नाटककार का चरित्र एकाकार हो गया है। पात्र देवलोक एवं कल्पनालोक के न होकर इसी लोक के, हमारे आपके बीच के हैं। उन पात्रों से स्वयमेव अनायास ही आत्मीयता की अनुभूति होने लगती है। अश्कजी के पात्रों में चेतनता, सजगता, एवं मानसिक द्वन्द्व है। वे मिट्टी के खिलौने नहीं और न पत्थर की निर्मम मूर्तियाँ। वे हँसना एवं रोना दोनों जानते हैं। उनमें मसोस एवं प्रफुल्लता दोनों समान रूप से व्याप्त हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उनकी वाणी मुखरित होने वाली है।

कथोपकथन भी बड़े मर्मस्पर्शी एवं चुटीले हैं। उनका प्रभाव तीर के समान सीधे मानस-पटल पर होता है। इनकी विशेषता के कारण ही पात्रों एवं घटनाओं का विकास नैसर्गिक रूप से होता जाता है। कथोपकथन को यदि अश्कजी के एकांकियों का प्राण कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। उनमें प्रवाह, गति और तीर के नोंक की सी तीव्रता पाई जाती है। भाषा के संसार में भी लेखक अजनबी नहीं प्रतीत होता। बस वह ऐसी भाषा से कोसों दूर है जो कि जन-समाज की भाषा नहीं, जिसे हृदयङ्गम करने के लिए मत्था खुरचना पड़ता है। वह Art for art Sake 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का पुजारी नहीं वरन् कला जीवन की, जीवन के लिए है—का पुजारी है। यही कारण है कि वह कला के पीछे जीवन के मधुर तत्त्वों को क्लिष्ट भाषा की सान पर रौंदता नहीं। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों में एक विशेषता यह है—नाटकीयता में भी कहानी की-सी रोचकता, जिसके कारण नाटक एक बार प्रारम्भ किया जाकर फिर नहीं छोड़ा जा सकता।

श्री अश्कजी के एकाङ्कियों में जो सबसे अधिक रोचक और आवश्यक वस्तु पाई जाती है, वह है उनके एकाङ्कियों की अभिनेयता। उनके शब्द ही इस विषय के लिए पर्याप्त हैं—

"देवताओं की छाया में अश्कजी के उन आरम्भिक नाटकों का संग्रह है, जिनकी दिलचस्पी और लोकप्रियता आज दस वर्ष बीत जाने पर भी अक्षुण्ण बनी हुई है। बीसियों संग्रहों में संकलित होने और बीसियों बार आल इण्डिया के विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होने पर भी "लक्ष्मी का स्वागत" अभी तक नया है और उसकी माँग बराबर जारी है। "जोंक" तथा "अधिकार का रक्षक" इसी संग्रह के दो नाटक अभी गत वर्ष इलाहाबाद ही में खेले गए हैं।"

वस्तुतः अश्कजी उस पारस के समान हैं जो किसी भी सामाजिक कुरीति के लोहे को छूकर सोना बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। उनके विषय में यह जो कहा गया है कि "भारत के नाटककारों में अश्क एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उन्होंने एकाङ्की को जहाँ से लिया, वहाँ से उसे कहीं ऊँचा उठा दिया। न केवल उसे आधुनिक कला से वेष्ठित किया वरन् उसमें आधुनिक विचारों का अति आधुनिक ढङ्ग से प्रतिपादन करके, उसे साहित्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग बनाया। एक के बाद एक ऐसे सुन्दर और कलापूर्ण एकाङ्की उन्होंने लिखे जो संसार की किसी भी समृद्ध भाषा के एकाङ्कियों के सम्मुख रखे जा सकते हैं।" वह बिलकुल युक्ति संगत है।

(१) देवताओं की छाया में—श्री अश्कजी ने इस एकाङ्की को अपनी पुस्तक में सर्वप्रथम स्थान दिया

है और इसी नाम पर ही इस नाटक का नामकरण हुआ है:—"देवताओं की छाया में।" इस एकाङ्की में लेखक का मूल उद्देश्य गाँव और नगरों के आपसी सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली कुभावनाओं का वर्णन है जिसे कि उसने बड़ी सफलता के साथ प्रदर्शित किया है। सादिक भरी के विषय में यह कहने लगता है, 'मैं इसे पर्दा न करने दूँगा,' 'मैं इसे सैर करने ले जाया करूँगा,' 'यह कुछ पढ़ती नहीं' आदि, वहाँ पर उसके द्वारा गाँव के अन्दर से धीरे धीरे खिसकने वाली मनोवृत्तियों का भी वर्णन बड़े ही सीधे शब्दों में करता है, जो धीरे-धीरे समस्त गाँव में फैलती चली जा रही थी।

प्रस्तुत एकाङ्की में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं एवं इन्द्रसदन को मात करने वाले विलास के उपकरणों से सुसज्जित देवताओं के ऊपर मीठा व्यंग्य है जिनके प्रासाद की नींव दाने दाने एवं चिथड़े चिथड़े के लिए मुहताज मजदूर समाज की हड्डियों एवं पसलियों पर आधारित है। किस प्रकार से असहाय, पददलित, मूक एवं निरीह जनता की खून की कमाई से देवताओं की जेब गरम होती है—इसका भी विशद विवेचन इसमें है। वतुतः यह एकाङ्की एक व्यंग्य है, पर दुखान्त। यह भारत की वह ट्रेजेडी है जिसने एक गाँव नहीं, पर धीरे धीरे नब्बे लाख गाँवों को इसी आग में झुलसा दिया है। कथानक नितान्त स्पष्ट एवं सीधा सादा है किन्तु उसके क्रोड़ में एक भयङ्कर समस्या है कि देवताओं की छाया में हमारा जीवन पानी के बुल्ले के समान बालकों के घरौंदे एवं वेश्या के प्रेम की भाँति अस्थायी और असुरक्षित है। न जाने उनकी व्योम-स्पर्शिनी अट्टालिकाओं ने कितनी माताओं की गोदी को सूना कर दिया, न जाने कितने ललनाओं के सिंदूर बिन्दु को नष्ट कर दिया और न जाने कितने घरों में ताले लगा दिये। पता नहीं कितनी कब्रों और चिताओं पर हमारे देवताओं की नगरियाँ बसी हैं।

इस एकाङ्की में अश्कजी ने गृहस्थ जीवन का भी मार्मिक चित्र खींच डाला है जो भरी के साथ नहीं हुई, रज्जू उनको अकेला नहीं करता, किन्तु वह तो सब घरों में दिन-प्रति-दिन होती है। इसमें नारी हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। वे किस प्रकार कल्पना के सहारे उड़ती हैं—इसका बड़ा हृदयस्पर्शी चित्रण लेखक ने किया है। मरजाना भावुक कल्पनाओं की जीती जागती पुतली है। असहाय, बेबस, पद-पद पर लाँछित एवं अपमानित, पर्दे में कैद युवतियों की भावनाओं का भी प्रकाशन इसमें हुआ है। लड़कियों की बेबसी पर भरी ने कितनी वेदना प्रकट की है। "हम लड़कियाँ हैं, हम अपनी इच्छा से हँस नहीं सकती, बोल नहीं सकती, हिल-डुल नहीं सकती। चाहे जी में घुट-घुट कर मर जायें।"

भाषा की कसौटी पर एकाङ्की खरा उतरा है। भाषा सरल, सुबोध एवं सहज बोधगम्य है। भाषा की वनस्थली में घूमने से काँटों के चुभ जाने का भय नहीं। वातावरण की सी स्वाभाविकता स्थल पर पाई जाती है। इसमें अभिनेयता के भी गुण हैं। किन्तु एक दोष है कि कथोपकथन लम्बे और अनावश्यक हैं। इन कथोपकथनों में आधे से अधिक तो रज्जू ने ही ले रखे हैं। शैली की दृष्टि से भी नाटक सफल है। यह एक दुखान्त व्यंग्य है जिसका निर्वहण श्री अश्कजी ने बड़ी कुशलता से किया है।

(२) लक्ष्मी का स्वागत—यह एकांकी 'देवताओं की छाया में' सर्व श्रेष्ठ है। प्रस्तुत संकलन का यह मेरुदण्ड है। देवताओं की छाया में—एकाङ्की—प्रासाद का 'लक्ष्मीका स्वागत' वह प्रधान शिला (key-stone) है जिसके निकाल देने पर एकाङ्की प्रासाद भग्न हो जाता है। यह अश्कजी की सामाजिक ट्रैजेडी है। आधुनिक युग का यह एक महान रोमांस है। इसमें जो करुण पुकार, हृदय विदारक टीस है कि वह अशनि सम हृदय में भी अनवरुद्ध रूप से करुण लहरी का सञ्चार कर देता है वस्तुतः इसमें लेखक ने एक सुन्दर प्रश्न उठाया है।

"क्या विवाह ही दुनियाँ में सब कुछ है ?" इस प्रश्न का समाधान भी नाटककार ने अपने जीवित पात्रों द्वारा सफल रूप में कराया है। इस प्रश्न का हल नितान्त स्पष्ट है। जीवन में विवाह की रंगरेलियों का ही महत्व नहीं है। वैवाहिक-अर्गला में आबद्ध हो वर-वधू ए ता-पिता नश्वर जीवन का वैभव लूटें —यही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। निर्मम, कठोर एवं पाषाण हृदय हो अबोध बालक की टीस पर, उसकी अस्वस्थता पर विवाह का स्वप्न-प्रासाद निर्मित करना मानवता के कितने प्रतिकूल है ?

अरुण जो कि रौशन का एकमात्र पुत्र है अत्यधिक बीमार है। उसकी जीवन-कलिका किसी भी समय म्लानित हो टूक-टूक हो सकती है। इस बीच में रौशन की स्त्री के प्राण-पखेरू भी पयान कर जाते हैं। युवक रौशन हर तरह से चिन्ता की उर्मियों से त्रस्त है। पूर्व-पत्नी सरला का विछोह एवं एकलौते पुत्र अरुण को रोग शैया पर देख रौशन के हृदय में व्यथा का एक बवंडर खड़ा हो जाता है। किन्तु विधि का विधान तो देखिए कि जहाँ रौशन के हृदय में वेदना की भट्ठी सुलगती है वहीं उसके माता-पिता के हृदय में अरुण के रोग की भयङ्करता का जूँ तक नहीं रेंगता। एक के हृदय में निराशा का असित अन्धकार था तो माता पिता के हृदय में अभिनव वधू को प्राप्त करने की अत्यधिक उमङ्ग थी। रौशन के हृदय में हैं, जीवन की अनुभूतियाँ। वह तड़पते हुए भोले शिशु को देखकर पागल हो जाता है और बरबस उसके मुख से यही शब्द निकलते हैं, "दुनियाँ का व्यवहार इतना निष्ठुर, इतना निर्मम, इतना क्रूर ? नहीं जानता कि जो मर जाती है वह भी किसी की लड़की होती है, किसी के लाड़ प्यार में पली होती है" पुनः वह कहता है। "शादी, शादी, शादी ? क्या शादी ही दुनियाँ में सब कुछ है ? घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है।" और साथ ही वह अपने भावी ससुर रामप्रताप को भी आड़े हाथों लेता है। लेकिन पिता अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पुत्र की इच्छाओं को ठुकरा देता है, "तो मैं शगुन लेरहा हूँ। इस वर्षा, आँधी, तूफान में उन्हें अपने घर से निराश नहीं लौटा सकता। घर आई लक्ष्मी का निरादर नहीं कर सकता।" इस वाक्य में अश्कजी ने समाज के पतन का बड़ा ही नग्न चित्र खींचा है।

प्रस्तुत एकांकी में समाज के पूँजीपतियों एवं वैभव में मदान्ध समाज की भी अश्कजी ने खूब धज्जी उड़ाई है। धन के मद में चूर्ण समाज अपने चाँदी के टुकड़ों से सभी को मोल लेने का प्रयास करता है। ऐसे आदमियों की अश्कजी ने रौशन के द्वारा भर्त्सना कराई है। रौशन की स्त्री को मरे अभी चार ही दिन हुए कि सेठ रामप्रताप अपनी बिटिया का शगुन लेकर आ बैठा। इस पर रौशन सेठजी को खूब जली कटी सुनाता है, 'तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो ? अपढ़ अशिक्षित गँवार ? उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का मादा कहाँ है ? वे जानवर हैं।"

विषय की दृष्टि से यह एकाङ्की बड़ा ही सफल रहा है। कथानक रोचक, सरल एवं नवीन है। कथा-वस्तु दुखान्त है। एकांकी कला की कसौटी पर प्रस्तुत एकाङ्की तपाए हुए स्वर्ण के समान खरा उतरता है। कथोपकथन में अपूर्व शक्ति है। उसमें मार्ग की शिलाओं को चूर्ण करती हुई प्रबल वेग से बहती हुई सरिता जैसा प्रवाह और शक्ति है। इस एकाङ्की के वाक्य बिहारी के दोहों के विषय में कहे हुए इस सत्य का—"सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर, देखन में छोटे लगैं घाव करें गम्भीर" अक्षरशः प्रतिपादन करते हैं। वाक्यों की चोट हथौड़े की चोट से भी भीषण और गम्भीर है। भाषा सजीव एवं गतिशील है जिसमें लेखक सरलता से अपने विचारों को प्रकट कर समाज के कोने-कोने में उसकी गूँज को ध्वनित कर सकता है।

निस्सन्देह इस एकाङ्की को 'अश्क' जी ने बड़ी

कुशलता से लिखा है। यह 'अश्क' जी के अश्कों की नींव पर ही बढ़ा हुआ है। यद्यपि पात्रों की बहुलता नहीं है, किन्तु फिर भी इने गिने पात्र स्वतः पूर्ण हैं। वे अपनी कहानी स्वयं कहते चलते हैं। इसमें लेखक ने भावुकता एवं नीरसता, निर्ममता का द्वन्द्व कराया है। रौशन भावुक हृदय का प्रतीक है तो रामप्रताप, रोशन के माँ और बाप निर्ममता के प्रतीक हैं। इनके चरित्रों में ही 'लक्ष्मी का स्वागत' की झलक और भी दीप्त हो उठी है। सुरेन्द्र बीच की लड़ी है। एक ओर वह रौशन के माता पिता को भी मानता है और दूसरी ओर उसे रौशन पर भी पूर्ण विश्वास है। वह भी रौशन की परिस्थितियों को जानता है। शैली की दृष्टि से भी नाटक सफल रहा है। यह एक समस्यात्मक दुखान्त नाटक है। इसमें समाज की कुप्रथाओं का भंडा फोड़ दिन दहाड़े ही किया गया है।

अतएव यह निर्विवाद है कि एकांकी कला क कसौटी पर यह एकांकी पूर्ण रूपेण खरा उतरता ।है सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मई १९३८ में लिखा गया था किन्तु इतना पुराना होने पर भी अभी तक नित नवीन है।

(३) अधिकार का रक्षक (व्यंग्य)—'अधिकार का रक्षक' श्री अश्कजी का एक सामाजिक व्यंग्य है। यह नाटक समाज के एक सड़े गले फोड़े की ओर संकेत करता है और देश के नेताओं की छीछालेदर करता है। श्री सेठजी के समान दुधारी तलवार से खेलने वाले नेताओं की हमारे समाज में कोई भी कमी नहीं है। सेठजी को प्रत्येक क्षण असेम्बली की सदस्यता का भयंकर भूत त्रस्त करता रहता है। सदस्यता प्राप्त करने के हेतु वह आकाश और पाताल के कुलावे मिलाता है। वह अपने से बढ़-बढ़कर बातें बनाना जानता है। वह आधुनिक युग के अधिकार लोलुप मेम्बरों की जीती जागती तस्वीर है जो कि अन्दर एवं बाह्य से नितान्त भिन्न है। उसके कथन और कार्य में आकाश पाताल का अन्तर है। वह किसी मूल्य पर असेम्बली का सदस्य बनना चाहता है। इस मृग मरीचिका को प्राप्त करने के लिए उसके हृदय में उचित अनुचित, सत्य असत्य का लेश मात्र भी अंश नहीं रह जाता। समस्त मानवता के अधिकारों की रक्षा करने का बीड़ा स्टेज पर उठाता है और उन्हीं का खण्डन अपने घर में करता है। जनता से वोट प्राप्त करने के हेतु 'अधिकार का रक्षक' उनके स्वत्व की सम्पूर्ण रक्षा का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर वहन करने का दम भरता है वह मूक, निस्सहाय, निरीह जनता की त्राणी, पद-दलित एवं अपमानित नारी समाज का वकील, विद्यार्थी समाज का पथ-प्रदर्शक बनने के लिए मार करता है। एक ओर वह फोन पर मजदूर वर्ग के अधिकारों की रक्षा और वेतन-वृद्धि का दम भरता है, और हर प्रकार से उनके आँसुओं को पोंछने के लिए अपने को प्रस्तुत रखता है, वहाँ पर दूसरी ओर वह अपने घर में नौकरों का छः छः माह का वेतन अपनी तिजोरी में छिपाए बैठा है। यदि भूल से नौकर अपना अधिकार माँग भी बैठता है, तो अधिकार का रक्षक उस पर चोरी का अभियोग लगा कर भगा देता है।

सम्पादकों के प्रति भी उसके मर्मस्थल में यही भावना कार्य कर रही है। बेचारा परिश्रमी, खून पसीना करने वाला एवं स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठने वाला संपादक वेतन वृद्धि के लोभ से दिन रात तेली के बैल की तरह लिखता रहता है यहाँ तक कि अपनी आँखें भी खो बैठता है किन्तु जब वेतन वृद्धि का प्रश्न आता है, तो वह इस माह नहीं, किन्तु अगले मास पाँच रुपए बढ़ा सकता है।

विद्यार्थी समाज जिनके अधिकारों की रक्षा का उसने ठेका कर लिया है वहाँ भी उसकी कलई खुल जाती है। जब विद्यार्थी अपने अधिकारों की माँग पर प्रधानाध्यापक के कठोर दण्ड के भागी होते हैं और अखबारों में उसकी निन्दा प्रकाशित करने के लिए सेठजी के पास आते हैं तो सेठजी उनको झूठा

आश्वासन दे सम्पादक को मना कर देते हैं क्योंकि प्रिंसिपल उनके पार्टी का है। इस प्रकार से 'अधिकार का रक्षक' यहाँ भी बड़ी कुशलता से विद्यार्थी समाज के स्वत्वों की रक्षा करता है।

महिला समाज के अधिकारों के लिए लड़ने के लिए वह सदा तैयार बैठे रहते हैं क्योंकि उनके हृदय में इस मूक समाज के प्रति अत्यधिक सहानुभूति है। वे यह भी कहते हैं "महिलाओं के अधिकारों का मुझसे अच्छा रक्षक आपको वर्तमान उम्मीदवारों में नजर न आयगा।" किन्तु आश्चर्य है कि संसार की महिलाओं के अधिकारों के रक्षक के दिए तले अँधेरा है। उनकी स्त्री घर छोड़ करके चली जाती है और बच्चे के लिए उनका व्यवहार शत्रुओं का-सा है।

इस एकाङ्की में आधुनिक समाज का जीता जागता चित्र है कि किस प्रकार से मानव-पद एवं अधिकार के लोभ-वश जघन्य से जघन्य कार्य कर डालता है और उसकी आत्मा को किञ्चित मात्र भी कष्ट नहीं होता। यह एकाङ्की क्या भाषा, क्या विषय, क्या शैली, क्या टेकनीक सभी दृष्टिकोणों से नवीन है। भाषा में चुलबुलाहट है एवं मुहावरों के प्रयोग से उसमें चार चांद लग गये हैं जो कि पाठक के मन-मयूर को बिना नृत्य कराए दम नहीं लेती। भावों का स्पष्टीकरण भी सुन्दर है। इसमें अभिनेयता के भी सभी गुण विद्यमान हैं। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण इसका कई कालेजों में खेला जाना है।

आपस का समझौता (प्रहसन)—अश्कजी द्वारा लिखित 'देवताओं की छाया में' अंकित एकाङ्कियों में यह सबसे अन्तिम प्रहसन है। इसमें दो (डा० वर्मा एवं डा० कपूर) नए पास नवयुवक डाक्टरों की कहानी है जो कि अपनी अनुभव शून्यता के कारण रोगियों को आकृष्ट न कर पैसे-पैसे के लिए मुहताज रहते हैं। परिणाम-स्वरूप आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए गर्हित से गर्हित कार्य करने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं, जो कि नैतिकता के नितान्त प्रतिकूल है। वस्तुतः मनुष्य स्वार्थान्ध हो निकृष्ट से निकृष्ट कार्य कर बैठता है। एक ही नगर में दोनों डाक्टर रोगियों का उपचार करते हैं किन्तु बैठे-बैठे मक्खी ही उड़ानी पड़ती है। अन्त में एक दिन डा० कपूर डा० वर्मा के पास आते हैं और बात के दौरान में अपनी दुख भरी कहानी सुना डालते हैं। डा० वर्मा भी अपनी वर्तमान परिस्थिति से ऊब गया है और डा० कपूर से कहता है। "जब से डिग्री ली है, पड़े उस उसकी जान को रहे हैं।" पुनः कपूर भी इसी प्रकार से डा० वर्मा के सम्मुख अपना दुखड़ा रोता है। अन्त में वे आपस में वह घृणित और हास्यास्पद कार्य करने पर भी तत्पर हो जाते हैं जिसे अश्क जी ने 'आपस का समझौता' कहा है। डा० वर्मा आँख के मरीजों को डा० कपूर के पास भेजने के लिए तैयार होता है और उसके बदले में डा० कपूर दाँत के मरीजों को डा० वर्मा के पास भेजने के लिए वचन देता है। इस सौदे में एक दूसरे को २५ प्रतिशत कमीशन देने के लिए उद्यत होते हैं। कितना घृणित प्रस्ताव है। इस घृणित लेन देन ने एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति—परतूल की आँख को सदा के लिए नष्ट कर दिया। इस प्रकार से अश्कजी ने इन दो चरित्रों के द्वारा आज के वर्तमान युग के डाक्टरों के संसार का सुन्दर चित्र खींचा है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आज के डाक्टर कितने अनुभवशून्य हैं और किस प्रकार से चाँदी के टुकड़ों के पीछे निरोग मानव की हत्या तक कर बैठते हैं? किन्तु यदि इस एकाङ्की को प्रहसन के नाम से सम्बोधित न किया जाता तो उचित था। प्रहसन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह हास्य के छींटों से पाठक को इतना सिक्त कर देता है कि वह हँसते-हँसते लोट जाता है। उसका अन्त सुखान्त होता है। वह प्रहसन ही क्या जिसका अन्त ही दुखमय हो? यदि प्रहसन में भी हृदय-कलिका प्रस्फुटित न हुई, तो भला वह प्रहसन ही क्या! इसके

(आगे देखिए पृष्ठ २७६)

क्या मीराँ वृन्दावन गई थीं ?

श्री 'किरण' बी० ए०, विशारद

प्रेम-योगिनी मीरा में आत्म समर्पण का भाव सबसे अधिक मिलता है। मीरां की आराधना माधुर्य भाव की थी। पति के प्रति पत्नी का ऐसा ही आत्म समर्पण अपेक्षित होता है। प्रेम की-असह्य वेदना को अन्तर में छिपाए अपने मनमोहन के लिए "दरद की मारी बन-बन" फिरती रही। अपने 'गिरिधर नागर' के लिए उसने संसार के सभी सुखों का परित्याग किया था—

"तुम्हरे कारण सब सुख छाँड़या,
अब मोहिं क्यूँ तरसाओ।"

वह आर्त स्वर से चीख उठती थी—

व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज
मिलि तू मीत सवेरा,
'मीरां' के प्रभु गिरिधर नागर
ताप तपन बहुतेरा।"

मीरां के भजन मजन नहीं भावना के साकार अवतार हैं। भक्ति के तपोवन की शकुन्तला ने ऐसी प्रेम-धारा बहाई जिसमें निमज्जित होकर वाणी पूत पावन हो गई। वियोग का वर्णन जितना हृदय ग्राही और सजीव मीरा का है उतना सूर और तुलसी का भी नहीं। मीरा का विरह आत्मानुभव की अभिव्यक्ति है और सूर और तुलसी का वर्णन मात्र। विरह की पीर कल्पना की वस्तु नहीं अनुभव-गम्य है।

मीरां बचपन से ही कृष्ण की भक्त थी। विवाह के समय कहते हैं, उसने भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ फेरे लगाए थे और उस मूर्ति को अपने साथ वह पीहर लेती आई थी। उसने अपने शरीर के दीपक में मन की बत्ती लगाई जिसमें स्नेह का अपर्याप्त स्नेह था। वह दीपक जीवन पर्यन्त उसी लौ से जलती रही—

या तन का दिवला करूँ, मनसा की बाती हो।
तेल जलाऊँ प्रेम को बालूँ दिन राती हो॥

'साँवरिया-प्रेम-दिवाणी' के हृदय में अवश्य यह भावना उठी होगी कि मैं श्रीकृष्ण के क्रीडा-स्थलों के दर्शन करूँ—'राणाजी मैं तो गिरिधर के घर जाऊँगी" इसी भावना का समर्थन करता है। कुटुम्ब के सङ्घर्ष के पश्चात् वह अपने आराध्य की क्रीड़ाभूमि के दर्शनार्थ अवश्य गई होगी। राणा के साथ सङ्घर्ष और उसके गृहत्याग के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

मीरां सम्बन्धी ग्रन्थों में उनका वृन्दावन जाने का प्रमाण मिलता है।

१—भक्त-माल और भक्ति-रस बोधिनी टीका सत्रहवीं शताब्दी की कृतियाँ हैं इसमें उपर्युक्त बात का वर्णन है।

वृन्दाबन आई जीव गुसाईं सो मिली मिलीं
[नाभादास प्रियादास]

भक्तमाल—१६४२-१६५१ सं०

भक्ति रस बोधिनी समाप्ति काल—१६७६ सं०

१—भक्त नामावली के रचयिता ध्रुवदास ने भी मीरां का वृन्दाबन जाना लिखा है [रचना काल १६८०-१७०० सं०]

आनन्द सों निरखत फिरै वृन्दाबन रस खेत

३—राघवदास दादूपन्थी का जीवन काल सं० १६५३ और १६४३ माना गया है। इन्होंने भक्त-माल का प्रणयन किया है। उसमें मीरां का वर्णन है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि यह पूर्वोक्त भक्तमाल पर आधारित हो।

जा बृज 'जीउ' मिली पन हौ तिय
देषतनै सुष नाहि छुड़ायौ।

४—श्री प्रभासचन्द्र डे अपनी पुस्तक जयदेव में लिखते हैं "कहा गया है राणा कुम्भ की पत्नी (?) मीरां बाई ने सनातन गोस्वामी से बृन्दाबन में दीक्षा ग्रहण की।"

५ - पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में लिखते हैं :—

"जब जोधपुर के राव मालदेव ने बीरमदेव से मेड़ता छीन लिया तब मीरांबाई तीर्थयात्रा को चली गई और द्वारकापुरी में रहने लगी।"

इन प्रमाणों के अतिरिक्त अब हमें अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए। मीरां के पदों से ऐसा ज्ञात होता है कि वह वृन्दाबन अवश्य गई होगी।

(अ) माई, म्हाणें लागे बृन्दावन नीको
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा
दरसण गोविंद जी को।

(ब) म्हाणे चाकर राखो जी
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ
नित उठ दरसन पासूँ।
बृन्दावन की कुञ्जगलिन में,
तेरी लीला गासूँ॥

× × ×

योगी आया योग करन को
तप करने सन्यासी।
हरि भजन कूँ साधू आए
बृन्दावन के बासी॥

(इ) हमरो प्रणाम बांके विहारी को
यह छबि देखि मगन भई मीरां
मोहन गिरिवर धारी को।

(ई) निपट बङ्कट छबि अटके
देखत रूप मदन मोहन को
पियत पियूख न मटके।
मीरां प्रभु के रूप लुभानी
गिरधर नागर नट के॥

मीरां का तीर्थाटन करना लगभग सभी ने माना है। वह प्रियतम की खोज में बन-बन फिरी।

'दरद की मारी बन-बन डोलूँ वैद मिला नहिं कोय'
'पिय ढूँढन बन-बन गई कहुँ मुरली धुन पाइ'

'बन-बन का तात्पर्य अनन्य भक्त रसखानि के शब्दों में 'करील के कुञ्ज' ही होंगे। इस 'बन-बन' का अर्थ 'वृन्दबन-मधुबन हो सकता है।

मीरां ने अपने वैधव्य का वर्णन कहीं नहीं किया। वह अपने को विधवा क्यों लिखने चली जब उसकी चूड़ियाँ अमर थी। वह तो अमर सुहागन थी—

राणाजी मैं तो सांवरे के रङ्गराती।
मेरे पिया मेरे हृदय बसत है
यह सुख कह्यो न जाती॥
झूठा सुहाग जगत का री सजनी
होय-होय मिट जासी।
मैं तो एक अविनासी बरूँगा
जाहे काल न खासी॥

इस तरह देखते हैं कि वृन्दावन जाने का समर्थन वाह्य और अन्तर्साक्ष्य से हो जाता है। यह विषय विवाद ग्रस्त नहीं रहा!

—————

प्रसाद की कहानियों का आरम्भ*

श्री ओमानन्द रू० सारस्वत

आकर्षक आरम्भ ही पाठक का ध्यान अपनी ओर खींच सकता है। तीन साधन ही प्रायः कहानी को आरम्भ करने के लिए लाये जाते हैं—वर्णन, वार्तालाप और घटना। प्रसादजी ने तीनों ही प्रकार से कहानियाँ आरम्भ की हैं।

दृश्य उपस्थित करके वर्णनात्मक ढङ्ग से उनकी अनेक कहानियाँ आरम्भ हुई हैं। कहानी आलोचकों का कहना है कि आरम्भ में व्यर्थ की भूमिका न बाँध कर सीधे घटना पर आजाना चाहिये—किंतु प्रसाद 'कवि' थे और यही कारण है कि उनकी कहानियों के आरम्भ का दृश्य काव्यमय हो गया है—

"वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थी।' —(स्वर्ग के खण्डहर में)

इसी प्रकार से आपकी सुप्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' भी आरम्भ हुई है—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी।"

उनकी सर्वप्रथम भावात्मक कहानी 'प्रसाद' भी इसी प्रकार वर्णन से आरम्भ होती है—

"मधुप अभी किसलय शैय्या पर, मकरन्द मदिरा पान किये सो रहे थे। सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रस्वेद बिन्दु के समान फूलों से ओस अभी सूखने न पाये थे।...."

अधिकांश कहानियों का आरम्भ इसी प्रकार वर्णन से आरम्भ होता है। 'खण्डहर की लिपि' साधारण कहानी होते हुए भी अपने आरम्भ का महत्व रखती है।

दूसरे प्रसादजी ने बहुत सी कहानियाँ वार्तालाप से आरम्भ की है। सुप्रसिद्ध कहानी 'आकाशदीप' में देखिये—

"बन्दी ?"

"क्या है ? सोने दो !"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो !"

—इतना पढ़ते ही हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है और हम दोनों पात्रों को जानने के लिए उत्कण्ठित हो उठते हैं—यही उत्तम कहानी का चिह्न है। नाटककार प्रसाद जब अपनी कहानियाँ कथोपकथन से आरम्भ करते हैं तो वह वार्तालाप बड़ा स्वाभाविक एवं सजीव हो उठता है—

"आज तो भैया, मूँग की बरफी खाने को जी नहीं चाहता, यह साग तो बड़ा ही चटकीला है। मैं तो........"

"नहीं, नहीं, जगन्नाथ, उसे दो बरफी तो जरूर ही दे दो।"

"न न न। क्या करते हो, मैं गङ्गाजी में फेंक दूँगा।" —(अघोरी का मोह)

सम्भाषणों में जब इस प्रकार की गति आ जाती है तो वहाँ प्रसाद की कहानियों के आरम्भ नाटकीय-सौन्दर्य लिए हुए होते हैं। इस प्रकार की कहानियों का प्रथम वाक्य ही आकर्षित होता है और पाठक आरम्भ से ही लेखक के साथ हो लेता है।

* लेखक की शीघ्र प्रकाशित 'प्रसाद की कहानी कला' पुस्तक से।

साहित्यिक दृष्टि से प्रसाद की वार्तालाप-आरम्भ कहानियाँ बड़ी अच्छी कही जा सकती हैं।

तीसरे घटना उपस्थित करके भी आपने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। इस प्रकार की कहानियों में आरम्भ से ही कथावस्तु का विकास हम पाते हैं :—

"सांई ! ओ सांई !!"—एक लड़के ने पुकारा ! सांई घूम पड़ा। उसने देखा कि एक आठ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है। —(गूदड़ सांई)

इस प्रकार की कहानियों में व्यर्थ की भूमिका न बाँध लेखक घटना पर एकदम आ जाता है। आजकल की मासिक पत्रिकाओं में हम इसी प्रकार का आरम्भ पाते हैं—किन्तु उनमें प्रसाद के इस आरम्भ की भाँति भावुकता नहीं होती।

"सन्ध्या की दीनता गोधूली के साथ दरिद्र मोहन की रिक्त थाली में धूल भर रही थी। नगरोपकण्ड में एक कुए के समीप बैठा हुआ अपनी छोटी बहन को वह समझा रहा है, फटे हुए कुरती कोर से उसके अश्रु पोंछने में वह सफल नहीं हो रहा था।"

—(करुणा की विजय)

———

(पृष्ठ २७२ का शेष)

अतिरिक्त जहाँ पर दोनों डाक्टर दूसरों को भी धोखा देते हैं; वहाँ आपस में भी धोखा देने में नहीं चूकते।

इन कतिपय त्रुटियों के साथ ही साथ इसमें आए पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। कैसे दोनों झूठी डींग हाँककर भोली जनता को आकृष्ट करना चाहते हैं, कैसे अनुभव हीनता के कारण आए दिन आवश्यकताएँ सिर पर के भूत की तरह खाती जा रही हैं—इन सबका विशद विवेचन पात्रों के चरित्रों में दिखलाई पड़ता है। लेखक ने समाज के जिस वर्ग के चित्रण में लेखिनी उठाई है उसका सूक्ष्माति-सूक्ष्म कोना पुस्तक के समान खोलकर पाठक के सामने रख दिया है।

कथोपकथन एवं भाषा की दृष्टि से भी प्रस्तुत एकांकी सफल रहा है। कथोपकथन शक्तिशाली है। इसमें स्थान-स्थान पर ऐसे वाक्यों की झड़ी लग गई है जो कि लेखक की सुन्दर अभिरुचि का परिचय दे सके जैसेः—"इन्हें तो इतनी भी समझ नहीं कि निस्बत रोड और अनारकली में क्या अन्तर है?" और "यहाँ जब से डिग्री ली है, पड़े जान को रो रहे हैं।" आदि। किन्तु अन्त अधिक सुन्दर नहीं बन पड़ा है। फिर भी अन्यान्य अच्छाइयों में यह त्रुटि दब सी गई है।

अन्त में यही कहना है कि 'अश्क' जी एक कुशल एकाङ्की नाटककार हैं, जिन्होंने सुन्दर से सुन्दर एकाङ्कियों द्वारा हिन्दी साहित्य के इस अंग को भी पुष्ट किया है। "देवताओं की छाया में" एकाङ्की सङ्कलन उनकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा का सफल परिचायक है।

———

निबन्ध और आलोचना

क्या गोरी क्या साँवरी—ले०-श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २००, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ७)

गोरी और साँवरी जीवन की धूप-छाँह की द्योतक है। पाप, पुण्य, दिन-रात गुण-दोषों के ताने बाने से जीवन का पट बुना गया है और साँवली के अस्तित्व से ही गोरी का महत्व भी है। सत्यार्थीजी ने साँवरी का बड़ी सहृदयता के साथ पक्ष लिया और अपने विश्व कवि कवीन्द्र रवीन्द्र की गवाही दी है। इस पुस्तक में भी नामानुकूल सत्यार्थीजी के विचरणों में प्राप्त धूप-छांही अनुभव की कथा है। सत्यार्थीजी बड़े घुमक्कड़ हैं उन्होंने भारत के सभी प्रान्तों में घूम-घूम कर लोक गीतों और कथाओं का संग्रह किया है। उन्होंने साहित्य लोक में भी पर्याप्त पर्यटन किया है, उसका भी अनुभव उन्होंने अपने पाठकों को दिया है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्ध कुछ अनुभव पर आश्रित हैं तो कुछ अध्ययन पर, कुछ में महान व्यक्तियों पर श्रद्धाञ्जलियाँ और कुछ में व्यक्ति और स्थानों के संस्मरण। लेखक का दृष्टिकोण प्रगतिशील होते हुए भी उसमें पुरानी संस्कृति के प्रति मोह है। 'दिये तो जलेंगे' में दीपकों की प्राचीन प्रथा के प्रति लेखक की बड़ी सरस भावाभिव्यक्ति है। चम्बा और गोदावरी के वर्णन में लेखक का हृदय प्रकृति के साथ प्रतिस्पन्दित होता मालूम होता है। लेखक के ही शब्दों में हम कह सकते हैं कि धरती उसके पैरों के नीचे बोलती हुई मालूम पड़ती है। सभी निबन्ध लेखक के जीवन रस से अभिषिक्त हैं। यद्यपि सत्यार्थी जी के लेखों में भावात्मकता का प्राधान्य है तथापि उन में बुद्धितत्व की भी कमी नहीं है। महादेव भाई की डायरी और अध्ययन कक्ष में मूल्यवान अध्ययन सामग्री मिलती है। अध्ययन कक्ष में बङ्गभाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार बङ्किमचन्द्र चटोपाध्याय के हिन्दी के सम्बन्ध में बड़े सहृदयतापूर्ण विचार मिलते हैं। लेखक ने अपनी मातृभाषा पञ्जाबी और राष्ट्रभाषा दोनों का समन्वय कर लिया है। 'जहाँ दो साहित्य मिलते हैं' शीर्षक निबन्ध में पञ्जाबी और हिन्दी के आदान-प्रदान पर विवेचन करते हुए वे लिखते हैं:— 'इन पञ्जाबी भाषी साहित्यिकों ने हिन्दी माध्यम को अपनाने पर भी पञ्जाबी का सर नीचा नहीं होने दिया।' सत्यार्थीजी भी उन्हीं में से हैं।

—गुलाबराय

प्रसादजी का चन्द्रगुप्त (एक विश्लेषणात्मक अध्ययन)—ले०-श्रीकृष्णकुमार सिन्हा, प्रकाशक–राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया। पृष्ठ २५२, मूल्य २॥)

लेखक की यह पाँचवीं आलोचना-सम्बन्धी पुस्तक है और परिश्रम-पूर्वक लिखी गई है। नाट्य-कला, ऐतिहासिक आधार, नायक, भाषा-शैली, गीत-सौष्ठव, उद्देश्य, अभिनेयता, तत्कालीन वातावरण, चरित्र-चित्रण, नाटक की तुलनात्मक समीक्षा—सभी दृष्टियों से प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है। परिशिष्ट के करीब २५ पृष्ठों में व्याख्यांश भी दिया हुआ है। नायक के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए लेखक ने लिखा है कि "दशरूपक में वर्णित

सभी गुण चन्द्रगुप्त में वर्तमान हैं तो चाणक्य को नायक के पद पर प्रतिष्ठित कर देना आलोचकों की सरासर भूल है।" प्रश्न यह है कि यदि इस नाटक का शीर्षक 'चन्द्रगुप्त' न रख कर 'चाणक्य' रख दिया जाता और उसके नीचे सिद्धान्त-सूत्र के रूप में 'हर्ष-चरित' का यही पद्य—

"अङ्गणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः,
स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य॥"

उद्धृत किया जाता तो कहाँ क्या अनौचित्य हो जाता? नायक का प्रश्न वादास्पद है सही, किन्तु निष्कर्ष निकालते समय हर्ष-चरित के उक्त पद्य को लेकर भी (जिसे नाट्यकार ने अकारण ही उद्धृत नहीं किया होगा) विचार करना चाहिए था। इस नाटक में कौन 'कृतप्रतिज्ञ वीर' है? चाणक्य या चन्द्रगुप्त? यदि चाणक्य है तो 'चन्द्रगुप्त' इसका शीर्षक क्यों रखा गया? इस पुस्तक द्वारा प्रसाद-साहित्य के अध्ययन को गति मिली है, एतदर्थ लेखक का प्रयत्न अभिनन्दनीय है। —कन्हैयालाल सहल

साहित्य निर्माण—लेखक-श्री किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक-जन वाणी प्रकाशन, कलकत्ता। पृष्ठ १४३, मूल्य २)

इस पुस्तक का लेखक, हिन्दी साहित्य का एक प्रसिद्ध साहित्यकार है। कृति के उद्देश्य के विषय में लेखक स्वयं कहता है, 'हाँ खण्डन की चीज लोग खरीद लेते हैं, सोचा जब परीक्षा में लगने की बात ही नहीं, तो खण्डन ही निकालो'''मन्दिर की सजावट न कर पायें तो उसका कूड़ा, कचरा ही साफ करो।'

तो यह पुस्तक एक विहंगम दृष्टि लेकर, साहित्य के प्रत्येक अङ्ग पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करती है। लेखक की 'अपनी राय' से मत-भेद हो सकता है और होने के कारण भी हैं, फिर भी जो लिखा गया है उसके पीछे तर्क का बल है, हठवादिता का नहीं। विचार क्रान्तिकारी हैं जो उथल-पुथल मचाकर हठात् हमारा ध्यान खींचते हैं।

लेखक ने महामहिम के 'अनुमितिवाद' की बड़ी प्रशंसा की है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, सम्पादन आदि के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे विद्यार्थी ही नहीं, विद्वान् साहित्यकार भी लाभ उठा सकते हैं।

विचारों का प्रतिपादन मनोरञ्जक शैली में मिलता है। कहीं-कहीं व्यङ्ग 'आक्षेप' तक पहुँच गया है पर उसके लिये लेखक निर्भय और निश्चिन्त है। 'मौलिकता' व 'आत्म-विश्वास' दो तत्व इस पुस्तक में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। विचारों के पीछे वाजपेयीजी का व्यक्तित्व झाँकता हुआ मिलता है। यदि लेखक चिढ़, खीझ और आक्रोश के प्रकाशन में थोड़ी कमी करता तो गाम्भीर्य अवश्य बढ़ जाता परन्तु पुस्तक पढ़कर हम लेखक का नाम जानने का प्रयत्न कभी न करते। —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

कविता

ग्रामणी—लेखक-श्री गिरिजाशङ्कर पाण्डेय, प्रकाशक-शारदा लायब्रेरी, शिवनगर काशी। पृष्ठ ४६, मूल्य ॥)

यह कविताओं का संग्रह श्री गिरिजाशङ्करजी पाण्डेय की छात्रावस्था की रचना है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, कवि ने ग्राम्य-जीवन की एक अच्छी झाँकी उपस्थित की है और अपनी स्वर-लहरी में विविध विषयों को भी सफल कवि के समान चित्रित किया है। इसके लिए कवि बधाई का पात्र है।

संग्रह में कुछ विशेष गान हैं; कुछ सुन्दर काव्यमय चित्र और कुछ समस्यायें भी। युवक कवि का रूढ़िवादी संस्कारों और व्यवहारों के प्रति अपना निजी विद्रोह भी बहुत जगहों पर स्पष्ट हुआ है और सभी रचनाएँ सुन्दर भाषा में सजीली और रसीली होते हुए, कालेज छात्रों और नवयुवकों के लिए सन्देशमय हैं। —नरेन्द्र शर्मा

कहानी

कथा मञ्जरी—लेखक-श्री कर्ण वीर नागेश्वर राव, प्रकाशक-आन्ध्र भारती प्रकाशन मन्दिर, बेटापालेम गुण्टूर। पृष्ठ १००, मूल्य १॥)

कथा मञ्जरी में चौदह कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनका सङ्कलन और सम्पादन अहिन्दी भाषी प्रान्तों के कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए किया गया है।

कहानियाँ उदार चेतना और राष्ट्रीय जागरण का सन्देश देती हैं किन्तु उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के मानसिक स्तर तक इनकी पहुँच नहीं कही जासकती।

लेखक स्वयं हिन्दी-लेखन की प्रयोगावस्था में है। शैली में सजीवता, नवीनता—भाषा में रवानगी और भावों में गहराई की कमी है। ऐसे प्रयोग अहिन्दी भाषियों के हिन्दी-प्रेम के परिचायक हैं।

—शशिभूषण सिंहल

हरदम आग—लेखक-श्री कृष्णनन्दन सिन्हा, प्रकाशक-अजन्ता प्रेस लि०, पटना। पृष्ठ २४०, मूल्य २)

इस कहानी-संग्रह में लेखक के समाजवादी आवेग का स्पष्ट अवलोकन किया जा सकता है। चित्रण का अपना स्पष्ट ढङ्ग भी उसकी विशेषता है। कहीं-कहीं तो रेखाएँ बहुत ही अधिक स्पष्ट 'फोटोग्राफ' तैयार करती हैं और वहीं पर लेखक में कलात्मक संयम का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

जहाँ तक कहानियों की सामग्री का प्रश्न है, कहानी-संग्रह आज के समाजवादी साहित्य में खपता है। पर समाजवादी चेतना के पर्दे में सत्ताधारी सरकार के विरुद्ध लिखना या चीखना आज की पिटी हुई परिपाटी है और लेखक ने भी इसका आश्रय लिया है। लेखक ने खुद माना है कि उस पर प्रभाव-सम्पूर्णता की गहरी छाप लग चुकी है और इसी कारण कहीं-कहीं पर वह अपने विषय से बहुत दूर भागा हुआ, 'अँधेरी' या 'चौपाटी' के पब्लिक मञ्च पर नया 'साथी' ही प्रतीत होता है। कई स्थानों पर, उसकी भाषा का ढाँचा और भावों के घुमाव—ऐसा ही विश्वास दिलाते हैं। इसके लिये भी वह क्षम्य है क्योंकि सफल कलाकार जैनेन्द्र ने और श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा ने भी आज से वर्षों पहले ही अपनी कहानियों में घटना के घटने की परम्परा का चित्रण करने की परिपाटी त्याग दी और भाषा के ढाँचे में भाव का घुमाना ही अपनी कथाओं का कलेवर रखा और 'नई टेकनीक' के इस 'आँग्ल-नजरन्दाज' ने भी यहीं से ऐसी प्रेरणा ली।

हाँ कथाकार का प्रयत्न सराहनीय है क्योंकि अपनी चेतना के स्पन्दन को राह देता हुआ—वह, समाज की घिसती हुई रीतियों, घिसती हुई इकाइयों, ठगती हुई तितलियों, शिशु-बोझिल नारियों······ सभी की—बहुत अच्छी समीक्षा उपस्थित कर सका है।

—नरेन्द्र सोढ़ा

कादम्बरी—अनुवादक-श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट बी० ए०, प्रकाशक-भारती भण्डार, इलाहाबाद। पृष्ठ ४५०, मूल्य ५)

महाकवि बाण भट्ट संस्कृत के शीर्ष लेखकों में है। 'कादम्बरी' उनका बहुत प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है। संस्कृत साहित्य में इसका बहुत आदर है। साथ ही यह ग्रन्थ कठिन भी है। इसकी रस-अलङ्कार और ध्वनि-पूर्ण गम्भीर भाषा का अर्थ साधारण पण्डित भी आसानी से नहीं समझ सकता। ऐसे अमूल्य ग्रन्थ को हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए उपलब्ध करने का प्रयास श्रीमान् भट्ट जी ने किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आपका यह अनुवाद शुद्ध और भावपूर्ण तो है ही, बहुत ही बोधगम्य और मुहावरेदार भी है। सचमुच भट्टजी को इसके अनुवाद में पूरी-पूरी सफलता मिली है। इसका प्रथम संस्करण १९२१ में बम्बई से प्रकाशित हुआ था जो बहुत दिन से अप्राप्य था। भारती भण्डार ने इसे प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है।

—म०

हास्य

मन-मयूरः—लेखक-श्री अन्नपूर्णानन्द, प्रका०—रामनारायणलाल, इलाहाबाद। पृष्ठ २२२, मूल्य ४)

श्री अन्नपूर्णानन्दजी हास्य-रस के शीर्ष लेखकों में हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपके हास्य-रस के १५ निबन्धों का संग्रह है। 'अपना परिचय' शीर्षक लेख में लेखक ने अपना कितना मधुर परिचय दिया है "मेरी खोपड़ी मेरे शरीर का वह उन्नत भाग है जो अक्सर चौखटों में भिड़ा करता है।" आपने समालोचकों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है "मेरी समझ में यह आज तक न आया कि साहित्य-उपवन में इन निमकौड़ी बटोरने वालों की आखिर क्या आवश्यकता थी। मेरी पक्की धारणा है कि नितान्त पँचकल्यानी लोग ही साहित्य-सेवा के नाम पर यह पुलिस-वृत्ति अख्तियार करते होंगे।"

'प्रकाशक पँचदशी' सामयिक है। 'टेढ़ी माँग' सुरुचिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। उसे शिष्ट हास्य की कोटि में कठिनाई से ही लिया जा सकेगा।

जिन्होंने लेखक महोदय की पहिली पुस्तकें 'महाकवि चचा', 'मँगन रहु चोला' इत्यादि पढ़ी होंगी उन्हें इस पुस्तक को पढ़ कर कुछ निराशा होगी, परन्तु हिन्दी के हास्य-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में इस पुस्तक का महत्व निर्विवाद रूप से है।

—बरसानेलाल चतुर्वेदी

नाटक

स्वर्ग पतन—लेखक—डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' एम० ए०, पी० एच० डी, प्रकाशक—कृष्णा ब्रादर्स, अजमेर। पृष्ठ ११३, मूल्य १)

पुस्तक बड़ी सुन्दर और आकर्षक है इसमें सात मौलिक एकांकियों का संग्रह है। प्रारम्भ में, सत्रह पृष्ठों की पूर्वपीठिका है जिसमें एकाँकी का इतिहास और तत्त्व-विवेचन बड़ी गम्भीरता से लिखा गया है। संग्रह में पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक, सभी प्रकार के एकाङ्की हैं। प्रत्येक में उद्दीप्त भाव की आभा झलकती है। आदर्श यथार्थ में इस प्रकार समन्वित है कि साहित्यिक दृष्टिकोण सन्तुलित रूप में अवतीर्ण हुआ है जिसको चरित्र-चित्रण और भाषा ने बड़ा सहयोग दिया है। प्रत्येक पात्र अनिवार्य और जीवन का विशेष सन्देश देता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि लेखक ने इस बात का कहीं संकेत नहीं दिया कि इन नाटकों का कभी अभिनय कराया गया या नहीं, किन्तु सूक्ष्म सूच्य सामग्री से रङ्ग-मञ्च की बहुत सी समस्याएँ हल हो जाती हैं। एकाङ्कियों के शीर्षक, प्रारम्भ और अन्त में दृढ़ ग्रन्थि बन्धन है। हमें एकाङ्की क्षेत्र में लेखक से बहुत आशाएँ हैं।

—महाराज नारायण कक्कड़

कवि—गीतिकार-श्रीसिद्धनाथ कुमार, प्रकाशक सिद्धनाथ कुमार सहनी पट्टी, बक्सर (बिहार)। पृष्ठ ५३, मूल्य १)

'कवि' श्री सिद्धनाथ कुमार रचित एक गीतिनाट्य है। आज सर्वत्र कथा साहित्य का युग है और किसी कल्पना-भक्त की काव्यमय उड़ान सङ्घर्षमय जीवन की कँटीली भूमि पर आज सहज नहीं—ऐसा हमें विश्वास मिल रहा है।

पर कवि के स्वयं के जीवन का लक्ष्य कहाँ है—इसका उत्तर देने के लिए ही इस गीतिनाट्य की रचना हुई है। कल्पना रानी की पलकों में ही सब कुछ भूल कर यदि कवि जग के सँग न रो सके और रोकर भी विषादमय जग पर अपनी वाणी-वीणा से अमृत-कण न बरसा सके, तो कवि अवश्य ही अपूर्ण है—कम से कम आज के युग में।

कवि को भी युग के साथ चलना चाहिए, उसे भी युग-प्राणियों की ज्वाल् में जलना और उनके उन्माद के साथ उड़ना चाहिए, युग के रहस्यों को समझ सृष्टि के कण-कण को जानना चाहिए और यह सब करने के बाद ही कल्पना में उन्मुक्त हो, नव-निर्माण का अपना निजी सन्देश देना चाहिए। यही सब कवि का पूरा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है

और इसे हमें समझाने में सिद्धानाथजी अवश्य ही सफल हुए हैं। उनकी रचना पढ़कर हम मान सकते हैं कि आज भी धरा के गीत गानेवाले कवि का हम पर पुरजोर असर है। —नरेन्द्र सोढ़ा

राजनीति

बापू की कारावास-कहानी—लेखक-डा० सुशीला नैयर, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४५६, चित्र २८, सजिल्द, मूल्य १०)

१९४२ के आन्दोलन में महात्मा गांधी को गिरफ्तार करके तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने आगाखाँ महल में नजरबन्द किया था और महात्माजी को इस भवन में २१ महीने रहना पड़ा था। इस पुस्तक में डा० सुशीला नैयर ने ८३ परिच्छेदों में बापू से सम्बन्ध रखने वाले लोगों की जीवन-चर्या का हृदय हारी वर्णन किया है। भारत छोड़ो प्रस्ताव और गिरफ्तारियों से लेकर महादेव भाई की मृत्यु, गोलमेज परिषद के संस्मरण, उपवास, सरकार से हुए पत्र-व्यवहार, बा की मृत्यु और रिहाई आदि विषयों का मार्मिक विवरण इस पुस्तक में पढ़ने को मिलता है। पुस्तक यद्यपि एक दैनिक डायरी है लेकिन इसमें उपन्यास से अधिक रोचकता, तथा इतिहास से अधिक सचाई है। और इसमें अनेकों राजनैतिक गुत्थियों का हल है। जेल में राष्ट्रीय दिवस और त्यौहार बापू ने किस तरह मनाये इसका भी सुन्दर वर्णन है। चित्रों ने पुस्तक की महत्ता को और भी बढ़ा दिया है।

दिल्ली में दस वर्ष—ले०-श्री राजेन्द्रनाथ हांडा, प्रकाशक-प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ १७५, मूल्य ३॥)

१९४० से १९४९ तक १० वर्ष में दिल्ली ने किस प्रकार काया पलटी है उसीका चित्रण लेखक ने इस पुस्तक में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से किया है। पिछले १० वर्षों में राजनैतिक, सामाजिक आदि विषयों में जो परिवर्तन हुआ है उसे विभिन्न शीर्षकों में देकर एक सुन्दर कहानी या उपन्यास की सी पुस्तक बना दी गयी है। १९४७ के दङ्गों और गांधीजी की मृत्यु के अवसर का मूर्तिमान चित्र इस पुस्तक में अङ्कित किया गया है। साहित्यिक जीवन की भी एक झाँकी इसके एक परिच्छेद में दिखाई गई है। पुस्तक पठनीय है। —म०

राजनीति से दूर—लेखक-पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ १७३, मूल्य २॥)

इस पुस्तक में पं० जवाहरलाल नेहरूजी के समय समय पर लिखे हुए १९ लेख हैं, इनमें आधे से अधिक, लगभग ग्यारह, उनकी यात्राओं के संस्मरण हैं, जिनको पढ़ते समय अलमोड़ा, काश्मीर, बम्बई, चीन, गढ़वाल, सिलहट, लङ्का आदि के दृश्य आँखों के सामने ऐसे झूलने लगते हैं जैसे प्रत्यक्ष देख रहे हों। इनमें से ही हमें पण्डित जवाहरलालजी के साहसी, गहरे और सहानुभूति पूर्ण व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है; उनकी रुचि अरुचि और उमङ्ग इन लेखों की प्रत्येक पंक्ति में से झलकती है। पहाड़ों, बर्फीली चोटियों, जङ्गलों के रोचक वर्णन ही नहीं, ऐसी घटनायें भी हैं जिनमें औपन्यासिक आनन्द है। यात्राओं के ये संस्मरण छोटे छोटे ही हैं, किन्तु शैली पर लेखक को ऐसा अधिकार है कि वह थोड़े शब्दों में ही चित्र, अध्ययन तथा विचार सभी साथ-साथ प्रस्तुत करता जाता है। शेष लेखों में साहित्य, भाषा, समाज, स्त्री, तथा विज्ञान विषयक उनके विचार अभिव्यक्त हैं ये लेख यथार्थ में निबन्ध हैं। अतः यह संग्रह मनोरञ्जन की सामग्री और प्रकृति के चित्र तथा पुरुष और परिस्थितियों के अध्ययन की सामग्री ही प्रस्तुत नहीं करता कुछ विचारणीय गम्भीर समस्याओं को भी सामने खड़ा कर देता है। —सत्येन्द्र

पूर्वोदय—लेखक-श्री जैनेन्द्रकुमार, प्रकाशक-श्री पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २८०, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक निम्नलिखित सात खण्डों में विभक्त है—सर्वोदय, गांधीजी, अहिंसा, संस्कृति, शान्ति, युद्ध, अपरिग्रह और स्फुट। पुस्तक का शीर्षक 'सर्वोदय' न रख कर जानबूझ कर ही 'पूर्वोदय' रखा गया है जिसका आशय है उस जीवन-नीति और उन जीवन-मूल्यों का उदय जिनका निषेध पश्चिम के देशों की आधुनिक सशस्त्र उन्नति है। दूसरे शब्दों में पूर्वोदय सर्वोदय का प्रथम चरण है। सर्वोदय भावना है। जब भावना घटना बनने चलेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा। श्री जैनेन्द्र गांधीवाद में आस्था रखने वाले ही नहीं, वे अपनी विशिष्ट शैली में गांधीवाद के अच्छे व्याख्याता भी हैं। उनके विचारों में मौलिकता और गहराई है; किन्तु कहीं कहीं अनावश्यक वाग्विस्तार हो गया है, जो अखरता है। मानवता में श्रद्धा उत्पन्न करने वाली इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन आज के इस संघर्षशील युग में अवश्य वाञ्छनीय है किन्तु हमारे इस विशाल राष्ट्र की आँखें आज उस व्यक्ति की ओर विशेषतः आकृष्ट होती हैं जो केवल विचारक न हो किन्तु विचारक होने के साथ-साथ देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेता हो, अपनी विचार-धारा के अनुरूप उसे कुछ मोड़ भी देता हो। —कन्हैयालाल सहल

आश्चर्य वार्ता—लेखक-श्री उमाशङ्कर। प्रका० नया हिन्दुस्तान पब्लिकेशन्स, पटना ४। मूल्य ॥।)

संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं की एक सुलभ झाँकी इसमें है, जिसमें पाठक मनोरञ्जन के साथ-साथ सहज में बहुत सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। सीधी-सादी भाषा में विषय को उपस्थित करना लेखक की निजी विशेषता है। पुस्तक का गेट अप आकर्षक है।

खेती की ओर—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ ६४, मूल्य १)

उपर्युक्त लेखक की यह दूसरी पुस्तक है। भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ पर्याप्त जमीन है किन्तु फिर भी अन्न सम्पत्ति के मामले में यह आत्मनिर्भर नहीं है। लेखक ने इस पुस्तक में अधिक अन्न उत्पन्न करने के व्यावहारिक सुझाव सामने रखे हैं। पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है। पहिला खण्ड है 'इतिहास के आलोक में'—इसमें खेती का इतिहास वर्णित है। 'खेती की बर्बादी' शीर्षक दूसरे खण्ड में उन बातों पर प्रकाश डाला गया है जिनसे बचने पर अधिक अन्न उत्पन्न हो सकता है। 'खेती की ओर' नामक तीसरे खण्ड में लेखक ने व्यावहारिक रूप से अधिक अन्न उत्पन्न करने के तरीकों को बताया है। पुस्तक प्रत्येक कृषक के लिए उपादेय है।

ग्राम-स्वराज्य—लेखक और प्रकाशक वही। पृष्ठ ४३, मूल्य ॥)

उपयोगी साहित्य की तीसरी कड़ी में श्री उमाशंकरजी ने ग्राम-स्वराज्य के व्यावहारिक पक्ष के ऊपर निष्पक्ष होकर अपना विचार इसमें दिया है। स्वराज्य का वास्तविक अर्थ तभी लोग समझेंगे जब ग्राम मुक्त होकर अग्रसर होंगे। लेखक ने अच्छे ढंग से ग्राम की समस्याओं और उसके समाधान के उपाय बताये हैं। उन पर अमल किया जाय तो भारत पुनः संसार का शिरमौर बन सकता है।

—शि० प्र० लोहानी।

काश्मीर पर हमला—लेखिका-श्रीमती कृष्णा मेहता, प्रकाशक-नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर। पृष्ठ १६०, मूल्य २।)

इस पुस्तक में काश्मीर से भारत का अभिन्न सम्बन्ध, उस पर हुए पाकिस्तानी हमलों का वर्णन और काश्मीर की जनता—वहाँ के नर-नारियों के वीरता पूर्ण कार्य कलाप का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। पुस्तक पढ़कर करुणा का सागर उमड़ आता है, रोमाञ्च होने लगता है और अपने देश पर बलिदान होने की भावना जाग्रत होती है। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखने के लिए श्रीमती कृष्णा मेहता सचमुच बधाई की पात्र हैं। —जयदत्त सोठा

आधुनिक अर्थ-शास्त्र—लेखक-प्रो० केदारनाथ एम० ए०, अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कालेज, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ ६६३, मूल्य १०)

अर्थ-शास्त्र यद्यपि इतना प्राचीन विषय है कि पश्चिम में अरस्तू तथा भारत में चाणक्य द्वारा इसका विवेचन अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पहिले हो चुका है, परन्तु अपने वर्तमान रूप में यह एक बहुत ही आधुनिक विषय है। इसका प्रारम्भ राज्य की कला अथवा राजनीतिक अर्थ नीति के रूप में हुआ था जो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में बहकर आज आर्थिक जीवन में मनुष्य के अध्ययन का विषय बन गया है। इन बदलती हुई विचारधाराओं के अनुसार अर्थ-शास्त्र की परिभाषाएँ भी बदलती रहीं। लेखक ने ऐतिहासिक अनुशीलन करते हुए, विश्व के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्र वेत्ताओं द्वारा प्रणीत अर्थ-शास्त्र की परिभाषाओं का आलोचनात्मक विवेचन किया है।

क्लासिकल स्कूल के अर्थलिप्त मानव का दृष्टिकोण, बदलती हुई आर्थिक समस्याओं में व्यक्ति से समाज में तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पादन को लेकर महान आर्थिक विषमताओं के कारण रोबिन्स द्वारा वितरण की ओर अग्रसर हुआ। परन्तु बढ़ती हुई जन संख्या के लिये साधनों और उत्पादन के सीमित होने तथा उचित वितरण के अभाव में वही दृष्टिकोण प्रो० मेहता द्वारा आवश्यकताओं को न्यूनतम करने में ही समस्या का समाधान ढूँढकर गान्धीवादी विचारधारा की ओर झुका। लेखक ने इसे बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से दिखाने का प्रयास किया है।

विषयानुसार सम्पूर्ण पुस्तक को पाँच भागों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक विषय पर आधुनिक तम अर्थ शास्त्र वेत्ताओं के विचारों की तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है। इनमें रोबिन्स, हिक्स, केन्स, कैनन, क्लार्क, बालडिंग, वेनहम, फ़िसर आदि सभी विद्वान आ गये हैं। स्थान-स्थान पर कुछ विशेष मूल सिद्धान्तों (जैसे मूल्य, लगान, सूद और मजदूरी आदि) की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का भी आवश्यक विवेचन किया गया है जिससे किसी भी विषय का विद्यार्थी को पूर्ण चित्र मिल जाता है।

जहाँ तक सम्भव हो सका है, लेखक ने प्रत्येक अर्थशास्त्रवेत्ता के सिद्धान्त को ग्रैफ और तालिकाओं द्वारा स्पष्ट किया है इसलिये विद्यार्थियों का एक ही सिद्धान्त के ग्रैफ सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन का भी अच्छा अवसर मिलता है। मार्शल के विषय विभाजन को लेकर सैद्धान्तिक पक्ष में आधुनिक विद्वानों के तुलनात्मक अध्ययन का हिन्दी में यह स्तुत्य प्रयास है।

अर्थ-शास्त्र की उच्च-शिक्षा के विद्यार्थियों को पुस्तक लाभदायक सिद्ध होगी।

—दयाप्रकाश एम० ए०

व्यापारिक जगत : १६५०—सम्पादक—श्री रामनाथ गुप्त बी० ए० तथा श्री प्रेमनाथ एम० ए०, प्रकाशक—नारायण पब्लिशिंग हाउस, अजीतमल (इटावा)। पृष्ठ १३६, आकार बड़ा, मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक एक व्यापार सम्बन्धी डायरैक्टरी है। इसके पहले भाग में कुछ व्यापार सम्बन्धी लेख हैं। दूसरे में देश की प्रमुख व्यापारिक संस्थाओं और औद्योगिक केन्द्रों का परिचय है। तीसरे भाग में अनेक ज्ञातव्य बातें हैं और चौथे भाग में व्यापार और व्यापरियों की बातें हैं। अन्तिम भाग में विदेशी फर्मों का तथा भारत स्थित एजेन्टों का विवरण है। हिन्दी में इस तरह की डायरैक्टरी बहुत कम हैं। त्रुटियाँ होते हुए भी हम इसका सहर्ष स्वागत करते हैं।

कौन क्या है—सम्पादक तथा प्रकाशक उपर्युक्त। पृष्ठ १४०, आकार बड़ा, मूल्य ३)

इस पुस्तक में भारत के राजा महाराजा, जागीरदार, जिमीदार, राजनैतिक नेता, शासक आदि प्रमुख व्यक्तियों का परिचय है। ऐसी पुस्तक अच्छे कागज पर सुन्दरता के साथ छपनी चाहिए थी। इसके प्रकाशन में व्यापारिक दृष्टिकोण के साथ-साथ यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखने का भी ध्यान रखा गया

होता तो यह पुस्तक अधिक उपयोगी होती। साहित्यिक लोगों में मैथिलीशरण गुप्त और राजनैतिक पुरुषों में श्रद्धेय टण्डन जी जैसे लोगों का नाम न होना इसकी कमी को स्पष्ट कर रहा है। हम आशा करते हैं कि इस ओर आगे से ध्यान दिया जायगा और पुस्तक को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा की जायगी।

—म०

सामाजिक

मानव की कहानी (दो भाग)—लेखक-प्रो० रामेश्वर गुप्त एम० ए०, प्रकाशक-चेतना नगर, ब्यावर (राजस्थान) पृ० १३६८, मूल्य १६)

'मानव की कहानी' वस्तुत: मानव के प्रादुर्भाव और उसकी सभ्यता के विकास का इतिहास है। लेखक ने इसे पृथ्वी के निर्माण काल से प्रारम्भ कर, इसके विषय में भिन्न-भिन्न धार्मिक मतों का सङ्कलन करते हुए, हिन्दू अवतारों की कथा में विकासवाद के वैज्ञानिक मत की सत्यता ढूँढ़ने का सफल प्रयास किया है। प्राचीन और नवीन पाषाण युग, धातु युग, तथा संसार की सभी मृत और जीवित सभ्यताओं की रूपरेखा खींचते हुये उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। इनमें सुमेर, बैबिलोन, असीरियन, मिश्री, सिन्धु, माइनोअन, अमरीकी, भारतीय, चीनी, युनानी, रोमन तथा मुस्लिम आदि सभी सभ्यताएँ आ गई हैं।

सभ्यता के किसी भी अनुगामी युग को प्रारम्भ करने से पहिले लेखक ने पाठक की सुविधा के लिये पूर्वगामी युग का सार तथा उस समय तक मानव का विकास संक्षेप में दे दिया है।

जिन ऐतिहासिक खुदाइयों तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों के निष्कर्षों के आधार पर सम्पूर्ण पुस्तक का कलेवर खड़ा किया गया है उनकी सामग्री को छोड़ दिया गया है इसलिए किसी पाठक को स्वतन्त्र विचार का अवसर नहीं मिलता। भारतीय सभ्यता के विवेचन में भी लेखक का दृष्टिकोण परतन्त्र भारत के इतिहासकारों के समान प्रतीत होता है। भारत में राष्ट्रीयता की भावना के उदय और स्वाधीनता संग्राम का प्रारम्भ लेखक ने अँग्रेजी राज्यकाल तथा १८८५ से माना है। यदि भारत की राष्ट्रीय भावनाएँ और उसके स्वाधीनता संग्राम को भारतीय दृष्टिकोण से लिखा होता तो भारतीय नवयुवक के विचारों में लेखक महान परिवर्तन ला सकता था।

आधुनिक युग के वर्णन में लेखक ने मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक आदि सभी दृष्टिकोणों से विचार किया है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद आदि सभी वाद तथा दोनों महायुद्ध, यू. एन. ओ. और कोरिया का युद्ध आदि सभी घटनाओं और राजनैतिक समस्याओं को लेकर मानव के विकास पर १९५० तक प्रकाश डाला है।

कहीं-कहीं लेखक ने केवल सुनी हुई बातों पर भी विश्वास कर लिया है जैसे—"आजकल ईरान और भारत में अधिकतर शिया मुसलमान मिलते हैं" (पृ० ६४५) वस्तुतः भारत में सुन्नी मुसलमानों की संख्या अधिक है और भारत का मुस्लिम कानून प्रधानतः सुन्नी-कानून है।

इस पुस्तक में प्रत्येक नागरिक के जानने योग्य इतनी अधिक सामग्री को एकत्रित किया गया है कि विश्व के आधुनिक मानव का ज्ञान प्राप्त करने में पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी—विशेषतः विद्यार्थियों को।

—दयाप्रकाश एम० ए०

परीक्षोपयोगी

साहित्य सन्देश आगरा के

१२ वें वर्ष की

जुलाई १६५० से जून १६५१ तक की पूरी फाइल

जिसमें

'भारतेन्दु' विशेषाङ्क भी सम्मिलित है।

इस फाइल में १०३ निबन्ध हैं जो प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा; विदुषी-सरस्वती, रत्न-भूषण-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, विद्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्पादकीय विचारधाराएँ पुस्तकों की आलोचनाएँ तथा पूरे वर्ष में प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूची भी इस फाइल में आपको मिलेगी जिससे आपको विविध ज्ञान प्राप्त होगा।

फाइल के सम्बन्ध में हम इतना निवेदन और करदें कि इसमें अन्य विषयों के अतिरिक्त ५०० पृष्ठ तो ठोस सामिग्री के हैं जिनको यदि पुस्तकाकार में छपवाए जायँ तो १००० पृष्ठ से अधिक की मोटी पुस्तक हो जाय। जिसका मूल्य औसत दर्जे १०) और ठाट-बाट के साथ छापने पर १५)-२०) हो जाता है। परन्तु साहित्य सन्देश अपने ग्राहकों से केवल चार रुपया वार्षिक लेता है। इस फाइल में मोटी वसली की जिल्द लगा कर उसके ऊपर कवर तथा विषय सूची छाप कर इसका मूल्य ५) रखा है।

यह फाइल थोड़ी बनी हैं और सदा की भाँति शीघ्र बिक जाने की आशा है। अतः आप आज ही अपनी फाइल मँगालें।

विषय सूची मुफ्त मँगायें। सजिल्द ५) पोस्टेज पृथक।

मिलने का पताः—साहित्य सन्देश कार्यालय, ४, गांधी मार्ग, आगरा।

Sahitya Sandesh, Agra.
DECEMBER 1951.

REGD. NO. A. 96
Licence No. 16.
Licensed to Post without Prepayment